

Printed-Published & sold by
JAI KRISHNADAS-HARIDAS GUPTA,
The Chowkhamba Sanskrit Series Office,
VIDYA VILAS PRESS,
North of Gópál Mandir,
BENARES CITY.

*Printed by Jai Krishna Das Gupta
at the Vidya Vilas Press, Benares.*

हरिदाससंस्कृतग्रन्थमालासमाख्य-
काशीसंस्कृतसीरिजपुस्तकमालायाः

३१

व्याकरणविभागे (५) पञ्चमं पुष्पम् ।

—* श्रीः *

परिभाषेन्दुशेखरः

महामहोपाध्यायश्रीनागेशभट्टविरचितः ।

महामहोपाध्यायश्रीभैरवमिश्रविरचितया भैरवीत्यपराख्यया
परिभाषाविवृत्या पं० श्रीलक्ष्मणशर्मणा संयुहीतया
तत्त्वप्रकाशिकया च सहितः ।

काशीस्थश्रीस्वाध्यादमहाविद्यालयव्याकरणाध्यापकेन सङ्घसाहित्योपाध्याय-
व्याकरणशास्त्रीपदवीकेन जोशीत्युपनामकदामोदरात्मजसदाशिव-
शास्त्रिणा लिप्पण्यादिना परिष्कृतः संशोधितश्च ।

प्रकाशकः—

जयकृष्णदास हरिदास गुप्तः—
चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस,
बिद्याबिलास प्रेस, गोपालमन्दिर के उत्तर फाटक,
बनारस सिटी ।

१९८८.

अस्य सर्वेऽधिकाराः प्रकाशकेन स्वायत्तीकृताः ।

इस कार्यालय द्वारा “काशोसंस्कृतसीरिज” के अलावा और भी ३ सीरिज यथा “चौखम्बासंस्कृतसीरिज” “बनारससंस्कृतसीरिज” “हरिदाससंस्कृतसीरिज” ग्रन्थ-मालायें निकलती हैं तथा इन ४ सीरिजों के पद्यात् और भी विविध शास्त्र की पुस्तकें प्रकाशित की गई हैं तथा अन्य सब स्थानों के छपे हुए संस्कृत तथा भाषा-भाष्य के ग्रन्थ विक्रयार्थ प्रस्तुत रहते हैं, सूचीपत्र पृथक् मंगवाकर देखें, इसके अलावा हमारे यहाँ सर्व प्रकार की संस्कृत, हिन्दी, अङ्ग्रेजी की सुन्दर छपाई होती है, परीक्षा प्रायणीय है।

पत्रादि प्रेषणस्थानम्—

जयकृष्णदास-हरिदास गुप्तः—

“चौखम्बा संस्कृतसीरिज” आफिस, विद्याविलास प्रेस,
गोपालमन्दिर के उत्तर फाटक, बनारस सिटी।

॥ श्रोः ॥

भूमिका

—*—

सुरासुरासेवितपादपङ्कजा, करे विराजत्कमनीयपुस्तका ।

विधेश्वर पत्नी कमलासनप्रिया, सरस्वती नृत्यतु वाचि मे सदा ॥

अपि गीर्वाणवाणीविलासासादितहृदयानन्दाः पद्माक्षप्रमाणपारावारीणवर्षाः पण्डितराजशीर्षण्या महाभागाः, विदितमेवाग्रभरताम्भवताम्प्रेममुल्लसता परमप्रवित्रीभूतं वेदाङ्गधुरीणतामवलम्ब्यमानमखिलभारतवर्षप्रचलितं विशेषतश्च विद्यार्थिभ्यो वाराणस्यादिमाननीयस्थलेषु पठनपाठनगोचरीभूतम्पाणिनीयव्याकरणं नाम शास्त्रं सर्वत्र ।

तत्र तत्रभवता भगवता पाणिनीयमुनिना विरचिताङ्कुरारोपणे मङ्गलार्पणा पूज्यपादेन श्रीकात्यायनेन विरचितपुष्पे तत्रभवता श्रीमता भाष्यकारेण चादौकृतकल्पेऽत्र शास्त्रिणि समावल्लभ्यां तत्कलस्वादसिकाभां सुखसमारोहणाय विरचिताः सोपानपरम्परा इव नानाविधाः प्रवन्धाः पण्डितप्रकाण्डैर्मान्यैर्मनीषिभिः ।

येषु प्रवन्धेष्वप्यत्ये श्रीमन्महामहोपाध्यायनागेशभट्टोपनिबद्धः परिभाषेन्दुशेखरः समाद्रियते शेखरतया सर्वविचक्षणैः ।

श्रीमन्महामहोपाध्यायनागेशभट्टाः 'काले' इत्युपनामका महाराष्ट्रीयब्राह्मणा लब्धवागीश्वरीप्रसादका वाराणसीवास्तव्याः सतीदेवीगर्भजाः श्रीशिवमनृतनुजन्मानः श्रीहरिदोक्षितगुरुवयैः प्रशंसिताः शब्देन्दुशेखराद्यनेकप्रत्यकृतांशो निरर्तारं विद्यावारिधिच्छवमानाः परमधार्मिका इत्यादि न तिरोहितं विदुषाम् ।

अस्मिन् कुशाग्रदुद्दिनिषद्धे परिभाषेन्दुशेखरे कालकलिकालकूटतिविकम्पितधियां छात्राणां दुस्वगाहतामवलोक्य बहुभिर्विश्वदूरैर्विरचिताः यद्विषयि टीकाः मध्ये सरलतया मूलार्थज्ञापिकामगस्त्यकुजावर्तसश्रीमद्भवदेवमिश्रात्मजनहामहोपाध्यायश्रीभैरवमिश्रविरचितां भैरवीं परिभाषावृत्तौत्यपराख्यां टीकां छात्राणाम्परमोपयोगिनीं विचिन्त्य संवलितोऽयम्परिभाषेन्दुशेखरस्तथा ।

सम्पत्ति वाराणस्यादिविद्यालयेषु प्रचलिताध्यापनशैल्यनुसारेण तत्प्रवणानामपि छात्राणामध्ययनाय लक्ष्मणशर्मेणा संगृहीतया तत्त्वप्रकाशिकया च समलङ्कितोऽयं ग्रन्थः ।

यद्यपि टीकाद्वयेन संवलितस्तथापि बहुस्थलेषु भैरव्याख्यया नानास्थलेषु तत्त्वप्रका-

शिक्षाया भ्रंशेन च न तादृक् आलङ्कारकोऽयमिति मत्वा 'चौखम्बासंस्कृतग्रन्थमाला,
'काशीसंस्कृतग्रन्थमाला, 'ह्रिदाससंस्कृतग्रन्थमाला, इत्येतासामध्यक्षमहोदयेन श्रीहरि-
दासगुप्तात्मजजयकृष्णदासश्रेष्ठिना प्रोत्साहितेन मया अतिपरिश्रमेण प्राचीनद्विप्रान्
ग्रन्थान् समवलम्ब्य साधयन्तां भैरवीं तत्त्वप्रकाशिकां च पद्यालोच्य सन्देहस्थलानि च
गुह्यर्यपूज्यमहोदयपण्डितप्रकाण्डराजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयाध्यापकमोकादेहस्तुपनामकश्री-
मणपतिशास्त्रिवर्यानां सविधे परिज्ञाय तत्तत्स्थलस्य परिपूर्णेन विषमस्थले टिप्पणीदानेन
कुप्रविहस्वतन्त्रदयालुत्वात्नेन च परिष्कृत्य यथाशेषमुपि संशोधितः ।

मुद्रणसमये अर्थवद्रूपग्रहणपरिभाषोपरि श्रुतिभैरवीटीकापरिदानेन मिश्रवर्णपण्डितराजकीय-
संस्कृतपाठशालाध्यापकफडकेहस्तुपाह्वानन्तरशास्त्रिमिश्रकृतास्तेभ्यो धन्यवादान्वितरामः ।

अस्मिन् परिशोधितग्रन्थे गच्छतस्त्वलनन्यायात् मतिमान्वाह्येखदोषान्मुद्रकदोषात्
दृष्टिदोषाद्वाशुद्धिः स्यात्तर्हि गुणैकपक्षगतिनो विद्वांसस्तां परिशोधयन्तु 'कण्टकाविद्धसरो-
जमुकुलवत् हंसक्षीरन्यायेन निर्गता पृथग्गुणग्रहणपरा भवेयुः इत्यलम् ।

नचाप्रातीवकर्तव्यं दोषदृष्टिपरं मनः ।

दोषो ह्यविद्यमानोऽपि तच्चित्तानां प्रकाशते ॥

इत्युक्तिमनुसंधाय मामनुगृहन्तिवति मुहुर्मुहुः साजलिबन्धं सम्प्रार्थयते ।

विदुषामनुवाः

जोशीत्युपाहसदाशिवशास्त्री

साहित्योपाध्यायः व्याकरणशास्त्री च

परिभाषाणां सूचीपत्रम् ।

| परिभाषानाम | परि.अं. | पृ.अं. | परिभाषानाम | परि. अं. | पृ.अं. |
|-------------------------------|---------|--------|------------------------------|----------|--------|
| व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिः० | १ | ३ | पूर्वपरान्त्यान्तरङ्गापवा० | ३८ | १०४ |
| ययोद्देशे संज्ञापरिभा० | २ | ४ | पुनः प्रसङ्गविज्ञानात्० | ३९ | १०५ |
| कार्यकाले संज्ञापरिभा० | ३ | ४ | सकृत्तौ विप्रतिपेधे० | ४० | १०६ |
| अनेकान्तानुबन्धा इति | ४ | १३ | विकरणेभ्यो नियमो य० | ४१ | १०९ |
| एकान्ता इति | ५ | १६ | पराश्रित्य बलवत् | ४२ | ११२ |
| नानुबन्धकृतमनेकाल० | ६ | १८ | शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्० | ४३ | ११३ |
| नानुबन्धकृतमनेजन्त० | ७ | १९ | शब्दान्तरात्प्राप्नुवतः० | ४४ | ११३ |
| नानुबन्धकृतमसारूप्यम् | ८ | २१ | लक्षणांतरेण प्राप्नुवन्० | ४५ | ११३ |
| उभयगतिरिह भवति | ९ | २१ | कचित् कृताकृतप्रसङ्ग० | ४६ | ११४ |
| कार्यमनुभवन्० | १० | २२ | यस्य च लक्षणान्तरेण० | ४७ | ११४ |
| यदागमास्तद्वृत्तीभू० | ११ | २९ | यस्य च लक्षणान्तरेण० | ४८ | ११४ |
| निर्दिष्टमानस्यादे० | १२ | ३७ | स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवन्० | ४९ | ११५ |
| यत्रानेकविधमान्तः० | १३ | ४७ | अतिदं बहिरङ्गमन्तरङ्गे | ५० | ११६ |
| अथैवद्वप्रहणे नानर्थ० | १४ | ४९ | नाजानेतयं बहिर्द्वप्र० | ५१ | ११२ |
| गौणमुख्ययोर्मुख्ये० | १५ | ५१ | अन्तरङ्गानपि विधीन्० | ५२ | १४७ |
| अग्निनस्मन्प्रहणान्यर्थ० | १६ | ५६ | पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यात्० | ५३ | १५५ |
| एकयोगनिर्दिष्टानाम्० | १७ | ५८ | अन्तरङ्गानपि विधीन्० | ५४ | १५६ |
| कचिदेकदेशोऽपि० | १८ | ५९ | वाणांदाङ्गं बलीयः | ५५ | १५६ |
| भाव्यमानेन स्वर्णाना० | १९ | ६० | वाकृतव्यूहाः पाणिनीयाः | ५६ | १६६ |
| भाव्यमानोऽप्युकारः | २० | ६२ | अन्तरङ्गादप्यपवादो० | ५७ | १७३ |
| वर्णांश्च ये नास्ति प्रत्यय० | २१ | ६५ | येन नाप्राप्ते यो विधि० | ५८ | १७३ |
| उणादयोऽव्युत्पन्नानि० | २२ | ६८ | कचिदपवादविषये० | ५९ | १८२ |
| प्रत्ययप्रहणे यस्मात्० | २३ | ६९ | पुरस्तादपवादाः० | ६० | १८५ |
| प्रत्ययप्रहणे चापस्तम्भा | २४ | ७२ | मध्येऽपवादाः पूर्वान्० | ६१ | १८५ |
| उत्तरपदाधिकारे प्रत्यय० | २५ | ७५ | अनन्तरस्य विधिर्वा० | ६२ | १८६ |
| सोप्रत्यये चानुपसर्ज० | २६ | ७६ | पूर्वं अपवादा अभिनि० | ६३ | १८८ |
| संज्ञाविधौ प्रत्ययप्रहणे० | २७ | ८० | प्रकल्प्य चापवादविषयम्० | ६४ | १८९ |
| कृद्वप्रहणे गतिकारक० | २८ | ८२ | उपसर्जनित्यमाण० | ६५ | १९० |
| पदाङ्गाधिकारे तस्य च० | २९ | ८४ | अपवादो यद्यन्यत्र चरि० | ६६ | १९२ |
| व्यपदेशिवदेकस्मिन् | ३० | ८५ | अभ्यासविकारेषु बाध्य० | ६७ | १९३ |
| प्रहणवत्ता प्रातिप० | ३१ | ८९ | ताच्छ्रील्लिखेषु वासरूप० | ६८ | १९५ |
| व्यपदेशिवद्भावोऽप्राप्ति० | ३२ | ९१ | कल्पयुद् तुमुन्तल्येषु० | ६९ | १९५ |
| यस्मिन्विधिस्तदादाबल० | ३३ | ९३ | छादेशेषु वासरूपविधि० | ७० | १९६ |
| सर्वो द्वन्द्वो विभाषया० | ३४ | ९६ | उभयनिर्देशे पञ्चमी० | ७१ | १९७ |
| सर्वे विधयश्छन्दसि० | ३५ | ९८ | | | |
| प्रकृतिवदनुकरणम्० | ३६ | ९८ | | | |
| एकदेशविकृतमनन्य० | ३७ | १०० | | | |

इति द्वितीयप्रकरणम् ।

इति प्रथमप्रकरणम् ॥

| परिभाषानाम | परि.अं. | पृ.अं. | परिभाषानाम | परि.अं. | पृ.अं. |
|-----------------------------|---------|--------|--------------------------------|---------|--------|
| प्रातिपदिकप्रहणे लिङ्ग० | ७२ | १९८ | अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदे० | १०४ | २४२ |
| विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाद्य० | ७३ | २०१ | नानर्थकेऽलोन्त्यविधिः० | १०५ | २४७ |
| सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् | ७४ | २०२ | प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने० | १०६ | २४७ |
| नञिव्युक्तमन्यसदृश० | ७५ | २०४ | अवयवप्रसिद्धेः समुदाय० | १०७ | २४८ |
| गतिकारकोपपदानाम्० | ७६ | २०५ | व्यवस्थितविभाषयापि० | १०८ | २४९ |
| सांप्रतिकाभावे भूतपूर्वे० | ७७ | २०८ | विधिनियमसम्भवे० | १०९ | २५० |
| बहुव्रीहौ तद्गुणसंबि० | ७८ | २०९ | सामान्यातिदेशे विशेषा० | ११० | २५० |
| चानुकृष्टं भोत्तरत्र | ७९ | २०९ | प्रत्ययाप्रत्यययोः प्रत्य० | १११ | २५१ |
| स्वरविधा व्यञ्जनमवि० | ८० | २१० | सहचरितासहचरितयोः | ११२ | २५२ |
| ह्रस्वप्राप्तौ व्यञ्जनम० | ८१ | २१२ | श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्ब० | ११३ | २५३ |
| निरनुबन्धकप्रहणे० | ८२ | २१३ | लक्षणप्रतिपदोक्त० | ११४ | २५५ |
| तदनुबन्धकप्रहणे० | ८३ | २१३ | गामादाप्रहणेपु० | ११५ | २५६ |
| कचित्स्वार्थिकाः प्रकृ० | ८४ | २१५ | प्रत्येकं वाक्यपरि० | ११६ | २५७ |
| समासान्तविधिरनि० | ८५ | २१५ | कचित्समुदायेऽपि | ११७ | २५८ |
| संनिपातलक्षणो विधिः० | ८६ | २१५ | अभेदका गुणाः | ११८ | २५८ |
| संनियोगशिष्टानरमन्य० | ८७ | २२५ | वाधकान्येव निपा० | ११९ | २६१ |
| ताच्छीलिकेऽणकृतानि० | ८८ | २२७ | पञ्जन्यलक्षणप्रवृ० | १२० | २६२ |
| धातोः कार्यमुच्यमानम् | ८९ | २२७ | निषेधाश्चबलीर्वासः | १२१ | २६३ |
| तन्मध्यपतितस्तदप्रह० | ९० | २२८ | अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्य० | १२२ | २६४ |
| लुग्विकर्णालुग्विकरणयोः० | ९१ | २२९ | योगविभागादिष्टसिद्धिः | १२३ | २६५ |
| प्रकृतिप्रहणे व्यधिकल्पापि० | ९२ | २३० | पर्यायशब्दानां साधव० | १२४ | २६५ |
| अङ्गद्वये पुनर्वृत्तावविधिः | ९३ | २३० | ज्ञापकसिद्धे न सर्वत्र | १२५ | २६५ |
| मञ्जापर्वकविधेरनि० | ९४ | २३१ | पूर्वज्ञासिद्धीपमद्वित्वे | १२६ | २६५ |
| आगमशास्त्रमनित्यम् | ९५ | २३२ | एकस्या आकृतेऽश्रितः | १२७ | २६६ |
| गणकार्यमनित्यम् | ९६ | २३२ | रामप्रसारणे तदाश्रये च० | १२८ | २६६ |
| अनुदात्तमस्वलक्षण० | ९७ | २३२ | कचित्त्विवृतिः प्रकृतिम्० | १२९ | २६७ |
| नञ्यटितमनित्यम् | ९८ | २३२ | औपदेशिकप्रयोगिकयोः | १३० | २६७ |
| आतिदेशिकमनित्यम् | ९९ | २३४ | वितया शपानुबन्धेन निर्दिष्टम्० | १३१ | २६८ |
| सर्वविधिम्यो लोपपि० | १०० | २३४ | पदगौरवाद्योगविभा० | १३२ | २७१ |
| प्रकृतिप्रहणे यदनुगन्त० | १०१ | २३५ | अर्धमात्रालाघरेन पुत्रो० | १३३ | २७२ |
| विधौ परिभाषोपतिष्ठते० | १०२ | २३७ | | | |
| उपपदविभक्तौः कारक० | १०३ | २४० | | | |

इति तृतीयप्रकरणम् ॥

शुद्धिपत्रम् ।

| अशुद्धम् | शुद्धम् | पृ. अं. | पृ. अं. |
|-----------------|-----------------|---------|---------|
| आन्तपर्यन्तलीयः | आन्तर्यम्वलीयः | ४७ | २ |
| सहिताभैरवि | सहिताभैरवी | ८३ | १ |
| विपक्रोष्टुनि | प्रियक्रोष्टुनि | १०८ | ११ |
| रंताहृष | रंताहृ | १५६ | २४ |
| प्रत्ययः | प्रत्ययः | २१६ | १२ |

॥ श्रीः ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

परिभाषेन्दुशेखरः ।

नत्वा साम्बं शिवं ब्रह्म नागेशः कुरुने सुधीः ।

शैखी ।

वन्देऽहं परमात्मानं सर्वज्ञं रघुनन्दनम् ।
यत्कृपावशतो यान्ति सिद्धिमत्र महर्षयः ॥ १ ॥
सरस्वतीञ्च तां भौमि वागधिष्ठातृदेवताम् ।
देवत्वं प्रतिपद्यन्ते यदनुपहतो जनाः ॥ २ ॥
नत्वा तातं गुरुदेवं भवदेवाभिधे विभुम् ।
यद्यशोभिर्धवलितः ककुभो जननीं पराम् ॥ ३ ॥
सीतां पतिप्रतां देवीं भारद्वाजकुलोद्भवाम् ।
विद्वतेः परिभाषाणां व्याख्यां कुर्वे ययामसि ॥ ४ ॥

चिकीर्षितस्य ग्रन्थस्य समासिप्रचारादिप्रतिबन्धकदुरितोपशमाय कृते मङ्गलं शिष्यशि-
क्षार्थं निबध्नाति *नत्वा साम्बं शिवमिति* । ननेः स्वाधिकोत्कर्षप्रकारकज्ञानाऽनुकूलव्या-
पाररूपेतया, उत्कर्षस्य च सर्वजगत्कर्तृत्वादिरूपस्य मायाशबलिते एव सम्भव इत्यभिप्रायेण
साम्बमिति विशेषणोपादानम् । *नागेश इति* । न च 'आत्मनाम्' इत्यादिना स्वस्य ना-
म्नो ग्रहणं निषिद्धमिति कथमेतन्निर्देश इति वाच्यम् ? तस्य निषेधस्य पितृसङ्केतितनामप-
रत्वादस्य च निर्देशस्य 'गोनर्हीयस्त्वाह' इति भाष्यकारोक्तिस्य इव यौगिकशब्दवदितत्वात् ।
एतेनाऽस्य ग्रन्थस्य भाष्यसिद्धान्ताऽनुसारित्वं ध्वन्यते ।

तत्त्वप्रकाशिका-

राघवाश्रितकरः स्मितामनः साभिलापमभितो विलोकयन् ॥
पातु केलिबनवीयिसंस्थितो माधवो मधुरया गिरा वदन् ॥ १ ॥
पार्वतीतनयं नत्वा कृत्वा गुरुं वन्दनम् ।
ययामसि सतान्मुप्युक्ते कुर्वे तत्त्वप्रकाशिकाम् ॥ २ ॥
शैखेणार्चिता वाणी नागेशस्यातिदुर्गमा ॥
सत्र गन्तुं प्रवृत्तेऽस्मिन् न हसन्तीह धीवराः ॥ ३ ॥

साम्बमिति । अम्बा पार्वती, माया, जगती सतीदेवी वा, तथा सहितमित्यर्थः ।
शिवम् शम्भुं, श्वेतेऽस्मिन् जगदिति व्युत्पत्त्या प्रत्ययकर्तारं, पितरं वा *मङ्गलं* व्यापकं, पाल-
नकर्तारं, ब्रह्मरूपिणम्बा । नत्वेत्यन्वयः । *यौगिकेति* । ननु नागः ईशः प्रवर्तको यस्येति-
व्युत्पत्त्यङ्गीकारे क्रियावाचकत्वेन विशेषणत्वादीशस्य पूर्वनिरातापत्तिः । न च पितृसङ्केतित-
नामलेखने दोषाभावः, तत्रापि स्वीयसूक्ष्मोच्चारणस्यावश्यम्भावात्, यद्यपि प्रतिज्ञावाक्य-
वदकतया स्वीयनामनिर्देशे प्रत्ययाभाव इति नामसङ्कोचपूर्वकमभिवादनं कर्तव्यमित्यर्थ-
बोधकं 'प्रत्यभिवादेऽशुद्धे' इत्यादिभाष्यप्रामाण्याल्लभ्यते तथाप्यभिवादात्परं विप्रो ज्यावांस-
मभिवादयन् । असौ नामाहमस्मीति "हं नाम परिकीर्तयेत्" इत्यादिस्मृत्येकवाक्यतया नि-

वालानां सुखबोधाय परिभाषेन्दुशेखरम् ॥ १ ॥

प्राचीनवैयाकरणतन्त्रे वाचनिकान्यत्र पाणिनीयतन्त्रे ज्ञापकन्यायसिद्धानि भाष्यवार्तिकयोरुपनिबद्धानि यानि परिभाषारूपाणि तानि व्याख्यायन्ते ।

शैखी ।

कुरुत इति । न च 'वालानां सुखबोधाय' इत्युक्त्या क्रियाफलस्य परगामित्वसूचनादात्मनेपदाऽनुपपत्तिरिति वाच्यम् ? स्वस्य यशःप्राप्तिरूपस्य बालसमयेतमुखवाधात्मकसत्कर्मप्रयोज्याऽदृष्टस्य च फलस्य कर्तृगामित्वसम्भवात् । *बालाश्च*—भाष्याद्याकरप्रख्यात्परिभाषार्थस्य अदिति ग्रहणेऽसमर्थाः । *परिभाषेन्दुशेखरमिति* । परिभाषा एव इन्दुः अर्थप्रकाशकत्वात्, सा शेखरे यस्येति ग्रन्थपक्षे, यद्वर शेखरशब्दस्य भूपगवाचकस्य परिभाषेन्दुशब्देन परिभाषेन्दुरेव शेखरो यस्येति बहुव्रीहिः । शिवपक्षे तु परिभाषेन्दुः शेखरो यस्येत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु कास्ताः परिभाषा अत आह—प्राचीनेति* । इ(१)न्द्रादिनिर्मिते । *वाचनिकानि* । वचनरूपेण पठितानि । *अत्र* । एतच्छास्त्रे । *ज्ञापकन्यायेति* । अस्य प्रायेणेत्यादिः । ज्ञापकन्यायसिद्धानि, अत्र न्यायशब्दस्याऽल्पाच्चेऽपि लौकिकत्वेनाप्राधान्ये, ज्ञापकत्वेनैतच्छास्त्रीयं लिङ्गमिति शास्त्रस्य अपि प्रणीतत्वेन स्मृतित्वात् 'स्मृत्यनुगृहीतत्वं ज्ञापकस्य' इत्यभ्यर्हितत्वात्पूर्वनिशतः ।

न चाऽत्र शास्त्रेऽपि कासाश्चित्परिभाषाणां वाचनिकत्वमिति न्यूनताऽऽपत्तिरिति वाच्यम् ? प्रायेणेत्यादिपक्षेण परिहृतरत्वात् । तत्र ज्ञापकमेतच्छास्त्रीयं लिङ्गमेव । न्यायश्चैतच्छास्त्रप्रसिद्धा युक्तिर्यथा—नित्यस्य बलवत्त्वे प्रदर्शिता लाघवरूपा, अपि च लोकतन्त्रान्तरप्रसिद्धा युक्तिः, एताभ्यां सिद्धानि । इन्द्रान्ते श्रूयमाणस्य सिद्धशब्दस्य प्रत्येकं सम्बन्धः । तेनैकमिन्द्रासंग्रहः । ज्ञापकसहितो न्याय इति च समासः । तेनोभयसिद्धायाः संग्रहः पुनरुभयोरैक्येनैव ।

ननु सूत्ररूपेण पठितानां परिभाषाणामिहाऽव्याख्यानादप्रामाण्यं प्रतिज्ञायाः प्राप्नोतीत्यत आह—भाष्येति* । परिभाषापदस्य च, 'परितो भाष्यते या' सा परिभाषेति व्यावृत्तिरूपस्य वदर्थताऽवच्छेदकस्यापि सम्भवात्परिभाषापदमायु योगरूढमिति बोध्यम् । न तत्त्वप्रकाशिका—

यमस्य विनेषविषयकत्वात्, इति चेत्सत्यं गोनदीयस्त्वाह इति भाष्यकृतेन स्वामान्यविषयवत्त्वपरूपेणादोषात् । *कुरुत इति* । "गन्धनावलेप" इति प्रकथनादावात्मनेपदम् । *मुदयबोधयेति* । अनायासेन बोधयेत्यर्थः । एतेन शास्त्रारम्भस्य प्रयोजनं दर्शितम् *मुधीरिति* । एतेनोद्वापोदबुद्धत्वं सूचितम् ॥ १ ॥

परिभाषारूपे विषये दर्शितं तत्त्वस्वरूपजिज्ञासायां जिज्ञासारूप्यमाह—ननु कास्ता इति* । *पठितानांति* । एवं च "हको गुणपट्टी" इत्यादीनां न प्रतिज्ञाविषयीभूतत्वमिति भाषः । *परिहृतरत्वादिनि* । केचित् सर्वाणां ज्ञापकन्यायसिद्धतामेव, वाचनिकत्वकथनन्तु भाष्येऽनुगन्त्यामगूढकमिन्त्याहुः ।

व्यावृत्तिरूपम्येति । परित इत्यस्य विधिशास्त्रजन्यतादयोपे इत्यर्थः । व्यावृ-

(१) इन्द्रादीनि । आदिपदेन

शेन्दं चान्दं कचकृशं कोमारं शाकटायनम् ।

शारस्वतं यारिज्ञं साकनम्—इति अष्टम्याकरणानि ज्ञेयानीति भावः ।

ननु “लण्” “श्रद्धलण्” सूत्रयोर्णकारद्वयस्यैवोपादानेनाणिग्रहणेषु सन्देहादनिर्णयोऽत आह—

व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् ॥१॥

विशेषस्यान्यतराद्यर्थरूपस्य व्याख्यानाच्छिष्टकृतात् प्रतिपत्तिर्निश्चयो, यतः सन्देहाच्छास्त्रमलक्षणमनुगुपकं लक्षणमलक्षणं तथा न, शास्त्रस्य निर्णयजनकत्वौचित्यादित्यर्थः ।

भैरवी ।

तु यौगिकमेव संज्ञायामतिव्याप्तेः ।

यत्तु, परिभाषात्वं “लिङ्गवत्त्वे मति नियामकत्वम्” इति तत्र, वक्ष्यमाणे केवलवाचनिकानामसंग्रहाऽऽपत्तेः । यदपि “अनियमे नियमकारित्वम्” इत्येव तदपि न, अत्राऽव्याख्यातनियमार्थसूत्रेऽतिव्याप्तेः ।

सर्वशास्त्रोपकारकत्वेन भाष्ये सर्वतः पूर्वं पाठेन चान्यर्हितत्वाद्वाऽपि सर्वत एतस्याः कथने वीरं बहू भूमिकामाह—*नन्विति* । *व्याख्यानत इत्यादि*—आद्यादित्वात् सार्वविभक्तिकस्ततिः । *विशेषप्रतिपत्तिरिति* । कर्मपट्यन्तेन समासः, वाच्यत्वस्य कर्तुर्नुपादानान्नात्र “उभयप्राप्तौ” इति सूत्रविहिता पृष्ठे इति “कर्मणि च” इति समासनिषेधो न शङ्क्यः । शेषपट्यन्तेन वा समासः । व्याख्यानञ्च,—

पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।

आक्षेपोऽथ समाधाने व्याख्यानं पङ्क्तिं मतम् ॥

तत्त्वप्रकाशिका—

तिशब्दस्य व्यापारविशिष्टत्वमर्थान्भूनाधिकवृत्तिसङ्कोचकत्वमर्थः । शाब्दबोधजनरूपेण भाषापदेन स्नातन्वयेण वाक्यार्थधीप्रयोजकत्वमधिकारादिव्यावृत्ते रूपं सूचितमिति भावः । *अनियमे नियमकारित्वमिति* । अनियमत्वं न्यूनातिरिक्तवृत्तित्वम्, नियमत्वं—सङ्कोचकत्वमेव च न्यूनातिरिक्तवृत्तिमङ्कोचकत्वं परिभाषाप्रमिति कलितम् । *अतिव्याप्तेरिति* । वस्तुतस्तु साक्षाद्व्यवहारिकसाधुत्वप्रकारकविशेषास्त्रजन्यशाब्दबोधीन्यूनाधिकवृत्तिसङ्कोचकत्वमिति स्वीकाराच्च दोषः । नियमनिषेधपवादानां विषयसङ्कोचकत्वेन शाब्दबोधीयसङ्कोचाभावाद्बुद्ध्यासः । संज्ञावाश्यायः, विशिष्टास्त्रेति । परम्परया तामेव वाश्याय साक्षादिति ।

शास्त्रत्वबाधबीजतन्त्रशेषसम्पादिकासु शास्त्रत्वं विना लभ्याविषयत्वेन बाधरूपैवासम्भवात् बाधबीजानामुपजीव्यत्वेन तन्त्रशेषस्य च शेषत्वेनैव शेषभूतत्वाद्बुद्ध्यातसङ्गत्या शास्त्रत्वसम्पादिकानाम्पूर्वम्पाठे प्राप्ते तात्त्वपि पूर्वं कस्याः पाठ इत्याशङ्क्यामाह—*सर्वशास्त्रोपकारकत्वेनेति* *अन्यर्हितत्वादिति* उपोद्घातयद्गत्वेति भावः ।

मूले—*सन्देहादिति* । ननु पशुपदलोमवल्गाङ्गुलावच्छिन्ने शक्तमिति निश्चये श्वेते नीले येतिशशयादर्शनाद् “आदिरन्त्येन सहिता” इत्यनुशासनेनाणपदेऽण्त्वावच्छिन्ने यावद्गणं शक्तनिश्चयेन निश्चयस्य च शशयप्रतिबन्धकत्वेनाणपदे वर्णत्रये वर्णचतुर्दशे वा शक्तमिति शक्ती, तात्पर्येऽपि चैकत्रानेकेच्छायाः दर्शनेन पूर्वतात्पर्येणोच्चरितम्परतात्पर्येण येतीच्छायाः विरोधाभावादिकर्मिकविरुद्धकीटिद्वयावगाहि ज्ञानरूपसंशयस्याभावेन कथं सन्देह इति चेत्सत्यम् पूर्वणकारोच्चारणसामर्थ्याच्छक्तिद्वयकल्पनेन तयोश्च व्याप्यव्यापकयोर्विरोधेन तात्पर्यसंशयस्य जागरूकत्वात् । *अनिर्णयइति* । तात्पर्यसंशयाश्चिन्त्यात्मकशाब्दबोधाभाव इत्यर्थः । अन्यतराद्यर्थस्य । अन्यतम आद्यर्थः ।

असन्दिग्धानुष्ठानसिद्ध्यर्थेऽत्र शास्त्रे सन्दिग्धोच्चारणरूपाचार्यव्यव-
हारेण सन्देहनिवृत्तेर्व्याख्यानातिरिक्तनिमित्तानपेक्षत्वं बोध्यत इति यावत् ।

तेन “अणुदित्सवर्णस्य” (१-१-६९) इत्येतत्परिहाय पूर्वेणानुग्रहणं,
परेणानुग्रहणमिति “लण्” सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥ १ ॥

तत्र संज्ञापरिभाषाविषये पक्षद्वयमित्याह—

यथोद्देशं संज्ञापरिभाषम् ॥ २ ॥

कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् ॥ ३ ॥

उद्देशमनतिक्रम्य यथोद्देशम् । उद्देश उपदेशदेशः । अधिकरणसा-
मैरवी ।

इति प्रसिद्धमेव । पदार्थोक्तिस्तियत्र पदार्थपदे कृत्वा पदबोध्यपरम् । वृत्तिश्च शक्तिरुक्ष-
णान्यजनान्यतमरूपा, तेन ज्ञापकसिद्धानामपि संग्रहः । यथा—परेणाऽणुग्रहणे “उर्ध्वत्” इति-
सूत्रस्थे तत्परकरणे व्यञ्जकमिति ॥ १ ॥

अत्र शास्त्रे संज्ञापरिभाषाणां कार्यनिर्वाहकत्वं पक्षभेदेन सत्र तत्र दृश्यतेऽतस्तौ पक्षा-
वाह—*यथोद्देशमित्यादिना* । तत्र प्रथमपरिभाषाऽर्थमाह—*उद्देशमिति* ।

यद्यप्यन्यत्र भावघञन्तयोस्त्वदेशोपदेशपदयोः “प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशो” “गुणैः प्रापणमु-
द्देशः” इति भेदेनोपादानं दृश्यते । “उद्देशश्च प्रातिपदिकानां नोपदेश” इति श्लोकम् । तथापी-
होद्देशोपदानधिकरणघञन्तम् । उदुपेत्युपसर्गभेदेऽपि दिशघञ्त्वरुखारणार्थक एव । यथा—प्रत्य-
क्षमाख्यानेऽपि “इषेत्त्वकर्मधीष्व” इति गुरणा कथिते, शिष्यो वक्ति “उद्दिष्टो मेऽनुवाकः” इत्य-
ग्रोत्पूर्वकदिशोः प्रयोगे । एवमोद्देशोपदेशयोर्दृश्यते उच्चार्यतेऽस्मिन्नित्यधिकरणघञन्तयो-
क्तत्वप्रकाशिका—

ननु ज्ञापितेऽपि स्वांशे चारितार्थ्यमावात्, व्याख्यानेनैव सन्देहनिवृत्तेरनन्यथासिद्ध-
पलाभावाच्चेयमसत् तत्त्वत आह—*असन्दिग्धेति* । सन्देहविषयभिन्ने यदनुष्ठाने शब्द-
प्रयोगस्तत्सिद्ध्यर्थ इति भावः । भावकान्तेनाशं आरब्धे निष्पन्नमेतद् ।

वायम्भावाः—तद्विषयकप्रवृत्तिं प्रति तद्विमिकेष्टसाधनत्वनिश्चयस्य हेतुत्वेनाप्राप्तुष्ठान-
स्य शब्दोच्चारणविषयकेच्छारूपत्वेन तत्प्राप्त्यै साधुत्वाभिधानद्वारा पुण्यजनकत्वरूपेष्टसा-
धनत्वज्ञानजननत्वाच्छास्त्रस्योक्तेजकत्वेन शास्त्रमसन्दिग्धानुष्ठानप्रयोजकमभवतीति । प्रयो-
गश्चेत्यर्थ—शास्त्रं, सन्देहाभावावच्छब्दोच्चारणविषयकेच्छाजनकं इष्टसाधनत्वनिश्चयजनक-
त्वात् । *सन्दिग्धेति* । भावकान्ते सन्देहजनके व्याख्यानिकम् । *बोध्यत इति* । अनुमी-
यत इत्यर्थः । प्रयोगश्चेत्यर्थ—सन्देहविषयोभूतं शास्त्रं, व्याख्यानातिरिक्तनिमित्तानपेक्ष-
सन्देहजनकोच्चारणविषयत्वे सति, असन्दिग्धानुष्ठानप्रयोजकत्वात् । अत्र चानुष्ठाने णकारो-
च्चारणम् । अन्यथा गकाराद्यनुष्ठानेनैव सन्देहनिवृत्तेस्तदुच्चारणं व्यर्थमेव स्यात् । कल्पिते
स्वस्मिन्निमित्तान्तरस्यापेक्षाभावेन व्याख्यानेनैव निरर्थकः । ननु गकारादिकरणेन । अत ए-
व मनुदोषोपादानमपि, इति न स्वांशे चारितार्थ्यमात्रप्रयुक्तमेतद्वैषम्यमिति बोध्यम् ।
ध्यन्तर्गमिति । नच भाष्यमानस्येन मन्त्रोपाहकत्वाज्ज्ञापितेऽपि कथं स्वांशे चारि-
तार्थ्यमिति वाच्यम् । अपूर्वबोधित्वाभावेन भाष्यमानत्वाभावात् । “अणुदित्” सूत्रादन्यत्र
सत्र सत्राणुग्रहणसामर्थ्यात्पूर्वेणैव, अन्यथाऽप्यत्र विदध्यात् । व्यौरिति सम्प्रत्ययहणादि-
मपि पूर्वमेव ॥ १ ॥

*तत्र—शास्त्रे । तेन, शास्त्रावच्छेदेन पक्षद्वयमिति न प्रत्येकं संज्ञापरिभाषादेशमाश्रय

धनश्चायम् । यत्र देशे उपदिश्यते तद्देशे एव वाक्यार्थबोधेन गृहीतशक्त्या गृहीतपरिभाषार्थेन च सर्वत्र शास्त्रे व्यवहारः । देशश्चोक्तचारणकाल एवात्र शास्त्रे व्यवह्रियते । तत्तद्वाक्यार्थबोधे जाते भविष्यति किञ्चिदनेन प्रयोजनमिति ज्ञानमात्रेण सन्तुष्यद्यथाश्रुतग्राहिप्रतिपत्रपेक्षोऽयं पक्ष इति “ईदृत्” (१-१-११) सूत्रे कैयटः ।

मैरवी ।

धारणाधिकरणमर्थः । *अनतिप्रम्येति* । एष्यन्तस्याध्याहृतचर्तत इति क्रियायामन्वयः । यद्यप्युच्चारणस्य शाब्दरूपतया तदधिकरणं गगने सुप्रसिद्धं तथापि तस्याऽनौपाधिकपेक्षाभावेन पौर्वापर्यव्यवहारनियामकत्वाभावादिहाऽधिकरणं खण्डकाल एव विवक्षितः । तत्र संज्ञाविभाषाविषये आह—*यत्र देशादित्यादि* ।

संज्ञाविषये आह—*गृहीतशक्त्येति* । परिभाषाविषये आह—*गृहीतपरिभाषार्थेनेति* । गृहीतपदस्योभयत्र कर्मधारयः । *अवह्रियत इति* । अवह्रियमाणव्यवस्थासिद्धये आश्रीयते । यथादेशाकार्यकालयोर्मध्ये द्वितीयपक्ष एव मुख्यः, प्रथमस्तु क्वचिद्व्यसिद्धये आश्रीयते । परन्त्वयत्र मुद्रयाधित्तिरियोग्यमित्याशयेनाह—*तत्तदिति* । *ईदृत्सूत्र इति* । यथा—अग्नी इत्यत्र “ईदृत्” इत्यनेन प्लुतम्बाधित्वा, प्रगुह्यते जाते, तस्य स्था-

तत्त्वप्रकाशिका—

दोषो(१)तोऽपि । *एष्यन्तम्येति* । “परावरयोगे च” इति क्त्वाप्रत्ययस्य “समासे नप्पूर्व” इति ष्यप् । *सुप्रसिद्धमिति* । नैयायिकादीनामित्यादि । *अनौपाधिकपेक्षाभावेनेति* । नित्यस्याकाशस्यैकविधत्वात्तत्रोपाधिकृत एव भेदः । पौर्वापर्यं चाधिकरणभेदस्यैव नियामकत्वेन वास्तविकस्य तस्याग्राभावेनपौर्वापर्यव्यवहार एव न स्यादतः खण्डकाल एव शाब्दाधिकरणत्वेन विवक्षित इत्याह—*पौर्वापर्येति* ।

गृहीतशक्त्येति । अयं भावः—उद्बोधकस्य स्मरणे कारणत्वेन, विधिशालाखण्डकतत्त्वाद्धेतिकपदानुभवोद्बोधितेन संज्ञाशास्त्रजन्यबोधादातसंस्कारेणैव शाब्दबोधे जाते विधिप्रदेशे न संज्ञाशास्त्रोपस्थितेः प्रयोजनम् । कार्यकालपक्षस्तु स्मरणे अपेक्षाबुद्धेरपि सहकारित्वेन फलादर्शनात् गुणवाक्ये विश्वासाभावाद्यत्र श्रोतृरपेक्षा जाता तत्रानुभावकतया असम्भवात्पुनर्विधिदेशे संज्ञाशास्त्रजन्यबोधस्यावश्यकत्वादाश्रयणीयः । *गृहीतपरिभाषार्थेनेति* । अत्रापि स्वलिङ्गलिङ्गितविधिशालाखण्डकस्वलिङ्गानुभवोद्बोधितेन संस्कारेणैव निर्वाहः । अयम्भावः—उभयत्र यथोद्देशे वाक्यैकवाक्यता । साचो(२)पञ्जीव्यपञ्जीवकमावा-

(१) दोषलेशोऽपीति । शास्त्रे इत्यस्य पक्षद्वयमैरवीग्रन्थेन पक्षद्वयत्वावच्छिन्नाधेयतानिरूपिताधिकरणता शास्त्रत्वावच्छिन्नेति लभ्यते । अन्यथा संज्ञापरिभाषादेशत्वावच्छिन्नायाः एव तस्या लाभेन प्रतिसंज्ञाविषये प्रतिपरिभाषाविषये पक्षद्वयमित्यनिवृत्तभावना स्यादिति भावः ।

(२) उपजीव्येति । “वृद्धिरेचि” इत्यादिशास्त्राणां शाब्दबोधः कृत्वादिपदार्थज्ञानाय संज्ञाशास्त्राधीन इत्युपजीव्यत्वं, संज्ञाशास्त्राणामुपजीवकत्वं विधीनाम् । एवं परिभाषाविषयेऽपि बोध्यम् । यद्यपि परिभाषाशास्त्राणां तात्पर्यप्रादुक्तत्वेन शाब्दबोधे च पदपदार्थज्ञानस्यैव कारणत्वेन न तासां तथात्वम्, तथापि निश्चयात्मकशाब्दबोधे तात्पर्यनिश्चयस्यैव कारणत्वेन परिभाषाणामुपजीव्यत्वमबोध्यम् ।

केचित्तु-परिभाषाविषये “तस्मिन्” (१-१-६६) इत्यादिवाक्यार्थबोधे
‘सप्तमीनिर्देशादि क’ इति पर्यालोचनायां सकलतत्तद्विध्युपस्थितौ सकल-
तत्तत्संस्काराय गुणभेदे परिकल्प्यैकवाक्यतयैव नियमः ।

कार्यकालपक्षे तु त्रिपाद्यामप्युपस्थितिरिति विशेषः । एतदेवाभिप्रे-
त्याधिकारो नाम त्रिप्रकारः कश्चिदेकदेशस्यः सर्वं शास्त्रमभिज्वलयति,

भैरवी ।

१-१-६६

ने प्लुते कृतेऽपि पुनः प्रगृह्यसंज्ञा प्लुतत्वाऽसिद्धत्वेन द्विमात्रत्वबुद्ध्या प्रवर्तते । यद्यत्र कार्य-
कालपक्षः स्यात्तदा प्रगृह्यत्वस्य “अणोऽप्रगृह्यस्य” इत्येकवाक्यतापन्नत्वेन प्लुतात्परत्वबु-
द्ध्या तद्बुद्ध्या प्लुताऽसिद्धत्वमस्यात् । ‘लक्ष्ये लक्षणे सकृदेव प्रवर्तते’ इति न्यायस्तु संज्ञा-
शास्त्रविषये नाभ्योपेत इत्यन्यत्र स्पष्टम् । कैयट इत्यनेन सूचितामरुचि सूचयन् स्वसिद्धान्त-
माह—‘केचित्स्थितिः’ ।

परिभाषाविषय इति भिन्नो ग्रन्थः । उच्यते इति शेषः । ‘वाक्यार्थबोध इति’ । सती-
तिशेषः । ‘तत्तत्संस्काराय’ । सप्तम्यन्तपदघटितवाक्यजन्यशाब्दबोधाय निश्चयात्मकबोधो
हि निषामकशास्त्रमहायेन भवतीति भावः । ‘गुणभेदम्’ परिभाषाभेदम् । ‘एकवाक्य-
तयैवेति’ । पञ्चकतेन यथोद्देशपक्षेऽपि वाक्यभेदो नेति व्योक्षितम् ।

ननु यथोद्देशेऽपि बोधैकवाक्यता तर्हि कार्यकालपक्षादस्य को विशेष इत्यत आह—‘का-
र्यकालेति’ । ‘विशेषः’ । यथोद्देशपक्षाद्विशेषः । अत्र त्रिपाद्यामप्युपस्थितिरित्यनेन परि-
भाषायाः यत्तत्संज्ञां तत्र शास्त्रार्थबोधस्तन्मन्योऽस्त्येव, परन्तु सपादसप्तम्यायां यद्यच्छास्त्र-
संस्कारयोग्ये, तैः पदैकवाक्यता न तु त्रैपादिकैः, तेषामसिद्धत्वात् । कार्यकालपक्षे, तु परि-
भाषाशास्त्रे त्रैपादिकेन शास्त्रेण स्वसंस्काराय स्वमन्त्रिणि प्राप्यते त्रैपादिकदृष्ट्या परिभाषा-
याः सिद्धत्वात्, तदनन्तरं वाक्यार्थनिश्चयः । एवं च त्रैपादिकस्य शास्त्रमन्यतिप्रसक्तत्वं
कार्यकालपक्षमाधित्य सम्पाद्यमिति भावः । अत्र साधकमाह—‘एतदेवेति’ । पक्षद्वयेऽप्येक-
वाक्यत्वस्यप्रादेव । ‘नामेति’ । निश्चित इत्यर्थः । अधिकारत्वेन निश्चितस्त्रिप्रकार इति
व्योच्यम् ।

तत्त्वप्रकाशिका—

पञ्चविषयताश्रयत्वरूपा । कार्यकाले तु पदैकवाक्यता । सपि स्वीयपदेन सह विविताच्छोय-
पदानां परस्परं नि(१)रूप्यनिरूप्यभाषापञ्चविषयताप्रयोजकत्वरूपा ।

ननु शाब्दो द्वाकादृशा शब्देनैव प्रपूर्यतेऽन्यथाऽशब्दादऽपि बोधप्रसङ्गः । एवं बोधेक्षा-
धियाभिप्रायेशाधियामपि न स्मरणेन निर्वाह अपि तु पदममर्पणेनैव, तच्चापेक्षाधियां गुणप्रदेने
विधिशास्त्रोपन्यापनेन, उपेक्षाधियां विधिप्रदेने गुणशास्त्रोपन्यापनेनेति । प्रभाकरानुयायिनः
वैयर्थ्यं मतममद्गतमत्र आह—‘अरुचि सूचयन् स्वसिद्धान्तमिति’ । ‘वाक्यभेदो नेति’ ।
पदैकवाक्यतयैव भवतीति भावः ।

‘को विशेष इति’ । बोधमन्योभयत्र समन्यादित्यादि । ‘स्वमन्त्रिणि प्राप्यते’ । अदृष्ट-
विताकार्यगन्यायेन । ‘साधकमाहति’ । अनुकूलत्वेनेति शेषः । ‘अधिकारेति’ । स्वदेने
बोधश्रवणं गति साक्षादेकवाक्यतया बोधोपयोगित्वमधिकारत्वम् । दोषो यथा—न्यायपथ-

(१) निरूप्येति । “तस्मिन्” इति परिभाषया पूर्वस्येतिपदेऽपि किञ्चिदपि-
रूप्यनिरूप्यभाषाभिप्रायानामायां “इदं यगवि” इति सूत्रपटकाचीति तन्निर्णयको भवति,
परिभाषापरपदम् निरूप्यः ।

यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः सर्वं वेश्माभिज्वलयतीति। "पृष्ठी स्थाने" (१-१-४६)
इति सूत्रे भाष्ये उक्तम् । अधिकारशब्देन पाराध्यात्परिभाषाप्युच्यते । क-
श्चित् परिभाषारूप इति कैयटः । दीपो यथा प्रभाद्वारा सर्वगृहप्रकाशक
एवमेतत् स्वबुद्धिजननद्वारा सर्वशास्त्रोपकारकमिति तत्तत्पर्यम् । एतच्च
पक्षद्वयसाधारणं भाष्यं पक्षद्वयेऽपि प्रदेशैकवाक्यताया इतः प्रतीतेः । तत्रै-
तावान् विशेषः । यथोद्देशे परिभाषादेशे सर्वविधिसूत्रबुद्ध्यात्मभेदं परि-
कल्प्य तैरेकवाक्यता परिभाषाणाम् । तदुक्तं "किञ्चित् च" (१-१-५) इति
सूत्रे कैयटेन—'यथोद्देशे, प्रधानान्यात्मसंस्काराय सन्निधीयमानानि गुणभेदं
प्रयुञ्जत' इति ।

कार्यकाले, तु तत्तद्विधिप्रदेशे परिभाषायुक्त्यैकवाक्यतेति । अत्रैकदे-
शस्थ इत्यनेन तत्र तत्र तत्तद्बुद्ध्यापि तत्तद्देशस्थत्वं धारयति, यथा-
व्यवहर्तृणां कार्यार्थमनेकदेशगमनेऽपि न तत्तद्देशीयत्वव्यवहारः, कि-
न्त्वभिजनदेशीयत्वव्यवहार एव तद्वत् । निषेधवाक्यानामपि निषेध्यविशे-
षाकाङ्क्षत्वाद्भिष्येकवाक्यतयैवान्वय इति परिभाषासादृश्यात् परिभाषा-
त्वेन व्यवहारः "किञ्चित् च" (१-१-५) इत्यत्र भाष्ये । तत्रैकवाक्यता प-
भैरवी ।

परिभाषायाः कथमधिकारत्वमित्याकाङ्क्षायामाह—*अधिकारशब्देनेति । *एतच्चेति*
भाष्यमित्यनेनाञ्चितम् । *प्रदेशः* विधिः । *इतः* । उक्तभाष्यात् । *तत्र* यथोद्देश-
पक्षे । परिभाषादेशे स्वसंस्कारावोपस्थिते विधिशालमेव परिभाषाभेदकम् । अन्तिमं पक्षे
आत्मशब्द आत्मीयपरिभाषापरः । विधिशालाणां प्राधान्यं, साक्षाद्व्यसंस्कारकत्वम् ।
गुणभेदम् परिभाषाभेदम् । यथोद्देशपक्षे परिभाषाया एकदेशस्थत्वं स्पष्टमेव, कार्यका-
लपक्षे ॥ यद्यपि प्रधानदेशे स्वबुद्धिस्तथापि स्वप्रदेशे वाक्यार्थबोधे जाते तत्र तत्रैकवाक्यता-
भवतीत्येतावता ।

अत एव वक्ष्यति *अत्रैकदेशस्थ इत्यादि* । *अत्र* उक्तभाष्ये । एतेन भाष्येण य-
द्देशे परिभाषाणां पाठस्तद्देशस्थत्वव्यवहार एवेति सूचितम् ।

ननु कार्यकालपक्षमाश्रित्य निषेधशास्त्रविषये व्यवस्थोपपादनमयुक्तं तस्य परिभाषा-
त्वाभावादत आह—*निषेधवाक्यानामप्यति* । अत्राऽपिना मुख्यपरिभाषात्वे येषां तेषां
संग्रहः । निषेध्यपदत्रयं, संस्कारार्थपरम् । एकवाक्यतामुपपादयति—*तत्रैकैक्यदिना* । पदु-
दासन्त्यायेनेत्यनेन, यथा—तत्र पक्षे पदैकवाक्यता "निपात एकाग्रनाद्" इत्यादावाद्भिन्न
एकान्निपातः प्रगृह्यसेत्तक इति दृष्टा, तथा "किञ्चित् च" "इति शास्त्रेण विधिशालानामेक-
वाक्यता किञ्चिन्निसावधानुकार्यधानुकार्योरित्यादिरीत्या कार्येति बोधितम् । नन्विदम-
युक्तम् "नधानुलोप" इत्यादौ नगोऽसमस्तत्वेन क्रियायामेवान्वयस्योचितत्वादित्याशये-
तत्त्वप्रकाशिका—

प्रभासम्बलितपदार्थप्रकाशक एवं परिभाषाशास्त्रमपि स्वावयवपङ्केनेवेत्याह मूले—*दीपो
यपेति* ।

ननु "घटो न पट" इत्यत्र ननर्थे भेदे सत्यऽपि "घटे न पटे" इत्यादौ तथाभावात्, अ-
समस्तननर्थभेदयोरे प्रथमान्तपदोपस्थितेः कारणत्वं कल्प्यते । एवंचात्र प्रथमान्तान्यसम्प-
न्तपदसमभिव्याहृतत्वेन नगो भेदबोधकत्वं न सम्भवति तदाह—*नन्विदमयुक्तमिति* ।

व्याप्यतया कार्यज्ञानोत्तरमेव तत् प्रवृत्तिः, कार्यज्ञानं च प्रदेशदेश एवेति तद्देशस्थस्यासिद्धत्वात् पूर्वग्रहणेनाग्रहणात्, एवं तद्बोधोत्तरमेव विरोध-
प्रतिसन्धानं चेति तत्रत्यपरत्वमेव "विप्रतिषेध" सूत्रप्रवृत्तौ बीजम् । अत
एव कार्यकालपक्षे "अयादिभ्यः परैव प्रगृह्यसंज्ञा" इति "अदसो मात्" (१-
१-१२) इति सूत्रे भाष्य उक्तम् ।

आकाङ्क्षाधिकारस्थभपदसंज्ञादिविषये तु यथोद्देशपक्ष एवेति तत्रत्य-
भैरवी ।

प्रदेशेति । तत्र वाक्यार्थबोधे जाते एव कार्यनिश्चयात् । *तद्देशस्थस्य* "अणोऽप्रगृह्य"
इत्येतद्देशस्थस्य । "अदसो मात्" इत्येत्येति बोधः । *पूर्वग्रहणेन* "अदसो मात्" इति
सूत्रैकवाक्यतापन्न "पूर्वग्रासिद्धम्" इत्येकदेशभूतपूर्वग्रहणेन । एवमसिद्धत्वविषये सर्वत्र
व्यवस्था बोध्या । असिद्धत्वं संज्ञाशास्त्रदृष्ट्या यत्र प्राप्तं, तत्र व्यवस्थामुक्त्वा लाघवाय
विप्रतिषेधसूत्रविषयेऽपि व्यवस्थामग्नैवाह—*एवमिति । तद्बोधोत्तरम्* प्रदेशो वाक्यार्थबो-
धोत्तरम् । चेन कार्यज्ञानसमुच्चयः । *तत्रत्यपरत्वम्* प्रदेशदेशोपपरत्वम् । अत्र साध-
कमाह—*अत एवेति* । प्रदेशदेशोपपरत्वस्य विप्रतिषेधसूत्रप्रवृत्तौ बीजत्वादेष्वर्थः ।
परैवेति । एवकारेण यद्यप्यष्टाध्याय्याम्पूर्वम्पाठः संज्ञायास्तथापि स्वदेशोपवाक्यार्थबो-
धस्य लक्ष्यसाधकत्वाऽभावेनाष्टाध्यायीपाठकृतम्परत्वं यद्यप्ययादीनान्तथापि तस्य लक्ष्य-
साधकत्वमेति सूचितम् । अत्र संज्ञापदोपादानेन परिभाषाविषये स्वदेशोपपरत्वस्यैव का-
र्यकालपक्षेऽपि नियामकत्वमिति ध्वनितम् ।

सूत्रे भाष्य इति । तत्र हि—'अन् अग्र अमी अग्र' इत्यादौ सूत्रचमीत्वयोः "अ-
दसो मात्" इति सूत्रदृष्ट्याऽऽरम्भसामर्थ्यादसिद्धत्वाभावेऽपि "एवोऽयवायायः" इत्येतद-
दृष्ट्यासिद्धत्वादयादय आदेशाः प्राप्नुवन्तीत्याशङ्कायां, परेण "अदसो मात्" इतिसूत्रस्य
सहि वैषम्यं प्राप्नोतीति शङ्किते, वचनस्य यद्देशस्थात् "अदसो मात्" इत्येतद्दृष्ट्या सू-
त्रचमीत्वे सिद्धे, तत्र चारितार्थ्यम्प्रदर्शितम् । "अन् अमी" इत्यत्र "अदसो मात्" इत्य-
नेन प्रगृह्यते इति "अप्रगृह्यस्य" इति पर्युदासाय तदेकवाक्यतापन्न "अदसो मात्" इत्येतद्-
दृष्ट्या सिद्धत्वं यथा, ततः सिद्धान्तिना कार्यकालपक्षे "इतप्रगृह्य अचि" इति सूत्रैकवा-
क्यतापन्नस्य "अदसो मात्" इत्यस्य "एवोऽयवायायः" इत्येतदपेक्षया परत्वाद्विप्रतिषेधशा-
स्त्रलेनायादीन् बाधित्वा प्रगृह्यत्वमेव भवतीतिप्रतिपादितम् ।

नन्येवं सर्वसंज्ञाशास्त्रविषये व्यवस्था स्यात्, एवञ्च भवेत्संज्ञायाः सर्वत्र पदसंज्ञायाधरत्व-
मिष्टन्तम् सिध्येत् आह—*आकाङ्क्षेति । यथोद्देशपक्ष परेत्येवकारेण कार्यकालपक्षव्य-
मच्छेदः । यद्यत्र कार्यकालपक्षः स्यात् तदा "अदसो मात्" इति सूत्रस्योक्तमाप्यरीत्या नलो-
पैकवाक्यतापन्नपदत्वस्य त्रीणादिकत्वेनासिद्धत्वात्संज्ञाया बाधो न स्यादेषञ्च राज इत्यादीः
नलोपः स्यात् ।

यथोद्देशपक्षे तु, स्वदेशोपपरत्वस्यैव नियामकतया पदसंज्ञाया भवेत्तथा परत्वाद्वाचः ।
अन्तिमपक्षे "अविष्यति किञ्चिदनेन प्रयोजनम्" इति ज्ञानमात्रेण प्रवृत्तेः स्वीकारात् ।
अत्र तु पदत्वस्य बाध एव प्रयोजनमित्यस्य बाधो न स्यात्वात् । कार्यकालपक्षे तु, तत्त-
द्विधिप्रदेशोपपरत्वस्यैव नियामकतया यत्र भाऽधिकारीयशास्त्रस्याऽप्राप्ते भवेत्संप्रवृत्ति-
रिति "सुखा, धान्ना" इत्यादौ भाऽधिकारीयशास्त्रस्याऽप्राप्ते भवेत्संज्ञाया अप्राप्तौ "स्वादियु, इति
सूत्रेण पदसंज्ञा "इको सवर्णे" इति सूत्रैकवाक्यतापन्ना स्यात्तथा च प्रवृत्तिभायः स्यात् ।

न च भवेत्संज्ञा पदसंज्ञाया अपवाद इति बाध्यम् ? शुनः शुना पुन इत्यादौ युगपदुभयो

परत्वेनैव वाध्यवाचकभावः । पदादिसंज्ञानां तत्र जातशक्तिग्रहेणैव त्रिपा-
द्यामपि व्यवहारः । अत एव “पूर्वत्रासिद्धम्” (८-२-१,) इति सूत्रे भाष्ये
परिभाषाणामेव त्रिपाद्यामप्रवृत्तिमाशङ्क्य कार्यकालपक्षाश्रयणेन समाहि-
तमित्याहुः । यथोद्देशपक्षः प्रगृह्यसंज्ञाप्रकरणे भाष्ये ॥ २ ॥

भैरवी ।

स्वस्व कार्यसमर्पणाय प्राप्तयोर्भेदज्ञायाः सम्प्रसारणप्रापकतया चारिताभ्येन तातद्द्वयानेन
तत्र प्रदेशीयपरत्वमादाय पदमेतन्नैव स्यादिति भावः ।

अन्वेषमभ्युदसंज्ञाविधायकसूत्रदृष्ट्या त्रैपादिकस्यासिद्धत्वात्तत्र प्रवृत्तिर्न स्यात्, एवञ्च-
दृष्टपक्षे एव “तलोपः प्रातिपदिकान्तस्य” इत्यस्य प्रवृत्तिरिति न स्यादत आह—*यदादिसं-
ज्ञानामिति* । *तत्र* स्वदेशे । अत्र मानमाह—*अत एवेति* । संज्ञाविषये स्वीयदेशो
जातशक्तिग्रहेणैव त्रिपाद्यामप्योपस्थितिसत्त्वादेव । परिभाषाणामेवेत्येवकारेण संज्ञाव्यवच्छे-
दः । एवञ्चैतन्नाम्यसूत्रितोक्तव्यवस्थ्यासिद्धौ “व्यङ्गः सम्प्रसारणम्” इति सूत्रभाष्ये भेद-
ज्ञायाः कार्यकालपक्षमाश्रित्य कार्यनिष्पादकत्वमिति यत् दृश्यते, तन्नाम्यन्तेकदेशयुक्ति-
रिति बोध्यम् । ‘अनन्तक्षणा’ इत्यादावाद्याकारस्य लोपाभावस्तु ‘अनन्त्यविकारेऽन्त्यसद-
शस्य’ इति परिभाषावेत्यन्यत्र स्पष्टम् । यथोद्देशपक्षस्य सुप्रसिद्धत्वसूचनाय तस्य स्थ-
लमाह—*यथोद्देशपक्ष इति* । एतेनाऽऽद्यपरिभाषाऽर्थो ध्वनितः ॥ २ ॥

तत्त्वप्रकाशिका—

मू०—आहुरिति । अयमत्र निष्कर्षः—प्राप्तस्तु संज्ञापरिभाषाणां वाक्यार्थयोः सतोर्जात-
स्य संस्कारस्य तल्लिङ्गलिङ्गितविधिघटकलिङ्गेनोद्देशे स्मरणेनैव विधातुपकारः । एवं च यथो-
द्देशो वाक्यैक्यास्यतैव फलति । तयोर्वाक्यार्थे उपेक्षायां संस्काराभावाद्विधावनुभवेनैवोप-
कारः । एवं च (१) पदैकवाक्यता फलति । अयमेव कार्यकाल इत्याहुः ।

नरीनाः खलु-शाब्दी व्याकाङ्क्षा शब्देनैव प्रप्यंते इति नियमाद्य संस्कारस्मरणेनोपकार
रपि त्वनुभवेनैव । एवंच परिभाषाविषये पक्षद्वयेऽपि पदैकवाक्यतयैव स्वरदायनमेव ननु प्र-
देशो स्वस्य गमने जडत्वादिति कथंति । संज्ञाविषये तु यथासम्भवमेकवाक्यताद्वयम्, प्रदेश-
गमनञ्च विनिगमनत्वादित्याहुः । मतद्वयेऽपि पक्षद्वयमपेक्षोपेक्षाबुद्धिकृतेनैव । विवादस्तु स्म-
रणेऽनुभवे नरेकवाक्यतायामिति भावः । वस्तुतस्तु परिभाषाविषये न यथोद्देशः, नापि
कार्यकालः, अप्रामाण्यज्ञानानात्कञ्चित्तलक्ष्यधर्मिण्युत्तवप्रकारकबोधजनकत्वरूपशान्तर-
मिना “पूर्वत्रासिद्धम्” इत्यनेन त्रिपाद्या असिद्धत्वाभावेन, तादृशसाधनत्वस्य शास्त्रत्वस-
म्पादिकाधीनत्वेन शास्त्रत्वसम्पादिकानां परिभाषाणां सर्वत्र प्रवृत्तिः । शास्त्रवाक्यलिङ्गोद्दे-
शपतादपरिभाषाणाम् ‘अभिदे बहिरङ्ग’ “विप्रतिपक्षे परम्” इत्यादीनां त्रिपाद्या असिद्ध-
त्वेन न तत्र प्रवृत्तिः । संज्ञाशास्त्राणामपि ‘संस्कारकशास्त्रदृष्ट्या संस्कार्यस्य नासिद्धत्वम्’
इत्यशान्तसंज्ञाविधानात्कल्पनेन त्रिपाद्यामप्रवृत्तावतिरोधात्तद्विषयेऽपि न पक्षद्वयम् । परत्वा-
दित्यवस्थानु पाणिन्युच्चारणाधिकरणञ्च लक्ष्यसंस्कारजननाधिकरणत्व, पाणिन्युच्चारणाधि-
करणेऽपि लक्ष्यसंस्कारजननाधिकरणत्वस्याधिकरणप्रयोगकल्पनीया । तयोस्तोत्तरं यत्नः ।
तत्र परिभाषाविषये तृतीये, भयदसंज्ञादिविषये प्रथमे, द्वितीये प्रगृह्यादिविषये, इति न कापि
लोपेता इति बोध्यम् ॥ २ ॥

(१) पदैकवाक्यता । सा च हाद्यद्वयप्रयोग्यविषयतानिरूपितविषयताप्र-
कारकदृष्टिवाचकता बोध्या ।

कार्यकालमित्यस्य च कार्येण काल्यते स्वसन्निधिं प्राप्यत इत्यर्थः । कार्येण स्वसंस्काराय स्ववृत्तिलिङ्गचिन्हितपरिभाषणामाक्षेप इति यावत् । अत एव “पूर्वत्रासिद्धम्” (८-२-१) इति सूत्रे भाष्ये त्रिपाद्या असिद्धत्वात्तत्र सपादसप्ताध्यायीस्थपरिभाषणामप्रवृत्तिमाशङ्क्य यद्यपीदं तत्रासिद्धं तत्त्वित्वात् सिद्धमित्युक्त्वा तावताप्यसिद्धिरित्यभिप्रायके कथमिति प्रश्ने ? कार्यकालं संज्ञापरिभाषं यत्र कार्यं तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यमित्युक्तम् ।

न च कार्यकालपक्षे “ह्रमो ह्रस्वात्” (८-३-४२) इत्यादौ “तस्मादित्युत्तरस्य” (१-१-६७) “तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य” (१-१-६६) इति परिभाषाद्वयोपस्थितौ परत्वात् ‘उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्’ इति “तस्मिन्” इति सूत्रस्य भाष्यासङ्गतिः । उभयोरेकदेशस्थत्वेन परत्वादित्यस्यासङ्गत्यापत्तेः । स्पष्ट चेदम् “इको गुण” (१-१-३) इत्यत्र कैयट इति वाच्यम् ? “विप्रतिषेध” सूत्रेऽष्टाध्यायीपाठकृतपरत्वस्याश्रयणेनादोपात् । न हि कार्यकालपक्ष इत्येतावता तदपैति । पक्षद्वयेऽपि प्रदेशेषु स्वभैरवी ।

द्वितीयपरिभाषार्थमाह—*कार्यकालमिति* । चकारस्त्वर्थे द्रष्टव्यः । *कार्येण* कार्यविधादकशास्त्रेण । *स्ववृत्ति* स्वघटकेत्यर्थः । यथा—“इको यणचि” इत्यादावर्चाति पदम् । *अत एव* कार्येण स्ववृत्तिलिङ्गचिन्हितपरिभाषणामाक्षेपादेव । *इदम्* त्रैपादिकम् । *तत्र* सपादसप्ताध्यायीस्थपरिभाषायाम् । अथभावः—यत्कार्यं सिद्धान्तस्मकालमप्रवृत्तिरास्ताम् । येषान्त्वसिद्धत्वन्तर्ग्राह्यमप्रवृत्तिः, उभयोः परस्परकाङ्क्षायां समकालप्रवृत्तेन्याप्यत्वादिति पूर्वपक्षः । संस्कारकस्य तदाकाङ्क्षाभावेऽपि, संस्कारार्थस्य संस्कारकाङ्क्षाऽस्त्येवैतन्पतराकाङ्क्षायां संवन्ध इति समाधत्ते—*तत्स्वित्यादिना* । *तत्तु* सपादसप्ताध्यायीस्थन्तु । *इह* त्रैपादिकशास्त्रपदार्थालोचनकाळे । *उपस्थितमिति* । एतेनाक्षेपपदार्थ उक्तः ।

परिभाषाविषये पूर्वोक्ता व्यवस्थामजानन् शङ्कते *न चेति* । “ह्रमो ह्रस्वाच्चि” इत्यादिना “ह्रः सि घुट” इत्यादेः परिग्रहः । *परत्वादिति* एतदुपादानं परत्वेन व्यवस्था भविष्यतीत्यभिप्रायेण, परिभाषा तुभयनिर्देश इत्याद्येव । *इको गुण* इत्यत्र कैयट इति* तत्र हि—भाष्ये—नियमात् ‘इको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन’ इति मोट्टीयवार्तिक्याख्यानाऽयसरे, भाष्यकृता नियमस्य, “अलोऽन्त्यस्य” इत्यस्य ‘राज्ञः कच’ राजकीयमित्यत्राश्रयकाराः, “इको गुण” इत्यस्य चयने लघ्वनमित्यादाववकाशः, इहोभयम्प्राप्नोति मेधतीति, ‘इको गुणवृद्धी भवतो विप्रतिषेधेन’ इत्युक्तम् । ततो नैव युक्तो विप्रतिषेधः, विप्रतिषेधे परमित्युच्यते पूर्वश्राव्ये योगः परो नियम इत्यान्तर्द्वयेऽपि परशब्दः, विप्रतिषेधे परं यद्विद्वन्तद्वतीति समाहितम् । तत्र नैव युक्त इति प्रतीत्युपादायेष्ट सिद्धये न युक्तः, यथोद्देशपक्षे परिभाषयोः पौर्वापर्यन्तु कार्यकालतायामिति तेनोक्तम् । तस्य भावस्तु, गुणविधायके “सार्वधातुकार्धधातुकयोः” इत्यादौ “अलोऽन्त्यस्येको गुण” इत्यनयोरेकदेशस्थत्वेन विप्रतिषेधाऽमप्रातिरिति समाधत्ते—*विप्रतिषेधसूत्रे* इत्यादिना* । *तदपैतीति* । अष्टाध्यायीपाठकृतम्पर-

तत्वप्रकाशिका—

मू—*परिभाषणामाक्षेप इति* । परिभाषोपस्थाप्यद्वानामुपस्थापनमदृष्टिता चार्वण्यन्यायादिति भावः । एतेनारूपेण इत्यस्य स्मरणमित्यर्थमुक्तं तस्य प्राचीनतायापरलपन्तः परा-

बुद्धिजननेनाविशेषात् । नहि तत्पक्षेऽप्यचेतनस्य शास्त्रस्य स्वदेशं विहाय तद्देशगमनं सम्भवति । नाप्यस्मदादिवुद्धिजननेन स्वदेशत्यागो भवति । अत एव भाष्ये एकदेशस्यस्यैव सर्वशास्त्राभिज्वालकत्वमुक्तम् । अत एव "तस्मिन्" इति सूत्रे कैयटः । सूत्रपाठापेक्षया परत्वस्य व्यवस्थापकत्वमिति । "इको गुण" इति सूत्रस्थकैयटस्तु चिन्त्य एव । अन्यथा सर्वशास्त्राणां प्रयोगार्थत्वेन प्रयोगरूपेकदेशस्थत्वेन कापि परत्वं न स्यात् ।

किञ्च "ङ्किति च" इति सूत्रस्थकैयटरीत्या विधिसूत्राणां यथोद्देशपक्षे परिभाषादेशसन्निधानेन तेषां परत्वं व्याहन्येत । एवं च 'वृक्षेभ्य' इत्यत्र "सुपि च" (७-३-१०२) इत्यतः परत्वात् "बहुवचने भ्रूतेषु" (७-३-१०३) इत्येवमित्याद्युच्छिद्येतेत्यलम् ॥ ३ ॥

इत्संज्ञका अनुबन्धास्तेष्ववयवानवयवस्यसन्देह आह—

अतस्ती ।

स्वमपगच्छेतीत्येतन्नास्तीत्यर्थः । इदं परिभाषाविषये एवेति प्रागुक्तभाष्यादिज्ञेयम् । *तद्देशगमनमिति* तद्देशीयत्वसम्पादनमित्यर्थः । *अत एव* परिभाषायाः स्वदेशत्यागा-
ऽभावादेव । परिभाषास्थले स्वोक्तव्यवस्थाया ईयटस्यापि सम्मतिमाह—*अत एवेति* । प-
रिभाषायामुक्तव्यवस्थासत्त्वादेव । *कैयटस्त्विति* यथोद्देशपक्ष इत्याद्युक्तकैयटस्त्वित्यर्थः ।
अभ्यया कैयटोक्तिस्वीकारे । *प्रयोगार्थत्वेन* प्रयोगसिद्धिकलकत्वेन । तत्साधनावसरे
द्वयोरप्येकदा युतेर्जातत्वादेकदेशस्थत्वव्यवहारस्तयोः स्यात् । *न स्यादिति* तथा च-विप्र-
तिपेक्षशास्त्रासङ्गतिरेव स्यादिति भावः ।

ननु विप्रतिपेक्षशास्त्रासङ्गतिभयात् प्रयोगरूपो देशो न गृह्यते इत्यत आह—*किञ्चेति* ।
सूत्रस्थेति । प्रधानान्यात्मेत्याद्युक्तकैयट इत्यर्थः । *एवञ्च* । तेषां परत्वस्य व्याघाते च ।
नच कार्यकालपक्षेऽपि परिभाषाया यदि स्वदेशीयत्वमेव, तर्हि श्रृंषादिकस्य तद्देशगमनसि-
द्धत्वं स्यादेवेति कार्यकालपक्षमाश्रित्य प्रागुक्ता व्यवस्था न सङ्गच्छेतेति वाच्यम्, ? न हि
प्रागुक्तभाष्यात्परिभाषायाः स्वदेशत्यागे कल्पयामः, किन्तु सिद्धायाः परिभाषायास्तेषां दि-
केन स्वसंस्काराऽपेक्षेयम् । एवं सत्युपस्थितपरिभाषयैव श्रिपाद्यामिष्टव्यवस्थासिद्धिरित्या-
शयात् । अत्र मूले, स्थलान्तरे परेत्विति यथोच्यते तथा नोक्तं किन्तु केचित्स्थित्युक्तान्तर्हसि-
सूचनाय । परिभाषायाः कार्यकालपक्षेऽपि यथा न स्वदेशत्यागस्तथा संज्ञाविषयेऽपि बोध्यः ।
नच "अदमोमात्" इति सूत्रभाष्ये यदुक्तं 'कार्यकालपक्षे' 'अयादिभ्यः परैव प्रगृह्यसंज्ञा' इति
सद्विरोध इति वाच्यम् ? तत्रत्यभेदापदस्य संज्ञाकार्यप्रकृतिभावोपलक्षकत्वात् । न हि प्रगृ-
ह्यसंज्ञाया अनुनासिकदेशप्रवृत्तिप्रतिबन्ध एव फलम् । तत्रैव 'अदमो न' इत्युक्त्यात् । एवञ्च
संज्ञापरिभाषयोरेकस्यैवा भवतीति बोध्यम् ॥ ३ ॥

अत्र भेदापदोपादानेन यथा वृद्ध्यादिसंज्ञाया उपस्थितिस्तत्पेतसंज्ञाया भवतीति तत्रप्रसङ्गा-
त्त्रिपदे स्वरस्याभाह—*इत्संज्ञका इत्यादिना* । अनुबध्यन्ते परस्मिन् सम्मच्यते,
तत्प्रसङ्गादिक—

स्ताः । यथोद्देशे उभयाकाङ्क्षाप्रकरणरूपेण प्रमाणेनाङ्गाङ्गीभावः । कार्यकाले, स्वन्त्यत-
राकाङ्क्षासम्मानावपातस्योपस्थाप्यरादाकार्येणापि सम्भवतीति भावः ॥ ३ ॥

स्मृतिविरपक्षे सत्युपेक्षानर्हत्वरूपप्रसङ्गसङ्ख्यानेकान्तपरिभाषामसंरचितकामः स्मरणे
उद्देश्यमाह—*अत्र भेदापदोपादानेनेति* । अनुबन्धानामित्संज्ञालोपोन्वयमसंज्ञाया विषये
वशात्पदानाम्प्यसंज्ञाया विषये बोध्यवचनयोः समानानुवृत्तव्यवस्थाम् "उदीर्षा मातः"

एव, अयं तु न तथा, तदर्थभूते विधेये कदाप्यदर्शनात् । शित्किदित्यादौ समीपेऽवयवत्वारोपेण समासो बोध्यः । “बुञ्छण्कठ” (४-२-८०) इत्यादौ

भैरवी ।

दिति* । एतेन

दोषोत्पा(१)देऽनुबन्धः स्यात्, प्रकृत्यादिषु नधरे ।

इति कोशसम्मतिरपि सम्भवति । एवञ्चानुबन्धजनक्यत्वं विनाऽवयविन्युपलभ्यमान-
त्वमवयवत्वम् । तथात्र नास्तीति फलितम् ।

नन्वनवयवत्वे शित्किदित्यादौ समासाऽनुपपत्तिः, अवयवत्वे तु पष्ठार्थस्यावयवावयवि-
भावस्य सम्भवादत् आह—*शित्किदित्यादाविति* । समीपेऽवयवत्ववारोपेण व्यवहारो,
लोके यथा—गृहसमुदायस्य ग्रामपदार्थत्वेऽपि ग्रामरूपो(२)ऽयमित्यादौ दृष्टः, तथात्रापि
फलपता सम्भवतीति भावः ।

ननु समीपेऽवयवत्ववारोपेण चेद् बहुव्रीहिस्तदा “बुञ्छण्” इति सूत्रनिर्दिष्टकप्रत्ययस्यापि
गित्वाऽऽपत्तिरत आह—*बुञ्छणेति* । सामीप्यञ्च स्योच्चारणाऽवयवहितोच्चारणविषयत्वम्,
तच्च शाप्रत्ययणप्रत्ययाण्प्रत्ययादिषु शित्वादिव्यवहारसिद्धये अधीयते । एवञ्च शाप्रत्ययस्य

सत्वप्रकाशिका—

ययववृत्तिधर्माभावादिति* । हेतोः प्रसिद्धत्वादनुगादानमिति भावः । बोध्यबोधकयोर्निप्र-
याभावेन हेतुतावच्छेदकरूपेण हेतोरप्रसिद्धिमाशङ्क्याह—मूले *विधेय इति* । एवञ्च, अनु-
बन्धाः बोधकानवयवाः, विधेये कदाप्यदर्शनादिति तत्त्वं सिद्धम् ।

नन्वेवं साध्याभावनद्विगुणघटकगकारे हेतोः सत्त्वाद्बन्धविचारः, नच साध्यस्य स्वरूपबो-

धकानवयवत्वेन गुणवदस्य स्वरूपबोधकाभावात् न व्यभिचार इति वाच्यम् ? निरूपकभेदेन
धमेद्वयस्यैकत्र समावेशदर्शनाद्विरोधाभावेन संशयाभावादानुमानस्यानुत्थानापत्तेरिति चेन्न,
व्यवहितपटकटृप्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मेण साक्षादवच्छिन्नविधेयताप्रयोजकज्ञा-
नवयवा इत्यर्थेनादोषात् । यस्मिन्ननवयवत्वं साध्यं, तत्स्वमिति । एवञ्च, गकारघटितगुण-
घटक्रमकारवृत्तिधर्मः गत्यरूपस्तेन धर्मेण साक्षादवच्छिन्नविधेयताया अभावेन, हेतोस्तत्र
मत्त्येऽपि न क्षतिः । सति तु, नकारघटितसन्घटकमवृत्तिधर्मः सत्त्वरूपस्तेनावच्छिन्नाया विधे-
यतायाः प्रयोजकत्वात्सन्नो नकारेऽनवयवत्वं सिद्धम् । विधेयतायाः धर्मेण साक्षादवच्छि-
न्नायाः ग्रहणात्, गुणस्य व्यपदेशिवद्भावेन गकारघटितगुणघटकः गुणस्तद्वृत्तिधर्मेण गुणत्वेन
परम्परयाऽवच्छिन्नाया अकारादिनिष्ठायाः गुणरूपायाः विधेयतायाः प्रयोजकत्वेऽपि न दोषः,
साक्षाद्गुणस्यावच्छिन्नविधेयताया अभावात् । एत्वादिधर्मोऽवच्छिन्नविधेयताप्रयोजकत्वमा-
दायक्यभिपारारणाय धावगप्रत्यक्षविषयतवाच्छेदकेति धर्मे विशेषणम् । नहि गुणादिविषय-
ताया अवच्छेदकस्यैत्यादिकस्य प्रत्यक्षे ध्रुवणनिर्वर्त्यम्, अपितु गुणत्वादिकस्यैव तथा । यद्यपि
गुणघटकारवृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकाऽत्यरूपधर्मेणावच्छिन्नविधेयताऽकारेऽस्ति,
तत्प्रयोजकत्वं गुणं, इति व्यभिचारस्य तादृकस्यन्तथापि स्वघटितपटकाववृत्तीतिवृत्त्यन्तेन
निश्चित्येन, यावत्साध्यं समुदाये गुणे पर्याप्तत्वेनाकारे तदभावाच्च दोषः । नचैवं सति सन्नो
नकारो दोषः समुदायनिरूपितविधेयताया अप्रसिद्धत्वादेवमनुगादौ “सन्त्यतः” इत्यादौ विम-

(१) दोषोत्पाद इति । दोषोत्पादनं दोषोत्पादस्तस्मिन्, प्रकृत्यादिषु प्रकृतिप्रत्ययागमादेशेषु
दृश्यगुणादिषु यन्प्रत्ययमिसंश्लोपाभ्यामदर्शनशीलमक्षरम्, तत्रार्थेऽनुबन्ध इति भावः ॥

(२) ग्रामरूपोऽयमित्यादाविति । एवमेव ग्रामरूपे गंगातीरमित्यादावपि बोध्यम् ।

णित्वप्रयुक्तं कार्यं पूर्वस्यैवेत्यादि तु व्याख्यानतो निर्णयम् । “हलन्त्यम्”
(१-३-३) इत्यत्रान्त्यशब्दः परसमीपबोधकः ॥ ४ ॥

वस्तुतस्तु—

मैरवी ।

ल पूर्वस्मिन् समीपे यथास्तीति तत्राऽवयवत्वारोपो भवति, तथा णकारस्य ककारसामीप्यं यद्यप्यस्ति, तथापि ‘ऋद्वयकः’ इत्यादौ णित्वप्रयुक्तकार्थ्याऽदर्शनमूलकवृद्धव्यवहारमूलकव्याख्यानेन, न णकारे कप्रत्ययसमीपेऽपि ककाराऽवयवत्वाऽऽरोपः किन्तु ककारावयवत्वारोप इति निर्णयमित्यर्थः ।

ननु यत्रान्त्यशब्दोच्चारणन्तस्य का गतिरत आह—*हलन्त्यमित्यग्रेति* । “उदीर्वा माहो व्यतीहरे” इति निर्देशोऽनवयवत्वे ज्ञापक इत्यपि सम्भाव्यते । अन्यथा मेह एजन्तत्वाभावादात्वांसम्भवेन निर्देशासङ्गतिः स्पष्टैव । अतएव “अवर्णस्त्वसौ” इति सूत्रविहित आदेशस्य सर्वादेशत्वञ्च न । एवमस्मिन्पक्षे “नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम्” इत्यादिव्यवहारप-
रिभाषाणामनारम्भेण लाघवमपि सम्भवति ॥ ४ ॥

पुतावता प्रपञ्चेन एकदेशिमतमुपपाद्य सिद्धान्तमतमाह—*वस्तुतस्तित्वति* ।

तत्त्वप्रकाशिका—

किमादाय दोष इति वाच्यम् ? स्वघटितपदकानुबन्धेतरविभक्तीतरयावद्वृत्तीतिविषयित्वात् । “बुञ्छण” इत्यादौ द्वन्द्वात्मरूपमादाय दोषवारणाय स्वघटितपदघटितपदघटकस्य यावतो प्रहणं बोध्यम् ।

अथ प्रत्युच्चारणं शब्दो भिद्यते चेत्सन्तः सकारे हेतोः सत्वाद्यभिचारः, नचाभेदस्तर्हि मनिनो नकारे भागामिद्धिरिति चेत्प्रत्ययम्, स्वघटितपदघटितपदघटकानुबन्धेतरविभक्तीतरयावत्प्रयोज्यविधेयतावच्छेदकधर्माभावस्य हेतुत्वेनादोषात् । धर्मस्य विशेष्यविशेषणद्वयसङ्ग-
धितस्य प्रहणेन न केवलं नत्वधर्ममादाय दोषः । इतरविधेयणानां फलन्तु, साध्यद्वयव्यव-
स्तव्यम् । कुरुमुमोः ककारमकारयोर्भागासिद्धिस्तु कुरुमुमोः ककारमकारौ बोधकानवयवौ, स्वबोधकावयवोत्तरबोधकानवयवोत्तरत्वात् इत्यनुमानान्तरेण परिहरणीया । *वृद्धव्यव-
हारमूलकव्याख्यानेनेति* । मात्राधित्वेन “स्वाघटितपदघटकेऽनुबन्धे स्वनिरूपितावयवत्वे-
न” इति कल्पनेनेति भावः । अनतिदिष्टघटकत्वस्वीकाराद्योपशित्यत्र शित्तिभिन्नपददेश-
मावयवत्वारोपदोषः ।

कैचित्तु, स्वममीपत्व स्वाघटितपदघटकत्वोभयसम्बन्धेन स्वविशिष्टेऽनुबन्धे स्वनिरूपि-
तावयवत्वमारोप्यते । अत्रापि घटकत्वं व्यपदेशितवद्भावात् (१) नतिदिष्टम् । समुदायी इम् उद्,
इति पृथक्पदवत्कल्पे तु, अर्थवद्वयकत्वं, एम्, उ, द, पदत्रयम्या परिकल्प्यावयवत्वं कल्प्य-
म् । आगे, उटः अर्थवत्त्वाभावात्, अन्त्येऽतिदिष्टघटकत्वमन्वादित्याहुः ॥ ४ ॥

ननु हेतोरावटः नकारे सत्त्वाद्यभिचारः, अपिच “चिन्विहृण्योरा च” इति सूत्रपदका-
कारे गणधातुवटकारे च, हेतोः सत्त्वाद्यव्यवहार (२) भिचार अत आह—*एकदेशिमतमिति*

(१) व्यपदेशिघट्टावतानतिदिष्टमिति । तेन लोपश्च इत्यत्र न दोषः । तथाहि—
स्वं लोपश्च इत्यत्र लोप इति पदम् तेनापठितं शित्तिपदं व्यपदेशिवद्भावेन तद्वद्वयव-
शकारे सत्वेऽपि यस्तुतोऽपठकत्वेन शे लोपनिहरितावयवत्वसिद्धिः ।

(२) व्यभिचार इति । अत्र चकारापरिरपि दोषो ज्ञेयः । तथाहि—“विधेये
कदाप्यदशनादिति हेतोः सिद्धिः “तस्य लोपः” इति वाक्यार्थज्ञानापीना “तस्य लोप”

एकान्ताः ॥ ५ ॥

इत्येव न्याय्यम् । शास्त्रे तत्रोपलम्भादन्यत्रानुपलम्भाच्च । अनवयवो हि काकादिरेकजातीयसम्बन्धेन गृहवृक्षादिपूपलभ्यते नैवमयम् । एवं हि बहु-
मैरवी ।

शास्त्रे घट इति—अयम्भावः, “वृद्धिर्वादेव” इत्यादौ शास्त्रे सामानाधिकरण्येन निवृत्तेश्च ।

‘रामेतिव्यशरन्नाम मानभङ्गः पिनाकिनः’ ।

इत्यादौ लोके सामानाधिकरण्येन व्यवहाराच्च वाच्यवाचकयोरभेदेन व्यवहारो न्या-
य्यः । तथा च—पूर्वोक्तो हेतुर्दुष्टः, स्वरूपासिद्धत्वरूपदोषाक्रान्तत्वादिति । *तत्र*—वाचकत्वा-
भिप्रेतत्वादिशब्दे । *अन्यत्र* वाच्ये औपगवादिशब्दशब्दकारप्रत्यये । एवञ्च यथा कुड-
रादिना छेदनेऽवयवभूतापि शाखाऽवयविनि वृक्षे नोपलभ्यते तथाऽस्यापीदंशालोपाभ्या-
मपहाराद्यत्वेनानुपलम्भो न्याय्य एवेति ।

एतेन ‘यो ह्येकान्तः ॥ कदाचित्तत्रोपलभ्यत एव’ इत्यादि यत् प्रागुक्तन्तस्तत्तोक्तं,
तथावयविनि वाचके तस्य सत्वात्तत्सम्बन्धित्वेन प्रतीतस्वरूपो यः प्रागुक्तहेत्वभावस्तत्तला-
भः, अन्यत्रानुपलम्भादित्यनेन वाच्ये प्रयोगघटकेऽनुपलम्भोऽपि प्रकृतत्वावयवत्वस्य साधक
इति ध्वनितम् ।

एवञ्चागुप्यन्ताः अवयवाः अवयविसम्बन्धित्वेनाप्रतीतत्वात् छिन्नशाखादिवदित्यनुमान
मस्मिन्नपि पक्षे सम्भवतीति । परमते हेतोः सप्रतिपक्षे तत्त्वमपि सम्भवतीति बोधितम् ।
एव हेत्वन्तरेणाप्यवयवत्वं सिध्यतीत्याह—*अनवयवो हीति* । एकजातीयसम्बन्धेन*—
संयोगेन । *नैवमयमिति* । तादृगीकजातायसम्बन्धेन सर्वत्रोपलभ्यमानत्वरूपो योऽनवयव-
वृत्तिर्बलस्तद्भावो दर्शितः ।

तत्त्वप्रकाशिका—

नचैतन्मते “नानुपगम्य” इत्यादि परिभाषाप्रयत्नाद्गौरवमिति वाच्यम् ? अनवयवत्वव्या-
दिनोऽपि लक्षणाव्याख्यानादिकरणगौरवस्य समत्वात्, सामीप्येऽवयवत्वारोपे प्रादेगे सर्वा-
देशात्परागणायोक्तपरिभाषाप्रवस्थावश्यं कर्तव्यत्वात् ।

तत्र बोधके । बोधकत्वनिर्णयस्तु समुदायाद्विभक्त्युत्पत्त्याऽनुमेयः । *अन्यत्र* विधेये ।

तथा च—‘अनुपगम्याः बोधकावयवाः, एकजातीयसम्बन्धेन बोधके उपलब्धिविषयस्यै-
वमयमयं तदभावात् । कथालम् । घटवयवः कपालः घटप्रतिपोगिकसमवाधानुयोगिक-
त्वमयमयं घटे उपलम्भते । अन्यत्र सम्बन्धान्तरेणोपलम्भेऽपि तेन । सम्बन्धेन तदभा-
वोऽप्यस्य । यो ह्यनवयवः वृक्षादः काकादिः स संयोगैकेन गृहवृक्षादिपूपलभ्यते ।
नचैतं घटे उत्पन्ननिष्ठस्य घटस्य चक्रावयवत्वं स्यादिति वाच्यम् ? अन्यत्रोपलब्धिप्र-
काररूपभावनभावस्य हेतुत्वेन विरक्षितत्वात् । *हेतुर्दुष्ट इति* । अवयववृत्तिधर्माभा-
वरूपहेतुर्दुष्टः । *दोषाक्रान्तत्वादिति* । अवयवत्वे सिद्धे सतीति भावः । *अस्मिन्नपि
पक्षे सम्भवतीति* । एवञ्च विरुद्धदोषाक्रान्तोऽप्यस्य हेतुः । अस्य मतेऽनुपलम्भाद्येत्यत्र व-
क्तव्यं इत्यन्तरममुखायकः ।

इति गृत्रार्थबोधाय “इत्यन्यम्” इति गृत्रार्थपीनस्यार्थबोधाय पदार्थज्ञानविधया लक्षणा-
प्रदर्शिनः, लक्षणाग्रहणं अनवयवत्वमहर्षकशक्यार्थबोधमहर्षकः, अनवयवत्वमहर्षक-
हेतुज्ञानपूर्वक इति ।

ग्रीहिरपि न्यायत एवोपपन्नः । अन्त्यादिशब्दे लक्षणा च न ।

किञ्चानवयवत्वे 'लशक'प्रत्ययादौ णादेरित्वानापत्तिः प्रत्ययादित्वाभावात् । द्रष्टव्यश्चकारस्य वैयर्थ्यापत्तेश्च । इदं च "तस्य लोपः" (१-३-६) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । तत्र ह्युक्तं 'एकान्ता अनुबन्धा' इत्येव न्याय्यमिति दिक् ॥ ५ ॥

नन्वेकान्तत्वेऽनेकाल्त्वादेव औशादीनां सर्वादेशत्वसिद्ध्या "अनेकाल्" (१-१-५५) सूत्रे शिद्ग्रहणं व्यर्थमत आह—

भैरवी ।

एतेनानुबन्धाः अवयवाः अवयववृत्तिधर्माभावादित्यस्य लाभेन सत्प्रतिपक्षितत्वमिति भावः । एतावता प्रबन्धेन प्रागुक्तहेतोर्दुष्टत्वं प्रसाध्यावयवत्वे साधकान्तरमाह—*एवंहीति* । अवयवत्वे हीत्यर्थः । *न्यायतः—अरोपं विनैवेत्यर्थः ।

किञ्च प्रापमिकशक्तिप्रहेणैव "हलन्त्य"सुप्रजन्यशाब्दबोधोपपत्तौ लक्षणाकल्पनं गौरवप्रस्तमिति भावः । एवमादिशब्दस्याधायवयवबोधकत्वं "हलादिः शेषः" इत्यादौ दृष्टमनुबन्धस्यातथात्वे णादिप्रत्ययावयवणादेरित्वानापत्तौ "आदिर्नी" त्यादिशास्त्राणामसङ्गतिरिति भावः ।

नन्वित एवानुपपत्तेस्तत्रापि लक्षणां यदाम इति चेत्तत्राह—*दृष्टव्यमिति । एवञ्च दृष्टव्यप्रत्यये चकारोच्चारणमेकान्तपक्षे ज्ञापकमपीति भावः । *दृष्टव्य*—प्रागुक्तं सर्वन्वेत्यर्थः । "एकान्ता अनुबन्धा इत्यस्योभयमिदमनुबन्धेष्टम्, एकान्ता अनेकान्ता इति, किं पुनरत्र न्याय्यमेकान्ता अनुबन्धा इत्येव न्याय्यम्"इत्युक्तमित्यर्थः ।

ननु णादिप्रत्ययावयवणादेरित्वाभावापत्तिरूपः प्रागुक्तोऽनवयवत्वे यो दोषस्तस्य ज्ञापकेन वारणमपि सम्भवति, यदि ज्ञातव्योऽस्ति स्यात्तदा द्वयोरसत्त्वरूपत्वादेव विकल्पे सिद्धे "इयाद्वय" इति सूत्रे "विहितप्रापकन्दधातीति" सूत्रे विभाषाग्रहणं व्यर्थमिति तत्सामर्थ्यादेहेतस्तत्राभिव्यक्तिरिति चेन्न, कप्रत्ययादेः ककारस्य सा नस्यादित्यनेन प्रागुक्तदोषस्यादृढीकरणम् । "इगुपध" इति यः कस्तस्य सा न स्यादित्यर्थोऽनवयवत्वं ज्ञापकं हि "इयाद्वय" इति सूत्रविहितप्रत्ययविषय एवेति भावात् । *दिगिति*—दिगर्थस्तु "इयसच्" इति चकार एकोऽनवयवो द्वयोरन सम्भवतीति चकारोच्चारणं दृष्टव्यप्रत्यये कृतमनवयवत्वे तु सामीप्यस्योभयनिरूपितस्य सम्भव इति तस्य वैयर्थ्यम् । लक्षणाकल्पनाभावेन लाघवञ्चेति ॥ ५ ॥

अवयवत्वपक्षे यो दोषः 'अवर्णस्यसौ' इत्यादेः सर्वादेशत्वाऽपत्तिरूपस्तमुद्धर्तुमाह—*नन्वेतत्त्वप्रकाशिका

अवयवत्वे साधकान्तरम् । लाघवमूलकं सर्वमिति भावः । *लाघवञ्चेति* । अनेकान्तपक्षेऽनुवादं "सन्त्यतः" इत्यादौ नकारेत्संज्ञकसंज्ञारे परतः विधौ "शुपसिन्नुक्तिदयः" इत्यादौ नकारेत्संज्ञकः सो भवतीत्याद्यर्थकल्पनागौरवम् । एकान्तपक्षे ॥ सन् भवति सगि परत इत्याद्यर्थ एवेति लाघवम् ।

एवञ्च 'न विधौ परः दृष्टव्य' इति न्यायविरोधोऽपि ॥ अनुपलब्धिस्तु यत्तद्वदामि त्संज्ञालोपाभ्यामपहारेणेति धोष्यम् । न च सूत्र एव अपहारेण नकाराभावात्सन् भवतीत्याद्यर्थासङ्गतिः, स एवायमिति प्रत्यभिज्ञया नकारे सन् बुद्धेः सत्त्वेनादोषात् ॥ ५ ॥

सर्वादेशत्वापत्तीति । नचैतदनुपपद्यते "तद्" इति न्यासेनान्त्यादेशत्वोपपत्तेः, नचाचारविद्यन्तादशब्दाद्वि अलोपे सौ स्यानिवृत्तावेन हलन्तत्वमादाय "हल्लोपाच्" इति सुलोपापत्तिः, ह्यावृद्धेन "अनुबन्धगतहलन्तत्वमादाय सुलोपश्चेत्याभ्यामेव" इति नियमेनादोषादिति बाध्यम् । 'ओमश्च छेदने' इति निष्पन्नस्य चञ्चनशब्दस्य कुशादेन समासे

नानुबन्धकृतमनेकालत्वम् ॥ ६ ॥

शिद्ग्रहणमेवैतज्ज्ञापकम् । तेन “अवशस्नुः” (६-४-१२७) इत्यादेर्न स-
र्वादेशत्वम् । डादिविषये तु सर्वादेशत्वं विनानुबन्धत्वस्यैवाभावेनानुपूर्व्या-

भैरवी ।

कान्तत्व इति* । *एतज्ज्ञापकमिति* । तथा च—शिद्ग्रहणेनानुबन्धानामस्वव्यवहारविषयत्व-
भास्तीति ज्ञाप्यते इति बोध्यम् ।

नन्वेवं डादिविषये सर्वोद्देशत्वानापत्तिरत आह—“डादिविषये त्विति* । अत्रादिपदेन
“जसःशि” इत्यस्य, “सुषां सुलुग” इति सूत्रोक्तादेशस्य संप्रहो, ॥ तु णलन्तस्य, प्रत्ययाधि-
कारे पादेन स्वतः प्रत्ययस्यात् । न च डादिविषये आनुपूर्व्यात्सर्वादेशत्वस्वीकारे सर्वादेश-
म्पादकतया ङकारोच्चारणस्य चरितार्थतया इतिवसामर्थ्यादभस्यापि टेलोप इत्यस्यासङ्ग-
तिरिति वाच्यम् ? इत्यस्य स्थाने केतिसिद्धे ङेत्याकारोच्चारणमेतदर्थमित्यादायात् ।

यदि त्वित्संज्ञायोग्यत्वमनुबन्धत्वमिति ङकारस्य सर्वोद्देशत्वात् प्रागित्संज्ञाभावेऽप्यने-
कालत्वन्नमविष्यतीत्युच्यते तदा “डा आ” इत्याकारस्य प्रश्लेषेण सर्वोद्देशत्वं बोध्यम् ।
प्रवृत्तप्रत्यस्तु प्राचीनरीत्या ।

नच “अनेकाल” इति सूत्रे शिद्ग्रहणस्य पूर्वोक्तादेशापकत्वकथनमसङ्गतम् “ध्वसोरे
द्धौ” इति सूत्रविहितलोपस्य सर्वादेशत्वसम्पादकतया शिद्ग्रहणस्य चारिताध्यादिति
वाच्यम् ? “लोपोवि” इत्यतो लोपग्रहणे प्रवृत्ते पुनर्लोपग्रहणसामर्थ्यात्सर्वादेशत्वं भविष्य-
तीत्यादायात् ।

यत् “अनुबन्धा एकान्ता” इति मुख्यपक्षे, उच्चारणार्थकानामित्संज्ञां विना निवृत्त्यभाव
इति । सिद्धान्तात् “द्विष औप” इत्यप्रोत्तरस्वकारस्येतेऽप्यौदवयवत्वेनौदादेशस्यानेकालत्वेन
सर्वादेशत्वापत्तिरिति कल्पचिद् दूषणमिधानन्तरं सूत्रयो योऽनुबन्धानामस्वव्यवहारविषय-
त्वाभाव इत्यर्थे शिद्ग्रहणस्य ज्ञापकत्वमिति निष्कर्षस्तदनुनेन ।

यदि यैयाकरण इत्यर्थेव श्रित्वाच्चित्स्वरापत्तिः, न चास्य प्रवृत्तावपि बहुपदस्य इत्यग्र-
बहुवचिन्त्वाप्या समुदायस्यान्तोदात्तत्वं भवति, तथा यैयाकरणेति समुदायान्त्यतोदात्तत्वं
भविष्यतीत्यग्रप्रत्ययादुदात्तत्वाच्च विशेष इति वाच्यम् ? “चित” इति सूत्रे “सप्रवृत्ते” इ-
त्यवप्रकाशिका—

बुधश्च इत्यप्रोत्तरपदे स्यानिगज्जनेनाजादित्वमादाशय कोः कदादेशापत्तेरलक्षकत्वात् ।
बोध्यमिति । एवञ्च नानुबन्धेत्यादिपरिभाषाग्रयमत्रैव गतार्थम् । भाष्ये नानुबन्धे-
त्यादिकथनन्त्वेतदगिमायेर्ण । अत एवानुबन्धतृतोऽनेकालत्वव्यवहारो यथा ॥ भरेत्तभा
कसंध्यमिति व्याख्यायामपि सङ्गच्छते । अनुबन्धकार्ये “अनल्ययिषी” इतिनिषेधो न प्रवर्तते
इति प्रवाद एतन्मूलकः । “न षपि” इतिनिषेधोऽपि पृथग् एव ज्ञापकः । नचैवं “हलन्त्यम्”
तिगुक्तिरित्यादी इत्यादिपदेनानुबन्धानामग्रहणादित्यंज्ञात्तनापत्तिः, तत्तत्सूत्रात्ममयामर्थ्या-
दिपदप्रयोग्यविषयकानिरूपितविषयत्वाप्रयोजकानुबन्धानामस्वव्यवहारो नेति कल्पनेना-
शङ्का । इत्यप्यग्रयोग्यविषयकानिरूपितविषयत्वप्रयोगस्तथा ।

इत्मेज्ञायोग्यत्वमिति । अत्रार्थं ण्यपदस्यास्य । विरूपत्रिषापकं “ददातिदधात्यो-
विभाषा” इति विभाषापहणं ज्ञापकम् । अन्यथा प्रत्ययसंज्ञायाः पूर्वमित्संज्ञाया अभावेन “याऽ
मरुयोऽश्रियाग” इति विरुद्धं मिदं विभाषापहणं व्यर्थमेव स्यात् । *प्राचीनरीत्येति*
यथा—यं एवमस्ति ।

एतज्ज्ञानुबन्धत्वस्याभावेन विनापि, अर्थादनुबन्धत्वमत्वेऽपि “जा आ” शानुपूर्व्यादा-

स्तिद्धम् ॥ ६ ॥

नन्वेवमप्यवदातं मुखमित्यत्र पलोपोत्तरमात्वे कृते "अदाप्" (१-१-२०) इति घुसंज्ञाप्रतिषेधो न स्याद्वैपः पकारसत्त्वेऽनेजन्तत्वादात्वाप्राप्त्या पलोपोत्तरं पकाराभावेनास्य दाप्पूरुपत्वाभावादत आह—

नानुबन्धकृतमनेजन्तत्वम् ॥ ७ ॥

"उदीचां माङः" (३-४-१६) इति निर्देशोऽस्या ज्ञापकः । "आदेच उ-
मैरवी

तिवार्तिके प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्य चिद्व्यहणेन ग्रहणेऽपि वैयाकरणशब्दावयवैर्घोऽप्रत्ययतया अत्रापि समुदायग्रहणे मानाभावादिति चेन्न, ऐजित्यत्र चकारस्येच्चकारसदृशत्वेऽपी-
त्वाभावात् ।

यद्व्यनुबन्धानामलज्यवहारविषयज्ञास्तीतिसिद्धान्तोपरि अनुबन्धविनिर्मुक्तपदार्थोप-
स्थितेः सर्वसम्मतत्वेनेशशब्दादिकारमात्रोपस्थितेस्तस्य च मानेकाल्त्वमिति सर्वादेश-
त्थप्रापकस्य शकारस्यावयवकृतेन ज्ञापकत्वासङ्गतिरिति मूलज्ञैथिल्याभिधानन्तत्त्व-
वीयः, अनुबन्धानामेकान्तपक्षस्य वाच्यवाचकयोरभेद इत्येतत्पक्षोपवृद्धितयाऽनेकाल्प-
स्याऽनेकाल्पविषयकोपस्थितिष्विषयार्थकतया च वाचकोपस्थितिमादाय सर्वादेशत्वे सिद्धे
दिद्रहणे व्यर्थमिति मूलज्ञैथिल्याभावात्, उपस्थाप्योपस्थापकयोरभेदादेवापह्नीदित्यत्र
"ग्रहो लिटि" इति दीर्घे कृतेऽपि स्थानिवद्भावः सिध्यति, आदेशविधायकप्राक्पठकेऽपदा-
द्विषादोपस्थितेः सत्वात् ।

यत्तु शब्दत उपात्तस्यानिस्थान्यवयवान्यतराल्लुत्तिधर्मवत् उपस्थितिर्यत्र तत्र
"अनल्विधौ" इति निषेध इति सिद्धान्त इदंपदादिकारमात्रोपस्थितेः सत्वादनल्विधाधिति-
निषेधापत्तिरिति दूषणोद्भूतान्तद्वेषनालम् । अल्लुत्तिधर्मवत् इत्यस्याल्लप्यासधर्मावच्छिन्न-
विषयताकोपस्थितिष्विषयधर्मवत् इत्यर्थः । प्रकृते त्विदंपदादुभयपक्षांस्तं यदिद्व्यन्तद्धर्माव-
च्छिन्नविषयताकोपस्थितेः सत्त्वेन निषेधविषयताया अप्रसक्तोः ॥ ६ ॥

अथानुबन्धानामवयवत्वपक्ष एवावदातं मुखमित्यादिसिद्ध्यर्थम्भाष्ये परिभाषान्तरमुप-
न्यस्तन्तद्वक्तुन्मृमिकां रचयति—*अन्वयमित्यादिना* । *पूर्वमपि* उक्तदोषस्योक्तरीत्योद्गारे
ऽपि । *आत्माप्राप्तयेति* । अस्य दाप्त्वाभावादित्यत्रान्वयः ।

ननु पलोपोत्तरमात्वं भविष्यतीत्यत आह—*पकाराभावेनेति* । *माङ इति निर्देशः*—
मेङः सानुबन्धकमाह इति निर्देशः । ज्ञापकत्वमुपपादयति *आदेच" इतीत्यादिनाः* ।

तत्त्वप्रकाशिका—

कारप्रदर्शनात्सर्वादेशत्वं सिद्धमिति योजनया नानोरतीत्यापि व्याख्येयम् । *ज्ञापकत्वामङ्ग-
तिरिति* । अयमभावः "अनेकाल्" मूलस्यानेकालादेशः सर्वस्येत्यर्थेनानुबन्धविनिर्मुक्तपदा-
र्थोपस्थितेः आदेशस्यानेकाल्त्वाभावेन सर्वादेशत्वसम्पादनाय शिद्रहणे चरितार्थमिति कथं
ज्ञापकत्वमिति भावः । योधकृत्यनेकाल्त्वमादाय ॥ ॥ निवाहः, "पादस्य लोप" इति वि-
हितलोपस्यापि सर्वादेशत्वापत्तेः, योधकृत्य लोपस्यानेकाल्त्वात् । *अभेद इत्येतत्पक्षेति*
इत्यत्र म एवायमिति प्रत्यभिज्ञायाऽऽदेशस्याप्यनेकाल्त्वधर्मस्य भविष्यतीति भावः । सर्वो-
शादी सकारोच्चारणमभ्यासभूतपूर्वानेकाल्त्वमादाय सर्वादेशत्वमित्या ज्ञापिनेऽपि "अनेका-
ल्" सूत्रे शिद्रहणे व्यर्थमिति ग्राह्यम्, "निभाषादिद्वयोः" "सिः सर्वनामस्थानम्" इत्यादी
विशेषणार्थत्वेन चारितार्थ्येन, "जमः सि" इत्यादेः सित्वस्य विधेयर्थाभावात् ॥ ६ ॥

पयोपोत्तरमात्रमिति । नन्वज्ञातम्बरूपज्ञापकोच्चारणविषयत्वलोपदिदपमान्य-

पदेशे" (६-१-४५) इति सूत्रेणोपदिश्यमानस्यैजन्तस्यात्त्वं क्रियते, उकारस-
त्वे तु एजन्तत्वाभावादात्त्वाप्राप्तेस्तस्यासङ्गतिः । न चास्यामवस्थायां तस्य
धातुत्वाभावात्कथमात्वम् ? "तत्र धातोः" (६-१-८) इत्यस्य- निवृत्तेरित्य-
न्यत्र विस्तरः । स्पष्ट चेदं "दाधा ध्वदाप्" (१-१-२०) इति सूत्रे भाष्ये ॥ ७ ॥
नन्वेवमपि "चासरूपः" (३-१-९४) इति सूत्रेण कविपद्येऽणोऽप्यापत्ति-

भैरवी ।

उपदिश्यमानस्येति* । उपदेशपदे कर्मणि घञ्, पष्ठयर्थे च सप्तमोत्पत्तिप्रायेणेदम् । धातुग्रहण-
द्विम् ? "लट् लविता" "पृथ् पविता" इति "न धातुलोप" इति सूत्रभाष्यादनुबन्धसंज्ञावकाले
धातुत्वाभावात्कथमात्वमित्यादावुते-नचेति* । समाधत्ते-तत्रेति* । *अन्यत्र विस्तर
इति* । गद्यादिकानामुद्देशो ननुपदेशः येषामिरेप्रभृतीनां प्रत्यक्षमाख्यानमस्ति तेषामपि
शित्पदत्वयोरनानाम् नचेति प्रत्यासत्त्या लाभादित्यादिविस्तर इत्यर्थः ।

यदि तु "लिटि धातोः" इतिसूत्रस्थधातुग्रहणे तिष्ठतु तावत्, सामान्यासिकमिति भाष्या-
दिरेप्रभृतीनामेकाराणान्तडादेशानां ढेरैस्त्वन्नेति ज्ञापकतया चारिताध्यैर्नकारोच्चारणसाम-
र्थ्यान्नात्वमित्यस्य चरुमुदाहरणतया च धातुग्रहणानुवृत्तेः "भाष्य उपदेश" इति सूत्रे
आवश्यकतेति विभाज्यते । तदा "लिटि" इति सूत्रविहितादेशावयवैकारैस्त्वोभयोर्ग्रे ज्ञापकता
स्वीकार्या, यवता विनेतिन्यावात् । अग्राधं मानन्तु 'माड' इति निर्देशस्य नानुबन्धकृत-
मनेजन्तत्वमित्यर्थज्ञापकतापरि भाष्यमेव । एवं तादृशभाष्यादेव "माड् मारते" इति धातोः
स्वाप्रत्ययोऽभिधानाच्च भवतीत्यपि ज्ञेयमित्याशयः ॥ ७ ॥

अनुबन्धानामेकान्तत्वपक्ष एव सम्भाविनन्दोपान्तरविरसितुमाह—नन्येवमित्यादि ।

तत्प्रकाशिका—

न्याभावेन पलोपोत्तरं कथमात्वे भविष्यति, नच स्थानिवद्भावेन सहाभः, इत्संज्ञाविधौ तु
मकारैस्त्वोपरिप्राणार्थे कृतेन धमोरुकारेणानतिदिष्टोपदिश्यमानत्वस्य ग्रहणम् । अत
पृथापृथावका-स्यैत्संज्ञालोपोत्तरमतिदिष्टोपदिश्यमानत्वमादाय न उकारस्यैत्संज्ञा ।
अनेकानुबन्धघटितस्यालं युगपदेव सर्वेषु विरोधाभावेन संज्ञायाः प्रवृत्तिः । आत्वविधौ
स्वतिदिष्टानतिदिष्टयोरभयोर्ग्रहणम् । अत एव "दो दूयोः" इत्यत्र दाग्रहणे धरितार्थम् ।
अन्यथा धारूपं धावस्याप्राप्तेर्दाग्रहणमनर्थकं स्यात्, घेट्टित्वेनोपदिश्यमानत्वाभावाद्भाष्या-
प्राप्तेरन्यत्र "द्वार्तादिः" इत्यनेन बाधादिति वाच्यम्, तस्य बाधप्रयोग्यविधेयताश्रयत्वरू-
पसाध्यायकार्यत्वाभावादिति चेन्न तदेजन्तमिति प्रत्यभिज्ञयोपदिश्यमानत्वस्य सत्त्वेनादोषात्,
"दो दूयोः" इत्यत्र दाग्रहणेन "आत्वविधावनुबन्धलोपोत्तरमपि उपदिश्यमानत्वम्" इति क-
ल्पनेनादोषाच्च । इत्संज्ञाविधौ तु करणघनन्तस्यैवास्त्व अतः मिद्वान्तितत्वेन तत्र दाद्वैव मोद-
तांति शोध्यम् ।

दाप्त्वाभावादि । दाप्त्वमानुपूर्वोरूपत्वम् । अत एव "न विधौ परः दाद्वार्थः" इति
न विरोधेन । अन्यथा पकारैस्त्वोत्तरात्प्राप्तत्वरूपदाप्त्वस्य लक्षणां विनाऽसम्भवेन न्यायविरोधोऽप-
रिहार्यः स्यात् । न चेत् "देव रक्षीत्यत्रास्त्व स्यादिति वाच्यम् ? "अतो रोः" इत्यत्रानुनासिको
कारस्य पिरक्षितत्वेनात्र तत्त्वाभावात् । *निर्देश इति* । ननु माडो निर्देशः ज्ञापकपरभाष्य-
प्रामाण्येन कर्मप्रतिहारं सम्मानमिधानात् ॥ ७ ॥

अणोऽप्यापत्तिरिति अनुबन्धस्यावयवत्वेन कागोरमरूपत्वादिति भावः ।

ननु वाग्यरूपमोर्देशिकं प्रायोगिकस्या, नाद्यः व्याकृत्योर्ग्रामिदेः । नापि द्वितीयः लक्ष्म-
कः नुवा साध्यवृत्तिं विना निक्षिपप्रयोगज्ञानाभावादिति चेन्न यथादेशस्यप्रियोगसिद्धि—हनप्र-

रित्यत आह—

नानुबन्धकृतमसारूप्यम् ॥ ८ ॥

“ददातिदधात्योर्विभाषा” (३-१-१३९) इति एवाधकशस्य विकल्पविधायकमस्या ज्ञापकम् । तेन गोद इत्यादौ नाणिणति वासरूपसूत्रे भोष्ये स्पष्टम् ॥ ८ ॥

ननु संख्याग्रहणे बद्धादीनामेव ग्रहणं स्यात् प्रकरणस्याभिधानियामकस्यसिद्धात् ‘कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमे कार्यसम्प्रत्यय’ इति न्यायात् । अस्ति च प्रकृते बद्धादीनां संख्यासंज्ञा कृतेति ज्ञानरूपं प्रकरणम् । न तु लोकप्रसिद्धैकद्वयादीनामित्यत आह—

उभयगान्तरिह भवति ॥ ९ ॥

इह = शास्त्रे । “संख्याया अतिशदन्तायाः” (५-१-२१) इति निषेधोऽस्या ज्ञापकः । न हि कृत्रिमा संख्या त्यन्ता शदन्ता वास्ति । तेन “कर्त्तरि भैरवी ।

एवमपीति । पूर्वोक्तदोषवारणेऽपि । *णयाधकशस्य* । “श्याद्यध” इति सूत्रप्राप्तस्य णस्य बाधको यः शस्तस्येत्यर्थः ।

ननु ‘नानुबन्धकृतमनेकादृत्वम्’ इत्यादिपरिभाषात्रयस्वीकारोऽनुबन्धानामेकान्तत्वपक्षे ‘कार्यं’ इति गौरवमतोऽनेकान्तत्वपक्ष एव स्वीकार्यं इति चेन्न, अनेकान्तत्वपक्षस्य दृढतरसाधकामात्रेण पूर्वोक्तानुमानस्योपकरीत्या दोषाक्रान्तत्वेनैकान्तत्वपक्षेण सम्मतेनाविरोधाच्चयुक्तत्वमिति स्वीकारात् ॥ ८ ॥

इत्संज्ञाविषये व्यवस्थायाः कथने संज्ञाप्रसङ्गेन सङ्ख्यासंज्ञाविषयेऽप्याह—*नन्वित्यादिना* । *प्रकरणस्य* । भोजनादिप्रकरणस्य । *अभिधानियामकत्वम्* । शक्तिनियामकत्वम् । यथा सैन्धवपदस्य नानाधर्मावच्छिन्नशक्त्युक्तत्वेऽपि भोजनरूपेण प्रकरणेन सैन्धवपदस्य लक्षणप्रतिपादकतैव तदा, नत्वद्वयप्रतिपादकता तद्वत् ।

ननु ‘कृत्रिमाकृत्रिमयोः’ इत्यत्र कृत्रिमशब्दः कृत्रिमप्रयोज्योत्पत्त्याश्रयपरः । एवञ्च घटाप्रधानत्वं कृत्रिमत्वं संज्ञायामेव न तु संज्ञिन इत्यनुपपत्तिः कृत्या निवृत्तमिति विप्रहादिति चेन्न, शब्दार्थयोस्तादात्म्यादेवैतादृशव्यवहारात् ।

ननु लोके यथा भोजनगमनादिकं प्रकरणं तथेह शास्त्रे किमित्याराङ्गानुपपत्त्यर्थमाह—*अस्तिचेति* । “अतिशदन्तायाः” इति निषेधस्य ज्ञापकत्वमुपपादयति—*नहीत्यादिना* । त्यन्तस्य विंशतिशब्दस्य मत्वेऽपि या न कृत्रिमेतित्यन्तप्रतिषेधवैयर्थ्यं स्पष्टमेव, कतिशब्दस्य व्याप्यर्थ्यन्तदिति ॥ न कर्तातिममुदायस्य कृत्रिमत्वेऽपि तेस्तिशब्दस्यानर्थकत्वात् ।

तत्त्वप्रकाशिका—

यद्यः” इति विहितापः सरूपत्वेन “मूर्तार्थेन” इत्यत्र विकल्पेन बाधाभावायामरूपपदमार्थवयात् । “हनप्रवयोऽमूर्तौ” इति न्यासेन बाध्यबाधकभावाभावरूपेण ॥ इगुपपलक्षणस्य “तन्द्राशोकयोः” इति केन विकल्पेन बाधाभावश्च तत् । तस्ये तु विकल्पममावापतिरिति बोध्यम् । सारूप्यश्च स्वाधेयकर्मउद्घटितत्वे सति स्वधेटकर्मउद्घटितत्वम् ॥ ८ ॥

शक्तिविषयकत्वम् । शक्तिनियन्त्रगम् । नियन्त्रगघ्यानेकार्थस्य शब्दार्थद्वयार्थत्वात् ।

कर्मव्यतिहारे" (१-३-१४) "कएवमेवेभ्यः करणे" (३-१-१७) "विप्रति
पिद्ध्यं चानधिकरण" (३-४-१३) इत्यादौ लौकिकक्रियाद्रव्याद्यवगतिः ।
तत्र क्रोभयगतिः काकृत्रिमस्यैव क कृत्रिमस्यैवेत्यत्र लक्ष्यानुसारि व्याख्या-
नमेव शरणम् । अतएवाभ्रेडितशब्देन कृत्रिमस्यैव ग्रहणं, न तु द्विस्त्रिर्घुष्ट-
मात्रस्य । स्पष्टं चेदं संख्यासंज्ञासूत्रे भाष्ये ।

यत्तु, संज्ञाशास्त्राणां मच्छास्त्रेऽनेन शब्देनैत एवेति नियमार्थत्वं कृत्रि-
माकृत्रिमन्यायवीजमिति, तत्र तेषामगृहीतशक्तिग्राहकत्वेन विधित्वे सम्भ-
वति नियमत्यायोगात् । 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' इत्यभ्युपगमोऽपि योगिदृष्ट्या,
नन्वस्मदादिदृष्ट्या विशिष्य सर्वशब्दार्थज्ञानस्याशक्यत्वात् । सामान्यज्ञानं
तु न बोधोपयोगीत्यन्यत्र निरूपितम् ॥ ९ ॥

नन्वभ्येता शयितेत्यादादिङ्शीङोङित्वाद्गुणनिषेधः स्यादत आह—

कार्थ्यमनुभवन् हि कार्थ्यानिमित्ततया नाश्रीयते ॥१०॥
भैरवी ।

तेन 'उभयगतिरिह' इति परिभाषासत्त्वेन । *लौकिकेत्यादि* । आद्ययोः क्रियावगतिः,
अन्त्ये द्रव्यावगतिरिति विरेकः । *तत्र* उभयगतौ । उभयोः कृत्रिमाकृत्रिमयोस्तिस्य
कृत्रिमत्व्यैवाकृत्रिमस्यैवोभयोर्वैतर्क्यः । उक्तानां लौकिकत्वञ्च वेदभिन्नप्रसिद्धरूपम् । नच कृत्रिम-
स्यैव ग्रहणमित्यर्थ एव शाप्यतामिति वाच्यम् ? आभ्रेडितादिशेषविषये दोषापत्तेः । *व्या-
ख्यानमिति* = भाष्यकारादिव्याख्यानमित्यर्थः । *अत एव* व्याख्यानस्य शरणत्वादेव ।
स्पष्टचेदमिति । प्रागुक्तं सर्वमित्यर्थः । प्राचासुक्तिं खण्डयति—*यत्स्थिति* । *नियमा-
र्थत्वमिति* । तन्मतं बोधकत्वस्य शक्तिरूपत्वेन यथा कथञ्चित् सर्वेषां शब्दानां सर्वार्थबोधक-
त्वं सिद्धमेवेति संज्ञासूत्राणि नियमार्थानां भावः । *तेषाम्* संज्ञासूत्राणाम् । नियमार्थत्व-
साधक्युक्तिं खण्डयति—*सर्वेति* । सर्वशब्दार्थेत्यत्र शब्दार्थशब्दयोर्द्वन्द्वं कृत्वा सर्वशब्देन
कर्मधारयोक्तौ तत्प्रकृतिरूपवृत्तस्य ज्ञानशब्देन सह तत्पुरुषः । *सामान्यज्ञानमिति* ।
शब्दरूपेणार्थत्वेन च सामान्यरूपेणेत्यर्थः । "व्यवहाराय नियमः, संज्ञायाः संज्ञिनि कश्चित्" इति
हरिपत्न्यस्य तु, संज्ञाशास्त्रेण संज्ञाशब्दात् संज्ञिनि शक्तिग्रे वृत्ते अन्येषामर्थानामुपस्थिति-
र्भवेति न भवतीति फलितार्थवृत्तेनोपपत्तिः कार्थ्या ॥ ९ ॥

सिंहानलोकनन्यायेनेतस्य संज्ञायाः पुनः स्मरणात् तद्विषये वक्तुं शक्नुते—*नन्विति* । "हि-
ति" इति सूत्रार्थप्रविष्टमिति तद्ग्राहणमात्रपरमित्यभिप्रायेण शङ्का । *कार्थ्यमनुभवन्-
तत्त्वप्रकाशिका-

सात्पर्यबोधोपपत्तिमिति भावः । *निवृत्तिमिति* "मिदं शब्दार्थमव्यञ्ज्ये" इति वार्तिकाच्छक्तिस-
वयस्य मिदत्वबोधनादिति भावः । *अगृहीतेति* = । सत्यपि सम्यग्बोधे ग्राहकाभावे बोधो
न दृश्यतेऽतः शक्तिग्राहकत्वेन विधित्वमेव युक्तम् । एवाग्रागृहीतशक्तिग्राहकत्वं विधित्व-
मिति विवेचनेऽपि निष्पन्नम् ॥ ९ ॥

शङ्का इति । यथोद्देशविचारो "नित्ति च" इत्यत्र कैयट इत्युक्तम्, तत्र "नित्ति च"
इत्यस्य कौटुषार्यार्थ इत्यानाद्यायां संज्ञाविषयकविचारो निष्पद्ये, सप्रसङ्गसङ्कत्या तद्विष-
यिणी व्यस्यी यस्तुमादित्यपि वाच्यम् ।

भारयमात्रेति । समशयिनिमित्तोभकारमिति भावः । कारणत्वञ्च—कार्थ्याव्यवहि-
तशब्दशब्दावच्छेदेन कार्थ्याधिपरावृत्तिरिति । तस्य च प्रवृत्ते, ईदृशेऽपि मन्त्रेण्यमादृष्टेति

भैरवी ।

त्यस्य* कार्येण सम्यग्दमित्यर्थः । *कार्योत्यस्य* । तु कार्यमन्मन्निधत्वेन प्रसक्तमित्यर्थः ।
तत्त्वप्रकाशिका ।

तत्त्वम् । इदञ्च 'निमित्तप्रहणे कर्तव्यमुपधारोरोत्तर्यम्' इति वार्तिकमिप्रायेण, वस्तुतस्तु परसप्तम्याश्रयणेऽपि रोरवीतीत्यादानन्तरङ्गे प्रतिपेधे बहिरङ्गगुणस्यासिद्धत्वेन, मिधे छिन्न-मित्यादौ दकारेण व्यवधानेऽपि वनोः कित्त्वसामर्थ्यनैकवर्णव्यवधानेऽपि निपेधप्रवृत्तिसूची-कारेण चेष्टसिद्धेः नेदम्फलमिति बोध्यम् । भवत इत्यादावकारव्यवधाने न गुणनिपेधः हल्वर्णप्रहणस्य विवक्षितत्वात् ।

केचित्तु निपेधे बहिरङ्गतया वारयन्ति तन्न 'निपेधाश्च बलीयांस' इत्यनेन तद्वाधात् । निपेधविषयेऽन्तरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेश्च । अत एव "दीर्घवेवीट्याम्" इति सूत्रं प्रत्याख्या-नपरं तद्वाच्यं च सङ्गच्छते । अन्यथा निपेधचेष्टया गुणस्यासिद्धत्वेन तद्वैयर्थ्यं स्यात् ।

नच 'प्रेद्ध' इत्यत्र गुणनिपेधवारणपरं "न धातुलोप" इति सूत्रस्थभाष्यविरोधः, प्रकृति-प्रत्ययोभयवृत्तान्तरङ्गबहिरङ्गभावेऽप्रवृत्तिकल्पनेन प्रकृते प्रत्ययमात्रकृतत्वेनादोषात् । नचा-क्षेष्टमित्यत्र सिचः सकारेण व्यवधानात् वृद्धिनिपेधः स्यात्, शापकसाजतया धात्ववयवह-ल्वर्णस्य ग्रहणेनानिपेधात् ।

ननु गुतेत्यत्र 'धात्ववयवैकहल्वर्णाभावेन निपेधाप्रवृत्तिः, सिञ्चभिन्नहल्वर्णैकव्यवधान इति कल्पनेन तु न निर्वाहः अगुपीदित्यत्र सिचो व्यवधानेन निपेधाप्रसक्तेः । नच "गाङ्कु-टादिभ्यः" इत्यनेन कुटादिभ्यः परस्य प्रत्ययमात्रस्य द्वित्वविधानेन सिञ्जितमित्तको निपेधो भविष्यतीति वाच्यम् ? अन्तरङ्गे निपेधे बहिरङ्गस्य तिञ्जितमित्तकगुणस्यासिद्धत्वात् इति चेन्नागुपीदिति भाष्योदाहरणात् "गाङ्कुटादिभ्यः" इति विहितकित्वाश्रयनिपेधे गुणवृद्धयोर-सिद्धत्वञ्चेति शापनेनादोषात् ।

यत्तु व्यवधानं-हल्वर्णैकवर्णस्यैवास्तु तच्च गुणांशे, इत्यत्राक्षेष्टमित्यत्र वृद्धिः सुलभा नवागुपीदित्यत्र दोष इति तन्न । मृष्टइत्यत्र "मृजेवृद्धिः" इत्यनेन प्रासायाः वृद्धेर्दुवार्त्त्वात् ।

अन्येतु निपेधशास्त्राणां तत्तच्छास्त्रारम्भसामर्थ्याद्विधिनियेधयोः पर्यायापत्तिवारणाय विष्ण्वेकवाक्यतयैव बोधः । सध पर्युदासन्यायेन । एवञ्च द्विदिन्नसार्वधातुकार्धधातु-कयो रित्याद्यर्थेन सर्वत्र साधारयोगात्परसप्तम्याश्रयणन्तु निमित्तप्रहणे कर्तव्यम् इति वदन्ति, तन्न प्रथमान्तान्यपदार्थममभिव्याहारे ननो भेदबोधकत्वं नेति सिद्धान्तेन ननोऽत्र भेदबोधक-त्वाभावात् । येषां पूर्वोक्तार्थं लक्षणाया सम्प्राप्य "विजति च" इत्यस्य तात्पर्यप्राप्तकत्वं वद-न्ति, तेऽप्यमान्याः, निमित्तप्रहणाभावे, पृथक्वाक्यार्थबोधे भेदनम् लक्षणायां भिन्नम् इति स्वरूपभेदेन लक्षणाया अप्रवृत्तेः ।

अपरेतु सत्यपि निमित्तप्रहणे कितः सर्वत्र प्रत्ययसम्बन्धितत्वेन तत्साहचर्यान्वितोऽपि प्रत्ययसम्बन्धिनो प्रहणेनेष्टीजोर्कित्वस्य तथाभावेनावतरणासङ्गतिः, नच 'इक्, स्मरणे' इत्यादौ धातुरपि किदस्तांतिवाच्यम् ? तस्य गान्तत्वात् कान्तस्तु चत्वेन, एवं सर्वत्र । नच 'ओहाक्' धातोर्यदि "जाहायत" इत्यत्र दीर्घपर्युदासायं कित्करणमिति वाच्यम् ? "दीर्घोऽ-कित" इत्यत्राकितोऽभ्यासविरोधेणत्वाद्वा पर्युदासमावात् । नवा "अस्य स्त्री ई" ई इवाचर-तीत्यर्थं किपि छटि दापि निष्पन्नस्यायतीतिरूपस्य प्रत्ययसम्बन्धिनो हितः सत्त्वनोपलक्षणम् । कित्साहचर्यादुद्देश्यताश्रयमिन्नस्य, धातुविहितस्यैव वा कितो ग्रहणेनात्र तथात्वाभावात् ।

यद्यपि आद्ये छिन्नम् भिन्नमित्यादावेव निपेधाप्रवृत्तिः तत्कारस्य नकारनिरूपितोद्देश्य-ताश्रयत्वात् द्वितीये अशब्दाद्व्यचारकिञ्चिन्तात्कर्त्रे किपि ततो छीपि आचारकिपि "अयनी" इत्युदाहरणं भविष्यति, अस्य द्वितो धातुविहितत्वात् । तथाप्यौपदेशिकधातुविहितस्येतिक-

“स्थण्डिलाच्छ्रयितरि” (४-२-१५) इति निर्देशश्चास्या ज्ञापकः
 “ऊर्णुनविपति” इत्यादिसिद्धये कार्य्यमनुभवन्निति । अत्र हि-“द्विर्वचने
 ऽचि” (१-१-६८) इति शुशब्दस्य द्वित्वम् । अन्यथा “सन्यडोः” (६-२-९
 इत्यस्य पष्ठ्यन्तत्वात्सन्नन्तस्य कार्य्यत्वेन इसो द्वित्वनिमित्तत्वाभावात्
 तत्प्रवृत्तिर्न स्यात् । वस्तुतः समवायिकारणनिमित्तकारणयोर्भेदस्य सक
 ललोकतन्त्रप्रसिद्धतया तस्य तत्त्वेनाश्रयणाभावेन नैषा ज्ञापकसाध्या
 अतएव हिः प्रयुक्तः । स हि तत्त्वेनानाश्रयणे हेतोः प्रसिद्धत्वं द्योतयतीति
 भैवी ।

निर्देशयेति । चत्त्वर्थे ।

यत्तु “दीधीवेवोदाम्” इति सूत्रे दीधीवेवोदप्रहणमस्यां ज्ञापकङ्कुटादिषु कुङ्कुधातुपाठश्च तथेति
 तत्र । आद्ये दीधीवेवोदप्रहणस्य भाष्यकृता प्रत्याख्यानात् सूत्रकाररीत्या ज्ञापकत्वमित्यपि ।
 आदीष्यक इत्यग्राग्निलक्षणवृद्धिवारणतया साफल्यत्वात् । अन्त्यस्य ज्ञापकत्वमपि न चमत्क
 रिकारि तन्नामग्र वा पाठे लाघवगौरवविरहात् *अन्यथा* = । कार्य्यमनुभवन्नित्यस्या
 भावे । “इको यणचि” इति सूत्रस्य विषये ‘तुघ्युपास्य’ इत्यादाविको निमित्तत्वेन ‘तस्मिन्’
 इति परिभाषायादनुपश्लिष्टस्याचः पूर्वस्येकः कार्य्यत्वस्वीकारादुकारस्य न काव्यानुभव इति
 स्पष्टमेव । कार्य्येण उपश्लिष्टस्य कार्य्यत्वमित्येतद्व्यवहारात् तन्त्रान्तरीयव्यवहाराच्च सर्वं
 ऽसिद्धौ नैव परिभाषा ज्ञापकसिद्धेति सूचयन्नाह- *वस्तुतः इति* । *तत्त्वेन* = निमित्त
 त्वेन । *अतएव* = तन्त्रान्तरीयव्यवहारसाध्यत्वादेव । *तत्त्वेनानाश्रयणे* निमित्तत्वेना

तत्त्वप्रकाशिका-

रूपेण नदोषः । मैत्रमपि इनुप्रत्ययस्य औपदेशिकथातुविहितत्वेन छित्त्वेन सुनोतीत्यस्योप-
 पन्नशङ्काम्, इत्यस्यापच्छिन्नाया उकारे अङ्गत्वावच्छिन्नायाः सुन्वित्यस्मिन्नुद्देश्यतायाः
 सत्येऽपि नुत्तरे कस्याप्यभावात् । एवं जिष्ण्वतीत्यग्रापि स्तुनिष्ठाया उद्देश्यताया अ-
 भावो योक्ष्यः । अथाहपूर्वादाधातोः क्रियत्ये, आचारकिपि “आधयति” इत्यग्र औपदेशि-
 कथातुविहितक्रियत्यसम्बन्धित्वस्य सत्यात्तदुपलक्षणे चेत्तर्हि गिग्निष्ठाया निमित्ततायाः
 सर्वत्र सत्त्वम्यन्तपदप्रयोज्यायाः सत्त्वेन तत्साहचर्याग्नित्तिष्ठाया अपि तथाग्रहणात् प्रकृते
 पठ्यन्तपदप्रयोज्यायाः सत्यात् । एवञ्चारिरिपतात्यस्योपलक्षणम्योध्यमिति वदन्ति ।

कार्याति । इन्प्रत्ययस्योद्देश्यताध्वयत्वमर्थः । कार्य्यनिष्ठविधेयतानिरूपितोद्देश्यता-
 श्रयः निमित्ततया न गृह्यत इत्यर्थः । उद्देश्यत्वं विधेयतया साक्षान्निरूपितविषयताश्रय-
 श्यम् । विधेयत्वन्वापूर्वज्ञानीविषयताश्रयत्वम् । एवञ्च गुणनिष्ठविधेयताया इक्षुदमन्नि-
 धानेन साक्षाद्विषयताश्रयत्वमिह तत्र निमित्ततायाः निषेधेन परम्परया ममुदायेऽपि निषे-
 धेन न ममुदापृच्छिनिमित्ततामादाय निषेधप्रवृत्तिः । यदितु यदुपदेशप्रयुक्ता यस्येतत्सा तद-
 मुपन्यस्यते तस्येत्युच्यते तर्हि अस्याप्युत्पुद्देश्यताश्रयत्वमादाय निमित्तत्वं चारणीयम् ।

इत्यन्व-स्याध्वयस्य स्वाध्वयप्रयुक्तित्यान्यतरमध्वन्येन कार्य्यनिष्ठविधेयतानिरूपितसा-
 क्षाद्विषयताविनिष्टः कार्य्यस्य निमित्ततया नाश्रीयत इति फलितोऽर्थः । एतद्विभ्रायेण मूत्रेऽध्व-
 नरणेऽध्वेनानिषेत्सुदाहृत्ययमुक्तम्

ध्वयवर्ध इति = । अर्थः प्रयोजन मंगलरूपमिति बोध्यम् । तेन “निशाशीद्” इत्यस्य
 गेहः । अथवा नायि इत्यत्र प्रवृत्तिनिष्ठचित्त्वेन गुणे प्रतिविद्धे चित्त्वप्रतिषेधस्य बोध्यं
 २५१ । *मर्यादोक्त्यन्तेति* । अत्र सकलार्थं लोकेऽन्वितं ननु सन्ने, तेन पेदान्तिनये पृक-

तत्त्वम् । “द्विर्वचनेऽचि” (१-१-५९) इत्यत्र भाष्ये ध्वनितैषा ॥ १० ॥

भैरवी ।

नाश्रयणे* निमित्तत्वेनानाश्रयणे । *तत्त्वम्* सिद्धान्तः । *ध्वनितैषेति* । तत्र हि-अची-
त्यस्य जेघ्रीयते देघ्मीयते इति प्रत्युदाहरणमुक्तम् । अत्र “ईघ्राध्मोः” इतीत्वस्याज्यहणाभा-
वे स्थानिवत्त्वेन निवृत्तिः स्यात्, रूपातिदेशस्य सिद्धान्तिसम्मतत्वात्, ‘कार्यमनुभवन्’ इत्यं-

तत्त्वप्रकाशिका ।

स्मिन्नेव ब्रह्मणि कारणद्वयस्वीकारेऽपि न क्षतिः । *सिद्धान्त इति* । चिन्त्यमिदम्, वैवा-
करणये शब्दस्य नित्यत्वेन तन्निरूपिततत्त्वयोगंगमनकुमुमायमानत्वात् । न्यायनयेऽप्येकारादेः
समवायिकारणमाकाशः नत्विकारादिः ।

केचित्तु सकललोकतन्त्रेऽप्रसिद्धतयेति पाठम्मत्वा भैवेत्यग्रत्यनकारस्य काकुपरतया, ज्ञाप-
कसाध्या न, अपितु ज्ञापकसाध्यैवेति । *अत एव* ज्ञापकसाध्यत्वादेव । यद्वा तत्त्वेनाश्रय-
णाभावे सत्येषा ज्ञापकसाध्या नेति न, अपितु ज्ञापकसाध्यैवेति वणंयन्ति ।

परंतु अचीत्यादौ शाब्दे निमित्तकारणत्वव्यवहारस्य नित्यतापक्षे वास्तविकस्यासम्भवेन
काल्पनिकत्वम्, जन्यतापक्षे कण्ठतालवाद्यवच्छेदेन वायुसंयोगस्येव निमित्तकारणत्वम्, एवं
स्थानिरूपसमवायिकाणस्त्वमपि काल्पनिकं शक्यते वक्तुं, लोकेऽपि घटोत्पत्त्यनन्तरं कपालस्य
व्यवहाराभावः, एवमादेशोत्पत्त्यनन्तरं स्थानिनो व्यवहाराभावेऽपि निमित्तात्पृथक् समवायि-
कारणत्वेन परिभाषा न ज्ञापकसाध्यैवेति यथाश्रुतं युक्तमेवेत्याहुः ।

सिद्धान्तिसम्मतत्वादिति । अयम्भावः, अचिप्रहणाभावे द्विरुच्यतेऽस्मिन्निति व्युत्प-
त्त्या द्वित्वे निमित्ते परत आदेशः स्थानिवदित्यर्थकम् “द्विर्वचने” इत्येव सूत्रमस्तु । प्राध्मा-
धातोर्ध्वेति परत्वात् “ईघ्राध्मोः” इतीत्ये “द्विर्वचने” इत्यनेन कार्यातिदेशे “प्राध्मा” इति बु-
द्ध्वावपि द्वित्वन्तु ग्रीष्मीत्यस्यैवेति “जेघ्रीयते देघ्मीयते” इतीष्टे सेस्त्व्यतीतिप्रभः । चक्रतुरित्य-
त्र द्वित्वात्परत्वाद्यणि, अनच्छत्वेन द्वित्वाप्राप्तावनेन कृयुद्वावपि यण्विशिष्टस्येव द्वित्वेऽभ्यासे-
ऽकारस्य ध्रुवणं नस्यात्तदर्थं रूपातिदेशेऽङ्गीकृते जेघ्रीयते देघ्मीयते इत्यत्रापि प्राध्मेति रूपाति-
देशेऽभ्यासे एकारध्रुवणं नस्यात्तदर्थमचिप्रहणे कृते “स्वरान्तरं ध्वजानान्युत्तरस्य” इति प्राप्तिना-
शब्देन यदोऽज्ञादिद्वित्वनिमित्तत्वाभावेनातिदेशाभावादिएतदिरित्युत्तरम् । अचिप्रहणमेव
रूपातिदेशे ज्ञापकमिति तात्पर्यम् ।

एवञ्च विशेषणांशविशिष्टेयम्परिभाषा ध्वनिता । अन्यथा “सन्त्यहोः” इत्यस्य पञ्चान्त-
त्वेन कार्यिणो यदो निमित्तत्वाभावेनातिदेशाभावे जेघ्रीयत इत्यादीष्टसिद्धौ फलाभिधानमस-
म्मतम् स्यात् ।

अग्रेतथे यदन्ति “द्विर्वचनेऽचि” इत्यस्य यदि द्वित्वनिमित्ततापर्याप्त्यधिकारोऽचीत्यर्थ-
स्तदैवाश्रयणे इत्यादौ यणि वारितेऽपि चक्रतुरित्यादौ द्वित्वात्पूर्वं यण् दुर्योस्तप्रातुयोऽकार-
स्य द्वित्वपर्याप्त्यधिकरणत्वाभावात् । यदितु द्वित्वपर्याप्त्यधिकरणघटकेऽचीत्यर्थस्तदा जग-
म-
तुरित्यात्र द्वित्वात्पूर्वमुपधालेपः प्रवर्तते मकरेण व्यवधानाद् “द्विर्वचनेऽचि” इत्यस्याप्र-
चोः । अथ द्वित्वनिमित्ततापर्याप्त्यधिकरणघटकाग्निमित्तकोऽज्ञादेशो नेत्यर्थस्तदा जेघ्रीयत
इत्यादौ द्वित्वात्पूर्वमोत्वे न स्यादेतदर्थमचि यथासिनिर्गते जगम-
तुरित्यादौ द्वौपः, अतुगोऽका-
रे लोपशास्त्रीयनिमित्ततापर्याप्त्यधिकरणघटकाव्यु-
पयोक्ता या निमित्तद्वलप्रविष्टा विषयता तन्निमित्तक इत्यर्थे आवश्यकः, तेनाप्येदोया या नि-
मित्तद्वलप्रविष्टा विषयता नस्या अतुगोऽकारे सत्याजगम-
तुरित्यादौ न द्वौपः, नापि जेघ्रीयते
इत्यादौ, तत्र यदोऽकारे निमित्तद्वल्योपायाः कम्प्या अपि विषयताया अभावात् ।

एवमिति, ऊर्जुनविपरीत्यादायिभः इकारेऽपि इत्यापि विषयताया अभावात् गुणमय नि

ननु 'प्रणिदापयति' इत्यादौ दारूपस्य विधीयमाना घुसंज्ञा दापेन स्या-
दत आह—

भैरवी ।

शोऽपि तस्माद्भाष्यादेव लभ्यते, अन्यथा यदन्तस्य कार्थ्यत्वेन "द्विर्वचनेऽपि" इत्यस्य प्रवृ-
त्तिर्न स्यात् ॥ १० ॥

सेनाप्रसङ्गाद्घुसंज्ञापि स्मृतेत्येतद्विषये विशेषेण वक्तुमुपक्रमते—*नन्विति । *दापेन स्या-
दिति* । यत्तु 'यदागमा' इति परिभाषाया एतावत्पर्यन्तमसिद्धतया सङ्कटकदाशब्दस्य स्या-
देवेति तन्न, तत्स्थानार्थकत्वात् । अर्थस्य वाच्यता हि, लोके, यदर्थबोधनाय यस्य प्रयोगो भ-
वति तन्निरूपिता कल्पनीया, लोके हि यन्नागमप्रवृत्तिस्तत्रागमसहितप्रयोग एव दृश्यत इ-
त्यनर्थकत्वं स्पष्टमेव । *न स्यादित्यस्य* । तादृशेऽपि सङ्कदान्तरत्वादिति शेषः । स्व-

सत्त्वप्रकाशिका ।

पेधो न स्यादिति चेन्न कापि क्षतिः, अवादेशो निषेधस्य प्रवृत्तेः तत्राच्छपीयविषयताया इह
इकारे सत्त्वात् इति परिभाषा निष्फला । न च दुष्पुपतोत्पन्नं दि उसेतिदशायां यणो द्वित्व-
निमित्तता पर्याप्त्यधिकरणघटकाप्यप्योत्पन्ननिमित्तद्वलप्रविष्टविषयताकट्येन निषेधात्पूर्वं द्वित्वे-
रिदुपत्तीत्यनिष्टं स्यात् । सत्यां परिभाषायां साम्भावनिकस्य कार्यानुभयकर्तृत्वस्य ग्रहणेन
यद्यत्र "द्विर्वचनेऽपि" इति न प्रवर्तत तर्हि यणि परिभाषाया विषयस्यैवादिति सम्भावनाया
न दोष इति वाच्यम् 'प्रत्यय इति वक्तव्यम्' इति भाष्यात् प्रत्ययावयवस्याचो ग्रहणेनाप्राप्ति-
युतेः । नचात्मनो भवनमिच्छति भवनीयति ततः सनि द्वित्वात्पूर्वं व्युद्स्थानिकाननिमित्तक-
गुणनिषेधे, "ओः पुपण्" इत्यस्याभ्यासोत्तरखण्डव्यवधान एव प्रवृत्त्याऽप्राप्तेः, विभवनी-
यिपत्तीति रूपन्नस्यादिति परिभाषा सफलेति वाच्यम् । "द्विर्वचनेऽपि" इत्यस्य द्वित्वविधा-
यकभाष्योपनिमित्तद्वलप्रविष्टविषयताप्रयोजनप्रत्ययघटकाप्यप्योत्पन्ननिमित्तद्वलप्रविष्टविषयताके-
कार्थं उजादेशो नेत्यर्थेनागमस्य द्वित्वविधायकत्वाच्चे निमित्तत्वेनाश्रयभाभावेनाप्राप्तेः ।
अश्रयजोगपदित्येतदर्थमग्निष्टा निमित्तताप्रत्ययनिष्टविशेष्यतानिरूपितादयद्विदितपूर्वत्वसम्भ-
न्धापच्छिन्नप्रसारता असमानाधिकरणा ग्राह्या, "णौ च सैंश्रद्धोः" इत्यत्र समानाधिकरण-
स्यैव सत्येन द्वित्वात्पूर्वं ग्राह्येति भवत्येव । चक्रतुरित्यादेस्तु पृकात्भ्यः आचारकि-
पोऽनभिधानादन्तर्भित्तानम् । सत्यप्यभिधाने प्रत्ययान्तत्वादात्म्यत्प्योक्तत्वालालम् । उदा-
हृदादाचारद्विधन्तात्मनि, अविविषयतीत्यत्र द्वित्वात्पूर्वं गुणोऽप्यवदेशे प्राप्तस्य निषेधस्य
प्रतिबन्धाय परिभाषाऽविविधकृतिचेत्तर्हि "द्विर्वचनेऽपि" इत्यत्र "अथः परस्मिन्" इत्यतः
एवंविधाविवयनुरूपं पूर्वत्वेन दृष्टस्यैव द्वित्वे कर्तव्ये इत्यर्थेन प्रवृत्ते तपामावेन तदप्राप्तिरि-
ति शोध्यम् ॥ १० ॥

नन्वेऽपि घनेन मग्नमग्नमग्निहका । पूर्वोऽवतरणस्य शयितेत्यत्रेनेत्यस्यार्थधातुकत्वं
कथमित्यादायां तदुपपादकनयोपोदातमग्नत्वा तदनन्तरे "यदागमा" परिभाषां वक्तुमुपक्र-
मते—*नन्विनात्यपि कश्चिन्* । *अभिद्वनयेति* । एवञ्च वाहकाभावेन स्वतन्त्रे दाशब्दे दाश-
ब्दप्रत्ययस्यैव स्यात्स्येव । *नन्वयानर्थक्यादिति । अयमाशयः—"दाप्याच्चदाप" इत्यत्र "दा"
इति त्रिसिष्टरूपीपादानेन- अर्थवद्ग्रहणपरिभाषयाऽर्थग्राहकस्य ग्रहणेनात्र "आगमसमभि-
धायारे आगमविरिष्टस्यैवार्थवत्त्वम्" इति सिद्धान्तेन, दाप्यष्टकश्रमागमस्यानर्थक्यम् । तदु-
पपादयति—*आर्षस्य वाच्यनेति* । *तत्रिरूपिता कल्पनीयेति* । यद्यप्यस्माभिप्रेमेन प्रतीय-
ने तत्तस्य वाच्यम् यथा गोशब्दस्य गोत्वमिति स्यातेः । *स्वमेवेति* तथा पागमप्रवृत्ति-
स्यैव आगमरहितः अनर्थकः तदर्थविरक्षयान्तर्ग्रहितस्याप्रयोगादित्यनुमानमागममभि-
धायारम्यापनिमित्तमग्नम् ।

भैरवी ।

रूपमितिशस्त्रीयोपस्थितिसत्त्वाच्चेत्यपि बोध्यम्; तत्त्वात्मककार्यकालपक्षाभिप्रायेणैवमाशङ्क्य ।
तत्त्वप्रकाशिका ।

यत्तु न्यायस्य भूयादित्यत्र "तु" लोपाभावः, भूयास्तत्तमित्यत्रेडभावः, एधिषीध्वमित्यत्र मूर्धन्याभावः फलम्, अन्यथा सतांश्चमित्येत्येतेषामर्थवत्त्वेन लोपादीनां प्रवृत्तिर्दुर्वारा स्यादिति तत्र, आद्ये कथाप्ताहचय्येण लुप्यमानप्रत्ययानवयवस्य हलो ग्रहणेन, द्वितीये धातोः परस्ये-
त्ययं यासुदा व्यवधानात्, तृतीये इह भिन्न इणः ग्रहणेनादोपात् ।

यदपि फलोपशायकतारूपजनकतायाः ग्रहणे कामिनोजिज्ञासादिप्रतिबन्धरुचशादोधाज-
नने प्रणिज्ञातेत्यादौ घुत्वानापत्तिः, स्वरूपयोग्यतायाः ग्रहणे प्रकृते दाशब्देऽपि सत्त्वादवतरणा-
सङ्गतिः । अत अर्थविषयकबोधजनकत्वमिति परित्यज्य, अर्थविषयकबोधजनकत्वप्रकारकता-
त्पर्यविशेष्यस्वरूपमर्थवत्त्वं वाच्यम्, दाशब्दवर्तिनः तस्यापि समुदायस्य प्रत्येकानतिरिक्ततया
दाशब्दे प्रकृते सत्येनावतरणासङ्गतेस्तादृक्त्वमिति तदपि न । तादृशतात्पर्यविशेष्यत्वप्रति-
योगिकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मवत्स्वरूपस्यार्थवत्त्वस्य ग्रहणेनादोपात् । अवच्छेदकत्व-
ज्ञानान्वृत्तानतिरिक्तवृत्तित्वं ग्राह्यम् । पर्याप्तिश्चायमेको घटः, इमौ द्वौ, इति प्रतीतिसाक्षिकः
स्वरूपसम्बन्धविशेषः । एवञ्च प्रकृतेऽनुयोगितावच्छेदकधर्मः चित्तं न तु दागतद्वित्वं तस्य
न्यूनवृत्तित्वेनावच्छेदकत्वाभावात् ।

नच तत्सम्यग्भवेन प्रत्येकवृत्तिधर्मस्य तत्सम्बन्धेन समुदायावृत्तित्वनिर्णमात् दागतद्वि-
त्येऽपि तद्वर्तते इति वाच्यम् ? अवयवस्य समुदायातिरिक्तस्वस्वीकारेणादोपात्, प्रकारान्तर-
स्य सर्वेषां दुर्बलत्वात् ।

ननु "अतिद्वी" स्यादिना ज्ञेः पुद् विधीयताम्, ज्ञेयवस्तुने पुद्गोपार्धधातुकाशब्दार्थ-
यतीत्यादौ गुणानापत्तिर्दोषः "पुगन्त" इति सूत्रे पुगन्तग्रहणं च ॥ कार्यमिति लाघवमिति
प्रकृते प्रणितदातीतिवर्णनवसिद्धिरिति चेन्न उत्तरसूत्रे पष्ठग्रन्तस्य ज्ञेयवृत्तौ लुक् पुका-
दीनामन्त्यावयवत्वेन द्वापयति वाजयतीत्यापत्तिर्दोषः । न च तत्रापि पुद् पुद् इति न्यस्यता-
मिति वाच्यम्, मिलीनयतीत्यादौ गुणपत्तेः । न चोत्तरग्र प्रयोगानुरोधेन णाधिति सप्तम्यन्त-
त्वेन विपरिणाम इति न काप्पमुपपत्तिरिति वाच्यम् ? दापेर्लुङि पुङ्क्तिशित्स्य जेर्लोपेऽदीप-
द्विस्थापत्तिर्दोषः, दाशब्दाकारस्योपधात्वाभावेन तद्वत्तासिद्धेर्दोषः ।

अथ रूपपणाविनिव्यासेन न कापि दोषः, द्वापयतीत्यादौ निग्रादेनापत्तेः । न च पप्रत्ययः
विधीयतामिति वाच्यम् ? ज्ञेयवतीत्यत्र गुणानापत्तेः पिधेतिन्यासेन तु न गुणनिर्वाहः पंका-
शदिसामर्थ्यात्कार्यपातुरेवोरित्यर्थेन प्रकृते व्यपदेशिवद्भावेन निर्वाहेऽपि तदादिकिधेः फलभा-
वेनाप्रवृत्त्या भार्यपातुराधेयानुकरककार इत्यर्थे औपयतीत्यत्र गुणपत्तेः । नच पनिहृषित-
मङ्गत्वमितियाच्यम् ? औपाशशब्दाद्व्याचक्षणव्यन्तात् किपि गिचि ध्येयवतीत्यनिष्टापत्तेः ।
पकाररूपार्धपातुरइत्यर्थेन तु न निर्वाहः पुगिवायके धातोर्त्यन्धाननुवृत्त्या पंकारस्यार्ध-
पातुरव्याभावेन द्वेयतीत्यपत्तिर्दोषः ।

तत्त्वामककार्यकालपक्षेति न यथोद्देशपक्षे, तत्र प्रयोजन विज्ञेयानुद्देशेन धातुमन्त्र-
मन्त्रन्तरमेव धुमंशयां मरुप्रति पुत्र्यपि गृहीतमेवज्ञास्यतेन जन्मस्य मृत्तमत्वात् । किञ्च
कार्यकालेऽपि "पूर्वं धातुः साधनेन बुज्यते" इति मने, न पुनरवसर्गमेति मने, पूर्वमेव प्रनिष्ठां
योगं धुमंशयासमन्तरादतया पूर्वमेव जन्मप्रवृत्तेरिति मन्त्रे, एतदपि अकृतप्रवृत्तिपरिभाषां स्वाकु-
र्वतां प्राचीनानां मने तत्रार्थवद्भाष्यनिमित्तस्य पुञ्च विनाशसम्भारत्वं धुमंशया अप्रवृत्तेः,
न मरुत्वाकृतं न शीनानां मने किञ्च पुञ्चो वदिराग्नयाऽभिवृत्तेन दूरं बुज्यते पुञ्च भविष्यतीति ।
बभूवुनन्तु "यत् किपापुञ्चः प्राद्वन् प्रत्येव गतपुत्रपार्श्वज्ञाः" मरुन्तीति नियमेन पुषो-

यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते ॥ १ ॥

यमुद्दिश्यागमो विहितः स तद्गुणीभूतः शास्त्रेण तदवयवत्वेन बोधि-
भैरवी ।

यदागमेतिपरिभाषार्थमाह—*यमुद्दिश्येत्यादिना* । यद्यपि परिभाषायां यदागमा इति बहुव-
चनान्तं, तथापि तत्सङ्ग्राहकवाक्यमित्यभिप्रायेण, इदञ्चैकवचनं प्रत्येकमेव लक्ष्यसंस्कारो ल-
क्षणेन भवतीत्याशयेन । अस्यां यत्तच्छब्दौ कार्थ्यपरौ । तद्गुणीभूत—इत्यस्य व्याख्या—
शास्त्रेणेत्यादि । शास्त्रमत्राच्यन्तादित्यादिशास्त्रसहितमतिर्ह्रात्त्यादि । लोके यथा देवदत्तेरपा-
दिशब्देन व्यवहृतस्य पश्चाद्ग्राधिक्येऽपि देवदत्तेति व्यपदेशहानिर्न भवतीति दृश्यते तथाऽत्र
शास्त्रेऽपि पादशागमेन पूर्वकालज्ञातव्यवहारहानिर्न भवति तादृशागमेन तद्व्यवहारविषयता-
तत्त्वप्रकाशिका ।

पूदेशपक्षे पूर्वं घुसंज्ञायां सत्यामपि प्रकृते निशब्दादौ तन्निरूपितोपसर्गत्वाभावेन गत्वाप्रशु-
चिः । उपसर्गत्वस्य जन्यबोधविषयीभूतक्रियाविशेषविषयकतात्पर्यप्राहकत्वे सति प्राच्यन्यत-
मत्वरूपत्वेन जन्यत्वस्य निरूपकांशे साकाङ्क्षत्वेन, किन्निरूपितजन्यतावद्बोध इत्याकाङ्क्षायां
‘नेगदं’ इत्यत्र प्रत्यासत्त्या गदादिनिरूपितस्य ग्रहणेन प्रकृतेऽर्धवत्त्वस्य दापि सत्त्वेन शुष्यप-
यांसजनकतानिरूपितजन्यतावद्बोधविषयीभूतक्रियाविशेषविषयकतात्पर्यप्राहकतायाः प्रविश-
ब्देऽसत्त्वात् । एतेन पूर्वं धातुरूपसंगणेति मतमपि प्रत्युक्तम् । नवीनानां मतेऽपि ‘स्थादिष्व-
भ्यासेन’ इत्यादिनिर्देशोनासिद्धशास्त्रप्रवृत्त्युत्तरकालिकसापादिकशास्त्रप्रवृत्तिप्रयोगोऽसिद्धशा-
स्त्रनिमित्तविनाशसम्भावनायां पूर्वमसिद्धशास्त्रस्याप्रवृत्तिरितिकल्पनेनादोषात् । अन्यथा द्वा-
धातावन्तरङ्गतायां पूर्वं ध्रुत्वेपश्चाद्भातुसंशोचं सत्त्वेऽपि ठकारध्रुवणापत्तौ निर्देशामङ्गतिः स्पष्टैव ।

प्रकृते तु सापादिकशास्त्रप्रवृत्त्या श्रृंषादिकशास्त्रनिमित्तविनाशः घुसंज्ञानिमित्तविनाश-
द्वारा परस्परया बोध्यः । संज्ञाशास्त्राणां विधिनिमित्तनिमित्तकत्वेनान्तरतश्चाङ्गभावाच्च । अतः
पुनर्‘न यासयोः’ इत्यादिनिर्देशः सङ्गच्छते । अन्यथा परनिमित्तकत्वेनात्वस्य बहिरङ्गासिद्ध्या
गुणसंज्ञाया अप्रवृत्त्या पररूपाप्रवृत्तेः निर्देशासङ्गतिरिति बोध्यम् । न च तथापि विभक्तिनि-
रपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वं, ‘नाजानन्तर्यं’ इति निषेधात् । न चैवमप्यदावितिनिषेधेन घुसंज्ञाया
अप्राप्तिरितिवाक्यम् ? ‘अभिदूषणैर्कृतव्यम्’ इतिवार्तिकेन फलैक्याय प्रकारेत्संशङ्कायाः
प्रतिषेधात् बान्तस्य प्रतिषेधाद्वा । पान्तनिर्देशस्तु दृष्ट्वेन ।

केचित्तु ‘सर्वे सर्वपदादेशाः’ ‘अनागमकानां सागमकादेशाः’ इति न्यायान्नां दास्थानिक्रा-
देशातां दापि प्रतिपाद्य स्थानिवद्भावाप्रवृत्तेर्ग्रन्थकृता वक्ष्यमाणस्यात् । विकारपदेन स्थाने जाय-
मानद्वास्तव्योरेव ग्रहणेनागमविषये एकदेशविकृतन्यायाप्रवृत्तेश्च । अतः पुनरलोपागमवर्णवि-
कारेऽप्यित्यप्रागमात्पृथक् विकारव्यवहारोऽप्युपपद्यते । प्रकृतिग्रहणे ण्यधिकस्यापि ग्रहणमित्य-
पि न शरणम् । कुतवविषय एव तस्याः प्रवृत्तेः । येऽपि ‘लक्षणप्रतिपदोक्त’ परिभाषयाऽवतरणा-
सङ्गतिं वदन्ति तेऽप्यमान्याः । ‘गमादाग्रहणैर्विज्ञेयः’ इति तत्प्रतिषेधात् । न चानयान-
यैरस्यापि दाशब्दस्य घुसंज्ञेति वाक्यम् ? अर्धप्रत्यभिभाषाविषयेऽस्या अप्रवृत्तेः । अतः पुनर-
जन्मतः प्राकालिकविशेषणानां त्यागाभावो भोमांसकैः स्वीकृत्यत इति बोध्यम् ।

यमुद्दिश्येति यस्यागमा इति विषयः । उद्देश्यतयं पदार्थः अवयवत्वावच्छिन्नविषय-
ताश्रय इति आगमपदार्थः । मूढे ‘विहित’ इति तु कलितार्थरूपनम्, आगमपदेनैव सहाभा-
त् । पदार्थस्योद्देश्यतायाः विषयतायामन्यथः । *तत्तस्याहकेति* । तत्, यदागमा इति
बहुवचनान्तम् । *कार्थ्यपरौ* आगमिपरौ । *तद्गुणीभूत इति* । गुणतद् अवयवपरः । आ-
रोपितत्वे चिप्रत्ययार्थः । तत्प्रत्ययार्थो विषयताश्रयः । अनु ग्रहणे ज्ञानमुधारणन्या, तस्य

तोऽतस्तद्ग्रहणेन तद्ग्राहकेण तद्बोधकेन शब्देन गृह्यते बोध्यत इत्यर्थः । तत्र तद्गुणीभूता इत्यंशो बीजकथनम् । लोकेऽपि देवदत्तस्याङ्गाधिक्ये तद्विशिष्टस्यैव देवदत्तग्रहणेन ग्रहणं दृश्यते । यमुद्दिश्य विहित इत्युक्तेः प्रनिदास्यतोत्यादौ न दारित्यस्य घुत्वम् । “आने मुक्” (७-२-८२) इति मुग्विधानसामर्थ्यादेवाऽनित्या । अन्यथा ‘पचमानः’ इत्यादावकारस्य मुकि भैरवी ।

वच्छेदकधर्मातिदेशो विशिष्टे भवतीति लोकसिद्धेयम् ।

यस्य तु परिमाणस्याङ्गाधिक्ये तादृशपरिमाणवत्त्वेन यथा लोके न व्यवहारस्तथात्र शास्त्रेऽपि, पश्चादागतगमसहिते पूर्वं जातस्य ग्रहणविषयकगमसहिते न तद्व्यवहारः । अत्रार्थं मा-
नमपि वक्ष्यति—*आने मुगित्यादिना* । बोध्यत इत्यस्य, समुदाय इति शेषः । अस्याः परि-
भाषाया लोकसिद्धत्वमभिप्रेयमव्यति—*तत्रेत्यादिना । लोकेऽपीत्यपिशब्दः शास्त्रसमुच्चायकः ।
अत्र यथाधिकाङ्गविशिष्ट एव देवदत्तशब्देन व्यवहियते न त्वधिकाङ्गरहितस्तथात्रापि उत्तरकाल-
जातागमसहितस्यैव तद्ग्रहणेन ग्रहणञ्च तु तद्ग्रहितत्वेति बोध्यम् । *न घुत्वमिति* । रेफस्य
‘घुसंज्ञायोरगमसमुदायोद्देशेन विधानाभावादिति भावः । यमुद्दिश्येत्यनुपादाने तु रेफस्याका-
रावयत्वाद्यवयवावयवस्य समुदायावयवत्वादाहस्यस्य घुत्वव्यवहारे नति नैर्णत्यापत्तिः स्या-
त् । यदुक्तं पूर्वत्र, “पूर्वकालजातव्यवहारविषयकगमसहिते न तद्व्यवहारः” इति तत्र मानमुदा-
हृत्यति—*आने मुगित्यादिना* । *अन्यथा* । अनित्यत्वानङ्गीकारं । अङ्गस्यातो मुगित्वर्थं-

तत्प्रकाशिका ।

ग्रहणं नहि सम्भवतीत्याह मूले—*तद्ग्राहकेति-।* कर्तृबोधकः लघुदप्रत्यय इति भावः ।
श्रोत्रे आन्तिशरणाया आह—*बोधकेनेति* । *बीजकथनमिति* । तद्ग्रहणेन गृह्यत इत्यंशो
‘तु’ कथनम् । तद्गुणीभूता इत्यंशे ‘यदागमा’ इति बीजकथनमित्यपि बोध्यम् ।

एवञ्चानुमानगम्येयम् । तथाहि—स्वेतरत्वं स्वोद्देश्यावयवेतरत्वं भवमन्वन्धेन स्ववि-
शिष्टाद्यदितत्वं स्वघटितत्वं स्वोद्देश्यताश्रयघटितत्वं प्रितयमन्वन्धेन आगमविशिष्टः
आगमिबोधनरूपद्वयजन्मबोधविषयताश्रयः, आगमिनिरूपितावयवत्वरूपकारकाह्वयंज्ञानविष-
यत्वात् । अधिकाङ्गदेवदत्तयत् । दापीति ण्यन्ते व्यभिचारवारणाय स्वविशिष्टाद्यदितत्वेति ।
दाप्यष्टकापमाश्रय तद्धारणाय सम्बन्धघटकद्वितीयमन्वन्धः । पुनमाश्रय तद्धारणाय प्रथमः । न
च स्वरूपमिद्विः, आगमविशिष्टस्तत् गुणीभूतः, आगमिनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितावयवत्वाव-
च्छिन्नविषयताश्रयत्वादित्यनुमानेन यथे तत्माधनात् अत्र चालुह्यः “आद्यन्तौ टकिनौ” इ-
त्यादिसहस्रे तत्तद्विधिनालोमेव । व्याप्तिं विवृणोति—*लोके यथेति* ।

ननु यदागमा इत्यत्र निरूपितत्वं पृथग्यस्तस्य चावयवपदार्थोऽन्यथोऽस्त्यत आह—*य-
मुद्दिश्येति* । *विधानाभावादिति* । अपितु “द्वरणरपरः” इत्यगमुद्दिश्य विधानमिति भावः ।
अवयवावयवमिति । अवयवावयवः समुदायावयवो भवतीति न्यायान् । अत एव लोके शरी-
रावयवपरस्यावयवज्ञानाङ्गुल्यादीनां शरीरावयवस्यम् । अत एव “मेते” इत्यत्रातमाश्रित्य जा-
तस्य १२ः समुदायावयवमन्वेन सार्धं चालुह्यम् । “शोः सार्वधानुक्तं गुण” इति गुगसिद्धिः ।

यमुद्दिष्टादपनीत्यत्र “तिट्टेतिट्टः” इति निपातमिद्विरिति तत्र “ट्टेच” इत्यत्र पूर्वपद-
मभ्यासस्य इत्यान्तपूर्वपदस्य मुग्विधानेनादोषात् । न च परमं दधिच्छादावयवत्वेन गृह्यप्रचल-
नस्यापेन तस्य समुदायावयवत्वाप्रिपातो न न्यादिति चाप्यम् । पदद्वयनिमित्तप्रत्ययौ बहिर-
द्भाविद्वयं निपातस्य सुव्यभवात् ।

नैविष्णु “पश्य” इत्यप्याहस्य गच्छतीत्येतदर्थम् “इयुगमियमां च्छः” इति छ विधाय

अनया परिभाषया विशिष्टस्य सवर्णदीर्घे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ।

भैरवी ।

नाकारोद्देशेन सुग्विधानात्, मकारविशिष्टस्यातोऽग्रहणेन ग्रहणे सति आकारसहितस्य तस्य स्थाने सवर्णदीर्घः स्यात् । यत्तु मुक्तिं कृते मकारसहितस्य स्थानित्वेन समुदायान्तरतमो दीर्घ औकारः स्यादागमाभावे त्वाकार एव स्यादिति फलभेदस्य स्पष्टतया कथं सुग्विधानसामर्थ्यमिति तत्र । मुक्तिं कृते तद्विशिष्टेऽस्वातिदेशेन तद्विरुद्धस्यामृतस्याव्यवहारात् स्थानित्वेन कण्ठगोष्ठ्यव्यवहारो न, किन्तु कण्ठगोष्ठ्यव्यवहार एवेति केवलकण्ठ्य एवाऽऽदेशः स्यादिति फलभेदाभावात् । अत एव मकारसहितसमुदायस्य यो दीर्घः सोऽनुनासिकः स्यादिति सुग्विधानसामर्थ्यं दुरुपपादमिति प्रलपितमप्यपास्तम् । पूर्वस्याग्रग्रहणेन ग्रहणात् तस्मिन्ननुनासिकत्वबुध्यभावेनास्सहिताकारस्य स्थाने निरनुनासिक एव स्यात् ।

ननु पचमान इति स्थिते दीर्घस्य मुक्ते "भातो डित" इतीयादेशस्य च प्राप्तावनयकारात्वेन दीर्घत्रायके इयादेशे कृते "सर्वं सर्वपदादेशः" इति न्यायेन समुदाये आनुबुद्धौ मुक्त्प्राप्तिः मुक्तिं कृते न दीर्घप्राप्तिरिति सुग्विधानसामर्थ्यं दुरुपपादमिति चेन्न । बाध्यविरोधविन्तया मुक्तत्त्वप्रकाशिका ।

पृच्छति प्रश्न इति रूपे इष्टार्पितं कृत्वा दधिच्छाद्यतीत्यत्र निघातं साधयन्ति ते त्वमान्याः "प्रश्नश्चेत्तासन्नकाले" इति निर्देशस्यासङ्गत्वापत्तेः ।

अन्येतु शुद्धित्पत्र प्रत्ययलक्षणेन कृदन्तत्वमादाय प्रादिपदिकत्वं यथा, तद्वदधिदित्यस्यापि प्रत्ययलक्षणेन पदत्वं वदन्ति । यत्तु बाणेन चिन्तनीत्यत्र निघातः प्रयोजनं तत्र "पूर्वोत्तरपदेति" परिभाषायामेकादेशपदस्य संहिताधिकारे विहितकर्णपलक्षणत्वस्य रात्रिभद्र इत्याद्यर्थमवश्यं स्वीकार्यत्वेन तस्यैव पूर्व तुको निघातसिद्धेः । गीः पुरित्यत्रेकारोकारावपत्ररेफस्य समुदायाद्यत्रत्येन दीर्घः फलमित्यपि न "उरण्णररा" इत्यनेनावयवत्वविशिष्टपरस्परविधानात् ।

वस्तुतस्तु शेरत इत्यत्र स्यः समुदायावयवत्वेऽपि ग्राहकाभावेन गुणानापत्तावश्यं तस्मिन्पाये ग्राहकत्वं स्वीकार्यम् । एवञ्च प्रनिदारयतीत्यत्र सुत्वरपत्तेस्तादवस्थम्, अत आगमात्प्राक्कालिकन्यावयवतावयवस्य समुदायावयवत्वं न्याय्यम् । अत एव "साधं चिरं प्राज्ञेप्रते" इति सूत्रे द्युदयुलोष्टिर्त्वं चरितार्थम् । एवं च यन्निरूपितावयवत्वावच्छिन्नविधेयताध्रय इत्यर्थेऽपि न दोषः । नच शेरत इति न फलं "शीडोरत्" इति न्यासेन "साधंघातुः" इति विषयमसम्पाद्यव्ययणेन घेष्टसिद्धेरिति वाच्यम् ? प्रदीव्यमान इत्यत्राकारावयवस्य मकारस्य समुदायावयवत्वेन "तास्यनुदात्तेत्" इतिस्वरसिद्धेः फलत्वात् ।

परंतु यत्रिष्टोद्देश्यताया अपर्यात्त्याऽपि ग्रहणेन शेरत इत्यस्यानयैव निबद्धिं प्रनिदारयतीत्येतदर्थम् द्युदयुलोष्टिकरणेनागमविधानात्प्राक्कालिकन्यायेद्देश्यस्य ग्रहणेन यमुद्दिश्येति ग्रन्थप्रवृत्तिरित्याहुः । *समुदायान्तरतम इति* । कण्ठगोष्ठ्यव्यवधानतयेति शेषः । *औकार इति* औकारस्याप्युपलक्षणम् । *अव्यवहारादिति* अतिदिश्यमानधर्मविरुद्धस्वाधयधर्मप्रयुक्तकार्याभावस्यातिदेशस्वभावसिद्धत्वात् ।

फलभेदाभावादिति । केचित्तु तावन्मात्रफलकत्वे उदानस्येति वदेत्, औदानस्येतिन्यासेन तु न निर्वाहः, "अतो गुण" इति परस्वं ओकार एव विधेयः स्यात्, सत्युदानस्येतिन्यासे विधानसामर्थ्यात् पररूपस्य बाधेन कदाचिदौकारोऽपीति मुमाऽभेदः । लाघावस्तथाधस्तादित्यस्याप्रवृत्तेत्यपि वदन्ति* । *आनुबुद्धौ मुक्त्प्राप्तिरिति* । एवं च तत्रकौपि न्यन्यायेन इयादेशाधे पुनर्मुग्विषये इयादेशप्राप्तिरिति भावः ।

यत्तु मुक्तिं कृतेऽत इति तत्परकरणाधेयादेश इति तत्र, पचमान इत्यत्रादपदेशप्रयुक्तस्वरमाधररभाष्यप्रामाण्येन यदागमस्यव्यवधानं सरस्येनाऽव्याहृतेः । *न दीर्घतासिरिति* मन्त्रन्यायेन

तेन 'दिदीय' इत्यादौ यणादि न, 'जहार' इत्यादौ "आत औ णल" (७-१-३४) इति च न ।

मैत्री ।

विधायकशास्त्रस्य 'येन नाप्राप्तिन्यायेन' दीर्घयादेशोभयाबाधकत्वात् । तथाहि-कृतेऽपीयादे-
शे मुक्तः प्राप्तिरितीयादेशस्यैतद्विषयत्वाभावे सम्पादिते सति केवलसवर्णदीर्घस्यैव प्रतिस्तेन
मह मुक्तः रूपदायां तत्समं दीर्घं कृते न मुक्तः प्राप्तिरिति येन नाप्राप्तिन्यायविषयताया अभा-
वेन निरवकाशत्वेनैव मुक्ता दीर्घबाध इति मुक्ति कृतेऽपि दीर्घः स्यात्तथाच सति मुक्तिधानस्य
वैयर्थ्यं रूपदमेवेत्याशयात् ।

तेन । यदागमा इति न्यायस्यानित्यत्वेन । *दिदीय इति* । अत्र "दी दे" इति स्थि-
तेऽऽन्तरङ्गे युडागमे कृते ततो द्वित्वे यदागमन्यायेन युइविशिष्टत्वाच्चत्वे "एनेकाच" इति
यण स्यात् । न चाकृतेऽपि युडागमे यणादेशे "यणो मय" इति यस्य द्वित्वे तादृशी रूपं सिद्ध-
मेवेति वाच्यम् । यत्रयसिद्धयर्थेनत्वाचरण्यकत्वात् ।

ननु युदि कृतेऽपि यदि यणादेशस्तर्हि "बुग्युडाबुवह्यणोः" इतिवार्तिकवैयर्थ्यमिति यण
न भविष्यतीत्यत आह—*जहार इति* । अत्राकारोद्देशेन रेफविधानादादप्रहणेन रेफविशि-
ष्टस्य प्रहणं स्यात् । न चादन्तादङ्गात्परस्य णल इत्यर्थं रेफविशिष्टस्य प्रनिवारयतीत्यत्रैव ना-
दन्ताकृतत्वमिति कथमात इत्यस्य प्राप्तिरिति वाच्यम् । भाष्यरीत्याऽऽतः परस्याङ्गसंज्ञानि-
तत्वप्रकाशिका ।

दीर्घस्यापि बाधादिस्थितिमानः । *येन नाप्राप्तिन्यायेनेति* तत्ककौण्डिन्यन्यायेनेतिभावः । *पृ-
तद्विषयत्वाभावा इति* तत्कन्यायेन बाधात् । *विषयताया अभावेनेति* । तदप्राप्तिसौम्येऽबा-
गिताध्वं सति कृते चारितार्थ्यविक्रिष्टत्वात्तत्रन्यायस्य विषयस्तस्यात्राभावेन । *दीर्घः स्यादि-
ति* । रमायामित्यादाविव निरवकाशत्वेन बाधे पुनस्तत्प्रवृत्तेरक्षतत्वात् । *वैयर्थ्यं रूपदमे-
वेति* । न च मुगभावे सवर्णदीर्घं बाधित्या इयादेश एव स्यादिति तद्बाधनायं मुक्तश्चारितार्थ्य-
मितिवाच्यम् । तद्बाधमात्रफलरूपे "अतो दीर्घो यमि" इत्यस्य स्थाने "अत इा ने दीर्घः"
"इदासः" "यजिच" इति न्यासेन ईदास इत्यत्र ईइति दीर्घग्रहणाभावरूपफलेन च विशिष्ट
दीर्घविधानात्तद्बाधसिद्धेः । एतेन "आतो छित" इत्यनन्तरज्ञानस्येत्यादिभ्यासकल्पने गौरय-
पस्तत्वाद्युक्तमितिबोध्यम् । न च मुगियपवेऽप्रवृत्तिरित्येव कल्प्यतामिति वाच्यम् । बाधा-
पेक्षयाऽनित्यत्वरूपनम्य लघुभूतत्वात् बहुलस्यैस्कारानुरोधाच्च ।

यन्तुतन्तु 'मन्मवति सामानाधिकरण्या' इति न्यायेन अदन्ताङ्गस्य मुगित्यर्थ उचितः ।
करिष्यमाण इत्यादौ स्वयमिदं उपदेशपदविनोपपन्नकृतदन्तविधेरावयवकत्वेन सार्वधातुकप्रत्य-
यान्तरात्तत्पदविनोपपन्नकृतदन्तविधेरेतदुपपत्त्येव । यदन्तरोदितस्यमात्रान्ततद्वादेः परे च-
*सार्वधातुकमित्यर्थेनादन्तोपदिश्यमानान्ततदादिग्रहणेन मुग्विशिष्टस्य ग्रहणात्पञ्चमान् इ-
त्यादौ "ताम्यनुतासेत" इतिस्वरसिद्धिः सुलभा । अनुपदेशभक्तस्तदग्रहणेनेति भाष्यन्तु फलि-
मार्थवर्तनया नेपम् । एवञ्चाङ्गग्रहणेन मुक्ता ग्रहणेऽप्यग्रग्रहणेनाग्रहणाद्येदमनित्यत्वज्ञापकम् ।
किन्तुहि ज्ञापकमित्यपेक्षायां "न पदान्ताम्" इत्यप्राप्तं ग्रहणं बोध्यम् । अन्यथा पञ्चगामित्यत्र
"ययि, भम्" इति मन्वेन जडत्वाप्रवृत्त्या दृष्टप्राप्तिदुर्लभेरेति दिक् ।

यण स्यादिति । इयदन्तु न प्राप्तिः, तत्कन्यायेनेयदो युता बाधात् । अत एव द्वित्वोत्त-
रमपि न प्राप्तिः, स्योद्देश्यतावच्छेदकावच्छिद्यमातिरिक्तत्वेन सद्योचात् । एतेन "बुग्युडो" इ-
त्यत्र यजि यदोःपुनश्चक्रम् । यगादिनेत्यत्रादिना इयदोऽपि संप्रदः, इति यदन्तः प्रत्युक्ताः ।
यगन्तु नेपइत्यत्र युता बाधः, तदप्राप्तिर्वाप्ये प्रथमं के दीर्घ इत्यादौ मुटप्राप्तिर्वाप्यां । *जहा-
रेत्यादाविति* । आदिना यगामिनि इत्यादीनां संप्रदः । बाधे नास्मि शाम्युप्या दृष्टप्रवृत्तिर्हि

न चाकारादेर्वर्णस्य घर्णान्तरमवयवः कथमिति वाच्यम् ? वचनेनावयवत्वबोधनात् । तस्य चावयवत्वसादृश्ये पर्य्यवसानं बोध्यम् । न चोक्त-
शापकाद्वर्णग्रहणेऽस्या अप्रवृत्तिरिति वाच्यम् ? “आनेमुक्” (७-२-८२)
इति सूत्रे भाष्येऽकारस्याङ्गावयवस्य मुगित्यर्थे ‘पचमानः’ इत्यत्र ‘तास्यनुदा-
त्तेत्’ (६-१-१८६) इति स्वरो न स्यादित्याशङ्क्यादुपदेशभक्तस्तद्वह-
णेन ग्राहीष्यत इत्युक्तेरसङ्कत्यापत्तेः ।

किञ्च ङमन्तपदावयवस्य ह्रस्वात्परस्य ङमो ङमुडित्यर्थे 'कुर्वन्नास्ते'
मैरवी ।

मिस्रस्य णल इत्यर्थस्यैव सत्त्वात् । न च णलोऽकारात्मकस्य सन्निपातेनारित्यस्य सिद्धिरिति पुनस्तस्य स्थाने आदेशो न, उपजीव्यविरोधादिति वाच्यम् ? “तौ सत्” इतिनिर्देशेन विभ-
क्त्यादेशे उपजीव्यविरोधस्यान्याप्यत्वमूलकसन्निपातपरिभाषाप्रवृत्त्यनङ्गीकारात् ।

केचिन्नु “यासुदपरस्मैपदेद्दात्त” इति सूत्रेणोदात्तविधानं यदागमन्यायस्यानित्यत्वे ज्ञा-
परुमित्याहुः । तत्तुच्छम् । श्रुत्यासमित्यादौ चारिताध्यान् । द्वितीय इत्यादिस्थले शङ्कते—
कपमिति । अङ्गुल्योः परस्परमन्त्रयवावययिभावादूर्जनादिति भावः । गगनकुमुदवद्भयनेना-
मतो योधनऽधमत आह—*तस्य चेत्यादि* ।

सामान्यतो भानित्यत्वं किन्तु वर्णप्रहणे उक्तन्यायाप्रवृत्तादेव मुखविधानं ज्ञापकमिति वा-
दिमतप्रिरस्पति-॥नवेति॥ *इत्यर्थे* सिद्धान्तात्मके । *अदुपदेशभक्त इति* । तस्य स्वरवि-
धायकस्य उपदिश्यमानाकारान्तस्येत्यर्थः । अतः पूर्वं हतो ह्य इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । वर्ण-
स्य प्रहणं विगेपनतया विगेप्यतया योभयत्र यदागमन्यायाप्रवृत्तिः । यदागमा इति परिभा-
षार्थस्य यमुद्दिश्य य आगमो विहितः स तन्निष्ठविगेपनतयविगेप्यत्त्वान्यतरविषयताकबोधज-
नकशब्देन गृह्यत इत्यकारकस्य स्वीकारात् । एतत्स्वरविधायके सूये वर्णस्य विगेपनतया प्र-
हणेऽपि परिभाषायाः प्रवृत्तिमुक्त्या, विगेप्यत्वेन प्रहणेऽपि तदप्रवृत्तौ दोषमाह—

किंयेति । *इत्यर्थे इति* । तत्र हि, ऋमुणि पदादिति मध्ये कर्तव्यम् । इह मात्राप, दण्डि-
नर शक्तिना, तत्तर्हि वक्तव्यं न वक्तव्यम्, पदादिति धर्तेते, एवमपि परमदण्डिना परमकटि-
णेति प्रामोति, नैव दोषः । 'उत्तरपश्यते चापदादिविषय' इतिप्रत्ययलक्षणाद्य भवति । एवमपि
पदादिति वक्तव्यम् । यदि तत् प्रकृतं, प्राक् मुनि इत्यसनादित्येवम् । एवं तर्हि नम एवार्थ

सत्यप्रकाशिका ।

स्यादन्त्ये इराष्ट्राजसदसौ नुमि यदागमपरिभाषया नीत्यस्य इषहणेन ग्रहणे सवर्णदीर्घं इति इति रूपं न स्यात् ।

यत्तु निदिश्यमानपरिभाषया न दोष इति तच्च स्थाननिर्माणपरिभाषायां स्थाननिर्माण-
वक्तृत्वे न प्रवृत्तिरिति नियमेन तदप्रवृत्तेः। अत एव "आदेः स्थानान्त्यस्य तु वा" इति सूत्रस्या-
न्त्यपहणे परितापम्। अन्यथास्त्येवपरिभाषयैव सिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव। अत एव "अमि-
र्यः" इत्यत्राकोऽनुवृत्तिपरितापोऽन्यथाऽऽमः पूर्व इति न्यासेन "आदेः परस्य" इत्युपपत्ति-
स्यात्तद्वैयर्थ्यं स्यात्।

यसु आदिना भवेत्पुरस्त्वस्य संप्रदाः। अन्यथा “अतो येयः” इत्यादिना तद्विनिर्वाहस्येष्टुमित्य-
स्योत्पन्नहेतुना ग्रहणे “उस्य यदास्तात्” इति परस्वात्मिनिरिति तत्र। यामुनि उम उद्देश-
रत्नाभागेन परिभाषाया अग्रगृहेः। *अनुपदेशनात् इति*। अत्र उद्देशो यस्य तस्य भवः। अ-
थप्य इत्यर्थः। यन्मत्तद्वपशोऽन्मत्तद्वोषधेन तद्विनिर्वाहः ग्रहीन्यते यदागमद्विभाषयेति भा-
वः। *यित्तोऽन्यतया*। वर्गमात्राणि निष्कर्षाणि तेषां इति भावः। *विनिर्वाहनात्*। तद्विनिर्वाहनात्।

इत्यादौ डमो डमुडागमे णत्वप्राप्तिमाशङ्क्य 'यदागमा' इति न्यायेनाद्यन-
स्यापि पदान्तग्रहणेन ग्रहणात् "पदान्तस्य" (८-४-३९) इति निषेध
इति । अनया परिभाषया आगमानामागमिधर्मवैशिष्ट्यमपि बोध्यत इत्या-
शयक "डमुट्" (८-३-३२) सूत्रस्थभाष्यासङ्गतेः ।

मैरवी ।

डमुट् कियते, कथे, पदस्येति वर्तते डम इति च नैषा पञ्चमी, का तर्हि ? सम्बन्धपट्टी इत्या-
दुत्तरस्य पदान्तस्य डमो डमुट् भवतीति, यदि डम एव डमुट् भवति कुर्वन्नास्ते. "रपाम्या-
नोणः समानपदे" इति शब्दं प्राप्नोति पदान्तस्य इति प्रतिषेधो भविष्यति पदान्तस्येत्युच्यते
नैष पदान्तः पदान्तभक्तः पदान्तग्रहणेन ग्राहिष्यते । एवमपि न सिध्यति, उक्तमेतत् न वा
पदाधिकारस्य विशेषणत्वादिति, एवं तर्हि पदे इति वर्तते । क प्रकृतम्, "उजिच पदे"
इति एवमुक्तम् । तत्र कैयटः एवं तर्हि डम एवेति । डमा पदस्य विशेषणान्तदन्तविधिना
डमन्तस्य पदस्यागमो विधीयमानो दृष्टिनेत्यादौ डमन्तपदभावात् भवति । नवा
पदाधीति । पदस्येति नहि विशेष्यं किं 'तर्हि विशेषणमतस्तदन्तविध्यभावाद् दृष्टि-
नेत्यत्र डमुट्प्रसङ्ग इति एतादृशभाष्यकारोक्त्या डमन्तपदावयवेत्यर्थ एव नास्तीत्यर्थ-
कथनेन ध्वनितम् । *आद्यनस्य* आगमनस्य ।

ननु कुर्वन्नास्त इत्यत्र आगमनकाररूपोक्तरोत्या पदान्तत्वमिति यदुक्तन्तदसङ्गतम् 'यदा-
गमा' इति परिभाषयाऽऽगमविशिष्टस्य समुदायस्यागमिधर्मातिदेश एव युक्तो ननु आगममा-
श्रित्येति कथं 'कुर्वन्नास्त' इत्यत्र शब्दावतिवारणमत आह *अनया चेति* । आगमिधर्मैरिति
पञ्चमवीत्यदिशब्द आगमानामित्युत्तरमर्थक्रमेण द्रष्टव्यः । अस्मिन् पक्षे यदागमा इत्युत्तर-
मर्शतिनेषो बोध्यः । *तदूग्रहणेन । इत्यस्यागमिप्राहकयमं । *पृथगन्ते । ज्ञानविषयकि-
यन्त इत्यर्थः । एवञ्चागमो यद्धर्मप्रकारकज्ञानविषयो भवति तद्धर्मप्रकारकज्ञानविषय आगमो-
ऽपि भवतीति फलितम् । अङ्गुल्याद्यवयवावच्छेदेनापि अङ्गुलिष्ववहारस्य तस्मिन्नवयवे प्रणा-
दिमद्वावदशनादयमप्यर्थो लोकदृष्ट एवेति बोध्यम् ।

ननु वर्णस्य विशेषणतया ग्रहणे परिभाषाप्रवृत्त्युपपादनमप्ये 'पचमान' इत्यत्र वा स्वरा-
मिदिरक्ता सा कथे, पचमान इत्यत्र पचमान इत्यवस्थायी मुक्तः "तास्यनुदात्तेत्" इत्यस्य च
प्रास्तावपरिमित्तकत्वेन स्वरस्यान्तरङ्गत्वात्पूर्वमेव प्राप्तेः । न, च "वाणां दारुण्यलीयः" इति
परिभाषया पूर्वमुक्त एव स्वादिति वाच्यम् ? वाणं परिभाषाज्ञापकस्यासिद्धपरिभाषया

तत्प्रकाशिका ।

इति भावः । *असङ्गत्यापत्तेरिति* । अयम्भावः—यदि तद्वद्विधर्मातिदेशेऽस्या अप्रवृत्तिरित्यु-
च्यते तर्हि "आनेमुग्" इत्यास्यावयवस्याकारस्य मुगित्यर्थे 'पचमान' इत्यत्र "तास्यनु-
दात्तेत्" इति स्वरो । स्याददुपदेशात्परत्वाभावादित्याशङ्क्यां यदागमपरिभाषयादुपदेशत्व-
स्यापनयनमाप्याममतिः स्यात् । अदुपदेशत्वस्यावर्णवन्तिधर्मत्वात् । अदुपदेशत्वमित्यस्या-
क्तोपदिदपमानमिति धर्मार्थः । अत्रि कथं पदसिद्धत्वेनादन्तत्वे वाच्यम् । *बोध्यमिति* ।
यदागमानामिति परिभाषाऽपि यदागमनारैरेवानुमानगम्या । प्रयोगश्चेत्यम्—आगमा-
गमिनिवृत्तिधर्मप्रकारकज्ञानविषयताध्या आगमिनिवृत्तिधर्मावयवप्रकारकाद्यान्तज्ञानविषय-
त्वात् । प्रणादिमद्वावदशनादयमङ्गुलिष्ववहारवत् ।

यन्मुनिव्ययं धिन्त्यम्, अदुगुल्यवयवदशावरोपजानाभावेन दृष्टान्तदृष्टान्तिर्योर्वय-
म्यात् । नच पचमाने गल्लस्येन प्रणादिमद्वावदशायां मने मय इति ध्वन्यद्वयनेन गल
कम्बलस्य दृष्टान्तत्वसम्भवेन न व्यभिचार इति वाच्यम् ? पञ्चाभावात् ।

किञ्च गुणादेरपत्वे रेफविशिष्टे गुणत्वाद्येष्ट्यम् । अन्यथा ऋकारस्य गुणवृद्धी अरारावेवेति नियमो न स्यात् । तच्च वर्णग्रहणे एतदप्रवृत्तौ न सङ्गच्छते । अतएव “रदाभ्याम्” (८-२-४२) इति सूत्रे भाष्यं ‘गुणो भवति वृद्धिर्भवतीति रेफशिरा गुणवृद्धिसंज्ञकोऽभिनिर्वर्तत’ इति । अतएव “नेटि” (७-२-५) “शेरनिटि” (६-४-५१) इत्यादिचरितार्थम् । अनागमकानां मैरवी ।

अनित्यत्व एव ज्ञापकत्वसम्भवेन वार्णपरिभाषाया एवाऽभावात् । असिद्धपरिभाषाया अनित्यत्वे च यातेतिरूपसिध्यर्थमावश्यकम् । अन्यथा वार्णटावपेक्षयाऽऽङ्गत्वदायत्वस्यासिद्धत्वं स्यात् । एवञ्च वार्णपरिभाषाया असत्वाच्च तथा मुक्तः पूर्व प्रवृत्तिः ।

किन्तु पूर्वोक्तरीत्या स्वरस्यान्तरङ्गत्वात् पूर्वमेव प्रवृत्तिरिति चेत्, अत एवास्वरसात्किञ्चेति दूषणान्तरे वक्ष्यति—*किञ्चेति* । कथनोत्तरे यद्भाष्योपग्रहकबलेन दूषणामिधानन्तदप्यसङ्गतम् । तस्य भाष्यस्यैकदेशयुक्तित्वात् । कथमिति चेच्छृणु । ‘उत्तरपदत्व’ इति परिभाषायाम् पदादिविधाविति पर्युदात्तेन पदान्तत्वप्रयुक्तकार्यं एव उत्तरपदत्व इत्यस्य प्रवृत्तिरिति परमदण्डनेत्यत्र इमुदापत्तेरत आह *किञ्च गुणादेरिति* । अन्यथा* । विशिष्टे तदभावे । *अतएव* वर्णग्रहणेऽपि यदागमन्यायस्य प्रवृत्तेरिव । अत्र रेफशिरा गुणवृद्धिसंज्ञक इति कथनेन वर्णग्रहणे यदागमा इति न्यायस्य प्रवृत्तिः स्फुटैव । *अतएव* । यदागमा इति न्यायस्य स्वीकारादेव । एवं च लोकन्यायसिद्धयदागमा इति वचनस्य शास्त्रे भाष्येण “नेटी” त्यादिज्ञापकं बोध्यम् । आदिना “पूर्वपरावर” इति सूत्रेऽधराणोत्पन्न दीर्घत्वप्रवृत्तौ संप्रहः ।

ननु शब्दस्य नित्यत्वस्वीकारेणागमविधानं यथाश्रुतेऽनुपपन्नम् । यदि तु “तेस्तुः” इति तत्त्वप्रकाशिका ।

नच कुर्वन्नास्ते इत्येव फलमिति वाच्यम् ? रामाणांमित्यादौ नुटः सुप्तेन मान्तस्य पदः दवेन “पदान्तस्य” इति गत्वनिपेधापत्त्या सर्वेषामिति निर्दिष्टेन एतस्याप्यनित्यत्वाश्रयेण महतः क्षेप्तस्य सद्भावात् । भाष्यन्तु गत्वविधायकशास्त्रे नत्येत्यनेन इमुदसहितस्य यदागमपरिभाषया ग्रहणेन, कुर्वन्नास्ते इत्यत्र नद्वयस्य गत्वै प्राक्षे पदान्तस्येत्यनेन वार्यते, नत्ये न पयोप्यधिकरणसम्बन्धेन, किन्त्वाश्रयतासम्बन्धेन । एवं च नत्वाश्रयः पूर्वोऽपि भवत्येवेति पादान्तस्येति निपेधसिद्धिरित्यभिप्रायेण ।

किञ्च वर्णमात्रवृद्धिधर्मातिदेगे परिभाषाया अप्रवृत्तेरङ्गीकारेण पदान्तत्वस्य वर्णमात्रवृद्धिधर्मत्वाभावेन, पदान्तभवेति भाष्यस्यासङ्गत्यभावात् । *वार्णपरिभाषाया असत्वादिति* समानशायित्वे एव प्रवृत्तेरङ्गीकारेण प्रकृते तथाभावाच्चेति शेषः । “रदाभ्याम्” इति सूत्रे भाष्यमिति । सङ्गच्छते इति शेषः । तत्र हि-कारतिरित्यत्र रेफापत्त्येन “रदाभ्याम्” इति शकारस्य नत्वमाशङ्क्य वृद्धिनिमित्ते यस्य तस्मात्परस्य प्रतिषेध इत्यर्थेन वृद्धिनिमित्तात्प्रतिषेध इतिवार्तिकेन समाहितम् ।

किञ्च रेफशिरा गुणवृद्धिसंज्ञक इत्युपमहृतम् । *अभिनिर्वर्तत इति* । उत्पद्यत इत्यर्थः । स्तुतस्तु रेफः शिरसि यस्येत्यतः गुणसंविज्ञानबहुमीहिणा गुणवृद्धिसंज्ञकोऽभिनिर्वर्तमानो रेफशिरस्कः जायते “उरण्त्पर” इति शास्त्रात्, इति भाष्यस्याभिप्रायेणारारानेनेति नियमो न भाष्याभिप्रेतः । अत प्रवानयोरसादृश्यमेव सादृश्यमिति नष्टाच्चद्वयन्यायश्च भाष्योक्तः सङ्गच्छते ।

ननु “स्वरूपम्” इति शास्त्रेण दादादस्य संज्ञित्वं, लोकन्यायसिद्धयाऽनया पुरिवशिष्टस्य बोध्यते, इति स्मृतिलोकमोर्विशेषे स्मृतेर्बलोपस्थेन मानया शास्त्रे व्यवस्था स्यादत आह—*अत एवेति* । *स्वीकारादेवेति* । गन्धयाऽप्येत्यकारयितव्यमित्यादादिता व्यवधानेन

सागमका आदेशा इत्यस्य त्वयमर्थः । आदर्धधांतुकस्येडागम इत्यर्थे
ज्ञाते नित्येषु शब्देष्वागमविधानानुपपत्त्याऽर्थापत्तिमूलकवाक्यान्तरकल्पने-
नेद्ब्रूहितबुद्धिप्रसङ्गे सेद्बुद्धिः कर्त्तव्येति । एवं चादेशेष्विवात्रापि बुद्धिविप-
रिणाम इति न नित्यत्वहानिः । स्थानिवत्सूत्रे च नेद्ब्रूयादेशग्रहणं साक्षादष्टा-
ध्यायीबोधितस्थान्यादेशभावे चारितार्थ्यात् ।

किञ्चैवं सति स्थानिवद्वयैव कार्यप्रवृत्त्या 'निर्दिश्यमानस्य' (प० १२)
इति परिभाषया अप्राप्त्याडागमसहितस्य पिवाद्यादेशपत्त्या लावस्थायाम-
डिति भाष्योक्तसिद्धान्तासङ्गतिः । स्थानिवद्भावविषये 'निर्दिश्यमानस्य' इति
परिभाषायाः प्रवृत्तौ 'तिसृणाम्' इत्यत्र परत्वात्तिस्रादेशे स्थानिवद्भावेन त्रया-
देशमाशङ्क्य सकृद्वृत्तिन्यायेन समाधानपरभाष्यासङ्गतिः । "एतः" (३-४-८६)
भेदो ।

यदागमकानां सागमका आदेशा इति स्वीक्रियते तदा स्थानिवद्भावेन यदागमपरिभाषा
गतापेक्षि केचित् तन्मतस्त्वङ्गनायाद् अनागमकानामिति । अर्थापत्तेरिति* । अर्थापत्तिरपि
प्रमाणमितिवादिनो मतेनेद्म् । यदागमा इति न्यायस्य गतार्थतां निरस्यति-स्थानिवत्सूत्र
इत्यादिना । साक्षादिति* । ययोः स्थान्यादेशभाव इष्टस्तयोरानुपूर्व्या उपपादाने यत्र तत्रे
त्यर्थः "अद्वोजरिधाः" इत्यादौ यथा ।

ननु यत्र साक्षात्तयोऽप्यादानन्तत्रापि सिद्धान्ते बुद्धिविपरिणाम एव कल्प्यत इत्यत आ-
ह-किञ्चैवमिति । *एवम्* । आनुमानिकस्थान्यादेशभावो यत्र तत्रापि स्थानिवद्भावप्रवृत्ति-
स्वीकारे । प्रथमनृतीयान्तस्य निर्दिश्यमानपरिभाषाया अप्रवृत्तौ हेतुत्वम्, स्थानिवद्वदौ निर्-
दिश्यमानभिन्नत्वबुद्धेस्तत्राभावादिति भावः । *अप्रात्येति* । अपिचदित्यादौ यथा । न चात्र
लावस्थायामडागमेऽद्ब्रूहितत्वैवार्थवत्त्वत्र तु तद्ब्रूहितस्येत्यर्थवत्त्वग्रहणपरिभाषयाद्ब्रूहितस्या-
देशो न प्राप्नोताति वाच्यम् ? पाठान्तानामङ्गानामर्थवतामवयवस्य निर्दिश्यमानस्येत्यर्थाश्र-
यणात् । आदेशे स्थानिवद्भावेन स्थानिवद्विषये तत्र निर्दिश्यमानभिन्नत्वबुद्ध्याभावे भाष्यं
भाषकमाह-स्थानोति* । *परत्वादिति* । अथदेशापेक्षया परत्वादित्यर्थः । *भाष्यासङ्गति-
रिति । 'निर्दिश्यमाना' इति परिभाषाया जागरूकत्वेन दाढ्याया एवाभावात्, यदित्येतत्परि-
भाषाया अज्ञानेन दाढ्या, तदा समाधानममपे निर्दिश्यमानपरिभाषयैव समाधानं कर्तुमुचित-
मिति भावः ।

ननु यत्र न साक्षात् स्थान्यादेशभावः किन्त्वानुमानिकस्थानिवद्भावप्रवृत्तौ पचरि-
त्यादौ तुदाब्दे तिदत्त्वाभावेन समुदायस्य पदत्रय स्यादत आह-एतत्त्वादायिति* । स-
तत्त्वप्रकाशिका ।

बुद्धिग्राह्यपौरुषात् निषेधस्य वैयर्थ्यापत्तिरिति भावः । *अनागमकानामिति* इदित्यत्र
बुद्धीहिताऽर्थधातुस्येति न्यानपञ्चान्तमाद्ययपरम् "आद्यन्तौ" इति सूत्रस्यभाष्ये
होरेदेशु निराटः उदात्तस्यानुपपत्तेः । *बुद्धिः कर्त्तव्येति* । अत एव कार्यविपरिणामाङ्गे
मिदम् । कार्यो बुद्धिः सा विपरिणम्यते । तद्यथा कर्मचित् प्राचीने धामादाद्य इत्युपदिष्टे
नम्य मर्गप्राप्तृदौ पश्चात् ये शौरिणोऽजरोद्वन्तः श्रुयुर्णास्ते न्यघोषा इति कथिते स तत्रा-
श्रुत्या न्यघोषबुद्धि प्रतिपद्यते । नित्याश्च स्वस्मिन्विषये आद्याः न्यघोषाश्च बुद्धिस्तस्य
विपरिणम्यते । एष नित्य एव स्वस्मिन् विषयेऽस्ति नित्यश्च भवति, बुद्धिस्तस्य विपरिणम्यते
इति स्थानिवद्वयैव भाष्ये उच्यते ।

*न्यादेशपदस्यादानुमानिकस्थान्यादेशभावेऽपि प्रवृत्तिरस्तीत्यत आह-स्थानिवत्सूत्रे

इत्यादौ स्थानपट्टीनिर्देशात्तदन्तपरतया पठितवाक्यस्यैवं समुदायादेशपर-
त्वेनादेशग्रहणसामर्थ्यात्तस्य स्थानिवत्सूत्रे ग्रहणेन न दोषः । आनुमानि-
कस्थान्यादेशभावकल्पनेऽपि श्रौतस्थान्यादेशभावस्य न त्याग इति “अचः
परस्मिन्” (१-१-५७) इत्यादेर्नासङ्गतिः । एतेन ‘यदागमा’ इति परिभाषा-
स्थानिवत्सूत्रेण गतार्थेत्यपास्तम् । एतत्सर्वं “दाघा द्वादपा” (१-१-२०)
इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥ ११ ॥

ननु एवं ‘उद्स्थात्’ इत्यादौ “उद्ः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य” (८-४-६१)
इति पूर्वसवर्णापत्तिरत आह—

निर्दिश्यमानंस्यादेशा भवन्ति ॥ १२ ॥

“पट्टी स्थानेयोगा” (१-१-४९) इति सूत्रमावर्त्तते । तत्र द्वितीयस्या-
भैरवी ।

समुदायादेशपरत्वेन समुदाययोः स्थान्यादेशभावबोधकत्वेन तदन्तेति नित्यत्वसंरक्षणायैवमेव-
स्वीकारात् । अत एव पठन्ति, ‘सर्वे सर्वपदादेशाः इत्यादि पदशब्दोऽत्र अर्थवत्परः पठितवा-
क्यस्यैवेत्यनेन यत्र न तथा पाठस्तत्र आगमविषये बुद्धिविपरिणामसत्वेऽपि न स्थानिवद्-
भाव इति ध्वनितम् । *आदेशग्रहणसामर्थ्यादिति* । सम्बन्धिशब्दत्वात् स्थानिवदित्यु-
क्त्यैवादेशलाभे आदेशग्रहणमानुमानिकस्यैवं विधादेशस्यापि ग्रहणार्थमिति भावः ।

ननु वर्णमात्रस्य यत्र स्थानित्वं तत्रानुमानिकस्य तस्य कल्पने “अचःपरस्मिन्” इत्य-
स्यासङ्गतिः स्यादत आह—*आनुमानिकेति* । *नासङ्गतिरिति* । एवञ्च तत्र यथा श्रौत-
स्थान्यादेशभावस्य न त्यागस्तथागमविषयेऽपि श्रौतस्यागमित्वस्य न त्याग इति ‘यदाग-
मा’ इति परिभाषा नासङ्गतेति सूचितम् ॥ ११ ॥

नन्वेवमिति । यदागमन्यायस्योकारे । *पूर्वसवर्णापत्तिरिति* । पूर्वस्य दकारस्य
सवर्गः प्रथमोपस्थितस्तत्कारोऽकारस्य स्थाने स्यात् । निर्दिश्यमानरिभाषा न ज्ञापकलौकि-
कन्यायमिहा किन्तु सूत्रबलादेव लभ्यत इत्याह—*पट्टीस्थान इति* । *भावर्त्त इति* ।
यद्यपि भाष्ये “पट्टीस्थान” इति सूत्रभाष्येऽप्यन्तरङ्गत्वादिना न्यथासिद्धिरुदाविता, तथापि
स्पष्टप्रतिपत्तये सूत्रवेदहारमभ्यते तदाप्यावृत्त्यैवाह्वयार्थलाभ इति भावः । पट्टीपदे प्रत्ययग्रह-
तत्त्वप्रकाशिका ।

चेति* । *उपादानमिति* । स्थानपट्टीतयेति शेषः । *यत्र स्थानित्वमिति* । पठ्यतीत्यत्र
यथा ॥ ११ ॥

यदागमपरिभाषयापवाद्मगति सूचयन्ननिर्दिश्यमानरिभाषामवतारयति—*नन्वेवमि-
ति* । *स्यादिति* । नन्वङ्गोद्देश्यत्वेनादौ विधानेन, यदागमपरिभाषया यमुद्देश्येत्यर्थत-
याऽङ्गत्वातिदेशेऽपि स्यात्वस्थानतिदेशात्कथं पूर्वसवर्णापत्तिरिति चेन्न कार्यप्रयोजकानामुद्दे-
श्यतावच्छेदकीभूतपरमसमानाधिकरणयावद्मार्गां कार्यार्थतयाऽतिदेशेन स्यात्तस्या-
तिदेशात् । अन्यथा प्राग्विदप्यतीत्यादावादन्तोद्देशेन जाते पुनरिति दत्तस्थानतिदेशाद्ध्युमे-
शानापत्त्या तदसङ्गतिः स्पष्टैव । ॥ यैवमपि सिनन्तस्याङ्गस्यादागमेन स्यात्वातिदेशः, स्या
पस्थापामेवाऽविधानात् ।

यत् “त्रिवनुरोः क्षिपाम्” इत्यत्रेदं ‘धृतानुमितयोः’ इति न्यायेन उद्ः परयोः स्थान्त-
म्भोरयपरस्य निर्दिश्यमानस्य पूर्वमर्ग इत्यर्थेन निर्दिश्यमानरिभाषालोकारेऽपि तथैव
दोष इति, तत्र “प्रधानाग्रधानयोः” इतिन्यायेन पञ्चम्यन्तार्थेन तदन्वयात् ।

सागमका आदेशा इत्यस्य त्वयमर्थः । आदूर्ध्वधातुकस्येडागम इत्यर्थे ज्ञाते नित्येषु शब्देष्वागमविधानानुपपत्त्याऽर्थापत्तिमूलकवाक्यान्तरकल्पने नेङ्गहितबुद्धिप्रसङ्गे सेङ्गबुद्धिः कर्त्तव्येति । एवं चादेशेष्विवात्रापि बुद्धिविपरिणाम इति न नित्यत्वहानिः । स्थानिवत्सूत्रे च नेङ्गशादेशग्रहणं साक्षादष्टाध्यायीबोधितस्थान्यादेशभावे चरितार्थ्यात् ।

किञ्चैवं सति स्थानियुक्त्यैव कार्यप्रवृत्त्या 'निर्दिश्यमानस्य' (प० १२) इति परिभाषया अप्राप्त्याडागमसहितस्य पिवाद्यादेशपत्त्या लावस्थायाम्-ङिति भाष्योक्तसिद्धान्तासङ्गतिः । स्थानिवद्भावविषये 'निर्दिश्यमानस्य' इति परिभाषायाः प्रवृत्तौ 'तिसृणाम्' इत्यत्र परत्वात्तिस्रादेशे स्थानिवद्भावेन त्रयादेशमाशङ्क्य सकृदतिन्यायेन समाधानपरमाभ्यासङ्गतिः । "एवम्" (३-४-८६) भैरवी ।

यदनागमकानां सागमका आदेशा इति स्वीक्रियते तदा स्थानिवद्भावेन यदागमपरिभाषा गतायेति केचित् तन्मतसङ्गडनायाह *अनागमकानामिति । अर्थापत्तीति* । अर्थापत्तिरपि प्रमाणमिति वादिनो मतेनेदम् । यदागमा इति न्यायस्य गतार्थतां निरूपयति—*स्थानिवत्सूत्र इत्यादिना । साक्षादिति* । ययोः स्थान्यादेशभाव इष्टस्तयोरानुपूर्व्या उपादाने यत्र तत्रेत्यर्थः "अदोजगिः" इत्यादौ यथा ।

ननु यत्र साक्षात्तयोरुपादानन्तत्रापि सिद्धान्ते बुद्धिविपरिणाम एव कल्प्यत इत्यत आह—*किञ्चैवमिति । *एवम्* । आनुमानिकस्थान्यादेशभावो यत्र तत्रापि स्थानिवद्भावप्रवृत्तिर्न स्वीकारे । प्रथमतोपास्तस्य निर्दिश्यमानपरिभाषाया अप्रवृत्तौ हेतुत्वम्, स्थानिवद्भावो निर्दिश्यमानभिप्लवबुद्धेस्तत्राभावादिति भावः । *अप्राप्त्येति* अपि वदित्यादौ यथा । न चात्र लावस्थायामडागमेऽसहितत्वैवार्थवत्त्वम् तु तद्वहितस्येत्यर्थवत्त्वमप्युपगमपरिभाषाङ्गहितस्यादेशो न प्राप्नोतीति वाच्यम् ? पाठ्यन्तानामङ्गानामर्थवत्तामवयवस्य निर्दिश्यमानस्येत्यर्थमप्यगात् । आदेशे स्थानिवद्भावेन स्थानिवुद्धिर्यत्र तत्र निर्दिश्यमानभिप्लवबुद्ध्याभावे भाष्यं मायकमाह—*स्थानोति* । *परत्वादिति* । त्रयादेशापेक्षया परत्वादित्यर्थः । *भाष्यासङ्गतिरिति । 'निर्दिश्यमाना' इति परिभाषाया जागृकत्वेन शङ्काया एवाभावात्, यदित्येतत्परिभाषाया अज्ञानेन शङ्का, तत्र समाधानमप्ये निर्दिश्यमानपरिभाषयैव समाधानं कर्तुमुचितमिति भावः ।

ननु यत्र न साक्षात् स्थान्यादेशभावः किन्त्वानुमानिकस्तत्रास्थानिवद्भावप्रवृत्तौ पचरित्रस्यादौ तुनायेति हत्वाभावेन समुदायस्य पदस्य स्यादत आह—*परित्यादाविति* । सत्त्वप्रकाशिका ।

पृदिगिर्वायोरप्राप्तां निषेधस्य वैयर्थ्यापत्तिरिति भावः । *अनागमकानामिति* इदित्यत्र बहुव्रीहिनाऽऽर्धधातुकस्येति स्थानपठ्यन्तनाश्रयणपरम् "आयन्ती" इति सूत्रस्यम्भाष्यं स्मरेदेतदुक्तिराहः उदात्तस्यानुश्लेषः । *बुद्धिः कर्त्तव्येति* । अत एव कार्यविपरिणामात्कृतमिदम् । कर्त्तव्यं बुद्धिः सा विपरिणम्यते । तद्यथा कस्मैचिन् प्राप्तेन प्रामादात्र इत्युपदिष्टस्य मर्मप्राप्तपक्षो पश्चात्तये शीरिणोऽजरोहन्तः पृथुपर्णास्ते न्यप्रोथा इति कथिते न तत्राप्युच्चा न्यप्रोथुदि प्रनिरघ्तेन । नित्याय न्यस्मिन्विषये आग्राः न्यप्रोथाश्च बुद्धिस्तस्य विपरिणम्यते । एषं नित्यं एव न्यस्मिन् विषयेऽस्मिन्नित्यत्र भवति, बुद्धिस्तस्य विपरिणम्यते इति स्थानिवत्सूत्रे भाष्ये उक्तम् ।

*अनादेशपदस्य अनुमानिकस्थान्यादेशभावेऽपि प्रवृत्तिरस्तीत्यत आह—*स्थानिवत्सूत्रे

इत्यादौ स्थानपट्टीनिर्देशात्तदन्तपरतया पठितवाक्यस्यैवं समुदायादेशपर-
त्वेनादेशग्रहणसामर्थ्यात्तस्य स्थानिवत्सूत्रे ग्रहणेन न दोषः । आनुमानि-
कस्थान्यादेशभावकल्पनेऽपि श्रौतस्थान्यादेशभावस्य न त्याग इति “अचः
परस्मिन्” (१-१-५७) इत्यादेर्नासङ्गतिः । एतेन ‘यदागमा’ इति परिभाषा-
स्थानिवत्सूत्रेण गतार्थेत्यपास्तम् । एतत्सर्वं “दाधा ध्वदाप्” (१-१-२०)
इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥ ११ ॥

ननु एवं ‘उदस्थात्’ इत्यादौ “उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य” (८-४-६१)
इति पूर्वसवर्णापत्तिरत आह—

निर्दिश्यमानं स्यादेशा भवन्ति ॥ १२ ॥

“पट्टी स्थानेयोगा” (१-१-४९) इति सूत्रमावर्त्तते । तत्र द्वितीयस्था-
भैरवी ।

समुदायादेशपरत्वेन समुदाययोः स्थान्यादेशभावबोधकत्वेन तदन्तेति नित्यत्वसंरक्षणार्थमेव-
स्वीकारात् । अत एव पठन्ति, ‘सर्वे सर्वपदादेशाः इत्यादि पदशब्दोऽत्र अर्थवत्परः पठितवा-
क्यस्यैवेत्यनेन यत्र न तथा पाठस्तत्र आगमविषये बुद्धिविपरिणामस्तत्वेऽपि न स्थानिवत्-
भाष्य इति ध्वनितम् । *आदेशग्रहणसामर्थ्यादिति* । सम्बन्धिशब्दस्यापि स्थानिवदित्यु-
क्त्यैवादेशशक्त्यैव आदेशग्रहणमानुमानिकस्यैव विधादेशस्यापि ग्रहणार्थमिति भावः ।

ननु वर्णमात्रस्य यत्र स्थानित्वं तत्रानुमानिकस्य तस्य कल्पने “अचःपरस्मिन्” इत्य-
स्यासङ्गतिः स्यादत आह—*आनुमानिकेति* । *नासङ्गतिरिति* । एवञ्च तत्र यथा श्रौत-
स्थान्यादेशभावस्य न त्यागस्तथागमविषयेऽपि श्रौतस्यागमित्वस्य न त्याग इति ‘यदाग-
मा’ इति परिभाषा नासङ्गतेति सूचितम् ॥ ११ ॥

नन्वेवमिति । यदागमन्यायस्वीकारे । *पूर्वसवर्णापत्तिरिति* । पूर्वस्य दकारस्य
सवर्णः प्रथमोपस्थितस्तकारोऽकारस्य स्थाने स्यात् । निर्दिश्यमानपरिभाषा ॥ ज्ञापकलौकि-
कन्यायमिदं किन्तु सूत्रत्रलादेव लभ्यत इत्याह—*पट्टीस्थान इति* । *आवर्त्तते इति* ।
यद्यपि भाष्ये “पट्टीस्थान” इति सूत्राभावेऽप्यन्तरङ्गत्वादिनान्यथासिद्धिरुक्ताविता, तथापि
स्पष्टप्रतिपक्षे सूत्रबोद्धारम्यते तदाप्यावृत्त्यैवाहशार्थेलाभ इति भावः । पट्टीपदं प्रत्ययग्रह-
तत्त्वप्रकाशिका ।

चेति* । *उपादानमिति* । स्थानपट्टीतयेति शेषः । *यत्र स्थानित्वमिति* । पटयतीत्यत्र
यथा ॥ ११ ॥

यदागमपरिभाषयापवादसंगतिं सूचयन्निर्दिश्यमानपरिभाषामवतारयति—*नन्वेवमि-
ति* । *स्यादिति* । नन्वद्वोद्देश्यत्वेनादौ विधानेन, यदागमपरिभाषया समुद्दिश्येत्यर्थत-
याऽङ्गस्यातिदेशेऽपि स्यात्त्वस्थानतिदेशात्कथं पूर्वसवर्णापत्तिरिति चेत् कार्यप्रयोजकानामुद्दे-
श्यतावच्छेदकीभूतधर्मसमानाधिकरणयावद्धर्माणां कार्यान्तयाऽतिदेशेन स्यात्त्वस्था-
तिदेशात् । अन्यथा प्राणिद्वयतीत्यादावाद्न्तोद्देशेन जाते पुकि दत्त्वस्थानतिदेशादुप-
शानापत्त्या तदसङ्गतिः स्पष्टैव । न चैवमपि सिञ्जन्त्याङ्गस्याङागमेन स्यात्वातिदेशः, ला-
वस्थापमेवादविधानात् ।

यत्तु “त्रिबुतुरोः स्त्रियाम्” इत्यत्रेव ‘श्रुताभुमितयोः’ इति न्यायेन उदः परयोः स्थास्त-
म्भोरवयस्य निर्दिश्यमानस्य पूर्वसवर्णं इत्यर्थेन निर्दिश्यमानपरिभाषास्वीकारेऽपि तथैव
दोष इति, तत्र “प्रधानाप्रधानयोः” इतिन्यायेन पञ्चम्यन्तार्थेन तदन्वयात् ।

यमर्थः, पठ्यन्तं. निर्दिश्यमानमुच्चार्यमाणमुच्चार्यमाणसजातीयमेव निर्दि-
श्यमानावयवरूपमेव वा स्थानेन स्थाननिरूपितसम्बन्धेन युज्यते न तु प्रती-
यमानमित्यर्थस्तेनेदं सिद्धम् । न च “अस्य चञौ” (५-४-३२) इत्यादौ दी-
र्घाणामादेशानापत्तिस्तेषां निर्दिश्यमानत्वाभावादिति चाच्यम् ? जातिपक्षे
दोषाभावात् । किञ्च “न भूसुधियोः” (६-४-८५) इति निषेधेन ग्रहणकशा-
मैरवी ।

णपरिभाषया तदन्तरम् । निर्दिश्यमानमित्यस्य चाध्याहारः निर्दिश्यमानपदं व्याचष्टे—
उच्चार्यमाणेति । नन्वेवमपि यस्य प्रयोगस्यस्यादेश इष्टस्तस्य भोच्चार्यमाणत्वमत
आह—*सजातीयेति* । आनुपूर्वीकृतमत्र साजात्यं विवक्षितम् ।

नन्वेवमपि सुपद उद्स्थादित्यादिसिद्धावपि यत्रावयवस्यैवादेश इष्यते तत्रातिस्य
इत्यादौ निर्दिश्यमानपरिभाषाप्रवृत्तिर्न स्यादत आह—*निर्दिश्यमानावयवरूपमेवेति* ।
निर्दिश्यमानसजातीयावयवरूपमेवेत्यर्थः । “पादः पत्” इत्यादौ तु व्यपदेशिवद्भावो विव-
क्षितः । स्थानेन इत्यस्य व्याख्या—स्थाननिरूपितसम्बन्धेन, स च सम्बन्धो निवर्त्यनिव-
र्तकभावः । *जातिपक्ष इति* । अत्वजातेः स्थानित्वविवक्षया सा जातीयं यत्र वर्तते
तद्द्वाराकङ्क्षार्थमतो दीर्घस्यापि भविष्यतीति भावः । इदं निर्दिश्यमानपरिभाषाप्रवृत्तिम-
भ्युपेत्य ।

वस्तुत एतादृशरूपले निर्दिश्यमानपरिभाषा न प्रवर्तत इत्याशयेनाह—*किञ्चेति* ।
यत्तु “न भूसुधियोः” इत्यस्य ज्ञापकत्वोपपादनमयुक्तम् । निर्दिश्यमानपरिभाषायाधिकाया
“अलोऽन्त्य” परिभाषायाः प्रवृत्त्या दीर्घाणामप्यादेशासम्भवादिति । तन्न । अनया च स्व-
स्वनिमित्तसन्निधापितानाम् “अलोऽन्त्यस्य” इत्यादीनां समावेश उपेत्युत्तरग्रन्थविरोधात् ।
“अलोऽन्त्य” परिभाषाया एतद्वाचकत्वे तुल्यन्यायेन “आदेः परस्य” इत्यपि बाधिका
स्यात्तथाच “उद्स्थात्” इत्यत्रानया दोषवारणपरिभाषाविरोधः स्पष्ट एव ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

यदितु लुप्तपठ्यन्तसकारप्रदलेपेण “उद्ः परस्य” स्यास्तम्भसम्बन्धिसकारस्येत्यर्थेन
प्रवृत्तेऽत्र व्यवधानात्त दोष इति, तर्हि त्रितामित्यस्योपलक्षणमिति योज्यम् ।

सदन्तरमिति । पन्तुतस्तु पठ्यन्तस्वादेशासम्भवात्तत्सुखे लक्षणया पट्टीपदं पट्टीप्रह-
निरम् । “पठ्यन्तं स्थानेन युज्यते यतः पन्द्मुच्चारिता” इति भाष्यात् । भाष्येऽन्तरशब्दः
समीप्यतिप्रतिषेधन इति भावः । यतः सेत्यनयोरेकाकारेण यतः पट्टी सा स्थानेन स्थाना-
नुयोमिकसम्बन्धेन युज्यते इति शात्पर्यम्, प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तरत्वे तस्य समी-
प्यतिप्रतिषेधनपरत्वमित्यादिरूपने गौरवात् । *विवक्षित इति* । यद्यप्यतिस्य इत्यादौ
“अन्त्ययोऽन्त्यमेदन्त्या” इत्येव मिदं तयाप्यतिवक्ष्ये विरवौहः विदुषी इत्याद्यर्थे द्वितीया-
र्थेऽप्युपपत्त्यम् । *न प्रतीयमानमिति* । शास्त्रान्तरमहकारेण बोध्यम् नेत्यर्थः । तथाच—
पट्टीप्रवृत्तिजन्यप्राथमिकोपल्यतिविषयताप्रत्यये निर्दिश्यमानत्वमिति फलितम् । उपल्यि-
तौ प्राथमिकत्वे, शास्त्रान्तराग्रहणत्वे योज्यम् । आनुपूर्वीकृतं साजात्यन्तु न युक्तं वृक्षस्त-
त्रेयत्र निर्दिश्यमानपरिभाषया दोषवारणपरिभाषासङ्गतः । विन्दुद्वयात्मकस्य विमर्गस्य
विमर्गतीपददृष्ट्यानुपूर्वीमदभावेन परिभाषाया अप्रवृत्तेः ।

ननु शास्त्रीयमतस्यादौ “अस्य चञौ” इत्यनेनेत्येव स्यात् “आणुदित्” शास्त्रमहकारेण-
पाऽऽहारस्योपल्यतिविषयत्वेन निर्दिश्यमानशामारादित्यात्तद्वृत्ते—न चास्य व्यापिति ।
मृद्भारकमिति । जातेः स्वनीऽनिर्दिश्यमानत्वेऽपि आन्तरीयकत्वात् तत्प्राप्त्यर्थेणोचरितव्य-
निर्धारणे तदन्त्येतिपायः । *न प्रवर्तत इति* । “आणुदित्” सूत्रवाचकत्वेति शेषः ।

खगृहीतानां निर्दिश्यमानकार्यबोधनाच्च दोषः । इयङ्कुवङोर्द्वित्वं त्विचर्णोव-
र्णान्तधातुशुभ्रुचामित्यर्थेन धात्वादीनामपि निर्दिष्टत्वादन्त्यादेशत्वाय ।
रीङ्ङोर्द्वित्वं तु स्पष्टार्थमेव । एतेनेदं द्वित्वं वर्णग्रहणे निर्दिश्यमानपरि-
भैरवी ।

ननु निर्दिश्यमानपरिभाषयैव सिद्धे इयङ्कुवङोर्द्वित्वं व्यर्थमत आह—इयङ्कुवङोरिति* ।
इत्यर्थे । इत्याद्यर्थे । आदिना “स्त्रियाः” इत्यस्य संग्रहः । तस्य हि स्त्रीशब्दान्तं यदङ्गं
तदवयवस्य निर्दिश्यमानस्य सर्वस्येत्यर्थः स्यात्तथा च समुदायादेशत्वापत्तिरित्यङो द्वित्वं,
यदित्येतच्छास्त्रीया धात्वान्तबोधकभिरसंज्ञा या च परिभाषा तत्सहकारेण पट्टीप्रकृतियो-
ष्यत्वञ्चिद्विद्वदयमानत्वमिति विभाव्यते तत्र “अचिश्नु” इति सूत्रविषयेऽपीयङो द्वित्वं सफ-
लम् । परिभाषापदै तन्मध्यपत्तिरिति परिभाषापरम् । अत एव साकचकस्यापि फादेशस्य
सिद्धिः । *स्पष्टार्थमिति* । अत इत्युपादानेन अकारस्यैव निर्दिश्यमानतया द्वित्वाभावेऽ
पीदसिद्धेः ।

यत्तु व्यक्ती पदार्थे गुणानाम्च भेदकत्वे गुणान्तरयुक्तानामनिर्दिश्यमानत्वेनैतयोर्द्वित्वं
सप्रयोजनमिति तद्व्यभिचात् । गुणान्तरयुक्तत्वेऽपि सूत्रोच्चारितशब्दसंज्ञातीयत्वात् ‘सुपद’
इत्यत्र पादशब्द इवैषा वस्तुं शक्या । न हि व्यक्तिभेदमात्रेण साक्षात्स्यस्य हानिः सम्भवति ।
अन्यथा कापि साक्षात्स्यस्य स्यादित्याशयेन स्पष्टार्थत्वकथनात् ।

एतेनेति । वक्ष्यमाणदोषेणेत्यर्थः । *इदं द्वित्वम्* । रीङ्ङोर्द्वित्वम् । निर्दिश्यमानप-
रित्वप्रकाशिका ।

न दोषः । व्यक्तिपक्षेऽपीतिभावः । एवञ्च “अणुदित्” सूत्रातिरिक्तः शास्त्रान्तरो प्राश्नः ।
ननु प्रभवति सुप्रबुध्यापति वा यत्तुलन्तदतिक्रान्तौ “अतिप्रभुवौ, अतिसुधियौ” इत्यत्र
प्राप्तस्य यणो निषेधेन सूत्रञ्चरितार्थम्, “गतिकारकेतर” इति निषेधाच्च यण इति तु न शङ्क्यम् ।
पूर्वपदैर्नोत्तरपदस्य समासस्य चाक्षेपेण धातुभूतोत्तरपदकसमास एव तत्प्रवृत्तेः । अत एव
परमसुधयौ परमसुल्भाविति सिध्यति ।

किञ्चाभवति यत्तदाशु क्रिपि नृपुंसकद्वस्वे अः आशु ययोस्तावामुवावित्यत्र चारिता-
र्थम्, गतिकारकेतरस्य तु न विषयः, अन्तादिबन्नायेन गतिपूर्वकस्यादितिचेत्तर्हि दीर्घोच्चा-
रणे ज्ञापकम्, निषेधेनेत्यस्मिन्निर्देशेनेत्यर्थ इति केचित् । न च दीर्घे अचपदीयनिर्दिश्य-
मानत्वाभावाच्च इत्य इति वाच्यम् ? सिद्धान्तभूतेन जातिपक्षेण दीर्घस्यापि निर्दि-
श्यमानत्वात् ।

यत्तु प्रभुमुधीशब्दयोर्नृपुंसकद्वस्वे तच्चारितार्थमिति तत्र, सुमा यणो बाधात् । न च
पुंवद्भावापक्षे नृमोऽप्रकृतिरिति वाच्यम्, ? तत्र इवत्वस्याप्यप्रवृत्तेः, ह्रीवत्वविशिष्टार्थ-
वाचकस्य पुंविशिष्टार्थवाचकस्यातिदेशे ह्रीवत्वस्यार्थनिवृत्तेः ।

अन्येतु आभाति यत्तदामम्, आशुमुययोस्तौ, आम्भावित्यत्र गुणे पूर्वान्तवद्भावेन
नृपुंसकद्वस्वे “नभुमुधियोः” इत्यत्र दीर्घनिर्देशे यणनिषेधो न, सुप्रबुधस्य भोस्थानिकत्वेन
स्थानिवद्भावेन भृशब्दत्वाभावात् । सूत्रे दीर्घनिर्देशाभावे भुत्वस्य स्वाध्यत्येन यणः प्रति-
षेधो दुर्वार एव । नचाभाशब्दस्य नृपुंसकद्वस्वे ततो गुणे ‘लक्ष्ये लक्षण’ इतिन्यायात्पुनर्द्वि-
न स्यादिति वाच्यम् ? तद्व्यतिरिक्तत्वाभावात् । अत एव कण्ठे कुड्ये इत्यत्र पूर्वान्तवद्भा-
वेन इवत्वमाशङ्क्य सत्वप्रधानस्य इत्स्व इत्याद्येन माप्यवृत्तसमाधाने सन्नच्यते । एव-
ञ्चाप्यर्थे “अतो लोप” इत्यादौ तत्प्रकरणे ज्ञापकम् । अन्यथा दीर्घोच्चारस्य निर्दिश्यमानत्वा-
भावेन तस्यावृत्त्यर्थं तत्प्रकरणे व्यर्थमेव स्यादिति प्राहुः ।

द्वित्वं व्यर्थमिति । तद्धि इवर्णोवर्णान्तधातोर्द्वित्वस्येऽन्त्यादेशत्वाय, यदि वर्णग्रहणे एषा

भाषाया अप्रवृत्तिज्ञापकमित्यपास्तम् । “हयवट्” सूत्रस्येतायोगवाहानामुपदेशेऽल्लोऽन्यविधिः प्रयोजनम्, वृक्षस्तत्र, नैतदस्ति प्रयोजनं निर्दिश्यमानस्येत्येव सिद्धम्” इति भाष्येण विरोधात् । अनया परिभाषया “येन विधिः” (१-१-५२) इति सूत्रबोधिततदन्वयस्य स्यादित्याभावबोधनं ‘यदागमाः’ (प० ११) इति लब्धस्य च । तेन मुपद् उदस्थादित्यादिसिद्धिः ।

भैरवी ।

रिभाषाया अप्रवृत्तौ त्वनेकाल्त्वादीडादिः समुदायादेशः स्यादिति हिंसे सफलमित्याशयः । तं दोषमेवाह—*हयवट् इति* । *उपदेशः* । यस्मिन् प्रत्याहारे उपदेशे प्रयोजनं तत्र उपदेश इति अभियोगेति पक्षे । *विरोधादिति* । विसर्जनीयान्तस्य पदस्येत्यर्थेन पदसङ्कल्पस्य समुदायादेशप्रसङ्गात् अल्लोऽन्यपरिभाषायाः सञ्चारः कियते । यद्यप्योगवाहानामुपदेशो न स्यात्तत्र विसर्जनीयस्याल्लोऽन्यपरिभाषायाः प्रवृत्तिर्न स्यादित्याशयेनोपदेशस्य प्रयोजनमुक्त्या निर्दिश्यमानपरिभाषया खण्डितम् । स्वद्वीत्या तु तत्रापि वर्णप्रहणेन निर्दिश्यमानपरिभाषोपन्यासविरोधः स्यादिति भावः । न च निर्दिश्यमानपरिभाषा यस्यानुपूर्व्यां सूत्रे उपादाने तत्र प्रवर्तते “विसर्जनीयस्य स” इति सूत्रे तु न तथोपादानमिति कथं निर्दिश्यमानपरिभाषायाः प्रवृत्तिरिति वाच्यम् ? तद्भाष्यप्रामाण्येन रुद्धा स्वरूपस्य बोधनमेव यत्रत्यानुपूर्व्यां तथापि सत्याः परिभाषायाः प्रवृत्तिः स्वोक्त्यात् ।

एवञ्च वर्णप्रहणेऽप्येवा प्रवर्तते । अत एव कारीरगन्धेव इत्यत्र “आपत्यस्य” इति यलोपः सिध्यति । प्वटः प्रत्ययस्य तु न निर्दिश्यमानत्वम् । यकारमात्रस्य तु वर्णत्वाद्भवदुक्तरीत्या परिभाषाप्रवृत्तिर्न स्यात् ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

प्रयत्नेन तदानर्थे सिद्धे द्वित्वविधाने व्यर्थं स्यात् । एवं च द्वित्वेन वर्णप्रहणेऽप्रवृत्तिकल्पनार्थं मालोभयतीत्यादावित्ये सिद्धे ग्रहणकृताग्रहीतानां निर्दिश्यमानकार्यबोधनं व्यर्थमिति तात्पर्यम् ।

स्यार्थमिति । नन्वङ्गस्यापि धात्वादीनामत्र निर्दिश्यमानत्वाद्नन्वादेशत्वाय द्वित्वमिति चेन्न । यत्पट्टप्रतिषेधस्य स्थानेन सम्यग्धः प्राप्तः, तत्पट्टोपधस्य निर्दिश्यमानस्यैव स्थानमन्यग्ध इति परिभाषया बोधनेनाङ्गस्य तथात्वाभावात् । अन्यथा “विसर्जनीयस्य स” इत्यादी मकारव्यत्ययस्यापि निर्दिश्यमानत्वेन पदस्यादेशवाराणां योगवाहानाम् “शालुः” पाठस्यावश्यकत्वात् “नैतदस्ति प्रयोजनं निर्दिश्यमानस्येत्येव सिद्धमिति” भाष्ये विरुद्धं स्यात् ।

मम तु पदस्येति पट्टप्रतिषेधस्य सर्वत्र निर्दिश्यमानस्यैव सत्वेन तत्र ग्रहणपरिभाषया अप्रवृत्त्योक्तं भाष्यं युक्तमेव । अत एव “जराया जम्” इत्यादावङ्गस्य निर्दिश्यमानत्वमाशयं नातिप्रसङ्ग इति दिक् । एवञ्च यत्पट्टोद्विगमपि स्यार्थमेव ।

स्यादिति भाष इति । केचिन् विमर्गस्याल्लोऽपि वर्णप्रहणमात्रं भाष्यविरोध इति वदन्ति । *मुपद् इत्यादिभिर्द्विरिति* । इदं न युक्तम्, शास्त्रान्तरामद्वहृतस्य पट्टप्रवृत्तिजम्बप्राथमिकोपनिविष्टस्य विविधित्वेन मुपद् इत्यत्र दोषाभावात् । एते सति शास्त्रान्तरादेन “म्येह” “निष्क्रान्तिं प्रोमि” “अनुदिग्” “स्यानिग्” तन्मन्त्रपठित” “लिङ्गविनिष्ट” इत्यादिशास्त्रानिर्दिष्टं विरक्षितम् । आद्ये तत्तत्पञ्चाक्षरम्भिः द्वितीये “रिच” तृतीये “न भूमिपिपोः” इति चतुर्थे, चतुर्थे “सन्तस्य प्रतिपेय” इति पार्तिरम्भ, पञ्चमे “किनः कः” यत्

भैरवी ।

परस्य" इत्यस्य बहुवचनेनानेकालित्यस्य च परिग्रहः । एवकारव्यवच्छेदे स्पष्टयति—*न

तत्त्वप्रकाशिका ।

इत्यपास्तम् । अनन्तर्युदासादव्ययपूर्वस्यैव क्तवो ल्यन्विधानात् । विशेषाश्रयणे मानामा-
येन निपातनादेव तदभावाच्च । अत एवासुप्यायणपुत्र इत्यादौ न सुपो लुक् ।

यत्तु चकारेण समासान्तरे घटकतया प्रवेशो न, अत एव 'परमो मयूरव्यसक' इति वाक्य-
मेव भवति । एवं च स्नात्वाकालकोष्ठेत्येति रूपमेवासाध्विति तत्र, तस्यासार्वत्रिकत्वादत
एव प्रत्ययमात्रपहणेत्वादिप्रयोगोऽपि सङ्गच्छते । सञ्जुः सञ्जुभ्यामित्यादावपि "ससञ्जुपोरु"
इत्यस्य सञ्जुप्राशङ्दान्तम्य पदस्य करित्यर्थेन सञ्जुप्राशङ्कत्वावच्छिन्नायाः शाब्दीविषयताया
उभयत्र सत्येनोभयत्र निर्दिश्यमानत्वाच्च व्यभिचारः । एवं जरसोजरसावित्यादावलुकि चोह-
नीयम् । जराजरसावित्यादिस्थले पूर्वस्मिन् शाब्दबोधीयविषयताया अभावेन न जरसापत्तिः ।
अत एव "पादः पात्" इति सूत्रे भाष्ये पाद् उपधाया ह्रस्वत्वं वक्तव्यम्, न वक्तव्यम्, निर्-
दिश्यमानस्येत्येव सिद्धमित्युक्तम्, अन्यथा हस्ये सुभास्पद इति रूपं भविष्यति पाच्छब्दा-
न्तं यदङ्गं तदवयवोपधाया ह्रस्व इत्यर्थात्, अन्यत्र सुपस्पद इति फलभेदस्य सत्त्वाद्वास्तिक-
प्रत्याख्यानसम्भवेन तदसङ्गतं स्यात् ।

ननु पदद्वित्वस्थले ऽनस्तमितावयवभेदस्य सर्वसम्मतत्वेनोक्तस्यापि शाब्दबोधीयविष-
यताश्रयत्वेन समुदायस्य तद्वदित्वाभिर्दिश्यमानत्वानापत्तिः । न च स्थानिवद्भावेन समुदाय-
स्यापि निर्दिश्यमानत्वं, नचानस्तमितावयवकत्वेन भागद्वयस्य पदत्वेन समासपहणकृतनि-
यमाक्रान्तत्वेन समुदायाद्विभक्त्यनुत्पत्तौ जराजरसावितिरुपासम्भवः परमादिना ऽन्वयाभा-
वेन सामर्थ्यात्समासाप्राप्तेः । यत्किञ्चिन्निरूपितव्याप्यताया एव बोधसापदार्थतया बोधिसत्त्व-
व्यापकेऽन्वयनियमात्, अतिशयिता जराभर्तिजरेतिविप्रेणात्पथोतिशयं प्रति बोधिसत्त्वा-
त्तत्रान्येनातिजराजरसावितिप्रयोगस्य सम्भवादिति वाच्यम् । कारकविभक्तैर्बलवरेण अ-
ध्याहृतोच्चारणक्रियानिरूपितकर्मस्थोपस्थितस्य द्वे ह्रस्वस्य सम्भवेन आष्टमिकद्वित्वस्यापि
स्थानेद्वित्याभावेन स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तेरिति चेन्न, इष्टापत्तेः । अत एव श्रेयस्य, जराया असुह-
इति प्रमिपालाघनाय न कृत इति मूलकृता उक्तम् ।

अन्यथा पदद्वित्वस्य स्थानेद्वित्वत्वेन यथास्थितन्यासे स्थानिरस्तेन समुदायस्य, अव-
दत्सुऽन्यासेऽन्यस्यादंश इति फलभेदस्य सत्त्वेन प्रक्रियालाघरोक्तिरसङ्गता स्यात् । अत
एव "किमः कः" इत्यत्र ककारोच्चारणमरुक्षसहितस्याप्यादेनाथमद्वचनं साकृच्छार्थमित्यादि-
भाष्यमपि सङ्गच्छते । अन्यथा स्थानेद्वित्वत्वेन समुदायस्थादेशार्थं तदवयवकत्वेन तत्ताप्य-
मसङ्गते स्यात् । अत एव "पादः पद्" इति सूत्रस्योक्तं भाष्यमपि सङ्गच्छते ।

एतेन स्थानिरस्तेन समुदायस्यैवादेशः, साकृच्छार्थमिति पदद्वित्वस्याप्युपलक्षणम्, फल-
स्य वाच्ययामिदमात्रप्रतिपादनपरं "पादः पद्" इति सूत्रस्य भाष्यमिति परास्ताम् । अनेक-
ग्रानेवाप्राप्ताणि विद्वद्व्यवहाराद्व्यवहारेण गौरवाच्च । उपस्थितौ प्राथमिकत्वनियमेन तत्तच्छा-
स्त्रमदकारेणोदस्थितिविषयताश्रयः यद्वा शाब्दबोधीयविषयताश्रयः निर्जरेत्यादि, तस्योदासा-
न्यवर्गोपस्थित्यर्थः चिन् निर्दिश्यमानत्वम्, निर्जरादीनां तत्तच्छास्त्रासङ्कारेण तद्विषयाभावात् ।

एतेन प्राथमिकापत्तिरिति तर्किकानां तद्वत् चन्द्रपहणप्रणामरद्विकल्पप्राथमित्याकल्पन्तु
मुषिप इति दिक् ।

ननु मारुप्यायणद्वारादंशविषयेऽर्थ न्यायः सा प्रवर्तनाम् तदपहारके ॥ प्रवर्तन एव ।
अत एव भिन्नकारवश्याविति नृने निर्दिश्यमानपरिभाषया चिन्व्यत्र प्राप्नोतीति भाष्ये सङ्ग-

इत्यादीनां समावेश एव, न बाध्यबाधकभावो विरोधाभावात् । नाप्येतयो-
रङ्गाङ्गिभाव उभयोरपि परार्थत्वेन तदयोगात् । “अनेकाल् शित्”
(१-१-५१) इति सूत्रे सर्वश्चैतत्परिभाषाबोधित एव गृह्यते ।

यत्तु “आदेः परस्य” (१-१-५४) “अलोऽन्त्यस्य” (१-१-५२)
इत्येतावेवतद्बाधकाविति तन्न । “उद्ःस्थात्” इति सूत्रविषयेऽस्याः, “पादः
पत्” (६-४-१३०) इति सूत्रे भाष्ये सञ्चारितत्वात् । नाप्येतयोरियं बा-
धिका । एतयोर्निर्विषयत्वप्रसङ्गादिति “तिर्विशतेः” (६-४-१४२) इति
सूत्रे कैयटः । अकञ्विषये तु नायं न्यायः स्थानिवद्भावेनेह तन्मध्यपतित-
भैरवी

बाध्यबाधकेति* । बाध्यबाधकभावे हि परत्वं योजन्तश्च न सम्भवति विरोधाभावात् ।
कचिन्निष्फलत्वेऽप्यस्याः प्रवृत्तिः स्यात् । कचित्तु ताभिः साध्यानां कलानामेतदेकवाक्यतया
सिद्धिरिति भावः । नन्वेवमङ्गाङ्गिभावः स्यात्तथाचैकस्या अप्रवृत्तावियमपि न प्रवर्ततेत्यत
आह—*नापीति* । *परार्थत्वेनेति* । विध्युपकारकत्वेनेत्यर्थः, “गुणानाञ्च परार्थत्वात्” इति
न्यायात् । समावेशफलन्तु “अस्तिश्च” इत्यत्र “पत्युर्नो यज्ञे” इत्यत्र “अन्तरूपसर्गोऽन्य”
इत्यादौ च बोध्यम् । *एतद् परिभाषाबोधित एवेति* । तेन निर्जरावित्वादेः सिद्धिः ।

कौस्तुभोहितामुक्तिमपनुदति—*यत्त्विति । एतद्बाधकावित्यस्य परत्वादिति शेषः ।
भाष्ये “अनेकाल्” इति सूत्रविहितसर्वादेशेन समावेशस्य कथनात्तत्रास्यास्मरितार्थम् “आ-
देः परस्य” इत्यस्य “अलोऽन्त्यस्य” इत्यस्य च “तास्यनुदात्तः” इत्यत्र “सयोगान्तस्य लो-
पः” इत्यत्र च वारिताव्यमित्यभिमानः । तदुक्तिन्निरस्यति—*उद्ःस्थादित्येति* । एवं तत्रैव
भाष्ये “अलोऽन्त्यस्य” इति सूत्रविषये “तिर्विशतेः” इत्यत्र सञ्चारितत्वादित्यपि बोध्यम् ।
एवमुक्तरीत्या सर्वाभिः स्वस्वविषये समावेशेन सर्वलक्ष्यसिद्धौ बाधकलपनमन्याप्यमित्यपि
बोध्यम् । *एतयोः* । *पूर्वोक्तसूत्रयोः* । *इयम्* । निर्दिश्यमानपरिभाषा । *बाधिकेति* । सू-
त्रोच्चारिताच्छब्दात् प्रथमं स्वस्वरूपोपस्थितिस्तत आद्यन्तयोः परामर्श इति, अन्तरङ्गा एषा,
सयोर्बाधिकेति तन्नायः । *निर्विषयत्वेति* । “उद्ःस्थास्तम्भोः” इति सूत्रविषये “उद्ःस्था-
त्” इत्यत्रादेरित्यस्य, “समः सुटि” इति सूत्रविषये “अलोऽन्त्यस्य” इत्यस्य च समावेशस्य
तत्र तत्राकारे प्रदर्शनेन तत्तद्विषयताकत्वमपि तयोरिति तत्तद्विषयताकत्वविशिष्टयोश्चारिता-
र्याभावप्रसङ्गादित्यर्थः । तयोरियं यतो न बाधिकास्त एव उद्ःस्थादित्यत्र सोमसुतावित्यत्र
च पूर्वसवर्णाभावस्य “ओः सुपि” इति यणादेशाभावस्य च सिद्धिः । अत्र आद्यस्य “आदेः
परस्य” इति परिभाषया सिद्धिरुक्तैव, द्वितीये तु सुनोतेः क्विपि ॥ कितद्विशिष्टस्य ओरित्यनेन
ग्रहणेन यणापत्तिः “अलोऽन्त्यस्य” निर्दिश्यमानस्येत्यर्थे तु नान्त्यस्य निर्दिश्यमानत्वमिति यो-
ध्यम् । *कैयट इति* । तत्रहि तिश्चान्त्यस्य लोपः कुतो नेति शङ्कायां निर्दिश्यमानपरि-
भाषया समुदायस्यैव लोपसमाधानेन हि सा तयोर्बाधिकेतिप्रतिपाद्यन्तस्य “यमेति च”
इति लोपे सिद्धे तिप्रहणस्य वैयर्थ्यमिति तिप्रहणमामर्श्यात्समुदायनिवृत्तिरिति तेनोक्तम् ।

नन्वेवमकञ्विषयेऽप्यस्याः प्रवृत्तौ सारूप्यस्य कार्य्येन्न स्यादत आह—*अकञ्विषय
इति* । तत्रेतन्न्यायाप्रवृत्तौ योजमाह—*स्यानीत्यादि* । एवञ्च स्थानिवद्भावे सति यथा-
ऽऽदेशे न निर्दिश्यमानभिरत्यनुदिस्तथा तन्मध्यपतितन्यायस्थानेऽपि तत्त्वपुद्गरेण, गङ्गां
यमुनाञ्च प्रविष्टा नद्यो यथा गङ्गायमुनाग्रहणेन गृह्यन्ते तद्वदिति भावः

अनु बोधेऽकञ्वसहितस्यापार्थक्यस्य व्याख्यानावसरे यद्यपि निर्दिश्यमानपरिभाषया न प्रा-
प्नोतीति शङ्कते तेनेतद्विरुध्यत इति चेद्य । तत्रत्यपूर्वग्रहणमाधानयोः प्राच्यानुसारित्वात् ।

भैरवी ।

‘यथान्तस्य प्यडादेशोऽन्यथा स्यात् । एवन्तुल्यन्तं यदङ्गन्तस्य तातडित्यर्थे समुदायादेशत्वा-
गतिर्येवं प्रणम्येत्यत्रापि समासेऽनङ्पूर्वं क्त्वान्तं यदङ्गन्तस्य ल्यबित्यर्थेन समुदायादेशत्वं
ऋपः स्यात् । एवङ्कारयामासेत्यत्र आमादौ प्रत्यये परे ते यस्माद्विधीयन्ते तददिर्ण्यन्तस्ये-
यर्थेन विशिष्टस्यायादेशः प्राप्नोतीति वाच्यम् । “अणिनोः” इत्यत्र गुरुपौत्तमयोरवयवौ य-
गिनौ तयोः प्यडित्यर्थाश्रयणेन तातडो डित्करणेन समासेऽनङ्पूर्वं इत्यत्रापि पूर्वग्रहणम-
हत्वाऽनङ्गः परस्य क्त्वं समासावयवस्य ल्यबित्यर्थाश्रयणेन येन नाव्यवधानम्यायेन धातु-
मात्रव्यवधानेऽपि प्रवृत्त्या दोषाभावेन आमन्तादौ प्रत्यये परे यत्तदादि तदवयवस्य गेरित्य-
पार्श्वयणेन समुदायादेशत्वस्य व्यावृत्तिसम्भवादित्याहुः ।

अत्रेदमवधेयम्—उदस्थादित्यस्य सकारप्रक्षेपेण यत्साधनं तत् “पाङ्गः पङ्ग” इति
सूत्रस्यभाष्यविरुद्धम् । तत्र हि ‘अवश्यमेवा परिभाषा कर्त्तव्या निर्दिश्यमानस्यादेशा भव-
न्ति’ इत्युपक्रम्य “उदस्थात्” इत्यत्र पूर्वस्यगोदेशव्यावृत्तेः प्रदर्शनात् । यदि सकारस्य
प्रक्षेपस्तदाऽऽस्ताहित्यं यत्र तत्र प्राप्तेरभावेन भाष्यविरोधः स्पष्ट एव ।

किञ्च सकारस्य प्रक्षेपेऽप्युदस्थशब्दावयवसकारस्य पूर्वसवर्णापत्तिः । अत्र हि व्युद-
शब्दविजन्तस्थाशब्दयोः समासे विशिष्टादाख्यानाथके णिबि टिलोपे च कृतेऽविशिष्टावयव-
सकारे स्थाशब्दावयवत्वस्य प्रक्रियाज्ञानवतां बुद्धिसम्भवात् । स्थाशब्दस्यैव कार्य्यत्वे तु
प्रकृते न स्थाशब्दः । अक्षपरिमाणग्रहणेनैकदेशविकृतन्यायानुवसरात् । नापि स्थानिवद्भावेन
व्युदस्थशब्दस्य स्थाने हि व्युदस्थशब्दादेशो न तु स्थाशब्दस्य स्थशब्द इति । न च
व्युदशब्दस्य पृथक्करणेन स्थाशब्दाणिणबि तस्यैव स्थाने स्थाशब्दादेश इति वाच्यम् ?
उपसर्गसमानाकारस्य पूर्वपदस्य पृथक्कृतिर्हि संप्रामेति विशिष्टपादेन कल्प्यते । यद्यत्र
पूर्वपदं व्युदिति तस्योपसर्गसमानाकारमिति स्पष्टमेवेति निश्चयात् ।

यद्यपि ‘सुपद’ इत्यस्यान्यथासिद्धिकल्पने पूर्वोक्तन्यायेन तदपि च, निरुतन्नुक्तमित्यस्य
सिद्धयेऽङ्गधिकारस्यावश्यकत्वेनाङ्गभेदस्याऽऽक्षिप्तप्रत्ययस्य नित्यसम्बन्धित्वेन प्रत्यय-
स्याङ्गविशेषणत्वमेवोचितमिति पाठोऽत्रान्तं यदङ्गन्तस्य प्रत्ययपरकस्यादेश इत्यर्थस्यैव
न्याय्यत्वात् ।

यद्यपि कौमुदगन्थाशब्दस्यान्यथासिद्धेर्बैधधिकरणेन सम्बन्धकल्पनया कल्पनं तदपि
स्थूलं सम्भवति सामानाधिकरण्ये वैधधिकरण्येनान्वयस्य गौरवपराहृतरत्वात् ।

किञ्च वैधधिकरण्येन सम्यग्ये दाक्षीपुत्रीत्यत्रापि प्यडादेशः स्यादतः सामानाधिकरण्येन
सम्बन्ध एव दीक्षितैराहृतः ।

यद्यपि “समासेऽनङ्पूर्वं” इति सूत्रे पूर्वग्रहणमहत्वाऽनङ्गः परस्य क्त्वं इत्यर्थाश्रयणेन
प्रणम्येत्यस्य समाधानं तत्त्वस्थीयः, तस्मिन् सूत्रे पूर्वग्रहणभागे प्रशङ्कशमोदाविन्धित्वा-
तत्त्वप्रकाशिका—

सिद्धौ नावश्यकत्वमित्यपि बोध्यम् । *इत्याहुरिति* परमजरमौ जराजरसावित्यादौ समु-
दायस्य पूर्वजरा शब्दस्य वा जरासापत्तिरजादिविभक्तेः जराशब्दस्य विशेषणत्वेन वारणोपा ।

“विभाषा सपूर्वस्य” इत्यस्य विद्यमानत्रयवपूर्वकपतितशब्दान्तप्रातिपदिकस्य नकारादेश
इत्यर्थेनालोऽन्त्यपरिभाषयाऽन्त्यस्यैवेति कृपलपतितपत्नीत्यादौ न दोषः । व्याघ्रपात्पदः वि-
ववाडुह इत्यादौ भरदाक्षिष्ठाजादिसर्वनामस्थानस्य निर्दिश्यमानविशेषणत्वेन न दोषः ।
रुणातशकालकीरुतेत्यत्र निपातत्वेन । एवं च निर्दिश्यमानपरिभाषा भवस्तु प्रणिर्गपयती-
त्याद्यर्थे यदागमपरिभाषास्तु । अपिचदित्यत्र परिभाषाया अनित्यत्वाच्च दोष इत्यभिप्रायः ।

दर्शनादिति । किञ्च त्रितमित्यत्र यदागमपरिभाषया विशिष्टस्य त्रिशब्दत्वेन त्रयादेशा-

ननु चेतेत्यादौ ह्रस्वस्येकारस्य प्रमाणत आन्तर्यादिकारोऽपि स्याद-
भैरवी ।

शब्दयोरैकार्थीभावविवक्षायां समासे प्रसमीदाविन्ध्याप्रियञ्जुहोतीत्यत्र ल्यबनापत्तेः ।

न च पूर्वग्रहणसत्त्वेऽपि कथमिह प्राप्तिर्भावताऽन्यस्य चान्तेन यत्र समासस्तत्रैव ल्यब-
ह्रस्वादिति वाच्यम् ? कृद्ग्रहणपरिभाषया शमीदाविन्धित्वा शब्दस्यापि क्त्वान्तत्वात् ।

यदपि कारयामासेत्यस्यामादौ प्रत्यये यत्र तदादितद्वयवस्य णेरित्यर्थेन “स्यतासी”
इव तदुपस्थितस्य तदादेरित्यस्य विधित्वेनान्वयात् ‘प्रत्ययग्रहणे चोपञ्चम्या’ इति
निषेधाण्यन्तस्येत्यर्थासम्भवप्रदर्शने तदपि न विचारसहम् । तत्र लङ्लोटोर्निमित्तत्वेनोपादाना-
त्तेन तदन्तविधौ निमित्तत्वानुपपत्त्या “उत्तमैकाभ्याम्” इति निर्देशेन च यत्र यस्य प्रत्य-
यस्य निमित्तत्वेनाश्रयणान्तेन तदन्तविध्यभावस्य आश्रयणेऽपि निमित्तत्वानाक्रान्तप्रत्यय-
ग्रहणेन तदन्तविध्यभावे मानाभावात् । एवञ्चामादौ प्रत्यये णिर्यस्माद्विधीयते तदादेर्यन्त-
स्यायादेश इत्यर्थेन किमवधिकमिति निम्नाप्रस्थायादेशसिद्धये निर्दिश्यमानपरिभाषया
आवश्यकत्वात् ।

किञ्च सत्ये इत्यत्र स्यादि कृते आपञ्च ह्रस्वे षेग्रहणेन स्वीशब्दस्य ग्रहणात् स्मैशब्दा-
देशः स्यादिति निर्दिश्यमानपरिभाषया आवश्यकत्वम् । अपि च क्रियास्तां क्रियास्तम्
क्रियास्त इत्यत्र परत्वादनन्तरङ्गत्वाद्वा यासुटि कृते तामादयो भवन्ति । एते च निर्दिश्यमान-
परिभाषाभावे समामुदकस्य स्युः । परस्मैपदेषु इत्यस्य विषयससम्प्राध्वयणेन “आधुशक्तश्च”
इति सूत्रमाप्यरीत्या लावस्थार्यां यासुटः प्राप्तयान्तरङ्गत्वं बोध्यम् । न च निर्दिश्यमानप-
रिभाषास्वीकारेऽपि कथमिहादेशः, आमुटा व्यवधानेन धातोः परत्वाभावादिति वाच्यम् ?
धातोर्विहितानान्तसादीनामित्यर्थाश्रयणात् ।

अपि चातिविश्रुतचित्तत्वे इत्यत्र त्रिचतुरन्तस्य त्रिचतुष्टयशब्दादेशवारणाय स्वी-
कार्यम् । न च परिभाषाभावे समुदायस्य तिस्रश्चादेशे कथमन्यपदार्थप्रतीतिर्वाचकाभावा-
दिति वाच्यम् ? सामान्यशब्दस्यापि प्रकरणाद्येकस्य विनोपावसाद्येतुत्वस्य दर्शनात् ॥ १२ ॥

स्थान्यादेशानां प्रक्रमत् स्मृत्यामन्यामपि परिभाषां वक्तुं भूमिकामारचयति—*नन्वि-

सत्त्वप्रकाशिका ।

पक्षः, नचैकारं प्रदिल्लप्येकारान्तस्य श्रयादेशविधानेन तुग्विनिष्टे इकारान्तत्वस्य घर्गमात्र-
सिधमत्वेनाल्लिखित्वेन च यदागमपरिभाषायाः स्थानिचज्ञापकस्य चाप्रवृत्तेर्न दोष इति वाच्य-
म् । प्रदिल्लप्येकारान्तस्य अत एव “रन्तस्य प्रतिषेध” इति वार्तिकमपि सङ्गच्छते । अन्य-
थाऽल्लिखित्वेन स्थानिचज्ञापकाप्राप्ती तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । सत्यां निर्दिश्यमानपरिभाषार्या
मिश्रिष्टे तदभावात् दोष इति बोध्यम् । एते मन्त्रित्वश्रान्तपक्षसिद्धौ च ।

यत्तु आमांति न्यासे रामाणामित्यादौ परत्वाद्यौ नुदं तु ह्रस्वग्रहणसामर्थ्यात् भूतपूर्व-
मंतरयगमेन, त्रिगुणामित्यत्र “वदचतुर्थ्ये” इति सूत्रे त्रिरुदृत्या मिदम्, नच त्रिगुणामित्यत्र
वातिताम्यम्, तावन्मात्रप्रयोजनस्यैव नचोप इत्येव यूयादिति भाष्यात् ह्रस्वेकारान्तकार-
न्तस्य आप्तारकिञ्चनविधानेन त्रितां मन्त्रित्व्यादिरूपामम्भारः । अन्यथा त्रितां वृतामि-
त्यत्र ह्रस्वग्रहणस्यैव नुदोऽप्राप्तिरन्तरभावे तु स्थानिरन्त्येन त्रिगुणेषु त्रितां त्रिगुणमिति फल-
भेदस्य सत्येन ह्रस्वग्रहणसामर्थ्यात्तद्वयगतिरगङ्गात्वा स्यादिति तद्य, सूत्रद्वयस्य नचाद्यन्तचतुः-
शब्दमाह्वयणेन श्रान्ते प्रवृत्तेरन्युपगमेन त्रितां त्रितामित्यत्र नुदोऽप्राप्तेः ॥ १२ ॥

स्थान्यादेशानां प्रक्रमत्स्थानिनिर्वाचयतिः परिभाषा उक्तरा इदानीमनन्तर्यकथ्य-
त्परत्वाद्यसामुदायऽदेशनिर्वाचिकां परिभाषां वक्तुं भूमिकां रचयति—*नन्विति ।

त आह—

यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत आन्तयम्बलीयः ॥ १३ ॥

अनेकविधं स्थानार्थगुणप्रमाणकृतम् । अत्र मानम्—“पट्टीस्थाने” (१-१-४९) इत्यत एकदेशानुवृत्त्या स्थाने ग्रहणेऽनुवर्त्तमाने पुनः “स्थानेऽन्तरतमः” (१-१-५०) इति सूत्रे स्थानेग्रहणमेव । तद्धि तृतीयया विपरिणम्य चाक्यभेदेन स्थानिनः प्रसङ्गे जायमानः सति सम्भवे स्थानत एवान्तरतम इत्यर्थकम् । तमयग्रहणमेवानेकविधान्तर्यसत्तागमकम् । स्थानतः स्थानेनेत्यर्थः । तत्र स्थानत आन्तयम्बलीयम् “इको यणचि” (६-१-७७) इत्यादौ प्रसिद्धमेव । अर्थतः “पट्टी” (६-१-६३) इत्यादौ । स्थान्यर्थाभिधानसमर्थस्यैवादेशतेति सिद्धान्तात् यदर्थाभिधानसमर्थो यः स तस्यादेश इति तत्समानार्थतत्समानवर्णपादादीनां ते । “तृज्वत्कोट्टुः”
मैरवी ।

वैति* । *अकारोऽपीति* अपिना स्थानकृतान्तर्याम्ययणपक्षे प्राप्तस्वैकारस्य परिग्रहः । *यत्रानेकविधेत्यादि* । *यत्र* लक्ष्ये । *आन्तर्यम्* सादृश्यम् । स्थानिभिः सहादेशानामिति शेषः । अस्य वचनस्य निर्मूलत्वशङ्कां वारयति—*अत्र मानमिति* ॥ *स्थाने ग्रहणे* प्रसङ्गवाचिनीति शेषः । *तृतीयया विपरिणम्येति* । ध्वनितेनेत्यस्य शेषः । *तमग्रहणमिति* । यदि स्थानकृतमेवान्तर्यं सुप्रसिद्धन्तदा समग्रग्रहणवैयर्थ्यं स्पष्टमेव । *पादादीनामिति* ।

यद्यपि तस्मिन् सूत्रे स्थानिनो नोपात्तास्तथाप्यर्थवत् एव स्थान्यादेशभावस्य विधा-
नैरेवं कल्पना कार्येति भावः । पदादिनामनादेशस्यसिद्धान्ताभिप्रायेणाह—*तृज्वदिति* ।

नच स्थानार्थगुणप्रमाणकृतमिति परिगणने “उरण्णरपः” इति सूत्रेण जातल्याणो रपरत्वं
तत्त्वप्रकाशिका ।

प्रमाणतः । कालकृतत्वं । *आन्तर्यामं* । सादृश्यत्वं । *परिग्रह इति* । विनिगमनाविरहा-
दुभयोः पर्यायापत्तिरिति भावः । *स्थानार्थगुणेति* । एतेन वर्णत्वादिधर्माणां व्यावृत्तिः सूचि-
ता । अत एव “स्थानेन्तरतम” इति चरितार्थम् । अन्यथा वर्णत्वधर्मेण साधर्म्यादिकारस्य
स्थाने घटारादीनामपि प्राप्तौ व्यावर्त्यालाभेन तद्वैयर्थ्यं स्यात् । बाह्यप्रयत्नानां साध्यादूर्ण-
वृत्तित्वाभावेऽपि, औपचारिकं गुणत्वं योच्यम् । *इति शेष इति* । अयम्भावः—अन्तरतम्
इत्येको योगः, स्थाने द्वितीयः, तत्र प्रसङ्गार्थकस्थानेग्रहणानुवृत्त्या पूर्वैवैव सिद्धे द्वितीययो-
गस्तात्वादस्थानपरो नियमार्थश्च । द्वितीये स्थानेऽन्तरतम इत्यनयोरनुवृत्त्या योऽर्थो भ-
वति तं दर्शयति—*सति सम्भव इति* । सम्भवाभावे ॥ पूर्वैरेष्टसिद्धिरिति भावः । वा-
च्यरितित्यादौ यथा ।

नन्वेक एव योगोऽस्तु, अनुवृत्तस्थानेपदे प्रपञ्चार्थपरमग्रत्यन्तात्वादिरपरमस्तु । योगवि-
भागेनानेकविधसादृश्यसत्ताग्रहणे किं बीजमित्यत आह—*तमग्रग्रहणमिति* ।

अयम्भावः—वाक्यभेदाभावे प्रसङ्गे सति स्थानेन सदृश अदेश इत्यर्थकान्तर इत्येता-
यतैरेष्टसिद्धौ तद्व्यर्थं सदनेकविधान्तर्यसत्ताग्रहणे गमकम् । एवञ्च वाक्यभेदोऽपि सिद्धः ।
अन्यथा तदाग्रहणमेव व्यर्थं स्यात् । नच सति तमपि लाङ्कितिरित्यत्र लङ्कारो भगवन्त्यथा
यस्मिन्तोऽपि स्यादिति वाच्यम् । अन्तरग्रहणमामर्भ्यनातिशयार्थलाभात् । अन्यथा तत्स्थान-
न इत्येव मूपात् । तदाह—*यदि स्थानकृतमेवेति* । *एवञ्चकल्पना कार्येतीति* । सप्तम्य-

(६-१७-२५) इति च । गुणतो चागूचरित्त्यादौ । प्रमाणतो "अदसोऽसेः" (८-२-८०) इत्यादौ । "स्थानेऽन्तरतम" (सूत्रे भाष्ये १-१-५०) भैरवी ।

विधीयत इति पक्षे ऋवर्णस्य वृद्धिप्रसङ्गे सर्व एवादेशाः प्राप्नुवन्तीतिशेषपरिहाराय भाष्ये अनान्तर्धर्मवान्तर्धर्मतयोरित्याश्रितं तद्विरुध्यत इति वाच्यम् । गुणशब्दस्योक्तत्रितया तिरिक्तधर्मपरत्वात् । बाह्यप्रत्ययस्य वर्णवृत्तित्वेऽपि गुणस्य व्ययोपकार इतरव्यावृत्तिरूपोऽस्ति तथैतेषामपीति गुणसादृश्याद् गुणत्वेन व्यवहारः । न चैवं ह्रस्वत्वादीनामपि गुण-प्रहणेन सिद्धे ग्रहणे पृथक् प्रमाणग्रहणवैयर्थ्यमिति वाच्यम् । बाह्यप्रत्ययसिद्ध्यर्थेन तथोपादानात् । *आदसोऽसेरिति* । अत्र प्रमाणत आन्तरतम्यमादाय व्यवस्था मूल एव ह्रस्व-सत्त्वप्रकाशिका ।

न्तर्गते सादृश्यानुयोगिनि स्थानिनि आदेश इत्यर्थे उपस्थितत्वादादेशप्रतियोगिकं सादृश्यं पक्षव्ययम् । सादृश्यञ्च प्रतियोगिवृत्तिधर्मवत्त्वम् । धर्मोऽतिशयश्चान्यूनानतिरिक्तवृत्तित्वरूपो बोध्यः । अत एव लार्त्ततिस्यत्र न चकारः । तस्य दन्तोष्ठस्थानजन्यत्वेन लृकारे न्यून-धर्मवत्त्वेनानुयोगिताया अभावात् किन्तु लृकार एव । एवञ्च क्षास्यव्यवहितपूर्वस्य पदा-दय इत्यर्थकं "पहन्" इति सूत्रेण पदादिप्रतियोगिकधर्मानुयोगिनः पूर्वस्यादेशविधानेन पाद-न्तादायैव सादृश्यानुयोगितायाः सत्त्वेन त एव स्थानित्येन आक्षिप्ताः नतु चरणादयः । एवञ्चादेशः स्वविशिष्टनिष्ठस्थानितानिरूपकः आदेशत्वादित्यनुमानेन फलितम् । वै० स्ववृ-त्तिसादृश्यवन्निष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकानुपूर्वीमस्त्वगम्यन्धेन । तथाच-पकारादिपठितपुस्त-विशिष्टचरणादियोधकत्वरूपसादृश्यवान् पादशब्दस्तन्निष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकानुपूर्वीप-दशब्दस्यैवसम्बन्धेन पच्छब्दविशिष्टः पादशब्दः । एव नतु चरणादिस्तत्र पकारादेरभावात् । नापि पच्छब्दस्तस्य भेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वाभावात् । एतदेवाभिप्रेत्याह-मूले-तत्स-मानार्थतत्त्वमानवर्णिति* ।

नन्वेवं सुष्ठुपास्य इत्यादौ यण न स्यात् यण्वृत्तिसादृश्यवन्निष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छे-दधर्मस्येकारादावभावात् । मूत्रन्तु सादृश्यानुजन्यत्वममानाधिकरणमात्राद्वयन्यूनकालिक-स्वरूपधर्मं सादृश्यगति ह्रस्वोकारं चरितार्थमतः प्रथमान्तराद्य एव युक्तः । एवञ्च "पहन्" इति मूत्रे नादेशविराजकं किन्तु प्रयोगनिवमार्थमत आह—*तृज्वत्प्रोष्ठुरिति* । आदेशः स्ववि-शिष्टधर्मप्रयोगमतादृश्यप्रतियोगिनिष्ठस्थानितानिरूपकः आदेशत्वात् । वै० 'स्वनिष्ठवत् स्वत-गनिष्ठत्वोभयमसम्बन्धेन । इति प्रथमान्तोऽनुमानम् । केचित्तु ससम्बन्धे आदेशविशिष्टधर्म-पति स्थानिनि आदेशो भवति । 'धर्मं वै० स्ववृत्तित्वं स्वघटितदलभिरदलीयवृत्तित्वं स्वघ-टितदलभिरदलीयवृत्तित्वानित्येनाभिमतेस्थानांतरस्यान्यवृत्तित्वैतस्मिन्नतयसम्बन्धेन । याव-रित्यत्र पकारविशिष्टमादमहाप्राणप्रत्ययवत्त्वं सकारविशिष्टमहाप्राणप्रत्ययधर्मस्यापि हका-रत्वात् पकारापसिद्धिर्वाता इत्यतः ससम्बन्धेनादौ युक्तः । किन्तु प्रथमान्तपक्षयुक्तः । तत्र स्ववृ-त्तित्वं स्वस्यानिकादसावृत्तित्वं स्वस्यानिकादसावृत्तित्वेनाभिमतेतरयाददेशावृत्तित्वैतस्मिन्-यमसम्बन्धेन स्थानिनिविशिष्टधर्मवानादेशो भवतीत्यर्थः । इत्यस्य दोषस्य चेकारस्य स्थ-ताद्युपयोगजन्यस्वरूपधर्मविशिष्टवकारादिरूपादेशातिदिः । यावत्परित्यादौ नादमहाप्राण-प्रत्ययप्रत्ययधर्मतो 'यकारादेरेव विदिरिति न वापि दोषः । *तृज्वदिति* । नन्वत्र स्थान्या-देशमात्रविरादिमुदाहरणमयुक्तमिति चेन्न । रूपादिदेशस्य स्थान्यादेशमात्रे विधान-तोऽतिरिक्तमनुपपत्त्येऽपि प्रवृत्तिरतिदेशात्पृथगं तृज्वत्तावमिदत्वेन तृज्वदित्यस्य भाव्यन्तरेण प्रोष्ठशब्दस्य स्थाने तृज्वदित आदेशो अयतोऽप्यर्थोऽप्यानुपपत्तिविराजः । यदि तु परित्यादिदिमपि प्रयोगाभियमार्थे तदा "हको यणवि" इत्युदाहरणम् । तत्रानुमानिक-

स्पष्टैरा ॥ १३ ॥

ननु प्रोढवानित्यत्र “प्रादुहोढ” (६-१-८९३-या०) इति । वृद्धि
स्यादत आह—

अर्थवद्ग्रहणे नानर्थकस्य ॥ १४ ॥

विशिष्टरूपोपादाने उपस्थितार्थस्य शब्दमप्रति विशेषतया न्वयसम्भवे
भैरवी

व्यञ्जनयोरित्यादिना प्रदर्शिता ॥ १३ ॥

अर्पयितान्तरतम्यस्य प्रतिपादनात् तत्प्रसङ्गेनार्थवद्परिभाषाप्युपधिता तां यस्तुमुप-
मते—*नन्विति* । परिभाषायां मानमाह—*विशिष्टेति* । अर्पयोधस्तायच्छेदकानुपूर्वा
वित्तिष्टेत्यर्थः । *विशेषणनयेति* । वाचकतासम्बन्धेनोपस्थिततदर्थविशिष्टस्योपात्तशब्दस्य
तत्र तत्र ग्रहणमिति भावः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

स्यान्यादेशभावकल्पे दधीत्यादौ गद्यदितस्य स्थाने कदाचिन्मध्यित्यादियण्यदितोऽपि प्रस-
ज्येतेत्यर्थत आन्तर्याम्येत्येवादेशो भवतीति वदन्ति ॥ १३ ॥

प्रतिपादनादिति । यदागमपरिभाषाव्याख्यानकाले अर्थवद्ग्रहणस्य घुसतेत्यर्थस्योप-
क्रमाच्चेति शेषः । *तत्प्रसङ्गेनेति* । सप्रसङ्गसङ्गत्येति शेषः । मूले—*अर्थवद्ग्रहणइति* ।
सम्भवत्यर्थग्रहणे नानर्थकस्य ग्रहणमित्यर्थः । *आनुपूर्वीविशिष्टेत्यर्थ इति* । साक्षादानुपूर्व-
वच्छिन्नमुख्यविशेष्यताप्रयोजकस्वरूपेत्यर्थः । नच तत्प्रत्ययोप्यशब्दबोधोधीयविशेष्यतानिरु-
पितप्रकारताऽसमानाधिकरणविशेष्यताया मुख्यविशेष्यताशब्देन बोधनेन जराशब्दादौ तद-
भावेन परिभाषायाऽप्रवृत्त्याऽत्रातीत्यर्थकाजराशब्दादावपि जरादेशापत्तिः । नचात्रसाक्षा-
न्मुख्येति निनेगे मानाभावः, अर्थवत्स्यस्थार्थग्रहणस्यैव मानत्वात् । अन्यथाऽधातुपदस्य
परम्परयाऽऽनुपूर्ववच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्वेन परिभाषयैव निर्वहेत्तद्वैयर्थ्यरूपमेव । अत एव
यच्छतीति सिध्यति । अन्यथा परिभाषाप्रवृत्त्या “छेद्य” इति तुकोऽप्रवृत्तिः स्यादिति वाच्यम्
आनुपूर्व्यां साक्षादवच्छिन्ना प्रायमिच्छोपस्थिताया वा मुख्यविशेष्यता तत्प्रयोज्यत्वस्य ग्रह-
णेनादोषात् । लक्षणाप्रहातप्रक् तथ्यात्वस्य मुख्यत्वात् । *तत्प्रग्रहणमिति भावः इति* । अय-
माशयः—पदस्य शब्दे अर्थं बोधयन्न शक्तिः, “घटमानय” “घटमुच्चारय” इत्युभयत्र प्रयोग-
दर्शनात् । उभयोरपस्थितार्थकाशस्य त्यागः काये, उत सयोः विशेषणविशेष्यभाव इति वि-
प्रतिपत्तौ, विशेषणतयाऽन्वयसम्भवे त्यागस्य निर्मूलत्वाद्विशेषणतयैवा (१) न्वयः । तथाच क-
चिदर्थप्रकारको बोधः अधिष्ठ शब्दप्रकारकः । अत्र शास्त्रेऽर्थं कार्यस्य बाधाच्छब्द एव विशेष्यः,
अर्थस्तु प्रकार इत्येतन्मूलेषा परिभाषा सिद्धेति भावः ।

(१) विशेषणतयैव अन्वय इति । ननु अर्थस्य शब्दमप्रति वाचकतासम्ब-
न्धेन विशेषणत्वाङ्गीकारे प्रोढवन्तित्यादौ वृद्धिर्दुर्वारा वाचकतायच्छेदकानुपूर्वसित्वे वाचकता-
प्राप्तीति वक्तुमशक्यत्वेन तेन सम्बन्धेन वहनकर्म्मभूतवाचकोऽशब्दसत्त्वात् । नच ए-
विषयकबोधजनकतासम्बन्धेन शब्दे अर्थविशेषणत्वाङ्गीकारेण न दोष इति वाच्यम् ?
जनकतायास्वरूपयोग्यतारूपाया ग्रहणे प्रोढवानित्यत्र वृद्धिर्दुर्वारत्वात् । फलोपधायकनारूपाया
ग्रहणे तु यत्र प्रोढपदादुद्बुद्धस्तकाराद्यभावेन शब्दबोधाभावस्तत्र वृद्धयभावप्रसङ्गादिति
चेन्मैवम् । स्वविषयकबोधतापर्येणोच्चारितत्वसम्बन्धेन शब्दमप्रत्यर्थस्य विशेषणत्वस्वीकारे-
णादोषादित्यन्यत्र विस्तरः ।

स्याने मानाभात्रोऽस्या मूलम् । अत्रार्थः कल्पितान्वयव्यतिरेककल्पितः, शा-
स्त्रीयोऽपि गृह्यत इति "संख्यायाः" (५-१-२२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।
इयं वर्णप्रहणेषु नेति "लस्य" (३-४-७७) इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् । अतः
एवैवा विशिष्टरूपोपादानविषयेति वृद्धाः । एतन्मूलकमेव "येन विधिः"
(१-१-७२) इत्यत्र भाष्ये पठ्यते—"अलैवानार्थकेन तदन्तविधिः" इति ।

भैरवी ।

ननु लौकिकार्थवत्त्वं वाक्यस्यैव नतूदादिशब्दानामिति कथमूढवच्छब्देऽतिप्रसङ्ग-
वारणमत आह—*अत्रार्थ इति* । *कल्पित इति* । कल्पितौ भावव्यव्यतिरेकौ
ताभ्यां कल्पित इत्यर्थः । कल्पितेत्यस्य शास्त्रवासनया कल्पित इत्यर्थः । शास्त्रीयोऽपीत्य-
पिना लौकिकस्य संहः । यदुक्तं विशिष्टरूपोपादानविषयेति तस्य फलमाह—*इयमि-
ति* । तेनोपेन्द्र इत्यत्र "आद्यगुण" इत्यस्य प्रवृत्तिमिदिः । अन्यथोपादेहागच्छेत्यावावेव
रूपादिति भावः । *लस्येत्यत्र भाष्य इति* । तत्र हि लादेशे सर्वप्रसङ्गोऽविरोधादित्यनेन छुता-
सीत्यादाबुद्धावितस्य अतिप्रसङ्गस्यानया परिहारे कृत्वा अनेन प्रकारेण खण्डने कृतम् ।
अतः *एव* । वर्णप्रहणेऽप्रवृत्तेरेव । उक्तार्थेऽन्यदपि प्रमाणमाह—*एतन्मूलकेति* । वर्णप्रह-
तत्त्वप्रकाशिका ।

नन्वर्थे शब्दे च शक्तिरेका उत भिन्ना, नाथः कचिदर्थस्य कचिच्छब्दस्येति नियमाप्रस-
क्तः, यत्प्रकारेण यद्विशेष्यकं शक्तिज्ञानं तत्प्रकारकतद्विशेष्यकयोधस्य नियमेन पुनरुक्तोपा-
पातात् । नाप्यन्त्यः एकशक्तिनिरूपकार्थविषयकशाब्दबुद्धित्वावच्छिन्नं प्रति अपरशक्तिनिरू-
पकार्थविषयकतात्पर्यज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वादुभयार्थविषयकबोधोपासकैरिति चेत् । उभयार्थे
एका खण्डशः शक्तिरिति स्वीकारात् । तथाच धातुस्थल इवेहापि बोध इति भावः ।

तत्र क खण्डशः क भिन्ना कच विशिष्टा शक्तिरिति चेत्, यत्र बोधः भिन्ना, तन्निरूपिता वि-
षयता च भिन्ना तत्र भिन्ना शक्तिः । यथा ह्यर्थादिपदे । यत्र नानाधर्मावच्छिन्ना विषयता ए-
का तत्र विशिष्टा । गोशब्दे यथा । यत्र प्रत्येकधर्मावच्छिन्ना विषयता नाना बोधश्चैकस्तत्र ख-
ण्डशः शक्तिः ।

केचित्तु अर्थविशिष्टे शब्दे शक्तिः, अर्थस्य लक्षणया बोधः । अपरेऽर्थे शक्तिः शब्दे लक्षणा
इति वदन्ति । उभयमपि लक्षणाफलनेन गौरवप्रस्तमिति बोध्यम् ।

ननु यान्यप्युपेक्षादीनामन्ते विशिष्टे एव शक्तिरिति विशिष्टस्यैवार्थवाचकत्ववाच्यवत्ये-
ति प्रौढमप्येति विशिष्ट एवार्थयोधकः न केवलम् उक्तशब्द उदवच्छब्दो वेत्यत आह—*लौ-
किकार्थव्यतिरेकः* । *शास्त्रागमनया कल्पितेति* । शब्दानां नित्यत्वेऽपि यथा शास्त्रप्रक्रि-
यानिराहाय "इको यणचि" इत्यादाविकोऽचि परे यन् इत्यर्थस्तथेहापि प्रौढमप्येति प्रौढमान-
देत्यादावपादापोऽप्यर्था कल्पितो योऽर्थः प्रसङ्गस्य प्रवृत्त्यर्थवाचकत्वमूढशब्दस्य पहनकर्म-
रमथमेतन्मादाय शास्त्रप्रवृत्तिरिति भावः ।

ननु यत्रान्यव्यतिरेकेणापि अर्थज्ञानेन भवति, यथाऽत्यन्तस्वार्थिकेकादी, तत्र कथं प्र-
तिः स्यादत आह—*शास्त्रीयोऽपीति* । प्रत्यय इति संज्ञाकरणेन शास्त्रप्रामाण्यादगत्या लो-
ऽपि गृह्यत इति भावः । *विशिष्टरूपोपादाने उपेति* । आनुपूर्वीमनोधेयकरोपादान इत्यर्थः ।
अन्यानुपूर्वीमतो वाच्यम् इति पठ्यतत्पुरः, उत कमेधारयः आनुपूर्वीमांशतो योधक
इति, नाथः "एकारणे बन्तो भू" इति श्रुते एकाध्यद्वयानुपूर्वीमांशदुहादिशाब्दानां योधकत्वेन
तत्प्रत्ययेन्याः प्रवृत्तौ गर्भमादौ दमोऽनर्थक्यात्प्रमावो न स्यात्, नाप्यन्त्यः "वृद्धिर्व्य" इति
श्रुते वृद्धिर्द्वयानुपूर्वीमत्वाद्वातादेर्बोधकरवाच्य तत्रैतत्प्रवृत्तौ दालोयादौ वृद्धेकारस्यान-

किञ्च "स्वं रूपम्" (१-२-६८) इति शास्त्रे स्वशब्देनात्मीयवाचि-
नार्थो गृह्यते रूपशब्देन स्वरूपम् । एवं च तदुभयं शब्दस्य संज्ञीति तदर्थः ।
तत्रार्थो न विशेष्यस्तत्र शास्त्रीयकार्यासम्भवात्, किन्तु शब्दविशेषणम् ।
एवं चार्थविशिष्टः शब्दः संज्ञीति फलितम् । तेनैव परिभाषा सिद्धेति
प्रसिद्धे रूपम् ॥ १४ ॥

नन्वेवमपि महद्भूतश्चन्द्रमा इत्यत्र "आन्महतः" (६-३-४६) इत्याद्या-
परतिरत आह—

गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसम्प्रत्ययः ॥ १५ ॥

गुणादागतो गौणः । यथा गोशब्दस्य जाड्यादिगुणनिमित्तोऽर्थो चाही-
भैरवी ।

प्रवृत्तिमूलकमेतत्पर्यः । यदि सर्वत्रेतस्याः प्रवृत्तिस्तदाऽहोऽनर्थकनेति विशेषणोपादाने
विफलमिति भावः । "तस्मादित्युत्तरस्य" इत्यादौ कृतपणादेशोऽपि वर्णग्रहणेऽस्या अप्रवृत्तौ-
साधकः ।

सूत्रकारमते परिभाषायां साधकान्तरमाह—*किञ्चेति* । *एवञ्च* । अर्थस्य विशेषणत्वे
व । *तदुभयम्* । शब्दार्थोभयम् । *तत्र* । उपस्थितयोस्तयोः । *शास्त्रीयेति* । शास्त्रबोध-
मित्यर्थः । यथा "अमेदंक्" इति उक्तदार्ढ्यादङ्गाराद्वि सम्भवति । अधिकमन्यप्रोक्तम् ॥१४॥
अर्थत आन्तर्द्वयस्य उक्तत्वाच्चद्वयकृतयार्थोपस्थितौ सत्प्रसङ्गेनाह—*नन्वेति* ।
एवम् । उपस्थितार्थविशिष्टशब्दस्य ग्रहणेनानर्थकवारणेऽपि । *महद्भूत इति* । अमहति
महत्त्वस्यारोपेणात्र महच्छब्दः प्रवर्तत इत्ययङ्गौणः, भूतशब्दः कर्तृकान्त इति सामाना-
धिक्यणम् ।

वाक्यार्थयोधे पदार्थबोधस्य कारणत्वात् तस्मिन्पदशक्तिज्ञानस्य कारणत्वात् तत्सौकर्या-
नाह—*गुणादागत इति* । "नत आगतः" इत्यत्र गुणो द्वात्रारोपिते प्रवृत्तिनिमित्ते तस्मादा-
गतस्तज्ज्ञानजन्यशब्दबोधविशेष्यः । एवञ्च गौणतजाड्यादिगुणासहस्रजाड्यादिगुणज्ञानहेतु-
तत्त्वप्रकाशिका ।

यत्तत्त्वेन वृद्धसेलानापत्तेः । सूत्रान्तु अशब्दाद्यापि तस्य पदान्तरेण समाप्ते विशिष्टस्य वृद्धसंज्ञ-
या चरितार्थम् । इति चेन्न, अनुपूर्व्यवच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्वस्य विशिष्टरूपत्वेन प्रकृते पृ-
काचपदस्यैकविशिष्टाच्छ्रितित्वावच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्वेन तत्त्वाभावात् ।

नन्वेवमपि सङ्केतसम्यग्ज्ञेय वृद्धिपदत्वावच्छिन्ने वृद्धिपदस्य शक्तेः स्वीकारेण वृद्धिपदत्वस्य
व जात्यखण्डोपाधिजन्यतिरिक्तस्य सप्रकारत्वेनैव भानमिति नियमाद् वृद्धिपदत्वेनैवावच्छेद-
कत्वं तच्चानुपूर्वीरूपमिति वृद्धिपदे तत्त्वसम्भवात्पुनस्तथैव दोष इति चेन्न । आनुपूर्व्यां साक्षा-
दवच्छिन्नायाः विषयतायाः ग्रहणेन प्रकृते परम्परयावच्छेदकत्वात् । ननु "गोतो गिरि" इत्या-
देः "सहृदु चरितः शब्दः सहृदये गमयति" इति न्यायेनैकार्थोपस्थापकगोशब्दे प्रवृत्तिर्न स्यात्-
भूमावृत्तौ च गौरवमत आह—*किञ्चेति* । एवञ्च सूत्रसिद्धेरेवा ॥ १४ ॥

सत्प्रसङ्गेनेति । सप्रसङ्गसङ्गत्येति भावः । अर्थवत्परिभाषावृत्त्यर्थः गौणः मुख्यो वा गृ-
ह्यत इत्याशङ्क्यां तदुपपादकत्वयोपोद्घातसङ्गत्याऽऽह—*नन्वेति* । इत्यपि कश्चिन् । गौणत्वं
चात्र स्वशक्त्यर्थनिष्ठगुणसंज्ञासंज्ञासंज्ञाप्रयोज्यारोपविषयोभूतत्वम् । गौर्वाहोक् इत्यत्र ब-
न्धोवदौदिरुपायस्य वाहीकेऽन्वयतात्पर्यानुपपत्तौ गोत्वस्य साधारणधर्माध्यत्वेन वाहीके आ-
रोपो भवति । एवञ्चारोपितगोत्ववान् वाहीके इति बोधो भवति तदेतदाह—*तत आ-
गतः" इत्यादि* । गुणसत्त्वा वास्तविकी, आरोपिता तत्रारोपिता । संज्ञादावित्याह—

कः । अप्रसिद्धश्च संज्ञादिरपि तद्गुणारोपादेव बुध्यते । मुख्यमिव प्रधान-
त्वान्मुख्यः प्रथम इत्यर्थः । गौणे ह्यर्थे शब्दः प्रयुज्यमानो मुख्यार्थारोपेण प्र-
वर्तते । एवं चाप्रसिद्धत्वं गौणलक्षणिकत्वं चात्र गौणत्वम् । तेन प्रियव-
याणामित्यादौ त्रयादेशो भवत्येव । तत्र त्रिशब्दार्थस्येतरविशेषणत्वेऽप्यु-
क्तरूपगौणत्वाभावात् ।

किञ्चायं न्यायो न प्रातिपदिककार्ये, किन्तूपात्तं विशिष्यार्थोपस्थाप-
यैत्वी ।

कारोपविषयगतत्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तजन्यशब्दबोधविशेष्य इति फलितम् । *अप्रसिद्धश्चेति* ।
पुतेनाभिव्यक्त(१) पदार्थ इति न्यायसंग्रहः । *संज्ञादिरित्यस्य*—सहा आदिः प्रथमो यस्येत्य-
र्थः । बोध्यबोधकभावरूपपञ्चार्थे बहुधां हिः । *तद्गुणारोपात्* । प्रसिद्धार्थसम्बन्धिगुणारोप-
इतुकत्वं आरोपात् । *संज्ञादिरपि* । इत्यपिना अनुकरणशब्दसंग्रहः । अत एव “युष्मदुपपद”
इत्यादौ “त्वमायेकवचन” इत्यादि न भवति । तद्गुणेत्यत्र तच्छब्दो यदीयगुणारोपस्तद्वा-
चकतादस्य बोधकस्तद्वाच्यसम्बन्धित्वार्थकपण्ड्यन्तेन समासः । तथाच यः शब्दः संज्ञा-
त्वेन विनियुज्यते तस्य शब्दार्थस्य यो वाक्यो लोके प्रसिद्धार्थस्तद्गुणारोप-
स्य प्रकृतं अपि निमित्तत्वेन गुणादागत इत्यवयवार्थसद्भावां ध्वनितः । मुख्यमित्यनेन यत्
सादृश्यमुक्तं तत्र हेतुमाह—*प्रधानत्वादिति* । प्रधानस्यैव वाच्यव्यतिरिक्तार्थानपेक्षप्रवृत्तिरु-
त्तरूपम् । *मुपय* । इत्यत्र शास्त्रादित्वावप्रत्ययः । परिभाषापठकनिष्कृष्टगौणत्वमाह—*प-
द्योति* । *तत्र* । एतादृशस्य गौणत्वस्याश्रयणेन । *उत्तरूपेति* । द्विवेधेत्यर्थः । परिभा-
षायामेतादृशस्यैव गौणपदार्थस्य प्रहणमित्यत्र मानन्तु सर्वादिषु “संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधो”
धार्तिककृता य उक्तः स एव, सामान्यतो गौणपदार्थस्य ग्रहणे परिभाषयैव, उपसर्जनव्यावृत्तौ
संज्ञोपसर्जनप्रतिषेधव्यतिरिक्तवैयर्थ्ये स्पष्टमेव । *गौणलक्षणिकत्वम्* । इत्यस्य गौणः सन् लक्ष-
णिक इत्यर्थः । तेन शुद्धलक्षणिकस्य व्यावृत्तिः, उक्तस्य गौणपदार्थस्य प्रहणादेवाप्तयो देव-
तास्याग्रेव इत्यत्र “अभिहितव्याम्” इति लिङ्गविशिष्टपरिभाषया ढक्त्वितिः । अत्र द्वितीयो
पुमशब्दस्य प्रवृत्तौ पुमस्यन्वयो निमित्तश्च नु तदीयगुणारोपः ।

सिद्धान्तरीत्यापि न तस्य प्रतिषेधस्य परिभाषया गतार्थेति सूचयितुं सिद्धान्तार्थमाह—
क्रियेति । *उपासमिति* । शब्दत उपात्तमित्यर्थः । *विशेष्येति* । विशेष्यमपेक्षार-
कोपस्थितिजनकमिति यावत् । *विशिष्टरूपम्* । इत्यस्य पूर्वोक्तं पदार्थः । अर्थवत्परिभाषामूल-
तत्त्वप्रकाशिका—

प्रसिद्धार्थसम्यग्धीति । *शुद्धलक्षणिकत्वेति* । सादृश्येतरसम्बन्धमूलकलक्षणिकत्वेत्य-
र्थः । तन्नामहामाक्षः इत्यप्रारोपितमहत्वस्य आनेऽपि सादृश्येतरसम्बन्धमूलकत्वादाव-
सिद्धिः । एतेन गुणप्रयोगलक्षणाविषयत्वमिति परिष्कृतं प्रयुक्तः । महत्त्वगुणप्रयो-
ज्याया एव लक्षणायास्तत्र सत्त्वात् । अत एव तत्र न गुणप्रयोग्येत्यपि तदुक्तिरप्यस्ती ।
अत एव ।

“भेदाशिमौ च सादृश्यात्सम्बन्धान्तरतस्तथा ।

गौणो शुद्धो च विज्ञेयो”

इत्युपया तात्पर्यम् । यथा अतश्च तथा इति शुद्धोदाहरणं यदन्त्यालङ्कारिकाः । अन्यथा
गुणप्रयोग्यारोपरिषेधकदापि गौणोपलक्षणा स्यात् । *शुद्धोक्तं पदेति* । साक्षादात्त-
-

(१) आभिव्यक्त्येति । अभिव्यक्त्युपायां ये स्वतन्त्रा भेदनिधुनाः ।

साध्यास्तेषु कर्तव्याः साधयेषु न तदुचितम् ॥

कं विशिष्टरूपं यत्र तादृशपदकार्यं एव । परिनिष्ठितस्य पदान्तरसम्बन्धे हि गौर्वाहिक इत्यादौ गौणत्वप्रतीतिर्न तु प्रातिपदिकसंस्कारवेलायामित्यन्तरङ्गत्वाज्जातसंस्कारवाधायोगः प्रातिपदिककार्ये प्रवृत्त्यभावे योजम् । श्वशुरसदृशस्यापत्यमित्यर्थके श्वाशुरिरित्यादौ “अत इमः” सिद्धये उपात्तमित्यादि । न च प्रातिपदिकपदं तादृशमिति वाच्यम् । तेन हि प्रातिपदिकपदचत्वेनोपस्थितिरिति तस्य विशिष्ट्यार्थोपस्थापकत्वाभावात् । निपातपदं तु चादित्वेनैव चादीनामुपस्थापकमिति तदुद्देश्यककार्यविधायके “ओत्” भैरवी ।

कत्वादस्या अपि विशिष्टरूपोपादानविषय एव प्रवृत्तिरिति भावः । *विशिष्ट्यार्थोपस्थापकत्वञ्च* । साक्षात्संज्ञाद्वारकपरम्परया वा विवक्षितम् । *विशिष्टरूपः* । इत्यस्य स्वस्वरूपातिरिक्ततत्त्वमावच्छिन्नशक्ततावच्छेदकं विलक्षणं रूपमित्यर्थः कलितः । संज्ञाद्वारकपरम्परानिर्देशात् “ओत्” सूत्रस्थेन गोभवदित्यग्रानया प्रगुणसंज्ञाव्यावृत्तिपरभाष्येण न विरोधः । निपातेत्यानुपूर्व्यास्तथात्वात् । प्रातिपदिकमितिपदन्तु स्वस्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तकमिति श्वाशुरिरित्यत्र “अत इन्” सिद्धे राजश्वशुराद्यत्र न भवति तस्य तथात्वात् । यदुक्तं प्रातिपदिककार्येऽयं न्यायो नेति तद्विज्ञानाह—*परिनिष्ठितत्वेत्यादिना* । स्वायं परिपूर्णम् अर्थान्तरमाकाङ्क्षत इति न्यायात् । हेः यत इत्यर्थः । *प्रातिपदिकसंस्कारेति* । सुप्तसिद्धान्तसाध्यसाधुत्वरूपसंस्कारकाल इत्यर्थः । *अन्तरङ्गत्वात्* । पूर्वकालप्राप्तत्वात् । उत्तरकालिकप्रतीतिविषयगौणत्वज्ञानप्रयोज्यप्रवृत्तिकद्विहिता गौणमुख्यन्यायादितिशेषः ।

नन्वस्य न्यायस्यार्थवदुपहणपरिभाषासाध्यत्वेन यत्र विशिष्टं रूपं पदकार्यं प्रयोजकन्तत्र प्रवृत्तिरित्यस्य अर्थाह्लाभेन पदकार्यं इत्येव सिद्धेऽधिकविशेषणोपादानमनर्थकमत आह—*श्वशुरेति* । *तादृशम्* । विशिष्ट्यार्थोपस्थापकम् । प्रातिपदिकेतिपदं स्वस्वरूपारिक्ततत्त्वमावच्छिन्नशक्ततावच्छेदकधर्मविशिष्टत्वेत्याशयेनाह—*तेन हीति* । “ओत्” सूत्रस्थभाष्यविरोधमुपपादयति—*निपातपदमिति* । *चादित्वेन* । इत्यस्य परम्परयेत्यादिः । एतेन संज्ञाशब्दानां स्वस्वरूपमेव प्रवृत्तिनिमित्तमिति नियमेऽपि न विरोध इति ध्वनितम् । एवञ्च “ओत्” इति सूत्रे यदत् इति तत्र विशिष्टं रूपं प्रातिपदिकादिति यद्यपि विशिष्टं रूपं तथापि नोक्तविशिष्ट्यार्थोपस्थापकमदन्तप्रातिपदिकादिति तु गोपात्तमिति भावः ।

यदि चोपात्तं विशिष्ट्यार्थोपस्थापकमित्यस्यैव स्वरूपातिरिक्ततत्त्वमावच्छिन्नशक्ततावच्छेदकं यत्रोपात्तन्तरेत्यर्थं आधीयते, तदा विशिष्टं रूपमिति स्वरूपकीर्त्तनमिति बोध्यम् । प्रातिपदिकपदाभिपातपदे चैलक्षण्यप्रयोजकं त्विदम्, प्रातिपदिकसंज्ञाप्रदर्शकसूत्रे संज्ञितावच्छेदकस्य तत्त्वमेत्यानुपादानम्, निपातसम्प्रदर्शकसूत्रे तु “चादयः” इत्यस्योपादानमिति । *गो-

तत्त्वप्रकाशिका ।

व्यवच्छिन्नविषयताप्रयोजकत्वरूप इत्यर्थः । *पदकार्यं एवेति* । पदकार्यत्वञ्च—पुत्रनिमित्तकत्वे सति स्त्रीत्वानिमित्तकत्वम् । “गोतो जित्” “त्रेख्यः” इत्यादीनां विभक्तिनिमित्तकत्वेन “जानपद” इत्यादीनां स्त्रीत्वनिमित्तकत्वेन पदकार्यत्वाभावात्त्रौण्डेऽपि प्रवृत्तिः ।

यत्तु पदोद्देश्यकत्वं तत्, तत्र तद्विधिविधानुपस्थिते, तेषां सुबन्तात्प्रवृत्तावपि तदनुद्देश्यकत्वात् । नापि पदसम्बन्धित्वं जित्वस्यापि तथात्वात् । त्वद्भूत इत्यादौ त्यागादेशानामप्येतेष्व । नापि प्रत्ययानिमित्तकत्वं “हरितादिभ्योऽमः” इत्यस्यापि तथात्वेन तत्रैतस्या प्रवृत्तौ गौणेऽपि तेभ्यः फगापत्तेः । *चादय इत्यस्योपादानमिति* ।

अयम्भावः—प्रातिपदिकसंज्ञाप्रदर्शकसूत्रे संज्ञितावच्छेदकस्य तत्त्वमेत्यानुपादानेन सह-

(१-१-१५) इत्यादावेतत्प्रवृत्त्या गोऽभवदित्यादौ दोषो न । अग्नीषोमौ मा-
णवकावित्यत्र प्रसिद्धदेवताद्वन्द्ववाक्यग्रीषोमपदस्य तत्सदृशपरत्वेऽन्तरङ्ग-
त्वादीत्वपत्वे भवत एव । सदृशलक्षणिकाग्निषोमपदयोर्द्वन्द्वे तन्नामकावित्य-
र्थके च नेत्वपत्वे । आद्ये गौणलाक्षणिकत्वादन्येऽप्रसिद्धत्वात् । अतएवाग्नि-
षोमौ माणवकावित्यत्र गौणमुख्यन्यायेन पत्ववारणपरं “अग्नेः स्तुतस्तोम-
सोमाः” (८-३-८२) इति सूत्रस्थं भाष्यं संगच्छते । गां पाठयेत्यादौ मुख्य-
गोपदार्थस्य पाठनकर्मत्वासम्भवेन विभक्त्युत्पत्तिवेलायां प्रयोक्तृभिर्गौणार्थ-
स्य प्रतीताद्यप्यपदस्याप्रयोगेण योक्तृभिः सर्वत्र पदस्यैव गौणार्थकत्वस्य
भैरवी ।

भवदिति* । अत्र गोशब्दोऽगवि गोगतगुणसंजातीयगुणज्ञानजन्यगोत्वारीपेण वर्ततेऽतएव
चित्रप्रत्ययः । यत्र तु योगोद्वरदापादिना मुख्यगोरूपताप्राप्तिस्तत्र चित्रप्रत्ययो नेप्यत इति
तात्पर्यम् । *दोषो नेति* । प्रयुक्तसंज्ञाप्रयोज्यप्रकृतिभावरूपो दोषो नेत्यर्थः । गौणमुख्य-
न्यायस्वीकारे लक्ष्यासिद्धिरूपं दोषं परिहरति—*अग्नीषोमाविति* । *प्रसिद्धदेवतावाची* ।
इत्यनेन गौणत्वज्ञानवदोषो ध्वनितः । *आद्ये* । सदृशलक्षणिकयोर्द्वन्द्वे । *अन्ये* । तन्ना-
मकयोर्द्वन्द्वे । उक्तार्थं भाष्यमुपलभ्यक्रममाह—*अत एवेति । उक्तानिप्रायकत्वादेवेत्यर्थः । उक्त-
न्यायस्याव्यापकत्वसङ्काचारणार्थायाह—*गाम्पाठयेत्यादाविति* । *प्रयोक्तृभिरित्यादि* । ए-
तेन प्रातिपदिकप्रकृतिकमुद्यन्तस्यैव गौणत्वग्रहो यद्यपि बोद्धस्तथापि न क्षतिरिति बोधितम् ।
ननु “औतोमृशसोः” इतिसूत्रे विशिष्टरूपोपादानाभावेन न विशिष्टार्थोपस्थापकत्वमिति
गोशब्दस्य गौणत्वेऽपि स्यादेवात्वमिति पदस्यैव गौणार्थकत्वमिति यद्गाम्पाठयेत्यस्य प्रयो-
गरूपोपपत्तये ध्युत्पाद्यते तत्किमर्थमिति चेन्न । अचिनवममुनवमित्यत्रात्यन्तप्रतीत्यादाद्वि-
शेष इति वक्तव्यमिति धातुवृत्तौ कन्तन्मत्तरीत्या निरुक्तविशिष्टार्थोपस्थापकरूपोपादान-
स्य सत्त्वादेव ध्युत्पादनस्यावश्यकत्वान् । यदि च शसा साहचर्यादिह सुपेवामृष्टते तेन नो-
पदेशोप इति यथाश्रुतं सूत्रमेवास्त्विति विभाव्यते तदा पदकार्त्वेऽप्ययन्वायो न प्रातिपदि-
तत्वप्रकाशिका ।

तमन्यन्येन प्रातिपदिकपदवति प्रातिपदिकपदस्य शक्तेः स्वीकारेण, अस्य ॥ न्यायस्य साक्षा-
दानुपूर्व्यवच्छिन्नमुत्पन्नविशेष्यताप्रयोजकरूपदे पृथ प्रवृत्त्या प्रातिपदिकपदे तथात्वाभावेन परिभा-
षा न प्रयतते । या प्रातिपदिकपदवच्छिन्नमुख्यविशेष्यता तस्या अनुपूर्व्याः साक्षाद्वच्छिन्न-
त्वाभावात् । या ॥ साक्षाद्वच्छिन्ना प्रातिपदिकपदवृत्तरूपानुपूर्वी, तस्या तद्वच्छिन्नविशेष्यतानि-
रूपितप्रकारतामामानाधिकरण्येन मुत्पन्नविशेष्यत्वाभावात् । निपातपदविधायकसूत्रे “धाद-
यः” इत्यम्यानुवृत्तेः शेषितार्थच्छेदस्य तत्पदसंस्कारोपादानेन निपातपदवत्त्वोपलक्षितत्वाद्यन्य-
तमरथावच्छिन्ने शक्तेः स्वीकारेण चादित्वरूपानुपूर्व्यां साक्षाद्वच्छिन्नप्रायास्तत्प्रयोज्यमुत्पन्नवि-
शेष्यतायाः सत्त्वाप्रसंगस्य भाष्यविरोधः ।

इत्युक्तम् । अथ गौणार्थभाष्येऽपि कदेऽनुवृत्तिः, “अन्यन्तस्य प्रतिपेपो वक्तव्यः” इति धर्तिक-
मारम्भगीषमेव । आदौ चित्रप्रत्ययमित्यस्य पाठेन अन्यन्तस्यानुपूर्व्यवच्छिन्नत्वाभावात्, प्र-
कृत्याशङ्कोऽन्यन्तमात्रस्य चित्रविधानेन तस्य गौणमुख्यार्थयोस्सम्भवाच्च । तदाह—*यत्र तु
योगोद्वरदापादिनेति* ।

ननु पदस्य मुख्यन्येनाभ्यासादेऽपि मूल्येन प्रयोक्तृगौणार्थवपदे यथासास्त्रमन आह-
दोवृत्तिरिति । तदा धोनुः गौणार्थकत्वग्रहणसम्भवादेव गौणमुख्यन्यायप्रवृत्तिरिति यव-

ग्रहेणात्वं त्वं सम्पद्यते श्रमहान् महान्भूतस्त्वद्भवतीत्यादिभाष्यप्रयोगे त्वा-
द्यादेशदीर्घादिनां करणेन चास्य न्यायस्य पदकार्थविषयत्वमेवोचितम् ।
अन्यथा चाक्यसंस्कारपक्षे तेषु तदनापत्तिः ।

किञ्च शुक्लामियुक्त कर्मनिर्दिष्टं, कर्तृक्रिये चानिर्दिष्टे इत्याद्युक्त्वा इहे-
दानो गामभ्याज कृष्णां देवदत्तेत्यादौ सर्वं निर्दिष्टं गामेव कर्म देवदत्त एव
कर्त्ता अभ्याजैव क्रियेत्यर्थकोनार्थवत्सूत्रस्यभाष्येण कारकादिमात्रप्रयोगे
योग्यसर्वक्रियाध्याहारे प्रसक्ते नियमार्थः क्रियावाचकादिप्रयोगः इत्येतत्ता-
त्पर्यकेण सामान्यतः क्रियाजन्यफलाश्रयत्वमात्रप्रविधत्तायां द्वितीयादीनां सा-
धुत्वान्याख्यानमित्यर्थलाभेन पाठनक्रियान्वयकाले पदस्यैव गौणार्थत्वप्रती-
तिः प्रयोक्तुरपि । एवमेतन्मूलकः “अभिव्यक्तपदार्था ये” इति श्लोकोऽपि
पदकार्थविषयकः । ध्यनितं चेदं सर्वादीनि” (१-१-२७) इति सूत्रे संज्ञाभू-
भैरवी ।

कार्थं इति नियमस्यात्र व्यभिचार इति कस्यचित् कथनं यत्तत्र युक्तमिति सूचयितुमेव व्यु-
त्पादनमिति बोध्यम् । योद्धः पदस्यैव गौणार्थकत्वग्रह इति निश्चये भाष्यमप्युपपन्नमस्मा-
द्—*अश्वन्तमित्यादिना* । आदिना यद्भवतीत्यस्य परिग्रहः । *अन्यथा* । पदकार्थवि-
षयकत्वमेवेति नियमाभावे । *तेषु* । गाम्पाठयेत्यादिषु । *तदनापत्तिः* । आत्वाचनापत्तिः ।
इदं प्रयोक्तृणान्तर्गतागौणार्थकत्वप्रतीतिमभ्युपेत्य ।

वस्तुतः सापि नेत्याशयेनाह—*किञ्चेति* । इत्यादीत्यत्रादिना देवदत्त इत्युक्ते कर्त्ता
निर्दिष्टः कर्मक्रिये अनिर्दिष्ट अभ्याजेत्युक्ते क्रिया निर्दिष्टा कर्तृकर्मणी अनिर्दिष्ट इत्यस्य परिग्र-
हः । *गामेव कर्म* । गामिति शब्दावाच्यमेव कर्म एवमप्येऽपि बोध्यम् । *सामान्यतः* ।
क्रियात्वरूपसामान्यप्रमणं । *मात्रशब्देनाविशेषधर्मव्यावृत्तिः* । *साधुत्वेति* । अस्य कर्मणि
द्वितीयेत्यादिसूत्रेणेत्यादिः । विशेषक्रियान्वये आह—*पाठनेति* । *गौणार्थत्वप्रतीतिरिति* ।
न ॥ “कर्मणि च” इतिसमासनिषेधोऽत्र स्यादिति वाच्यम् ? “शेषे विभाषा” इति विकल्प-
विधानेन “उभयप्राप्ता” इति नियमाप्रवृत्तिपक्षेऽत्र समासस्थासत्त्वात् एतावता प्रबन्धेन गौण-
मुपपन्नापस्य पदकार्थविषयत्वमेवेति व्यवस्थाप्याभिप्रेक्षकैस्त्रिन्यायान्तरान्तस्य प्रातिपदिक-
कार्थ्येऽपि प्रवृत्तिरिति केपाश्रित्यतन्तत्र युक्तमित्याह—*एवमिति* । *एवम्* । उक्तन्या-
ययत् श्लोकोऽपीत्यत्र श्लोकपदोपादानेन तस्य कल्पितत्वं सूचितम् । उक्तन्यायस्य पदकार्थ-
विषयत्वमेवेत्यत्र भानान्तरमप्याह—*ध्वनितमिति* । ध्वनितमपीत्यर्थः । यदि प्रातिपदिकका-
र्येऽपि न्यायस्य प्रवृत्तिः स्यात्तदा न्यायेनैव सिद्धे उक्तत्रितयासङ्गतिः स्यात् ।

यत्तु प्रातिपदिककार्थ्ययुक्तन्यायाप्रवृत्तिस्वीकारे, युष्मदस्मदोः स्वरूपमात्राश्रयकार्थ्यांगा-
मुपसर्जनतायामिव संज्ञायामपि प्रवृत्त्यापत्तिरेवम् “त्रेह्वयः” इत्यादेरपि तथेति तत्र “प्रत्ययो-
त्तरपदयोश्च” इतिसूत्रभाष्ये त्रिचतुर्भुजैरुस्मदग्रहणेष्वर्थग्रहणे शब्दविशेषणमिति वार्तिकव्या-
ख्यानावसरे उपस्थितार्थविशिष्टस्यैव प्रियतिसा अतित्वमित्याद्युदाहरणवटकतया प्रदर्शनेन
तत्त्वप्रकाशिका ।

नेन प्रयोक्तुः पूर्वं गौणार्थकत्वग्रहेऽपि योद्धुस्तथाभावाच्च दोष इति भावः ।

नन्वेव कल्पने किं बाञ्जमित्याह—*योद्धुः पदस्यैव गौणार्थकत्वग्रह इति* । अत्र केचिदि-
यं परिभाषा प्रत्याख्यानकल्पे नोपयुज्यते तत्कल्पे महत्पदेन महत्त्वसमवायिन उपस्थितौ श-
ब्दात्ता सैवार्थपदेन ग्रहीतुमुचितोऽन्यथा घटमानयेत्युक्तौ न्वसमानकालीनपदत्ववत्येन घटत्व-

तानां प्रतिषेधमारभता वार्तिककृता “पूर्वपर” इति (१-१-३४) सूत्रेऽसंज्ञ-
यामिति-वदता सूत्रकृताऽन्वर्थसंज्ञया तत्प्रत्याख्यानं कुर्वता भाष्यकृता च
अर्थाश्रय पददेवं भवति शब्दाश्रये च वृद्ध्यात्वे इति ओत्सूत्रस्थभाष्यस्य
आधिकार्यवत्त्वयोग्यपदाश्रय एव न्यायस्तद्रहितशब्दाश्रये च ते इत्यर्थः ।
“गोतः” (७-१-६०) इति यथाश्रुतसूत्रे विशिष्टरूपोपादानसत्त्वेनोक्तरीत्यैव
तस्य भाष्यस्य व्याख्येयत्वादित्यलम् ॥ १५ ॥

अर्थवद्ग्रहणेन (पा० १४) इत्यस्यापवादमाह—

अग्निस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च

तदन्ताविधिं प्रयोजयान्ति ॥ १६ ॥

भैरवी ।

साहचर्यविशिष्टानामेव उद्देश्यत्वकल्पनात् । यच्च प्रातिपदिकार्थं गौणमुख्यन्यायाप्रवृत्तौ
सर्वनामसंज्ञासूत्रीपक्षे संज्ञाशब्दव्यावृत्त्यर्थमभिव्यक्तेति न्यायमूलकं प्रसिद्धेतिरित्युक्तं त-
द्विरोध इति तत्र । सर्वनामेत्यन्वर्थसंज्ञाबलेनैवाभिव्यक्तेति न्यायमूलकं यत्प्रसिद्धार्थकत्वम-
न्यत्र दृष्टं तस्य लाभ इत्यर्थो न तु परिभाषामूलमित्यर्थोऽभिप्रेतः । अभिव्यक्तेति न्यायमु-
क्तमित्यत्रोद्गुप्तमित्यत्रेव समास इत्यविरोधात् ।

मन्वस्य न्यायस्य पदकार्थं एव चेत् प्रवृत्तिस्तदा गोभवदित्यत्रानेन न्यायेन प्रगृह्यसंज्ञा-
धारणपरभाष्यविरोधः प्रगृह्यसंज्ञायाः पदकार्थत्वाभावादिति चेन्न । निर्पातस्य तत्रोद्देश्य-
त्वात् तस्य पदत्वमन्वत्वात् नहि पदत्वेन यत्रोद्देश्यता तत्रेति निवेशोऽस्ति ।

ननु तथापि गौणमुख्यन्यायप्रदर्शनेत्तरङ्गावाहीकः साम्प्रत्येत्यत्र गौणमुख्यन्यायेन वृ-
द्ध्यात्वे न प्राप्तु इति साहचर्या अर्थाश्रये पददेवम्भवतीत्यादिना प्रकारान्तरेण वारणइत्यत्र तु
पदकार्थत्वाभावेन वृद्ध्यात्वविषये गौणमुख्यन्यायाप्रवृत्तिप्रदर्शनेन इत्येता कल्पना भाष्यज्ञा-
नमिप्रेतत्वात् आह—*अर्थाश्रयेति* । वास्तविकमर्थवत्त्वं वाक्यस्यैव न तु पदस्येत्याशयेनेह
योग्यतानिर्देशः । *तद्रहितेति* । सामानाधिकरण्यसम्बन्धेन औक्तिकार्थवत्त्वविशिष्टपदत्व-
हितेत्यर्थः ।

ननु तस्य भाष्यस्यार्थरहितवर्गमात्राश्रये इति योग्यार्थो ऋतिरिति प्रतीयते स एव कुतो
नेत्यत आह—*गोत इतीति* । *यथाश्रुतेति* । गकारविवक्षायासत्त्वान् ।

एतत् प्रातिपदिकार्थं युष्मदाद्यादेः त्रयादेशे च कर्तव्येऽभिव्यक्तेति न्यायस्य संज्ञाव्या-
वृत्तयेऽवश्यमाश्रयणाभाभिव्यक्तेति न्यायस्य गौणमुख्यन्यायेन गतायेतेति तत्र । गौणमुख्य-
न्यायापादस्य, पृथक्त्वकल्पने न्यायान्तराश्रयणस्य गौरवपराहृतत्वात् युष्मदादेशविषये दो-
षाभाष्यस्य पूर्वमुपपादितत्वात् ॥ १६ ॥

तत्त्वप्रकाशिका ।

न्यायि पदे मन्वात् समानयित्वा कृती स्यात् । तथाच-समन्वायेन महत्त्वविशिष्ट इत्याद्यर्थं
महत्त्वं इत्यादी नास्य प्रवृत्तिः, समन्वायेन महत्त्वस्य तत्रात्मत्वात् । नत्रा महत्त्वमन्वाय-
भाषेपेविने शरपते । साक्ष्यतावच्छेदके लक्षणास्वीकारेण महत्त्वस्य साक्ष्यतावच्छेदकत्वेऽपि
समन्वायस्य तदभावात् । आरम्भाश्रये एव पृथार्थो यन्मृतात्पर्यविशेषः स एवात्मोपपदेन
गृह्यत इति आरम्भोपाश्रयाच्छब्दमहत्त्वं इत्यत्राप्यश्रयमित्यस्ति परिभाषोपयोगः । अत
एव द्वितीयाद्युपपादप्रसम्भवात् एवास्यां उद्देशः कृत इत्यादूस्तन्मन्वद्, अनपार्थि दाफो-
पस्थितायो दादः । प्रायमिदोऽस्थितत्वात् विनेयाभावाद्युपपन्नस्य एवोपयुज्यते ॥ १६ ॥

“येन विधिः” (१-१-७२) इत्यत्र भाष्ये वचनरूपेण पठितैया । तेन राज्ञा साम्नेत्यादायज्ञोपो, दण्डी वाग्मी इत्यादौ “इन्हन्” (६-४-१२) इति नियमः, सुपयाः सुस्रोता इत्यादौ “अथवसन्तस्य” (६-४-१४) इति दीर्घः, सुशर्मा सुप्रथिमेत्यादौ “मनः” (४-१-११) इति ङीव्निषेधश्च सिद्धः ।

अन्ये तु परिवेधिपीध्वमित्यत्र ढस्त्व्यावृत्तये क्रियमाणात् “एणः पीध्वम्” (८-३-७८) इत्यत्राङ्गग्रहणादर्थवत्परिभाषाऽनित्या तन्मूलकमिदमित्याहुः । “विभाषेष्टः” (८-३-७९) इत्यत्रानर्थकस्यैव पीध्वमः सम्भवाद्वापि तस्यैव ग्रहणमिति भ्रमवारणायाङ्गादिति परे ॥ १६ ॥

भैरवी ।

अर्थवत्परिभाषामूलकत्वाद्गौणमुख्यन्यायं व्युत्पाचार्यवत्परिभाषयैव प्राप्तातिप्रसङ्गस्य वारणाय परिभाषान्तरमाह—*अर्थवदित्यादिना* । इयञ्चापूर्वपरिभाषेति परमतजगदनावसरेऽप्यकीमविष्यति । परिभाषाघटकृतीयान्तद्वयन्तदन्तविधिवोधकसूत्रघटकं यत्कृतीयान्तं येनेति तस्य विशेषणमित्यभिप्रेतमतोऽप्राप्त्यर्थकेन चेत्यनन्तरं विशेषणेनेति शेषो बोध्यः । *वचनरूपेण* । वार्तिकत्वेन । एतेनास्याः परिभाषाया अपूर्वत्वं ध्वनितम् । *तेन* । विशेषणबोधकाङ्गादिशब्दानान्तत्तत्सूत्रघटकानान्द्विविधविशेषणबोधकत्वेन परिभाषापठितक्रमेणोदाहरणमाह—*राज्ञेत्यादिना* । *अलोपोः* । “अलोपोऽनः” इत्यलोपः । सर्वेषाम्प्रथमान्तानां सिद्ध इत्यत्रान्वयः । दण्डी वाग्मीत्यादावादिपदग्राह्ये दण्डिनौ वारिमनौ इत्यादौ नियमः सिद्ध इत्यत्रान्वयः दण्डी वाग्मीत्यत्र तु “सौ च” इति दीर्घः । *सुस्रोता इति* । आगमसन्निधाने तद्विशिष्टस्यैवार्थवत्ताया भाष्यसम्मतत्यादिदानर्थकत्वम् । लोके यथाङ्गाधिक्येऽधिकाङ्गविशिष्टस्यैव देवदत्तग्रहणेन प्रहणन्दश्यते तथेह विशिष्टस्यैव वाचकतासम्बन्धेन अर्थवैशिष्ट्यमिति भावः ।

प्राचां मतमाह—*अन्येत्वित्यादिना* । *परिवेधिपीध्वमित्यत्र* । परिपूर्वकाद्विपधातोर्विधौ लिङ् सीयुटः सस्य लोपः । *दत्येति* । पीध्वन्निमित्तकेत्यादिः । *तन्मूलकम्* । अर्थवत्परिभाषाऽनित्यत्वमूलकम् । आहुरित्यनेन सूचितामरविष्मप्रकटयति—*“विभाषेष्टः” इत्यादिना* । *अत्रापि* । पूर्वसूत्रेऽपि । *तस्यैव* । अनर्थकस्यैव । अर्थाधिकारस्य व्याप्यत्वादिति प्राप्तिभ्रमयीजमिह दृष्टव्यम् । *इति पर इति* । एतेनानिस्मृत्पहणानीति परिभाषाया वाचनिकत्वं हृदीकृतम् ।

यत्तु “कामंस्ताच्छील्य” इति द्राक्षोजाताविति च टिलोपनिपातनमस्या ज्ञापकम् । एतत्परिभाषाभावे तयोरवयवस्यानोऽनर्थक्यता “अन्” इति प्रकृतिभावाप्राप्त्या “नस्तद्विते” इति टिलोपेनैव सिद्धे कामं इत्यादिनिपातनानर्थक्यमिति । तत्र । इनाद्यंशे तस्य ज्ञापकत्वासम्भवात् । नचायं वत्परिभाषाया अनित्यत्वमेव ज्ञाप्यतान्तावतैव सर्वत्रेष्टसिद्धिरिति वाच्यम् ? तस्या अनित्यत्वेऽपि एवैव तस्या अप्रवृत्तिरित्यर्थबोधनायैतस्या वाच्यकत्वात् । “व्याख्यातव्यनाम्नः” “अन्तर्वर्धित्वाङ्गलोपः” “स्थाम्न्मोऽकार” इत्यादिनिर्द्देशानां विशेषोपाश्रित्येन सौत्रत्वेनापि बोधपत्तिरिति बोध्यम् । न चार्थवद्ग्रहणपरिभाषापुरोधात् “विभाषेष्टः” इति

तत्त्वप्रकाशिका ।

धारणायेति । अपवादसङ्गत्येतिशेषः । *विशेषणेनेति* । यद्वा प्रकृत्यादित्वादर्थवताऽनर्थकेनेत्यभेदे सूतीया । प्रयोज्यकर्तृत्वेन वा सूतीयेति बोध्यम् । *अङ्गग्रहणादिति* । नन्वस्वातोः कर्मव्यतिहारे व्यतिपीध्वमित्यत्रार्थवत्तः पीध्वमसम्भवात्तत्र षत्वव्यावृत्तयेऽङ्गादिति-तिषेन्न, “उपसर्गप्रादुर्भ्याम्” इति विहितपदस्यासिद्धत्वेन तदभावात् । *भ्रमवारणायेति* ।

ननु “उच्च” (१-२-१२) इत्यत्र “लिङ्सिचौ” (१-२-११) इत्यत आत्मनेपदेष्वित्येव संबध्येतानन्तरत्वादत आह—

एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः ॥१७॥

या शब्द एवार्थः । परस्परान्वितार्थकपदानां सहैवानुवृत्तिनिवृत्तीत्यर्थः । एककार्यनियुक्तानां बहूनां लोके तथैव दर्शनादिति भावः ।

यस्यत्र आपकं “नेङ्वशि” (७-२-८) इत्यत इडित्यनुवर्त्तमाने “आर्धधातकस्येद्” (६-२-३५) इत्यत्र पुरनिङ्ग्रहणं तद्धि नेत्यस्यासम्बन्धार्थमिति, तत्र । “दीधीवेधीटाम्” (१-१-६) इति सूत्रे भाष्ये तत्रत्येङ्ग्रहणप्रत्याख्यानायेङ्ग्रहणेऽनुवर्त्तमाने पुनरिङ्ग्रहणस्येदो गुणरूपविकाराभावार्यक्तवस्योक्तत्वेन तद्विरोधात् । नञो निवृत्तिस्तु कचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तते इति न्यायेन सिद्धा ।

यस्तु तस्तु “दीधीवेधीटाम्” (१-१-६) इति सूत्रस्थभाष्यमेकदेशयुक्तिः “आर्धधातकस्य” (७-२-३५) इति सूत्रस्थेङ्ग्रहणस्य “नेङ्वशि” (७-२-८) इति सूत्रे भाष्ये प्रत्याख्यानात् । तत्करणेन श्रुतरयक्तमाश्रितैर्यो ।

सूत्रे पीष्वादासम्बन्ध एवास्तिवद्ग्रहणं आपकमेव भविष्यतीति याच्यम् ? परत्र घक्ष्यमाणस्यैकयोगनिर्दिष्टानामिति न्यायस्य जागरूकतया पीष्वादासम्बन्धस्य यक्तुमशक्यत्वात् ॥ १६ ॥

अतएव तात्परिभाषामवतारयति—*ननु उच्चेत्यादिना* । *अनन्तरत्वात्* । अप्यत्र हि त्वात् । एकस्मिन् योने काव्ये इत्यर्थो धाभिप्रेतः न ॥ योगशब्दः सूत्रपरः “विण्भावकर्मणोः” इति सूत्रे पुनश्चिङ्ग्रहणात् । तद्धि “विण्तेपद” इत्यतोऽनुवृत्तिविण्ग्रहणस्य “न कश्च” इति सूत्रे नकारसम्बन्धितया प्रतीतत्वेन नकारस्याननुवृत्तेविणोऽपि सम्बन्धाभावः स्यादतः किरते । अत्रैवकार एव प्रयोक्तव्ये वाशब्दद्वयमलङ्कारायाः परिभाषायाः कलितार्थमाह—*परस्परान्वितार्थेति* । अत्र परस्परान्वितैतिक्यनेनान्वितयोरेकसूत्रनिर्दिष्टयोः सहानुवृत्त्यवधानेऽपि क्षत्यभावः सूचितः । अतएव परिभाषायां योगपदस्य काव्यपरत्वेनेति युक्तम् । परिभाषायां लोहसिद्धत्वात्—*एतेति* । अस्याः आपकसिद्धत्ववादिमतद्वण्डयति—*यत्विति* । तत्रत्य इति* । “दीधीवेधीटाम्” इति सूत्रस्येत्यर्थः । विकारस्य इष्टत्वादाह—*गुणरूपेणेति* । तद्विरोधादिति* । यदि नञोऽसम्बन्धाभेदे “आर्धधातुक” इति सूत्रस्यमिद्वहणे स्यात् । तदेङ्ग्रहणेऽनुवर्त्तमान इत्युक्तिर्विद्वत् स्यात् । नञो निवृत्तियोधनया “आर्धधातुक” इति सूत्रस्थेङ्ग्रहणस्य पारितोष्यमस्मादिति भावः ।

नन्विधं परिभाषा यदि लोकप्रियता तद्वानर्थेव न सम्बन्धस्य तत्रावगम्यकत्वेनेद्वहणेऽनुवर्त्तमाने पुनरिङ्ग्रहणगुणाभावार्यमिति कथं विद्वन्नेतत्तत् आह—*नञो निवृत्तिस्त्विति* ।

आपरस्यवादिमतस्य भाष्यविद्वदिति बोधयिषुमाह—*वस्तुनस्त्विति* । तत्करणेन* । “आर्धधातुक” इतिगूढे इदंशब्दस्य करणेन । *गुणरूपमिति* । तत्रेङ्ग्रहणस्य कारणानुसृत्यप्रकाशिका ।

यच्चानुवृत्ताय बोधमोऽर्थतयाम्भरात्तत्रार्थस्यपरिभाषावायेऽप्यत्र बोधे मानाभावाज्ज्ञानस्येव ॥ १६ ॥

एकयोगनिर्दिष्टेति । अत्र आपकम् । “हनः सिक्” इत्यत्र सिक्ग्रहणम् । अस्यथा

त्येतत्प्रत्याख्यानस्यायुक्तत्वात् ॥ १७ ॥

तन्मलुगधिकारः प्रागनष्ट उत्तरपदाधिकारः प्रागङ्गाधिकारादित्यनुपप-
न्नमेकयोगनिर्दिष्टत्वात् । तथा “दामहायनान्ताच्च” (४-१-२७) इत्यादौ
“संख्याव्यादेः” (४-१-२६) इत्यतः सङ्ख्यादेरित्यनुवर्ततेऽव्ययादेरिति
निवृत्तमिति चानुपपन्नमत आह—

एतदेकदेशोऽप्यनुवर्तते ॥ १८ ॥

एकग्रार्थे योगः सम्प्रत्यस्तोन निर्दिष्टयोः समुदायाभिधायिद्वन्द्वनिर्दि-
ष्टयोरित्यर्थ इति “पक्षात्तिः” (५-२-२५) इति सूत्रे कैयटः । तावन्मात्रांशे
स्वरितत्वप्रतिज्ञाबलालभ्यमिदम् । स्पष्टा चेत् “दामहायनान्ताच्च”
भैरवी ।

स्य नियमार्थत्वस्य स्वरूपणम् । तदुत्तरं सामर्थ्यादितो “अतो वा” इति दीर्घस्य इदस्थानिकस्य
स्वीकरणमपि च अचेतोदित्यादौ सवर्णदीर्घस्य “मिज्जलोप एकदेश” इति वचनसामर्थ्यात् प्र-
वृत्तिस्वीकरणमित्यादिसाधकगुस्तरयत्नमित्यर्थः । *एतत्प्रत्याख्यानस्य* । “दीर्घीरेवीदाम्”
इति सूत्रस्थेऽप्रहणप्रत्याख्यानस्य ।

यत्तु अस्यां परिभाषया “हन्ः सिञ्च” इति सूत्रस्थसिञ्चप्रहणस्य ज्ञापकत्वमिति । तन्न ।
लोकन्यापसिञ्चपरिभाषया “लिङ् सिचौ” इति सूत्रस्थमिञ्चप्रहणस्यासम्बन्धे प्राप्ते सिञ्चप्रहण-
स्यावश्यकत्वात् ॥ १७ ॥

पूर्वोक्ता परिभाषा न सर्वत्रेष्टसधिकेति परिभाषान्तरमवतारयति—*नन्विति । एकयोगेति
परिभाषायामपिशब्द पदार्थकः । एवञ्च पूर्वपरिभाषया अविरोधात् नैकत्र प्रवृत्तिरि-
त्यतो लक्ष्यनुरोधाद् व्यवस्था स्वीकार्या । परिभाषापटनैर्यदेशपदोपादनस्यारस्यास्यसिद्धि
कैयटप्रदक्षितम्परिभाषार्थमाह—*एकग्रार्थे इति । द्वन्द्वनिर्दिष्टयोरिति* । यथा “सङ्ख्याव्यादेः”
इत्यत्र अव्ययपदम् । कैयट इत्यभिधानमरचिवोधनाय, सा च यदि द्वन्द्वनिर्देशस्थल एवास्याः
प्रवृत्तिस्तदा अलुगधिकारः प्रागनष्ट इति प्रागुक्तव्यवस्थायामसङ्गतिरेव । ८

किञ्च “अतोमृशतोः” इति सूत्रेऽनेन न्यायेन “वा सुपि” इति, सूत्रस्थासुञ्चप्रहणसम्बन्ध-
कथनपरिभाषाविरोधश्चेति । परिभाषार्थस्तु-पूर्वपरिभाषावदस्योग्यवदिहापि योगपदाङ्गा-
व्यपारम् । एकदेशपदञ्च समुदायावयवैकशब्दपरमिति । परिभाषायां साधकमाह—*तावन्मा-
त्रेति* । तथाचोभयोः परिभाषयोः समासासमासयोः प्रवृत्तिः, अस्या असमासेऽपि प्रवृत्ति-
स्वीकारादेव “आद्धधातुक” इति सूत्रस्थेऽप्रहणप्रत्याख्यानपरिभाष्यस्योपपत्तिः ।

न च यदि प्रवृत्तपरिभाषायाः प्रवृत्तिर्न स्यात् तदा नकारसम्बन्धेऽप्रहणस्य “आद्धधातु-
क” इति सूत्रे सम्बन्धः स्यात् । तथा च विध्यप्रसिद्धिरिति वाच्यम् ? विध्यनुमानेन विकल्प-
स्यैव फलत्वात् । तथाहि-बलापाद्धधातुकम् इडागमि इडाभावादिति न्यायो बोध्यः । स्व-
योधरुवाक्योद्देश्यत्वमिह हेतुतावच्छेदकसम्बन्धः । न चैवम् “आद्धधातुक” इति सूत्रे
वेत्येव पठनीयनेडित्यनुवृत्त्या विकल्पस्य सिद्धत्वादिति वाच्यम् ? अत्र वाशब्दस्योच्चारणेन
“नेडुशि” इत्यस्य नियमार्थत्वकथनेन गौरवस्य स्वष्टत्वात् । “वेडुशि” इति न वक्तुमरा-
ज्यम् । सर्वत्र विकल्पापत्तेः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

“लिङ् सिच” इत्यतः सिञ्चदानुवृत्त्यैव सिद्धे किं तेन ॥ १७ ॥

अवतारयतीति । अपवादसङ्गत्येति शेषः ॥ १८ ॥

तिषेधं शास्तिं तज्ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा "भाव्यमानेन सवर्णानां ग्रह-
ण न" इति । *

किञ्च 'ज्याद् ईयस' इत्येवान्तर्प्यतो दीर्घे सिद्धे "ज्यादादीयसः"
मैरवी ।

बोध्यते इत्यभिहितम् । प्रत्ययशब्दस्य च प्रत्ययसंज्ञकपरत्वमेवेति च ध्वनितम् ।

तथाहि-अणुदित्मूत्रे भाष्ये "अप्रत्यय इति किमर्थम्"? "सनाशसमिध उः" अत्यल्पमिदं
मुच्यते, अप्रत्ययादेशादित्किन्मिन् इति वक्तव्यम् "आदेशोदाहरणम्" "इदम् इन्" इत्याद्यु-
क्तम् । एतदुपक्रमभाष्ये प्रत्ययांशे प्रकारान्तरोपन्यासकाले प्रत्ययपदस्य योगार्थप्रदर्शनेन ह्य-
ग्रिमाहृग्रिमन्यायस्वारस्येन च प्रत्ययपदस्य प्रत्ययसंज्ञकपरत्वमेवोचितम् । तत्रैव भाष्ये 'भा-
व्यमानेन' इति वचने गृहीत्याऽप्रत्ययपदस्य वैयर्थ्योपपादनं कृतम् । तेन प्राचीनवदित्यनभिहितं
वचन इति च ध्वनितम् ।

अस्या ज्ञापकमित्यत्रमपि "ज्यादात्" इति सूत्रादानीति तमेव ज्ञापकमाह-किञ्चेति* ।
तदुक्तं भाष्ये—"किमर्थं ज्यादादित्युच्यते न ज्याद् इत्येवाच्यताम् । का रूपमिद्धिः, आन्त-
र्प्यतो दीर्घस्य दीर्घो भविष्यति, एवं तर्हि इदमेव ज्ञापयति भवत्येषा परिभाषा भाव्यमानेन
सवर्णानां ग्रहणम्" इति । अप्रान्तर्प्यतो दीर्घस्य दीर्घो भविष्यतीति कथने यदि व्यक्तियक्षे-
"अणुदित्"सूत्रेण तदा तस्मिन् सूत्रेऽप्रत्ययपदस्य सत्त्वंऽपि तादृशोपपादनेन प्रत्ययपदस्य प्रत्यय-
संज्ञकपरत्वमेवैत्याशयेन । जातिः पदार्थे इति पक्षेण चेत्तथापि अप्रत्ययः इत्यस्य तदाऽणुदित्
त्रेऽणुग्रहणस्य अनावश्यकतया तस्य प्रत्याख्यानं उद्दिष्टे उद्दिष्टकरणसामर्थ्येन तत्राप्रत्यय-
स्येत्यस्य सम्बन्धाभावेन प्रतियोगिसमर्पकं प्रत्ययपदे प्रत्ययसंज्ञकपरमेवेति बोध्यम् । इदं ज्ञा-
पकं सामान्यापेक्षम्, तेनास्याः परिभाषायाः सर्वेण प्रकारेण प्राप्तस्य सर्वग्रहणस्य बाधकत्वम् ।
तत्त्वप्रकाशिका ।

नन्वनया सज्जग्रहणे निषिद्धे, उधारितव्यक्तैरेव ग्रहणं भविष्यति । न तु तद्व्यतिरिक्तस्य
धर्मान्तरयुक्तस्य धा, पूर्वोदात्तानुदात्तादिधर्मज्ञाते विधानं न स्यादिति चेन्न सवर्णानां ग्रहणं
नेत्यस्य स्वावृत्तिर्योऽसौ स्वरत्वव्याप्यधर्मतरः पाणिनीयसंज्ञेत्यपि यथावच्छेदकधर्मस्तद्वृत्तां प्र-
हणं नेत्यर्थात् । स्वावृत्तिधर्मं पाणिनीयसंज्ञेत्येति विवेकेषणेन तत्पुरुषीयत्वतत्कालिकत्वं तद्व्य-
क्तित्वेत्यादिधर्ममादाय न दोषस्तेषां पाणिनीयसंज्ञेत्यपि यथावच्छेदकत्वमावात् । यणादिप-
देन वकारादीनां ग्रहणं च सिध्यति क्त्वादीनामपि तादृशधर्माभावात् । "ऊफालोऽच्" इत्य-
नेन ह्रस्वादिसंज्ञाविधानात्, "मुखनासिक" इति सूत्रेणानुनासिकसंज्ञाविधानात्तेषां तादृशध-
र्मत्वेन तद्वृत्तां व्यावृत्ताविमर्शित्यादौ नानुनासिकः । भवितेत्यादौ च न दीर्घकार इति बोध्य-
म् । "सर्वेभ्यः" इत्यादायनुदात्तत्वादिधर्मसिद्धये स्वरत्वव्याप्येतरत्वेति विवेकणम् ।

अन्येतु स्वतादात्म्यं स्वनिष्ठशक्तिनिरूपकतावच्छेदसमुदायव्यवृत्तत्वादन्यतरसम्यग्धेन रूप-
विशिष्टावृत्तियोऽसौ तद्व्यतिरिक्तं तत्पुरुषीयत्व स्वरत्वव्याप्योदात्तत्वादिधर्मतरः धावणप्रत्यक्ष-
विषयतावच्छेदको धर्मस्तद्वृत्तां ग्रहणं नेत्यर्थः । यणाद्यर्थमन्यतरसम्यग्धेन वैशिष्ट्यम् । स्वता-
दात्म्यमादाय यणादावव्याप्तिवारणाय स्वविशिष्टनिरूपितवृत्तित्वसामान्याभावगतो धर्मस्य
ग्रहणमिति वदन्ति । *प्रत्ययांशेऽनभिधानेनेति* । अर्थविषयक्रोधजनकत्वे शक्त्यर्थान्, शक्ति-
श्च लोकाधीना, लोके तत्तदर्थतात्पर्येण दीर्घोकारादीनां प्रयोगाभावेनानभिधानं तेषां बोध्यम् ।
ज्ञापकमिति । ननु ज्ञापितेऽपि स्वार्थे चास्तिार्थ्याभावः "बहोर्लोप" इत्यतोऽनुवृत्तेन लोपे-
नैव ज्ञपयानिति रूपे सिद्धे ह्रस्वाकारविधानसामर्थ्यात्परस्य बाधित्वा सर्वगदीर्घेण रूपसिद्धेरि-
ति चेन्न, लोपे सत्यकृतसार्वधातुक्योक्त्यस्य प्रवृत्त्या ज्यायानितिरूपं ह्रस्वाकारविधाने ज्ञपय-
निति कलभेदेन विधानसामर्थ्याभावात् । नच लोपेऽप्यनुवृत्तपरिभाषया "अह्रस्वार्थ" इत्यस्या-

(६-४-१६०) इति दीर्घोच्चारणमस्या ज्ञापकम् । “अणुदित्” सूत्रे “ज्यादात्” इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टेया । “घोः कुः” (८-२-३०) इत्यादौ भाष्यमानेनापि सर्वर्णग्रहणम् । विधेये उदित्करणसामर्थ्यात् । एतदेवा(१)भिप्रेत्य-
‘भाष्यमानोऽणुसवर्णाच्च गृह्णाति’ इति नव्याः पठन्ति ॥ १९ ॥

नन्वेवं “अदसोऽसेः” (८-२-८०) इत्यादिना अम् इत्यादौ दीर्घविधानं न स्यादत आह—

भाष्यमानोऽप्युकारः सवर्णान् गृह्णाति ॥ २० ॥

“दिव उत्” (६-१-१३१) “ऋत उत्” (६-१-१११) इति तपरक-
मैत्री

यत्तु गुणाभेदकत्वेन प्राप्तस्य सवर्णग्रहणस्य नानेन निषेध इति तन्न । ‘भाष्यमानत्वावच्छे-
देन सवर्णग्राहकत्वाभावस्य भाष्यतात्पर्यविषयत्वात्तेनेदम्’ इत्यादिभाष्योक्तस्थलयत् । ‘भा-
दुपधाया’ च इत्यादावपि प्रवृत्तिरस्ते एव घटवदित्यादौ नानुनासिकः । ज्ञापकस्य सामान्यापेक्ष-
त्वाभिप्रायेणैवाह—*अणुदित्यादि* । सामान्यापेक्षत्वे प्राप्तातिप्रसङ्गे वारयति—*“घोः कुः”
इत्यादिना* । *पूतन्मूलकमेव* । उदित्करणसामर्थ्यमूलकमेव । पूतेन वास्तविको नैतादृशः
पाठ इति ध्वनितम् ॥ १९ ॥

पूयम् । भाष्यमानत्वावच्छेदेन सवर्णग्राहकत्वाभावस्य भाष्यतात्पर्यविषयत्वे । *भा-
ष्यमानोऽप्युकार इत्यादि* । अस्यां ज्ञापकमाह—*“दिव उत्” इति* ।

न चास्य स्वविषये चरितार्थ्यभावेन कथं ज्ञापकत्वन्तपरत्वाभावेऽप्यखं मात्रिकस्य वका-
रस्य किञ्चित् सादृश्यादेकमात्रिक एवोकारो धुम्यां धुयानमित्यादौ भविष्यतीति वाच्यम् ?
“चूयोः शूद्” इति सूत्रे द्विग्रहणाननुवृत्तिपक्षे धुयानमित्यादौ चरितार्थस्य ह्रस्वोकारादेश-
स्याक्षरित्यादौ किपि चरितार्थेन “चूयोः शूद्” इत्यनेन धुम्यामित्यत्र परत्वाद्वाच्ये दीर्घो-
कारादेशो कृतोऽपि “दिव” इत्यनेन दीर्घस्य दीर्घेण स्यात् । तपरत्वसत्त्वे तु दीर्घस्याप्युटः “पुनः
प्रमद्विज्ञान” न्यायेन ह्रस्वादेश इति चरितार्थ्यसम्भवात् । नचोच्चारणस्यापवादशङ्का
अक्षरवाविरत्यादौ चरितार्थ्यसम्भवात् । नहि तत्र उरवं प्राप्नोति दिवधातोः सानुबन्धकत्वात्
सा च परिभाषा प्रत्ययाप्रत्ययग्रहेऽपि प्रवर्तते इत्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

नन्वेवमपि “सकृत्ति” न्यायस्य प्रवृत्तिपक्षे धुम्यामित्यत्र ह्रस्वो न स्यात् ।

रिच “चूयोः” इति सूत्रे द्विग्रहणम् “अनुनासिकरूप” इति सूत्रादवश्यमनुवर्तनीयम् । अ-
न्यथा धुम्यामित्यादौ “उदितम्” इति सूत्रेण विभक्तेः परत्वादुदात्तत्वं स्यात् । नच “उपधाग्रहणं
तत्त्वप्रकाशिका ।

प्रवृत्त्या विधानसामर्थ्येनैवमिदौ पुनश्चरितार्थ्यसम्भवा इति वाच्यम् ? भाष्यमानपरिमा-
पानपतेः समेयाद्गृह्यपरिभाषायां ज्ञापकमित्याशयात् । अङ्गवृत्तपरिभाषाज्ञापनोत्तरं भाष्य-
मानपरिभाषाज्ञापकत्वे ॥ दीर्घग्रहणस्य स्पष्टार्थतया ज्ञापकत्वसम्भवात् “ईदृशयोः”
इत्यत्रादीर्घोच्चारणस्य ज्ञापकत्वे बोध्यम् ।

एतन्नुत्पत्त्यु, शत्रयपघणन्यापि ज्ञापकत्वं बोध्यम्, स्वांशे चरितार्थ्यन्तु भाष्यमानत्वस्य
वच्छान्तप्रदप्रयोज्योद्देशकानिरूपितविषयताश्रयत्वरूपस्य स्वीकारेण पञ्चम्यन्तरप्रयोज्यो-
द्देशकानिरूपितविषयताश्रयस्य प्रदयस्य भाष्यमानत्वाभावेन बोध्यम् ॥ १९ ॥

अपवादमूल्या परिभाषान्तरमप्यतारयति—*नन्वेवमिति* । *दीर्घविधानेति* । भाष्य-
मानपरिभाषया भयगोपहृणादिनिषेधः । *परत्वादुदात्तत्वं स्यात्* । *अत्र* इति सूत्रे उपधा-

रश्मस्याऽप्येकम् । "तित्स्वरितम्" (६-१-१८५) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टेया ॥ २० ॥

मैरवा ।

कर्त्तव्यम्" इति चार्त्तिकात् "दिवो ङ्" इति सूत्रेण वा तन्निरासो भविष्यतीति वाच्यम् ? धीरित्यत्र दोषतादवस्थ्यात् । तथाहि-दिवशब्दस्य प्रातिपदिकस्वरान्तोदात्तत्वेऽन्तरङ्गे कृते-ततो वकारस्य ऐसनधर्मिणोऽनुदात्ते ऊडादेशे तस्य स्थाने "दिव औत्" इत्यौकारादेशे तस्य स्थाने सावधि पदमिति पक्षे दीर्घस्योकारस्य दीर्घ ऊकारः स्यात् । तत इकारस्य यणि कृते "उ-दात्तस्वरितयोर्वणः" इति स्वरितत्वे स्यादित्योकारः स्वरितो न श्रूयेत, यदि त्वेवं प्रक्रियायां "दिव औत्" इति सूत्रस्य वैयर्थ्यमिति भूये तदा सङ्कृतित्वान्तेनोडादेशेन बाधितः ऊकारा-देशो न भविष्यतीतिकल्पना सम्भवति । पुनः प्रसङ्गविज्ञानपक्षे तु दोषः । एवङ्ङिप्रहणानु-वृत्तौ न अभ्युत्पन्ने दिवशब्दे ऊडादेशस्य प्राप्त्यभावेन धीरित्यत्र "दिव औत्" इत्यौकारा-देशो नोकारादेशस्य "दिव उत्" इतिसूत्रविहितस्य बाधः पुण्यामित्यादौ स्वान्तरतम्याभावाद्दीर्घ ऊकारादेशो न भविष्यतीति तपरत्वरणचारिताध्यन्तुर्वचमित्यस्येराह—*कृत उदिति* ।

नच पूर्ववदधुनाप्याकारस्य स्थाने दीर्घ ऊकारः स्यादिति वाच्यम् ? "दिव उत्" इति व-क्तव्ये औकारादेशविधानसामर्थ्यात् । न च लाघवाभावः, प्रक्रियायां लाघवात् अपवादत्वाद्दो-कारस्यौकारादेशाप्रवृत्तेः । अस्यादेशस्य ऋकाराकारोभयस्थानिकत्वेनान्तरतम्यात् प्राप्तदीर्घ-ध्यावर्तकत्वेन तपरत्वस्य चारिताध्यम् । *तित्स्वरितमिति सूत्रे इति* । तत्र हि—"तित्प्रत्य-यपहणं कर्त्तव्यम् । इह मा भूत् *कृत इद्वातोः,* न कर्त्तव्यम् । नैव तकारः किन्तर्हि ङकारः । एवन्तर्हि दीर्घस्य ऋकारस्य सवर्णप्रहणेनान्तरतम्यादीर्घः स्यादित्याहङ्गु भाव्यमानेन सव-र्णोभाहप्रहणमेति समाधाय येषां परिभाषा स्वीक्रियते तदाऽमु अमूभ्यामित्यादौ दीर्घो न प्राप्नोति "अदसोऽस्तेः" इत्यनेनोकारस्य भाव्यमानत्वात्" इत्याहङ्गु संज्ञापिकया भाव्यमा-नोऽप्युकार इति परिभाषया समाधानं कृतम् ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

करणकृतं लाघवमप्यस्ति । *चारिताध्यन्तुर्वचमिति* । सुयानमित्यत्र "दिव उत्" इत्यस्य चारिताध्यैनाक्षगूरित्यत्रोडश्चारिताध्यै न क्यजन्तादिवशब्दात् किपि पुण्यामित्यत्रोभयोः प्रा-प्तयोः परत्वादाकृत्याश्चोडि कृतेऽपि पुनः प्रसङ्गविज्ञानन्यायेन द्विमात्रिकस्याप्येकमात्रिक एवा-देशो यथा स्यादित्यस्ति चारिताध्यैसम्भवः । नचालोपस्य स्थानिवत्त्वेनोड् न स्यात्, कौ वि-धिं प्रति तन्निषेधात् । अलोपस्य स्थानिवत्त्वेन पदत्वाभावात् "दिव उत्" इत्यस्याप्राप्तित्वा-न, ऊडस्थानिभूताच्चः पूर्वत्वेन दृष्टत्वाभावेन स्थानिवत्त्वाप्रवृत्तेः । एवञ्च "कृत उत्" इति ज्ञाप-कान्तरमिति केचित् ।

वस्तुतस्तु एतादृग्पुण्यामित्यस्यानभिधानाचारिताध्यं दुर्वचमेव । *कृत उदिति* । आन्तरतम्यादकाराकारयोः स्थाने प्राप्तदीर्घन्यातृत्वाऽत्रत्यं तपरं चरितार्थम् । नच पितुरन्ध-मित्यादौ "दूलोप" इति दीर्घबाधनार्थं तच्चरितार्थमिति वाच्यम् ? "स पितुरन्धमयो यथा" इ-ति रामायणप्रयोगविरोधात् "उरण्पर" इति सूत्रेऽणप्रहणाभावे "उरण्पर" इति भाष्यविरोधा-त् । बाहिरङ्गत्वेन "दूलोप" इति दीर्घस्यासिद्धत्वाच्च ।

नन्वेवमुत्पथाया गूह इत्येव सिद्धे "ऊडुपथाया गोह" इति दीर्घोच्चारणं विकृतनिर्देशश्च व्यर्थ इति चेन्न । अन्त्ये तत्प्रकौण्डिन्यायेन गुणोच्चे चारिताध्यै न उत्येन गुणं बाधित्वा उ-कारादेशे गूहत्वात्प्राप्तिसिद्धेः । "किं च" इति निषेधेन गुणाप्राप्तियोग्ये जुगुहत्वरित्यादाहुका-रादेशस्य चारिताध्यात्तत्रन्यायाविषयस्तु न फलाभावेन तदर्थमनारम्भात् निषेधेनापि तत्प्रा-

ननु गवे हितं गोहितमित्यादौ प्रत्ययलक्षणेनाव्यादेशापत्तिरत आह—
वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम् ॥ २१ ॥

भैरवी ।

वर्णस्य ज्ञापकत्वप्रमद्वादन्यामपि वर्णत्रिपये प्रवृत्तियोग्यां परिभाषामस्तारयति—*नन्वि-
ति* । न च गोहितमित्यत्र “न लुमता” इति निषेधेनैवावादेशस्य कारणे सिद्धे नैतत्परिभा-
षाप्रयोजनमिति वाच्यम् ? सुदृष्टप्रामाद इत्यत्र “अत्यसन्तस्य” इति दीर्घस्य “मोमन-
सो” इति स्वरस्य च व्यावृत्त्यर्थे सूत्रस्यावश्यकत्वेन वक्ष्यमाणरीत्या सूत्रनीयमसिद्धाया ए-
तत्परिभाषाया अपि सत्प्रयोजनस्योक्तत्वात् । ‘वर्णाश्रय’ इत्यस्य, विधौ कार्य्य इति शेषः ।
वर्णाश्रय इति बहुमोहिः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

परिभाषामवतारयति । अवसरसङ्कल्पेतिशेषः । *तत्प्रयोजनस्योक्तत्वादिति* । पि-
न्यमिदम्, “न लुमता” लुमेऽङ्गाधिकारः प्रतिनिर्दिश्यते किं तर्हि योऽसौ लुमता लुप्यते त-
स्मिन्यङ्गान्तस्य कार्य्यं भवतीति “न लुमता” इति सूत्रशेषभाष्यात्, “युवोरनाकौ” इति सूत्रे
चाङ्गस्य युवोरनाकौ भवतो यत्र तत्रस्ययोरितिसूत्रार्थे निर्गाते नन्दनदधि, कारकधीत्यत्र दोषे
पूर्वं तर्हि नवा परं निमित्तं संज्ञा च प्रत्ययलक्षणेनेति भाष्यप्रतीकमुपादाय नदीह विभक्तिः प्र-
त्ययात्तरं वा निमित्तत्वेनोपात्तमिति प्रत्ययलक्षणमनाकयोर्नोस्तीति “न लुमताङ्गस्य” इति-
प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधस्यायमविषयः केवलमङ्गस्य युवोरनाकौ भवत इत्युच्यते, तर्हि अस्मिन्
प्रत्ययलक्षणेनाङ्गसंज्ञा न हि तस्यां विधीयमानायां “न लुमताङ्गस्य” इति निषेधः प्रवर्तते । ल-
ब्धाङ्गसंज्ञकस्य कार्यान्तरे विधातव्ये स निषेधः प्रवर्तते । नचाङ्गसंज्ञाङ्गस्य कार्य्यमितिप्रतिषे-
धाभावे इति सिद्धान्तिकैयदोक्तं । सुतप्रत्यये परतो यः पूर्वस्मत्प्रकृतिभूतो लब्धाङ्गसंज्ञकस्त-
दुद्देश्यकं यत्कार्यमाङ्गमनाङ्गं वा तच्चेत्यर्थस्य सर्वसम्मतत्वेनाव्यादेशस्य च लब्धाङ्गसंज्ञाकोद्-
देश्यकत्वाभावेन तत्र सूत्रप्रवृत्तेः ।

नच शब्दान्तित्यत्त्ववारणायैवघटिनशब्दप्रयोगेऽत्रादिषट्ठिः साधुरित्यर्थेनाव्यादेशस्य तद्-
स्तीति वाच्यम् ? गोधनमित्यादाववादेशवारणाय निमित्तस्यैवैवान्वयेन साक्षात्लब्धाङ्गसं-
ज्ञकोद्देश्यकत्वाभावात् । उरक्रामेत्याद्यर्थं साक्षात्पदनिर्देशस्यावश्यकत्वाच्च । अत्र साक्षात्-
सप्रत्ययाद्यवहितपूर्वत्वनिष्ठप्रकाशानिरूपितविशेष्यताङ्गपर्याप्तधर्मावच्छिन्ना यत्र तत्र “नलु-
मता” इत्यस्य प्रवृत्तिस्योकाराग्निसंज्ञकस्य निर्दिश्यमानेऽन्वयेऽपि निजंरघनमित्यादौ न प्रत्य-
यलक्षणेन जरासाधादेशापत्तिः, अङ्गविशेषितनिर्दिश्यमाननिष्ठविशेष्यताया अङ्गपर्याप्तधर्माव-
च्छिन्नत्वेन “नलुमता” इतिनिषेधस्य प्रवृत्तेः । अन्यथा “क्रमः परस्मैपदेषु” इति दीर्घो न स्यात् ।

न च तदर्थमजव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टस्यैजन्तस्यार्थबोधनायोच्चारणप्रसङ्गेऽथायन्तः साधु-
रित्येवोच्यतामिति वाच्यम् ? “गोरवचनं स्वरसिद्ध्यर्थम्” इतिवार्तिककृतिसिद्धान्तितागा-
ग्रमपक्षे विशिष्टस्यैवार्थवत्त्वेन केवलस्यैजन्तस्यार्थबोधकत्वाभावेनाव्यादेशानापत्त्या भाष्यवि-
रोधापत्तेः ।

नचैवमपि “अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुक् बाधते” इति न्यायेनेत्संज्ञालोपाभ्यां प्रा-
गेव छे इत्यस्य लुकि प्रत्ययलक्षणेन छेदुद्भावपि अक्षरत्वाभावादवादेशो न स्यादिति वाच्य-
म् ? इत्संज्ञादिविषये तदप्रवृत्तेः । अत एव “क्लिलुगुपधा” इतिवार्तिके लुकि न स्यानिबदित्य-
स्य पञ्चेन्द्र इत्युदाहरणे भास्योक्तं सङ्गच्छते । अन्यथा इत्संज्ञालोपाभ्यां प्रागेव लुक्तद्वितलु-
कीति लुप्तस्य ङीपः अजादेशत्वाभावेन स्यानिबत्त्वाप्राप्तौ तत्रैवार्थं स्पष्टमेव । *कार्य्य इति* ।
कर्तव्य इत्यर्थः । *बहुमोहिरिति* । वर्णः वर्णत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नः आधयो निमित्तं यस्मै-

वर्णप्राधान्यविषयमेतत् । तत्त्वं च “प्रत्ययलोपे” (१-१-६२) इति सूत्रे “स्थानिवत्” (१-१-५६) इत्यनुवृत्त्यैव सिद्धे प्रत्ययलक्षणग्रहणं प्रत्यय(१)स्येतराविशेषणत्वरूपं यत्र प्राधान्यं तत्रैव प्रवृत्त्यर्थमित्येतत्सिद्धम् । वर्णप्रा(२)धान्यं च वर्णस्येतराविशेषणत्वरूपं प्रत्ययनिरूपितविशेष्यतारूपं भवेत् ।

अनु निमित्तत्ववन्निमित्ततावच्छेदकत्वेन यत्र वर्णस्य आश्रयणन्तर्वाप्यनया प्रत्ययलक्षणनिषेधः स्यात् । तथाचातुणेडित्यस्यासिद्धिरत आह—वर्णप्राधान्येति* । एवं च यस्मिन्विधौ वर्णप्राधान्याश्रयकविधित्वं तस्मिन् कर्तव्येऽप्ये निषेधः प्रवर्तते । यत्र त्वप्राधान्येनाश्रयण-
न्तत्र नाश्रयिषेध इत्यत्र प्रमाणमाह—*तत्त्वञ्चेति । इत्येतत्सिद्धमित्यत्रास्यऽश्रयः । इत्येतत्सिद्धमित्यस्येत्येतेन सिद्धमित्यर्थः । एतेनोक्तार्थस्य सूत्रसिद्धत्वमेवेति यो धितम् । तत्त्वमित्यस्य वर्णप्राधान्याश्रयकविधिप्रवृत्तिविषयाधिकरणकभावप्रतियोगित्वम् “प्रत्ययलोप” इति शास्त्रार्थनिष्ठमित्यर्थः । *स्थानिरडित्यनुवृत्त्यैवेति* । “प्रत्ययलोप” इति सूत्रे प्रत्ययलक्षणग्रहणमप-
नीय स्यात्तिरूपग्रहणमनुवृत्त्यं प्रत्ययस्य लोपे न्यानिवन्कार्यं भवतीति वाच्यम् । स्थानिवत्पदे च मसम्पन्तादितिरेह विवक्षितो न तु पञ्चरन्तात् । तेन हरिकृतमित्यादौ भाऽभावो न । *इ-
तराविशेषणत्वम्* । इतरनिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेषणत्वाभावः । *यत्र* । यस्मिन्वि-
धौ, तद्विधेरत्यस्य कर्तव्य इति ज्ञेयः । *प्रवृत्त्यर्थम्* । “प्रत्ययलोप” इत्यस्य प्रवृत्त्यर्थम् । तेन चित्रायाज्ञाता चित्रेत्थं “दिग्दागञ्” इति टीपः प्रवृत्तिर्न । तत्र हि—अनुवृत्तजनमण्योऽकार-
मदन्तादित्यर्थाश्रयणेन वर्णनिरूपिताभेदसम्बन्धावच्छिन्नविशेषणता प्रत्ययस्य स्फुटैव ।
चित्रेत्थं “सन्निरेष्टा” इति जाताधेऽण् तस्य “चित्रारेवतीरोहिणीभ्यर्क्षीयामुपसङ्ख्यानम्”
इति लुट् ।

अनु यत्र वर्णस्य प्राधान्यं तत्रैव ‘वर्णाश्रय’ इति परिभाषायाः प्रवृत्तिरिति स्वीकारे मने-
दिनमित्यादायज्ञेयस्य धारणेऽपि चित्रेत्थं प्रत्ययलक्षणं स्यात्, नहि कीदृविधौ वर्णस्यात-
तत्त्वप्रकाशिका ।

नि । यत्र प्रत्यागत्या लुप्तप्रत्ययवृत्तिः (३) । तेन यथाः सन्निरेष्टादौ इत्ये कर्तव्ये पदस्य
प्रत्ययलक्षणं भवत्येव । *अतुणेडित्यस्यासिद्धिरिति* । इमिन्विधौ हलादौ वितीति विशेषण-
या वर्णाश्रयता । *इत्यत्र प्रमाणमाह* । अतुणम्, तत्र चेत्यनेन परिभाषावामेव प्रमाण-
मुक्तम् । वर्णप्राधान्यविषयस्य तु वार्तिककारमते मूलस्याप्यश्रयत्वकृत्यपनयेव ।
अन्यथाऽप्राधान्येऽप्यनया निषेधसूत्रे निषेधमेव स्यात् । तत्त्वचेत्यस्य वर्णाश्रये प्रत्ययलक्ष-
णाप्रवृत्तिमन्वयेत्यर्थः । *प्रत्ययस्येतराविशेषणत्वमिति* । अथयत्र (४) निष्ठविशेष्यतानि-

(१) प्रत्ययस्येतराविशेषणत्वमिति । अथयत्रत्वमप्यन्यावच्छिन्नप्रकारता-
भिन्नप्रत्ययत्वमप्यन्यावच्छिन्नविषयताभ्यस्तम् । तेन ‘योदितम्’ चित्राया जाता
नेत्रा इत्यादौ = कुत्राणि दोषः ।

(२) वर्णप्राधान्यञ्चेति । प्रत्ययत्वस्याप्यन्यावच्छिन्नविशेष्यतानिरूपितप्रकारताना-
भ्यस्तम् । तेन मित्रशीरतुणे इत्यादौ कुत्राणि न दोष इति दिक् ।

(३) लुप्तप्रत्ययवृत्तिरिति । लुप्तप्रत्ययवृत्तयो वर्णत्वस्याप्यन्यावच्छिन्ना विषय-
ता तत्तिरूपेदं यथै वर्णस्य प्रत्ययलक्षणं न भवतीत्यर्थः यथैवमन्तः ।

(४) अथयचेति । तेन वारिण्यादौ मुबन्तममुदाये मुबो विशेषणत्वेऽपि एवययोऽ-
भिः पदार्थनोक्तप्राधान्येन प्रत्ययलक्षणादिः ।

च । तेन गोहितमित्यादाववादिर्न 'चित्रायां जाता चित्रा, इत्यादावण्योऽ-
कारस्तदन्तान्छीविति छीप् च न' । इयमल्लिख्यौ स्थानिवत्त्वाप्राप्तावपि
नाप्तप्रत्ययलक्षणविधेर्निषेधिकेति स्पष्टं भाष्ये ॥ २१ ॥

भैरवी ।

इत्यस्य प्राधान्यं प्रातिपदिकविशेषणत्वादृत आह—*वर्णप्राधान्यञ्चेति* । चस्त्वर्थे । *इतरा-
विशेषणत्वमिति* । इदङ्गोहितम्, 'रैकुलमित्यादाववादेशत्वादिन्यावृत्त्यर्थम् । प्रत्ययनिरूपि-
तेत्यादि* । इदञ्चिन्नेत्यादौ लोपोऽप्रवृत्त्यर्थम् ।

ननु, भाष्यकारमते स्थानिवत्सुश्रेणैव सिद्धे "प्रत्ययलोप" इति सूत्रत्रयमार्थन्तेन 'वर्णा-
श्रये प्रत्ययलोप' इत्यस्य प्राप्तिरेव नेतीयं परिभाषा व्यर्थोऽत आह—*इयमिति* । अल्लिख्य-
विति विशेष्यतया विशेषणतया वा यत्राऽल्लिख्यवर्णं तत्रानल्लिख्यवित्यस्य प्रवृत्तेः । एवञ्च यस्म-
ते "प्रत्ययलोप" इति सूत्रं विधायकं तन्मतेऽस्याः परिभाषायाः प्रयोजनम् । *स्पष्टम्भाष्ये* ।
"प्रत्ययलोप" इति सूत्रे भाष्ये । तत्र हि—"प्रत्ययलोप" इति सूत्रस्य प्रयोजनं वार्तिककृता प्रद-
र्शितम् 'प्रयोजनमपृक्तशिलोपे नुममामौ गुणबुद्धौ दीर्घत्वे मडादश्नम्बिधय' इति । अपृक्तलोपो
नुम्, गोमान्यवमान् । शिलोपे नुम्, अग्नेत्रीते ताता पिण्डानाम्, अत्र "मैदृच्छन्दसि" इति शो-
लुङ् अपृक्तलोप अमामौ, हेअनङ् अनङ्गान् । गुणः, अधोक् अलेद् । बुद्धिः, न्यमार्द । दीर्घत्वम्,
अग्नेत्रीतेवाजिनां श्रीपक्षस्था ताता पिण्डानाम् । इम् अतृणेद् । अडादौ अधोक् अलेद् सौवयः
औनः । इन्म् अभीनोऽत्र अछीनोऽत्रेत्येतानि प्रयोजनानि । यत्पक्षविविधमिदं सूत्रन्तथाप्या-
रब्धे सूत्रे एतान्यपि प्रयोजनानीति भावः । अल्लिख्यौ प्रयोजनमतृणेद् । अत्र हि "गुणहृद्म्
इति "हलादौ पिति सार्वधातुके" इम् विध्यर्थमिदं सूत्रमिति वार्तिकमतेऽपि "प्रत्ययलोप" इ-
त्यत्र स्थानवदित्यस्यानुवृत्त्यैव सिद्धे प्रत्ययलक्षणग्रहणात् प्रत्ययासाधारणधर्मावच्छिन्ननिमित्त-
त्वे विधौ प्रत्ययलक्षणद्वार्यं यथा स्यादित्यर्थस्य सत्त्वेन मुह्यत्प्रासाद् इत्यत्र "अत्वसन्त-
र्यम्" इति दीर्घः "सौमनसी" इति स्वरश्च न । अस्त्वस्याः प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणत्वम् । ऐवङ्-
पेहितमित्यत्रापि प्रत्ययलक्षणस्य न प्राप्तिरित्यस्य उभयसाधारणत्वात्, भवति प्रत्ययलक्षणेन
कार्यम् अतृणेद् अवकात् अवका इत्यादौ सार्वधातुकत्वसिद्धधर्मावच्छिन्ननिमित्तकमते ध-
र्माः प्रत्ययासाधारणाः । एवञ्च यत्र वर्णस्य प्रधान्यन्तत्र वर्णवृत्तिधर्मस्य प्रत्ययाप्रत्ययसाधारण-
त्वेन तत्र प्रत्ययलक्षणम् भवतीति 'वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्' इति परिभाषा सिद्धैव । भा-
ष्यकारमते तु यत् "प्रत्ययलोप" इति सूत्रस्य प्रयोजनन्तत्स्थानिवद्भावेन सिद्धमिति "प्रत्य-
यलोप" इति सम्पूर्णसूत्रत्रयमार्थम् । तथाहि—यत्र राजपुरुष इत्यादौ समासाद्यप्रत्यय ल-
सो लुङ् तत्र प्रत्ययलक्षणे "यचि भम्" इति भयंज्या लोपोऽप्रवृत्तिः प्रयोजनमिति सम्भा-
ष्यते, तत्र न "नडि सम्बुद्धोः" इति टौ प्रतिषेधादिहान् । अन्यथा भयंज्या परमे व्योमसि-
त्यादिसिद्धौ तद्वैषम्यं स्पष्टमेव । नलुमता इति प्रतिषेधाच्च । आसीरित्यत्र हलादौ किति वि-
धायमानमित्यमपि न प्रयोजनमाशासः क्वाविति वचनेन तस्य सिद्धत्वात् । अत्र मित्रशौरिति त-
स्य प्रयोजनं भविष्यति नक्षत्रानुस्थानियद्भावेन सिध्यत्यल्लिखित्वादिति वाच्यम् ? "दास" इति
धुने हल्ग्रहणाकारणात् । नवैवमजादौ प्राप्तिरिति वाच्यम् । शाम इदिति पृथक् सूत्रं कार्यन्त-
तोऽस्ति तत्र नियमार्थम् अजादौ चेदष्टेऽपि नियमेन तद्वारणात्, आशामः क्वाविति वचने ॥

तत्त्वप्रकाशिका ।

रूपितप्रकारतानाश्रयत्वम् । *वर्णान्येतेरेति* । अवयविनिष्ठविशेष्यतेत्यादित्यर्थः । तेनाप्यदा-
र्थत्वेच विशेषणत्वेऽपि न प्राधान्यत्वञ्चेतिरिति गोहिते रैकुलमिति सिद्धम् । *प्रत्ययनिरू-
पितेति* । स्यावयविनिष्ठप्रकारतानिरूपितविशेष्यत्वम् । तेन चित्तेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

पाणिनेस्त्वव्युत्पत्तिपक्षे मेवेति शब्देन्दुशेखरे निरूपितम् । “आयनेयी”
(७-१-२) इति सूत्रे भाष्ये स्फुटमेतत् ॥ २२ ॥

ननु देवदत्तश्चिकीर्षतीत्यादौ देवादेः सन्नन्तत्वप्रयुक्तधातुत्वाद्यापत्ति-
रुत आह—

त्ययग्रहणे यस्मात्स विहितस्तदादेस्तदन्तस्य ग्रहणम् ॥ २३ ॥

“यस्मात्प्रत्ययविधिः” (१-४-१३) इति सूत्रे ‘यस्मात्प्रत्ययविधिस्त-
दादि प्रत्यय’ इति योगो विभज्यते । गृह्यमाण उपतिष्ठत इति शेषः । तेन
तदाद्यन्तांशः सिद्धः तदन्तांशस्तु “येन विधिः” (१-१-७२) इत्यनेन
सिद्धः । स च शब्दरूपं विशेष्यमादाय विशेष्यान्तरासत्त्वे ।

यत्तु प्रत्ययेन स्वप्रकृत्यवयवकसमुदायाक्षेपात्तद्विशेषणत्वेन तदन्तवि-
भैरवी ।

इति* । “उणादयो बहुलम्” इति सूत्रे इत्यर्थः । अव्युत्पन्नानीति पक्षे पाणिनीयसिद्धान्तभूतं
“उणादय” इति सूत्रस्य व्याकरणान्तरे ये उणादिप्रत्ययान्ताव्युत्पदितास्ते बहुलं वर्तमाने भूते
या साधवो भवन्ति । *एतत्* । उणादीनामव्युत्पन्नत्वम्, तत्र हि-शङ्खः कण्डः इत्यादौ
इत्याद्यादेशमाशङ्क्य प्रातिपदिकविज्ञानाच्च भगवतः पाणिनेः सिद्धमित्युक्तम् ॥ २२ ॥

प्रत्ययप्रसङ्गादाह—*नन्विति* । परिभाषायां मूलमाह—*यस्मात्प्रत्ययविधीति* । *शे-
ष इति* । तेन प्रत्यये गृह्यमाणे यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादीत्युपतिष्ठत इति वार्यार्थः सम्प-
न्नः । *तदाद्यन्तांश इति* । तदादेरित्यन्तः समुदायस्य षट्कोषोऽवयवस्य निरुक्तीत्या सिद्धः ।

ननु यत्र न प्रक्रान्तं विगोप्यक्यन्तत्र तदन्तविधिरत आह—*सचेति* । शब्दानुशासनप्र-
स्तावादेतज्ज्ञातः । प्राचामुक्तिरित्येति—*यत्तिवति* । स्वप्रकृत्यवयवेति* । स्वम्प्रत्ययः प्रकृ-
तिश्चादाववयवौ यस्य तस्येत्यर्थः । आक्षेपे बीजन्तु प्रत्ययस्य प्रकृत्यवयवहितोत्तरत्वनियमेन
तत्त्वप्रकाशिका ।

प्रत्ययप्रसङ्गादिति । सप्रसङ्गसङ्गत्येत्येतिशेषः । देवद(१)त्तश्चिकीर्षतीत्या*दाविति* ।
आदिना देवदत्तो गार्ग्य इत्यस्य परिग्रहः । *धातुत्वाद्यापत्तिरिति* । एवञ्च सुब्लुगापत्तिः,
विशिष्टासुब्लुग्यत्वा विशिष्टस्याडापत्तिः, “सन्त्यङोः” इतिद्वित्वस्य दे इत्यत्र प्रयुस्यापत्तिर्बो-
ध्या । *शब्दरूपमिति* । तदादिशब्दरूपमित्यर्थः । *विशेष्यान्तरासत्त्वं इति* । यत्र तु विगो-
प्यं प्रक्रान्तं तत्र तद्विगोप्यकमेव श्रुतत्वात्, न तदादिविगोप्यकमिति भावः ।

नयोभयतदन्तविधिरित्येतिराज्यम् ? तथा सति यन्नन्ततदन्तदन्तप्रातिपदिकात्कणि-
त्यर्थेन “यजिजोश्च” इत्यनेन परमगार्ग्येतिविशिष्टात् कणि “कितिव” इत्यादिद्वन्द्वौ परमगा-
र्यापण इत्यनिष्टापसेः । नचैवं “वनोरच” इत्यत्रोभयतदन्तविध्यभावेऽतिधीयतीति न स्यात्,
“नित्ये ममास” इत्यत्रानुत्तरपदग्रहणेन क्वचिदुभयतदन्तविधेर्भावेनादोषात् । अन्यथा परम-
गार्ग्यः कृणिकेत्यस्येति सन्ततदाद्यभावात्पत्त्याप्राप्ती तद्वयं स्यात् । तेनहे बहुधेयसि इति सिद्ध-

(१) देवदत्तश्चिकीर्षतीति । धातुत्वे “गुणो” इति गुणोपः स्यात् ॥ ननु प्रातिपदि-
कात्तदयस्युत्पादनार्थेन धात्ववयवोऽपि सुप् संज्ञाप्रयोजक एव गृह्यत इति प्रकृते धातुमञ्जा-
प्रयोजकत्वाभावात्सुप्, इति चेन्न । पदसंज्ञाप्रयोजकत्वस्य तत्रापि सत्त्वात् ॥ नच इतिप्रयोजक-
त्वेन गाढचयम् ॥ देवदत्तो गार्ग्य इत्यत्र “देवदत्तो गार्ग्य” इति समुदायस्यापि साधितान्तत्वेन
प्रातिपदिकत्वात्तदवयवस्य गुणो वृथ्वप्रयोजकस्यापि सम्भवेन माहचयस्यासम्भवात्

धिरिति तत्र । इयानित्यादौ तस्य तादृशसमुदायेन व्यभिचारेणाक्षेपासम्भ-
वात् । यत्र प्रत्ययो निमित्तत्वेनाधीयते, तत्र तदादेरित्यन्तांशमात्रोपस्थिति-
रिति “अङ्गस्य” (६-४-१) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः । एवं यत्रापि पञ्च-
म्यन्तारपरः प्रत्ययः आधीयते तत्रापि तदादीत्यन्तांशोपस्थितिः, परन्तु तत्र
पञ्चम्यन्तता । अत एव “एङ्ङस्वात्” (६-१-६९) इति सूत्रे एङ्ङादि-
त्यर्थलामः । अस्याः परिभाषायाः प्रयोजनान्तरं “येन विधिः” (१-१-७२)
इत्यत्र भाष्ये उक्तम् । परमगार्ग्यायण इति परमगार्ग्यस्यापत्यमिति विग्रहे-
ऽपि गार्ग्यशब्दादेव प्रत्ययो न विशिष्टात् । निष्कृष्य तावन्मात्रेण एकार्थी-
मैस्वी ।

प्रत्ययज्ञानस्य तादृशसमुदायाधेयकत्वमित्यभिमानः । अभिमानमिरस्यति—इयानित्यादा-
विति* । व्यभिचारश्चात्र सत्तायाम्योष्यः । *तस्य* । श्रूयमाणप्रत्ययस्य । *समुदायेनेति* ।
सहेतिशेषः, एवञ्चाधेपोऽनुमानम्, स च-कालः, स्वप्रकृत्यवयवकममुदायवान्, प्रत्ययावयवत्वात्,
इतिरीत्या न्यायप्रयोगे सति स्वीकार्यः । कालिकसम्यन्धो व्याप्यव्याकरुभावनिर्णयको वः
कल्पः । एवञ्चेपानित्याद्यधिकरणकालान्तर्भावेन व्यभिचारः स्फुटः ।

ननु तदन्तस्य चेत्यनेनांशद्वयस्य सर्वत्रोपस्थितिर्वाच्या चशब्दोपादानात् । एवञ्च “सुपि च”
इत्यादौ सुप्परमावयवको यस्मात्सुप्विधिस्तदावयवको यः समुदायस्तत्परकस्तत्सुप्निमि-
त्तकङ्कल्लोकोऽप्रसिद्ध इत्यत आह—यत्र प्रत्यय इति* । मात्रपदेन तदन्तांशानुपस्थितिस्तत्र
फलवर्णीयैति बोधितम् । अत एव “त्रोपसमस्याम्” इति निर्देशस्तद्वृत्तिः । एवम् “अतो भित्तं प-
म्” इत्यादावप्यकारान्तादङ्गात् परस्य भिसन्तस्यासम्भवः इति तत्रापि तदादेरित्यन्तांशमात्रोप-
स्थितिरित्याह—पुनर्मिति* । एवञ्चोभयत्रोपस्थितस्य तदादेरित्यस्य विरोधत्वं, प्रकृतस्तु त-
स्य विशेषणमिति भवति तदन्तविधिः । एतावान्शो यद्यप्युभयत्रोपस्थितस्तथापि पूर्वापेक्षया
यो विरोधस्तमाह—परन्त्विति । अतएव* । पञ्चम्यन्तस्य तदादेरित्यस्योपस्थितिसत्त्वादेव ।
एनेन विरोधस्य सुलभत्वमुक्तम् । एवमेकदेशमात्रस्योपस्थितिर्यत्रोक्तप्रकारव्यन्तत्रेय, यत्र तु
केवलप्रत्ययस्यैव शास्त्रे कर्मित्यनेनोपादाने यथा “कृतद्वितसमासाश्च” “बहुगणस्तु इतिस-
हृजा” “इतरइतमी” त्वादिषु पठितौ तत्रोभयोपस्थितिरर्भेति एतदेव ध्येयमिति—अस्या
इति* । देवदक्षिकीपतास्यत्र प्रयोजनस्योक्तत्वादाह—प्रयोजनान्तरमिति । न विशिष्टात् ।

॥ परमगार्ग्येतिममुदायात् ।

ननु “यनिशोश्च” इति सूत्रे प्रातिपदिकादित्यस्य पञ्चम्यन्तस्य सम्बन्धादस्यमाणायाः “प्र-
तत्यप्रनाशिका ।

॥ *तादृशसमुदायाधेयकत्वमिति* । एवञ्च “प्रत्ययः स्वप्रकृत्यवयवकममुदायविशिष्टः, प्रत्य-
स्यात्” इत्यनुमानगम्येयमितिभावः । *व्यभिचार इति* । यद्यपि प्रत्ययः स्वप्रकृत्यवयवकम-
मुदायपदेनोपलक्षित इत्युक्ती नास्ति व्यभिचारस्तथाप्येतन्मते आक्षिप्तशार्धस्य शाब्दयोरे-
वभाभावेन व्योक्तकल्पस्यैव युक्त्यमिति बोध्यम् । *यत्रोक्तप्रकारद्वयमिति* । अप्यम्भारः
यत्र पञ्चम्यन्तारपरः प्रत्ययः आधीयते तत्र “प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्या” इति तदन्तविधेर्निव-
रातशार्धसमाप्रगुतिर्हेन । परन्तु तत्र पञ्चम्यन्तता । यत्र तु प्रत्ययः सप्तम्यन्तरेनोपादीयते
तत्र यन्मारपर इत्यप्युपादाहृषां तृतेनाभिमानस्य पञ्चम्यन्तत्वोपस्थित्या तत्रापि प्रत्य-
यस्य पञ्चम्यन्तारपरत्वेन प्रत्ययग्रहण इति तदादिविधेर्निवयः । *एङ्ङादिति* । अङ्गाधेय-
स्यागमभारादादिविरोधकृतदन्तविधिरितिभावः । एङ्ङाहवर्ण इत्यन्ततदङ्गः सम्बन्ध-
वदशब्दित्यस्य वदनेनैव एङ्ङादिवयव शान्तस्य तदादित्वादकारणोपादानात् मेनि बोध्यम् ।

प्रत्ययमात्रग्रहणे एषा न तु प्रत्ययाप्रत्ययग्रहण इति “उगितश्च” (४-१-६)
इति सूत्रे भाष्ये । इयमङ्गसंज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥ २३ ॥

“येन विधिः” (१-१-७२) इति सूत्रे भाष्य एतद्वद्वक्तव्यं शस्य-
पवादः पठ्यते—

प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याः ॥ २४ ॥

यत्र पञ्चम्यन्तात्परः प्रत्ययः कार्यान्तरविधानाय परिगृह्यते, तत्र तदन्त-
विधिनैत्यर्थः । यथा “रदाभ्यां निष्ठातो नः” (८-२-४२) इत्यत्र । तेन
द्वपत्तीर्णत्वाद्वा धातुतकारस्य न नत्वम् । तदन्तेत्यंशानुपस्थितायपि तदा-
भैरवी ।

पाप्रयोजनरूपधनपरभाष्यस्यासङ्गतेः । *प्रत्ययमात्रग्रहण इति* । यत्रोच्चारिते पदप्रत्ययमि-
प्रत्यायोधकन्तत्र । *भाष्ये इति* । यत्र हि विशेषणविशेष्यभावे कामचारादुगितः प्राति-
पदिकादुगित्वात् प्रातिपदिकादित्यर्थेयोः सम्भवादुभयमवलम्ब्य लक्षणाणि प्रसाध्योभयया-
पि निर्वचनमतीर्णमतीति न सिध्यतीत्याह उगित्वस्य प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणत्वेन स-
माहितम् ॥ २३ ॥

उक्तपरिभाषापवादत्वादाह—*येनेति* । “प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्या” इति वार्तिकम् ।
अत्रापञ्चम्या इत्यसमर्थसमासः प्रत्ययः पर इति शेषः । एवञ्च प्रत्ययग्रहणे तदन्तस्यग्रहण-
ममिति प्रत्ययः पञ्चम्यन्तात्परो न गृह्यते चेदित्यर्थस्तत्र फलितमाह—*यत्रेति* । परिगृह्य-
ते* । अनुपठे । अनेन तदन्तांशमात्रस्य निषेधादपवादत्वव्यवहारः । *न नत्वमिति* । रदा-
कदात्तात् परे निष्ठातमित्यर्थेन धात्ववयवतकारस्य नत्वापत्तिरिति भावः । एकदेशस्यैवाय-
मिषेध इत्यर्थस्य स्पष्टप्रतिपत्तये आह—*तदन्त इत्यादि* । न च “रदाभ्याम्” इत्यस्य निष्ठा-
विशेषणत्वे वरितस्मुदितमित्यत्र नत्वापत्तिः, निष्ठातकारस्य विशेषणत्वे पञ्चम्यन्तात् परस्य प्र-
त्ययस्य प्रधानभावेन तदन्तांशोपनिवृत्तिः स्यादेवेति याच्यम् । संयोगादेरित्युत्तरसूत्राद्धातो-
रित्यस्यापकरणं तस्य निष्ठाविशेषणतया तदन्तांशानुपस्थितेः सिद्धौ रदाभ्यामिति तद्वय-
तकारस्य निर्दिश्यमानविशेषणमिति तत्राग्राप्तेः । यदि तु निर्दिश्यमानत्वं कार्यविधायकशा-
स्त्रप्रकृतादप्यत्राप्यभिप्रायिहविशेषणतावच्छेदकानुपूर्ववच्छिन्नत्वमित्युच्यते तदाऽनया
परिभाषया रदाभ्यामित्यस्य निष्ठाविशेषणगर्भेऽपि न धारितादौ शेषः । न चैवं निर्दिश्यमान-
परिभाषयैव द्वपत्तीर्णमित्यादौ धातुतकारस्य व्यावृत्तौ सिद्धायां “रदाभ्याम्” इति सूत्रेणैतस्याः
परिभाषायाः प्रयाजनमिति याच्यम् । “स्वनामी लुङ्गोः” इत्याद्यर्थेभ्यमारुह्यया । तथा-
न-अनयापि रदाभ्यामित्यत्र निराह इत्यादयात् । *तदंशानुपस्थिताविति* । यत्र तदन्तस्य-
रदाभ्यामनुपस्थितिः तत्र प्रत्ययग्रहणे यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादेरित्यंशानुपस्थितावित्यर्थः ।

एतेन यत्र “तनाद्यन्तशब्देन प्रत्ययस्योपादाने तत्रापि तदन्तस्येत्यंशस्यानुपस्थितायपि” य-
स्मात्प्रत्ययविधिस्तदादेरित्यंशस्य पठ्यन्तस्योपस्थितिरित्येवेति बोधितम् । तेन यामुदे-
वायकात् आशङ्क्य “तत्र साधुः” इति यति “यस्येति च” इति शेषे प्रत्ययमात्रस्य यदाह-
व्यवदेशिगतायेन तद्विस्तारस्याप्राप्तिरिति शङ्केषुपि पठ्यन्तगोशब्दस्य तेन मन्त्रात् गोय इ-
ति प्रयोगे “यान्तो वि प्रत्यये” इत्यादिनाभायः । एते हृदयस्य अः हृदय इत्यत्र “यस्य” इति
शेषाभावे हृदयस्य हृदादेशनाभावाच्च वलंतिष्यति । यन्तपरिभाषाविषये प्रयोजनमाह—तदं

तन्वप्रकाशिका ।

प्रत्ययग्रहणे चापञ्चम्याभावेन शेषतादयवध्यमन आह—*प्रत्ययमात्रग्रहण इति* । एवञ्च “तनाद्य-
न्त” इत्यत्र प्रत्ययस्य प्रत्ययमात्र सन्नेन न शेषः । धातुमात्रग्रहणे न प्रधानम् क्वचिदानी-

द्व्युत्तीर्णेत्यादौ दोषः स्यादेव । “स्यतासी लृलुटोः” (३-१-३३) इत्यादौ लृलुटोः पर्योरित्यर्थे नियमेनावधिसाकाङ्क्षत्वेनोपस्थितधातोरित्यस्यावधित्वेनान्वयाच्च तदन्तविधिः । “इलङ्यावभ्यः” (६-१-६८) इत्यादौ तु न दोषस्तत्र कस्मादिति नियतावध्याकाङ्क्षाया अभावेन पञ्चम्यन्तस्य प्रत्ययविशेषणत्वाभावात् । अङ्गसंज्ञासूत्रे तु तदादेः प्रत्यये पर इत्यर्थे पञ्चम्यन्तस्य विशेषणत्वं स्पष्टमेव । अत एव “उत्तमैकाभ्याम्” (५-४-९९) इत्यादिनिर्देशाः सङ्गच्छन्ते ॥ २४ ॥

नन्वेवं कुमारी ब्राह्मणिरूपेत्यादौ “घरूप” (६-३-४३) इति ह्रस्वापत्तिरैवा ।

यत् “भुतिङन्तम्” इति पदसंज्ञायामपि दोषः स्यादिति तत्र । तत्र यस्मात्प्रत्ययविधिरित्यस्यानुवृत्त्या निर्वाहात् ।

ननु “स्यतासी” इति सूत्रे प्रत्ययविशेषणबोधकपञ्चम्यन्तानुपादानेनांशद्वयोरुपस्थितौ दोषः स्यादत आह—*स्यतासीति । अवधिसाकाङ्क्षत्वेन* । परत्वस्यावधित्वनिरूपकतया नियमेनावधिसाकाङ्क्षत्वेन उपस्थितेति धातोरित्यधिकारे तस्य पाठेनेत्यादिः । *न तदन्तविधिः । न प्रत्ययग्रहण परिभाषाप्रवृत्तिः । यद्यपि धातोरिति स्यतासी विशेषणमत एव तयोरावध्याशुक्त्वसिद्धिस्तथाप्युपस्थितत्वात् तदेवावधित्वेन कल्प्यत इति भावः ।

नन्वेवं दयापोरपि प्रत्ययत्वात् साम्यां प्रतिपदिकादित्यस्याक्षेपे नस्य दयाविवेकपण्यत्वेन तदन्तांशानुपस्थितौ स्यन्तादाबन्तादित्यथांशोऽत आह—*दयाभ्य इत्यादाविति । अभावेनेति* । आक्षिप्तस्यार्थस्य शाब्दयोधे भाने मानाभावेन नियतावध्याकाङ्क्षाया अभावेनेत्यर्थः । एवञ्चोपस्थितस्य तदादेरित्यस्य निरोप्यत्वे दयापसद्व्यतद्विशेषणमिति भवति तदन्तविधिः ।

नन्वेवमङ्गसंज्ञासूत्रे सामान्यतः प्रत्यय इत्यस्योपादानेन तदन्तविधौ प्रत्ययपूर्वभागाभ्येयाङ्गत्वमित्यस्य कथं लभ इत्यत आह—*अङ्गसंज्ञासूत्र इति* । एवञ्चोपस्थिततदादेरित्यस्यैवावधित्वेनान्वयाच्च तदन्तांशोपस्थितिः । *अत एव* । तदादेरित्यस्यावधित्वेनान्वयात् तदन्तांशानुपस्थितैरेव । अन्यथाङ्गत्वं प्रवृत्तिमात्रस्य न स्यादिति निर्देशासङ्गतिः रूपद्वय २४।

नन्वेवम् । प्रत्ययग्रहणपरिभाषास्वीकारे । *कुमारीति* । ग्रथरूपमेतत् । न च रूपघातेन तदन्तविधावपि मात्र इत्यस्य प्राप्त्यः, उत्तरपदशब्दस्य समासचरमाश्रये लुप्तया ब्राह्मणिरूपेति समुदायस्योत्तरपदत्वाभावादिति वाच्यम् ? समानाधिकरण्यमात्रे दोषदानाय तादृशसमासममानार्थयथावत्त्वोपादानात् । दोषस्तु कुमारब्राह्मणिरूपेत्यत्र बोध्यः । अत्र हि कुमारोऽशब्दस्य पुत्रत्वे वाधित्वा “पुत्रत्वादाङ्गत्वत्वं विप्रतिषेधेन” इतिवार्तिक्यलालुवत्त्वापार्थक्य इत्यस्य स्यात् । तथा च—कुमारब्राह्मणिरूपेति स्यादित्यत्र सात्वयम् ॥ ऐत्यौरोरश्याधिविति निषेधात् तदन्तविध्यभावेन दोषो नोक्तः ।

तत्प्रकाशिका ।

मिति* । नच “निष्ठायां श” इति यस्मात्तदुत्पत्ते न निर्दिश्यमानपरिभाषाप्रवृत्तिरिति वाच्यम् ? यस्मात्तद्विधौविभागस्य भाष्येऽदृष्टत्वेन, “मह सुग” इत्यस्यागतिरुपस्थितत्वेन, समान्यमात्राभिः । तथाचारद्विबन्तादनुनामिकत्वविशिष्टादातोः ऋप्रत्यये दृषत् इत्यस्योपलक्षणमिति वाच्यम् । तन्म्यानभिधानात् । अनन्त्यत्रिकारपरिभाषाया न विषयः, देवर्त इत्यत्रानन्त्यत्रिकारभावश्च ॥ २४ ॥

अत्रादङ्गसंज्ञासूत्रे—*नन्वेवमिति* । कुमारोऽशब्दस्य भाषितपुत्रत्वेन पुत्रत्वावप्राप्त्या यस्माद्विधौविभागपरिभाषाया, तदादेरित्यत्र इत्यस्यापुत्रत्वेन समानाधिकरण्ये उत्तरपदे इत्यविधानेन यदोत्तरपदस्यान्वयपरिभाषाया—*पुत्रत्वमिति* । कुमारब्राह्मणिरूपेति* । यदोपा-

रत आह—

उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम् ॥ २५ ॥

“हृदयस्य हृल्लेख्यदणूलासेषु” (६-३-५०) इत्यत्र लेखग्रहणात् । तत्र लेखे-
ति न घञन्तमनभिधानात् । इयं च “हृदयस्य” इति सूत्रे एव भाष्ये स्पष्टा ॥ २५ ॥
भैरवी ।

नन्वत्र घादिषु परोष्यति ज्ञाने कस्मादित्याकाङ्क्षायां यस्माद्विधिरित्यस्योपस्थित्या यस्मा-
द्विधिरित्यत्रादेः परो यो घादिरित्यर्थे पञ्चम्यन्तात् परस्य प्रत्ययस्याश्रयणेन “प्रत्ययग्रहणे वाप-
द्यन्त्या” इत्येव सिद्धेऽस्या वैयर्थ्यमिति चेन्न । शब्दस्वरूपं विरोप्यमादाय प्राप्ततदन्तविधेस्त-
था निषेधोऽपि उत्तरपदस्य विरोप्यत्वाद्यस्तदन्तविधिः प्राप्तस्तन्निषेधार्थमस्यावश्यकत्वात् ।
द्विविधतदन्तविधिनिषेधस्तदन्तु तस्या घक्तुमशक्यम्, “येनानाप्राप्तन्यायेन” पूर्वप्रतिपादि-
ततदन्तविधेरेव स्या निषेधात् । प्रकृतपरिभाषायां ज्ञापकमाह—*“हृदस्य” इति* । अन्य-
थाऽगौव सिद्धे लेखग्रहणञ्च कुर्यात् ।

ननु लेखग्रहणे यत्र घञन्तेन समास्तदर्थमस्तु इत्यत आह—*तत्रेति* । तत्र उक्तसूत्रे
गृह्यत इति शेषः । अनभिधाने मानमाह—*इयमेति* । तत्र हि—लेखग्रहणस्य उक्तरीत्या ज्ञा-
पकत्वमुपपादितम् । यदि च हृल्लेखशब्दावयवो लेखशब्दो घञन्तः स्यात् । तदा ज्ञापकपर-
भाष्यविरोधः स्पष्ट एव ।

ननु अयन्निषेधो यद्युत्तरपदाधिकारपठितप्रत्ययत्वावच्छेदेन कल्प्यते तदा “घरूप” इति-
सूत्र एव हीग्रहणेन तदन्तग्रहणं न स्यात् । एवम् “हृको हृत्वो हयो गालवस्य” “हृयोः
संज्ञाहृन्सोः” “क्षित्यनव्ययस्य” इत्याशावपि निषेधापत्तिरिति चेन्न । ज्ञापकस्य सजातीया-
पेक्षत्येन निमित्तत्वेनेष्टस्य प्रत्ययस्य यत्र ग्रहणं तत्र उपात्तस्य प्रत्ययस्य उत्तरपदविशेषणत्वं न
इत्येव कल्प्यते । दयः हृयापोरित्यनयोर्न निमित्तत्वम् । पठ्यन्तशब्देनोपाशानात् । “क्षिति” इति
सूत्रे यद्यपि “सप्तम्यन्तपदयोष्यं तत्त्वं, तथापि तन्न उपात्तम्, किन्तु बहुव्रीहियोग्यमित्यदोषात् ।
उपात्तत्वञ्च प्रत्ययशब्दशक्यतानच्छेदकं यद्रूपं तेन रूपेण गृहीतत्वम् । अत एव “रात्रेः कृति” -
“विधिष्वग्देवयोश्चेद्व्यञ्जतावप्रत्यये” अनयोर्न निषेधस्य विषयता । “इयेनतिलस्य पातेभ्यः”
“उपसर्गस्य घञ्यमनुप्ये” तन्निपुक्ती” एतेषु सप्तम्यन्तशब्दोप्यत्वं यद्यपि अस्ति, तथापि
न निषेधः उत्तरपदविशेषणत्वस्य सामर्थ्येन कल्पनादिति दिक् ॥ २५ ॥

तत्त्वप्रकाशिका ।

वीनां पाक्षिकजातिकार्यत्वात् पुंवद्भावस्य “जातेश्च” इति निषेधेन कुमारिमाह्वानिह्वेत्यपि
बोध्यम् । *शब्दस्वरूपं विरोप्यमादाय* इति । सामान्यतः यत्किञ्चित्पदविरोप्यकृतदन्तविधे-
स्तु न निषेधस्तत्वा सति “तिङ्ङितिङ्” इत्यत्रापि पदविरोप्यकृतदन्तविधेर्निषेधेन देवदत्तो
भवतीत्यत्र तिङ्ङन्तस्य निषातानापत्तेः । *न कुर्थादिति* । नच तदन्तविधिना परमलेखशब्दे
हृदादेशार्थं तदिति वाच्यम् । ज्ञापकपरभाष्यप्राप्ताभाष्येन तस्यानभिधानात् । “गिलेऽगिलस्य”
इत्यनेनैव तदन्तविधिना “तिमिगिलगिल” इत्यस्य सिद्धेः गिलगिले च” इति वचनेन “प्रा-
तिपदिकग्रहणे उत्तरपदाधिकारे न तदन्तविधिः” इति परिभाषाज्ञापनेन फलभेदाभावाच्च ।

नच तिमेः गिलस्य ॥ यो गिलस्स तिमिगिलगिल इत्यत्रोत्तरपदत्वाभावेन तदर्थं तदि-
ति वाच्यम् । एतादृशशब्देऽन्तरङ्गत्वात्पूर्वमेव मुमुत्सिद्धेः ।

यद्यु गिलान्ते चेत् गिलगिले एव इति नियमेन चरितार्थत्वम् । अत एव तिमिशिप्रगिल
इत्यत्र मुम् न इति वदन्ति तन्न विषेर्बलीयस्त्वात् । *उपात्तस्य प्रत्ययस्येति । श्रावणप्रत्य-

नन्वेवं परमकारीपगन्धीपुत्र इत्यत्रेवातिकारीपगन्ध्यापुत्र इत्यत्र “प्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्नयोः” (६-१-१३) इति स्यादत आह—

स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न ॥ २६ ॥

विषयसप्तमीयम् । यः स्त्रीप्रत्ययः स्त्रियं प्राधान्येनाह तत्र तदादिनियमो भवती ।

प्रत्ययप्रसङ्गादाह—*नन्वेवमिति । एवं प्रत्ययग्रहणपरिभाषासत्ये उक्तस्थलेष्वेव तदन्तांशनिषेधस्वीकारे इति वा । न च प्रत्ययग्रहण इति परिभाषासत्त्वात् कथं परमकारीपगन्धीपुत्र इत्यत्र सम्प्रसारणप्राप्तिरिति दृष्टान्तासङ्गातिरिति वाच्यम् ? भाष्ये प्रथमतः स्त्रीप्रत्ययेन इत्येष पठितमतः तेन प्रत्ययग्रहण इति परिभाषाया निषेधे, परमकारीपगन्धीपुत्र इत्यत्र यथा भवति तथाऽतिकारीपगन्ध्यापुत्र इत्यत्रापि स्यादित्यर्थान् ।

यद्वा द्वयानन्दो भिन्नक्रमः अतिकारीपगन्ध्यापुत्रानन्तरं द्रष्टव्यः, एवञ्चातिकारीपगन्ध्यापुत्रादयत्कपूर्वपदसम्बन्धभावप्रतियोगि “प्यङः सम्प्रसारणं पुत्रस्योः” इति सूत्रविहितं सम्प्रसारणं यथा भवति तथा परमकारीपगन्धीपुत्र इत्यत्रापि स्यादित्यर्थः । *स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन* । अप्रस्त्रीप्रत्यय इत्यस्य गृह्यमाण इति शेषः, अनुपसर्जने न इति विषयसप्तमी । एवञ्च स्त्रीप्रत्यये गृह्यमाणोऽनुपसर्जनस्त्रीप्रत्ययविषये तदादिनियमो नेत्यर्थस्तत्फलितार्थमाह—*य स्त्रीप्रत्यय इत्यादिना* तदादिनियमो नेत्यस्य तदारेरित्येतत् तत्रानुपस्थितिरित्यर्थः । अतिप्रसङ्गाद्वाः तत्त्वप्रकाशिका ।

क्षविपयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्नविषयताप्रयोजकस्य प्रत्ययस्येत्यर्थः । नचैवं “एकतद्धिते च” इत्यत्राप्रवृत्त्यापत्तिः, “सर्वनाम्नो वृत्तिमात्र” इति भाष्येष्टया तस्य गतार्थत्वात् । एवञ्चोक्तं रूपदाधिकारे समस्यन्ते निर्दकप्रत्ययग्रहणे, उक्तपदविशेष्यकतदन्तविधिर्नेति फलितः । तथा च न कापि श्लोकोऽस्ति ।

केचित् “एकतद्धिते च” इत्येतदर्थं वृद्धिर्न विषयताप्रयोजकपदव्यति कश्चिं तदन्तविधिः इति परिभाषाधर्म्य संत्येन “मुपिच” इत्यादावप्यनेनैव तदन्तविधिनिषेधेन “प्रत्ययग्रहणे प्राप्तेऽस्या” इति परिभाषा न कर्तव्या । न च “स्यतासी स्तुतोः” इत्यत्र इदन्तत्वेन निषेधो न स्यादिति वाच्यम् ? इदतिद” इत्यस्य तिदस्यानितावच्छेदकधर्मेवद्विधाः कृत्संज्ञकाः भवन्तीत्यर्थेन स्तुतोः इत्संज्ञाया अभावात् । ह्यत्तोर्ण इत्यत्र निदन्ततदाद्यवयवस्य निदन्तकारस्य नत्यमित्यर्थेन न दोष इति यदन्ति ॥ २६ ॥

प्रत्ययग्रहणादिति । अपरादमेद्वत्येति शेषः । *स्यादित्यर्थ इति* । केचित् इयेन नित्यममामभ्य विधानाद्विग्रहमस्याममभ्येन विभक्तं “यस्मात्प्रत्यय” इति सूत्रेऽस्तीत्यनुवृत्त्यैः प्रत्ययभिधे प्रत्ययग्रहणे तदादेरप्यित्या यथाश्रुतमेवावतरणमुपपन्नं परिभाषयाऽनुपसर्जने निषेधे नियमयन्ति । *स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेनेति* । अनुपसर्जनेविषयस्त्रीप्रत्यययोधकपदपठिने साधे तदादेरपठिपतिर्न भवतीति परिभाषाधर्मः । अयमप्राशयः—प्यङ इत्यादिनाश्रमावर्तनीयम् । तत्रास्तीऽनुपसर्जनविषयिका स्वरितत्वप्रतिज्ञा कर्तव्या । द्वितीयमुपसर्जनेविषयकम् । तत्रानवा परिभाषया प्रथमे तदादिनिषेधनिषेधेन परमकारीपगन्धीपुत्र इत्यत्र सम्प्रसारणं भवति । अतिकारीपगन्ध्यापुत्र इत्यत्र अनुपसर्जनत्वात्प्रथमस्याप्राप्तिः । द्वितीयस्यापि तदादेरपठिपदस्य एवत्यन्यतदादिनाभावेनाप्राप्तिः ।

न च द्वितीयं वाक्यमनर्थकमुदाहरणमायादिति वाच्यम् ? कन्नुपसर्जनपरिगन्ध्यापुत्रादयः पुत्रपत्नयोः समामे तदुदाहरणमाह । एतेन “प्यङः सम्प्रसारणम्” इत्यत्रानुपसर्जनस्योक्तिरप्यङ्गवद्विहितो व्यर्थपरिगणयाम् ।

हणे" (प० २३) इत्यस्यापवादत्वात्तदेकवाक्यतापन्नत्वाद्यात्रापि ग्रहण-
दसम्बन्धेन स्त्रीप्रत्ययसामान्यग्रहणे तद्विशेष च प्रवृत्तिर्न तु स्त्रीप्रत्ययास्त्रीप्र-
त्ययग्रहणे । ध्वनितञ्चेदम् "अर्थवत्" (१-२-४५) सूत्रे भाष्ये । इयञ्च वा-
चनिक्येव प्यङ्गः (६-१-१३) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥ २६ ॥

भैरवी ।

न्याय्यत्वादिति भावः ।

ननु उत्सर्गसमानधर्मकत्वं इनमादौ व्यभिचरितमत आह—*तदेकेति । वाक्यैकवाक्यता
अत्र बोध्या । ग्रहणदसम्बन्धेनेत्यनेन स्त्रीप्रत्ययमात्रस्य येन केनापि रूपेण ग्रहण इति बोधि-
तम् । स्त्रीप्रत्ययसामान्यग्रहणे "गोखियोऽसर्जनस्य" इत्यत्र, विशेषग्रहणे "प्यङ्गः सम्प्रसार-
णम्" इत्यत्र, न तु स्त्रीप्रत्ययास्त्रीप्रत्ययग्रहणे, यत्रोभयबोधकस्य शब्दस्य उपादाने तत्र, तेन
पुण्योऽस्ति ते पुनरेव इत्यत्र तिदाब्दान्तवाक्यस्य सद्विद्वान्तत्त्वप्रयुक्तप्रातिपदिकत्वञ्च, यदि स-
मासग्रहणकृतनियमेनैतद्व्यापृतिरित्युच्यते, तदापि मन्त्या परमगतिरित्यत्र "कर्तृकरणेकता
बहुलम्" इति समाससंज्ञाभावः कलं सिध्यति । एतेन प्रत्ययान्तपदपूर्वदासाप्राप्त्या भिक्षाः भि-
क्षा भिक्षा आम् इत्यत्र एकशेषो न स्यादिरित्युक्तेरपि सङ्गतिः । *ध्वनितञ्चेदमिति* । स्त्रीप्रत्य-
यास्त्री प्रत्ययग्रहणे स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जने न" इति परिभाषाया अप्रवृत्तिरित्येतद् ध्वनितम् । त-
त्र हि—समुदायस्यार्थवत्तो देवदत्तशुक्रामभ्याज दण्डेनेत्यस्य प्रातिपदिकत्वमाशङ्क्य समासग्रह-
स्य नियमार्थत्वेन तेन नियमेन चारितम् । यदि स्त्रीप्रत्ययास्त्रीप्रत्ययेऽप्येषा परिभाषा प्रवर्तते तदा
राजकुमारीति समुदायस्यानया प्रत्ययान्तत्वेन प्रत्ययान्तपदपूर्वदासस्य प्राप्त्या समासग्रहणस्य
तत्र प्रातिपदिकसंज्ञाविधायकत्वेन चारितार्थसम्भवेन नियमार्थत्वकथनविरोध इति तेन ध्वनि-
रुमित्यर्थः । *भाष्ये स्पष्टेति* । तत्र हि मुख्यदृष्टान्तेन गौणेऽतिप्रसङ्गमाशङ्क्य अनया स उ-
च्यते । अत्रेदमवधेयम्—परमकारीपगन्धीपुत्र इत्यत्र सम्सारणप्रवृत्तिस्वीकारे भाष्यविरोधसम्भा-
वना भवति । तथा हि—"सम्प्रसारणाच्च" इति सूत्रेण पूर्वरूपस्य "शकङ्गधेम्" इत्यत्र प्राप्ति-
माशङ्क्य "सम्प्रसारणपूर्वत्वे समानाङ्गग्रहणे कर्तव्यम्" इत्युक्त्या परिहारः कृतः । तस्य यदि
सम्प्रसारणाचोरेकाङ्कस्यत्यमित्यर्थस्तदा सुधुपास्तेत्यादौ समासादुत्पन्ननिमित्तकाङ्कसंज्ञा-
विशिष्टसमुदायावयवतया सम्प्रसारणस्य इकारस्य च स्थाने पूर्वरूपापत्तिरित्येव । यदि च प्र-
त्ययमन्त्या सम्प्रसारणनिमित्तप्रत्ययनिमित्तकैराङ्गावयवत्वं विधक्षितमित्युच्यते, तदा परम-
कारीपगन्धीपुत्र इत्यत्र सम्प्रसारणनिमित्तकाङ्कसंज्ञाया अभिप्रेत्या पूर्वरूपानापत्तिरिति
केचित् । तत्र 'सम्प्रसारणपूर्वत्वे समानाङ्गग्रहणे कर्तव्यम्' इति वार्तिकेऽङ्गशब्दस्य सम्प्रसा-
रणिनिमित्ताप्यग्रहितपूर्वर्त्तिसमुदायपरतया परमकारीपगन्ध्याशब्दस्य पुत्रशब्दाव्यग्रहितपूर्व-
वर्त्तित्वेन तद्वयस्य सम्प्रसारणस्यावयवता तादृशसमुदायावयवतया पूर्वरूपस्य सिद्धेः ।

गन्त्ये ॥ "स्त्रीप्रत्यये चानुपसर्जनेन" इति परिभाषा न स्वीकार्य्या "प्यङ्गः सम्प्रसारणम्"
इति सूत्रेऽनुपसर्जनस्येति वाच्यम्, तावन्नेवातिकारीपगन्ध्यापुत्रा इत्याप्रातिपदस्यभावा-
सिध्यति । उपसर्जनत्वञ्चात्र लौकिकमेव । प्यञ्च प्रत्ययग्रहणपरिभाषालक्ष्यस्य व्यवहृतस्य

तत्त्वप्रकाशिका—

रित्यर्थः । गौरीपुत्र उमापुत्र इत्यत्र प्राप्तीयोपसर्जनत्वमप्येवमिति लौकिकोपसर्जनस्याभावाज्ज-
हन्त्यः । *असम्भवादिति* । नवाप्य स्त्री ई याः मिञ्छान्ता निरिस्त्यादौ ताम्भ्यः । अत-
एव "स्त्रीभ्यो ङ्" इति न ङ् निरिस्तस्य स्त्रीप्रत्ययान्ततदादित्वाभावादिति, वाच्यम् ।
प्रवृत्तिविशिष्टप्रत्ययेऽसम्भवादित्यर्थः ।

वन्तुतस्तु अत्रोपसर्जनं नास्तीति बोध्यम् । स्त्रीप्रत्ययग्रहणे स्त्रीप्रत्ययान्तस्य ग्रहण-

भैरवी ।

अनुपसर्जनत्वं तत्र परमकारीपगन्धीपुत्र इत्यत्रैव भविष्यति । न च प्रत्ययग्रहणपरिभाषाल-
भ्यस्य व्यङ्ग्यत्वं न पूर्वपदत्वं हिन्तु परमकारीपगन्ध्याशब्दनिष्ठम्, तच्च न व्यङ्ग्यमिति क-
थमिह सम्प्रसारणसिद्धिरिति वाच्यम् । अनुपसर्जनव्यङ्ग्यत्वात् पूर्वपदस्य ग्रहणेनादोषा-
त् । न च परमा कारीपगन्ध्या यस्येति बहुमीदौ विनापीति वचनेन परमशब्दस्य लोपेऽवशि-
ष्टस्य कारीपगन्ध्याशब्दस्य पुत्रशब्देन समासे व्यङ्ग्यत्वं कारीपगन्ध्याशब्दस्य उपसर्जन-
त्वेन कारीपगन्धीपुत्र इति न स्यादिति वाच्यम् । “व्यङ्ग्य” इति सूत्रेऽनुपसर्जनेत्यस्य पाठे
सर्वत्रैव व्यङ्ग्यत्वात् । पुत्रप्रतिपादार्थविशेषणतया उपसर्जनत्वेन तादृशस्य व्यङ्ग्यत्वेऽप्यसिद्धि-
रुपसिद्ध्याऽसम्भवापत्तिः । अत उत्तरपदार्थभिन्नार्थविशेषणताप्राप्यार्थबोधकस्य व्यङ्ग्यत्वात्
उपसर्जनपदेन ग्रहणेन पूर्वोक्तस्थाने ‘यः शिष्यत’ इति न्यायेन व्यङ्ग्यत्वं बहुमीदृशप्रतिपादकत-
या तस्य निरुक्तानुपसर्जनत्वेन दोषाभावात् ।

न च “क्षीप्रत्यय” इति परिभाषाया अनङ्गीकारे परममालायामित्यत्र पाङ्गोपत्तिरिति
वाच्यम् । तत्र आवन्तमापस्तम्ब यदङ्गमित्यर्थस्य स्वीकारात् । न च “गोक्षियोः” इति सूत्रे
उपसर्जनत्वस्य शास्त्रीयस्याङ्गीकारादतिराजकुमारिरित्यत्र शास्त्रीयोपसर्जनत्वसत्येऽपि क्षीप्रत्य-
यान्तत्वाभावेन कुमारीशब्दस्य तत्समासे शास्त्रीयोपसर्जनत्वाभावेन च ह्रस्वत्वाभापत्तिरिति
वाच्यम् । क्षीप्रत्ययान्तक्षीप्रत्ययान्तान्तश्च यदुपसर्जनमित्यर्थस्य स्वीकारात्, “तस्य च” इति
वार्तिकस्वरसात्पुनस्तस्य प्रातिपदिकविशेषणतया प्रत्ययग्रहणपरिभाषालभ्यस्योपसर्जन-
रूपोपसर्जनपदार्थविशेषणतया क्षीप्रत्ययान्ताच्चे यदुपसर्जने क्षीप्रत्ययान्तश्च यदुपसर्जने तदन्तं
यत्प्रातिपदिकं तस्य ह्रस्व इत्यर्थाश्रयणात् । नचैवमावन्तान्तमित्यर्थस्वीकारेऽतिसद्व्यायेत्यत्र
पाङ्गोपत्तिरिति वाच्यम् । तस्यावन्तस्य लाक्षणिकत्वात् वर्णग्रहणेऽपि लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभा-
षा प्रवृत्तिः “जोत्” सूत्रस्य भाष्यसम्मतत्वात् । न च निरायै इत्यत्र चरितार्थस्य “पाङ्गोप”
इति सूत्रस्य लाक्षणिकत्वात् खट्वायै इत्यत्रापि अप्रवृत्त्यापत्तिरिति वाच्यम् । यस्य स्वरूपस्य
लक्षणप्रवृत्तिं विना शोषलक्ष्मिस्तस्यैव लाक्षणिकस्य परिभाषाविषयत्वात् । खट्वा इत्याका-
ररूपन्तु सर्ववर्दीयप्रवृत्तिपूर्वकालेऽप्युपलभ्यत इति न परिभाषाया विषयः, पूर्वोक्ततदन्तविधि-
स्वीकारादेवार्द्धखट्वायामित्यत्र यादसिद्धिः । न च “क्षीभ्यो ढक्” इति सूत्रे द्रदोऽपत्यन्दा-
रद इत्यत्र दगमादाय स्वरितत्वप्रतिज्ञया रुद्रधिकाराविहितटाबाधन्तानामेव ग्रहणम् । एवं च
परमगाङ्गेय इत्यत्र विशिष्टस्य श्रीप्रत्ययान्तत्वविरहाद्दृढं न स्यात् । द्वितीयतदन्तविधिस्तु
समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः” इति निषेधाद् दुर्लभ इति वाच्यम् । विशिष्टेनैकाधीनभावेऽवयवे-
नापि तस्यैव सत्येन परमगाङ्गेयण इत्यत्रैवावयवाद्दृढं न तत्सिद्धेः

यस्तुतस्तु “क्षीभ्यो ढक्” इत्यत्रैव ग्रहणेनैव । अतएव “पितृष्वसुभ्यो ढकि लोपविधान-
सङ्गच्छते । द्रदादिष्वर्थकानान्तु शिवादी पाठाच्चेभ्योऽण् बोध्यः ।

एतेनावयवाद्दृढः प्रवृत्तौ परमगाङ्गेयसिद्धावपि परमगाङ्गेयासिद्धिरिति यो दोषः
परिभाषाया अस्वीकारे सम्भाल्यते, सोऽपि वारितो भवतोत्पेक्षे रीत्या क्षीप्रत्यये चानुपसर्ज-
नेनेतिपरिभाषाया अभावेऽपीदसिद्धिः काव्येत्याहुः ।

अपरे तु “व्यङ्ग्य” इति सूत्रेऽनुपसर्जनस्येत्यस्य कथनेन बहुषु स्थलेषु पूर्वोक्तरीत्याऽनेक-

तत्त्वप्रकाशिका ।

म् । अतिकारीपगन्ध्यापुत्र इत्यत्र शास्त्रीयोपसर्जनसत्याचक्षादिनियतविधिः । अत एवार्थ-
द्वयेत्यादिस्थलेऽर्थाचासौ खट्वेति कर्मधारयसमासं स्वीकृत्यैकदेशिसमासं प्रत्याख्यातवान्मा-
ध्यकारः । अन्यथाऽऽत्मप्रत्याख्यानयोः फलभेदः स्पष्ट एव ।

नचात्र शास्त्रीयोपसर्जनग्रहणे परिभाषा व्यर्था, “व्यङ्ग्य” इति सूत्रे ‘अनुपसर्जने’ इति

नन्वेवं "तरुमपौ घः" (१-१-२१) इत्यादिना तरुवन्तादेः संज्ञा
संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणे नास्ति ॥ २७ ॥

भैवी ।

तदन्तविधिविधौकारापेक्षया "खीप्रत्यये चानुपसर्जनेन" इति परिभाषा भाष्यप्रकृता अस्तिपादि
तेति वदन्ति ॥ २६ ॥

प्रत्ययप्रसङ्गादाह—नन्वेवमित्यादि* । एवमित्यस्यापीति शेषः । *तरुवन्तादेरिति* ।
न च "उत्तरपदाधिकारे प्रत्ययग्रहणे न तदन्तग्रहणम्" इत्यस्यैवं सति वैयर्थ्यमिति प्रत्ययम् ।
रूपकल्पप्रधानेन तदन्तस्याग्रहणस्य बोधनेन चारितार्थ्यमस्मात् । तेन निषेधेनैव सिद्धिरि-
त्याशयेनाह—तरुवन्तादेरित्यत्रादिपदोपादानश्रुतम् । तेन "कृतवत् निष्ठा" इत्यस्य सप्रधान
संज्ञाविधाविति । विधिशब्दे भावे किं संज्ञाया विधिरिति कर्मपदव्यन्तेन समासः ।
तेन "निष्ठावद्वाचः" इत्यादौ तदन्तस्य ग्रहणं अवल्येव ।
... ननु अनया तरुवन्तादेर्यसंज्ञाभावेऽपि "यस्य" इति सूत्रे संज्ञानुवादेन विधानात् तद-
न्तस्य ग्रहणे दुर्वांरमिति चेन्न । एतन्निषेधसामर्थ्यात् । प्रदेनेष्वपि तदन्तविध्यभाष्यस्य कल्प-
नात् । न चात्र भास्यस्य हेतुत्वकल्पनमसङ्गतम् । एतदग्रहणश्रुतिना "उत्तरपदाधिकारः" इति
पूर्वोक्तवचनेन तदन्तविध्यभावस्य सिद्धत्वादिति वाच्यम् । "रात्रेः कृति विभाषा" इति
सूत्रस्य रात्रिमये रात्र्यद इत्युदाहरणस्य सर्वमस्मत्तस्त सिद्धये तस्य वचनस्यातिरिक्तत्वस्य
कल्पनात् । रात्रिशब्दात् कृतोऽयमभेदः "रात्रेः कृति विभाषा" इति सूत्रारम्भ एव तस्यानि-
त्यमस्य मानम् । न चाचारक्रियन्तरात्रिशब्दात् कृतः सम्भवः । "भविष्यत्तेति" न्यायेन तत्र
रात्रिशब्दस्य भुममावात् ।

यदा ज्ञापकस्य सजातीयोऽपेक्षत्यादुत्तरपदाधिकार इति वचनस्य प्रत्ययपदस्य प्रत्ययसंज्ञा-
क्षयतावच्छेदकत्वावच्छिन्नबोधकशब्दपरतया तेन वचनेन तदन्तविध्यभावो वक्तुमशक्यः ।
यत्र सादृशरूपेणोपादानान्तर्गते तस्य वचनस्य प्रवृत्तिरूपवता । "यस्य" इति सूत्रे घशब्देनो-
पादानं तथा न प्रत्ययसंज्ञाक्षयतावच्छेदकम्, यद्य प्रत्ययसंज्ञाक्षयतावच्छेदकं तेन रूपेणोपा-
दानाभावः । अत्रापि कल्पनायां "रात्रेः कृति" इति सूत्रस्य तादृशोदाहरणपरे भाष्यमेव भा-
स्यम् । न चैतदसामर्थ्यात् प्रदेनेषु तदन्तविध्यभावकल्पनेऽप्येवैवेदेदन्तविध्यवचनान्तं प्रवृत्तिमि-
त्यसामर्थ्येन तस्य पक्षस्य "संज्ञाविधौ" इतिवचनेनासम्भवाभिधानमकलमिति वाच्यम् ।
संज्ञाविधाविति वचनस्य पुरःपूर्तिरुक्तया तेनैव तत्पक्षसाम्भवस्तथोक्त इति कल्पनस्य मम्म-
श्रुत् । निषेधद्वयाशनेन तु तत्र पक्षद्वयाशङ्का श्रुता ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

न्यासेन "गोश्रियोः" इति सूत्रे 'रुच्यन्तस्य' इति न्यासेन च तदन्तविधिविध्यस्वीकारेण च
सिद्धेरिति वाच्यम् । अतिवहुधेयस्योत्पादौ इत्याद्यापत्तेः ॥ २६ ॥

प्रसङ्गादिति । अपवादमद्वत्येति शेषः । *तरुवन्तादेरिति* । तयाचं—गौरीप्राक्षणि-
तरेत्यत्र "यस्य" इति इत्यः स्यात्, प्राक्षणिनरेत्यत्र च न स्यादिति भावः । *सिद्धत्वादि-
ति* । "प्रत्ययग्रहणे चाप्यस्या" इत्यनेन मन्त्रादिनिषेधकृतदन्तविध्यभावस्य चेति शेषः ।

ननु आचारक्रियन्तरात्रिशब्दानुनि निष्ठाप्राक्षणे सुप्रसङ्गं चरितार्थमिति कथमनित्यस्य
मानमन आह—यदेति प्रत्ययसंज्ञाक्षयतावच्छेदकत्वादिति । आचरप्रत्ययशविषयतावच्छे-
दकभावावच्छिन्नविषयताप्रयोजकद्वयवोधक्यदमात्रपरत्वेति भावः । *कृतवत्त्वस्य सम्भवा-
त्* । इदेदेदन्तं यद्विचरन् तदन्तमित्यर्थेन कुमार्येगारमित्यादौ दोषामराशयः ।

“सुतिङ्गन्तम्” (१-४-१४) इत्यन्तग्रहणमस्या ज्ञापकम् । न च प्रत्यययोः पदसंज्ञायामपि प्रत्ययग्रहणपरिभाषया तदन्तग्रहणसम्भवाज्ज्ञापितेऽपि फलाभाव इति वाच्यम् । पदसंज्ञायाः “स्वादिषु” (१-४-१७) इति भैरवी ।

न च “संज्ञात्रया” इति परिभाषाभावे तदन्तस्य घसंज्ञायां प्रदेशे तदन्तग्रहणस्थितौ पुनस्तस्य उत्तरपदविशेषणत्वेन तदन्तान्ते उत्तरपदे इत्यर्थः स्यात् । तथा च—कुमारोपरमद्राहणितरेत्यत्रापि ह्रस्वस्य प्राप्तिः, परिभाषासत्त्वे तु न प्राप्तिरिति निषेधसामर्थ्यादित्यनुपपन्नमिति वाच्यम् । अन्तग्रहणस्य तत्र ज्ञापकतापरिभाष्यप्रामाण्येन कुमारोपरमद्राहणितरेत्यत्र ह्रस्वाभावनिश्चये तत्र उत्तरपदग्रहणस्य विशेषणताया एव कल्पनात् ।

न च पूर्वनिपातविधायक “निष्ठा” इति सूत्रे स्वरविधायक “निष्ठाश्चञ्ज” इति सूत्रे च तदन्तग्रहणशब्देन प्रदेशेषु न तदन्तस्य ग्रहणमित्यनुपपन्नमिति वाच्यम् ? तत्र सामर्थ्यात् तदन्तविधिसंभवात् । यद्ये तु लेखग्रहणशब्देन प्रत्ययसंज्ञाशब्दस्यातर्क्यत्वेदकानुपूर्व्यवच्छिन्नस्य यत्र उपादानं तत्र न तदन्तग्रहणमिति पूर्वोक्तः प्रकार एवाद्रियते, तदा तु नानुपपत्तिरिति ध्येयम् ।

अन्तशब्दस्य “सुतिङ्गन्तम्” इति सूत्रस्य ज्ञापकत्वं सम्भवतीत्याशयेनाशङ्क्य निराचष्टे—नचेत्यादिना । प्रत्यययोः १. सुतिङ्गोः । २. फलाभावः । चारिताभ्यांभावः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

न च “कृत्स्नानिष्ठा” इति सूत्रे तदन्तविधिनिषेधाय सार्थिका, प्रदेशे “रदाभ्याम्” इत्यत्र “प्रत्ययग्रहणे ज्ञापकस्या” इति निषेधादिति वाच्यम् । निष्ठासंज्ञाकाले कृत्स्नतोः प्रत्ययस्याभावेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया अप्रवृत्त्या तदनुयोगात् ।

न च “एः प्रत्ययस्य” इत्यत्र तदन्ताग्रहणायामशङ्कम् इति वाच्यम् ? साक्षात्संज्ञानिष्ठविधेयत्वात् कृत्स्नानिष्ठविधेयताप्रयोजकं प्रत्ययमात्ररूपविधेयताप्रयोजकं पदे तदादिशब्दस्वरूपविशेषमादाय तदन्तोरस्यापके न भवतीति परिभाषाया अर्थेनात्र प्रत्ययस्य साक्षादुद्देश्यताप्रयोजकत्वाभावेन निषेधाप्रवृत्तेः । अत एव “अर्थवत्” इति सूत्रे प्रत्ययान्ते पूर्वशब्दः सिद्धः ।

नचैव “कृदतिङ्ग” इत्यत्र कृत्स्नानिष्ठविधेयतया साक्षात्कृत्स्नानिष्ठविधेयतायां तिङि भावान्निषेधस्याप्रवृत्तेस्तदन्तविधौ तिङ्गन्तस्य पूर्वशब्दोऽपि तिङ्गः कृत्स्नान्तरास्मिन्भवत्यस्य “ह्रस्वस्य पिति” इति तुगापत्तिरिति वाच्यम् ? संज्ञानिष्ठविधेयतया साक्षात्कृत्स्नानिष्ठविधेयताप्रयोजकपदघटितशाब्दे तदन्तविधिनैतत्त्वस्य विवक्षितत्वात् । “एः प्रत्ययस्य” इत्यत्र तु प्रत्ययपदस्य सूत्रकृत्स्नानिष्ठविधेयत्वेन प्रत्ययबोधकत्वाभावात् प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया अप्रवृत्त्या न तदन्तविधिः । एतेन पण्णामित्यत्र परस्येत्वापत्तिरिति प्रत्येकम् । “सामन्त्रितम्” इत्यादौ सामन्त्रितेति महासंज्ञाविधानात् तदन्तविधिः । “बहुगणवतुति” इत्यत्रापि सेष्येति महासंज्ञाकरणत्वात् तदन्तविधिः । “तद्वितश्चासर्वविभक्तिः” इत्यत्रासर्वविभक्तिविशेष्यमादाय तदन्तविधिः । “कृन्मेजन्त” इत्यत्राव्ययेति महासंज्ञा ।

केचित्तु “प्रयोगज्ञानसर्वनिर्माद्यय” इति वार्तिक्यलाचञ्चल्यस्वरूपं विशेष्यमादाय तदन्तविधिं वदन्ति ।

ज्ञापकमिति १. नवान्तग्रहणसत्त्वे तदादिविशेष्यकतदन्तविध्यन्तरे च सुबन्ततदाद्यन्तस्य पदसंज्ञा तदाभावे सुबन्तस्येति फलभेद इति वाच्यम् ? विशेष्यान्तरासत्त्वे तेन तदादिविशेष्यकतदन्तविधिविश्रानेनात्र विशेष्यान्तरस्यान्तपदस्य सत्त्वेन तदन्तविधेरसम्भवात् । यदा लापवात्कर्मधारयाश्रयणेन सुबन्ततदाद्यभिन्नान्तस्य पदसंज्ञाविधानेन तदन्तविधिरा-

विषये प्रकृतिनिष्ठतया पदग्रहणस्य प्रत्ययमात्रग्रहणत्वाभावात् । “सुतिष्ठन्त-
म्” (१-४-१४) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥ २७ ॥

नन्वद्यतन्नेनकुलस्थितमित्यादौ नकुलस्थितशब्दस्य कान्तत्वाभावा-
त्समासो न स्यादत आह—

कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् ॥ २८ ॥

अस्याश्च कर्मणि कान्ते उत्तरपदेऽनन्तरो गतिः प्रकृतिस्वर इत्यर्थके
“गतिरनन्तरा” (६-२-४९) इति सूत्रेऽनन्तरग्रहणं ज्ञापकम् । तद्धि अभ्यु-
द्भूतमित्यादावतिश्यासिचारणार्थम् । प्रत्ययग्रहणपरिभाषयोद्भूतस्य का-
न्तत्वाभावादेवाप्राप्तौ तद्बुध्यं सदस्या ज्ञापकम् ।

न चाभ्युद्भूतमित्यादौ परत्वात् “गतिर्गतौ” (८-१-७०) इत्यनेनाभे-
निघात एवेति वाच्यम् ? पादादिरूपत्वेन पदात्परत्वाभावेन च तदप्राप्तेः ।
अनन्तरग्रहणे कृते तु तत्सामर्थ्याद्व्याप्तिविघातानिरूपितमेवानन्तर्यं गृह्यते
इति न दोषः ।

शैवी ।

प्रत्ययमात्रेति । एतेन प्रत्ययग्रहणपरिभाषाप्रवृत्त्यनवसरो ध्वनितः ॥ २७ ॥

प्रत्ययस्य प्रसङ्गादेवाह—*नन्वद्यतस इत्यादि* । *समासो न स्यादिति* । “स्तेना-
होरात्र” इति सूत्रात् कतेनेत्यस्यानुवृत्तौ “क्षेप” इति सूत्रेण विहितः समासो न स्यादित्यर्थः ।
अस्यादवेति । ज्ञापकमित्यस्यास्यान्वयः । *तदप्राप्तादिति* । अत्र ह्येवं स्वर्गप्राप्तिक्रमः
उच्छिन्नद्वन्द्वतान्द्वयोः समासे “कुमारी” इति सूत्रेण कृते, सामानस्वरस्यादौ प्राप्तिस्ततोऽव्यय-
पूर्वपदप्रकृतिस्वरस्य सतो “गतिकारकोपपदान्” इत्यस्य ततः “स्यायचक्र” इत्यस्य तां
“गतिरनन्तरा” इति बाधत इत्याद्युदात्त उद्भूतशब्दः ।

ज्ञापकस्यविधेयत्वेन व्यादपति—*नचेति* । परत्वादित्यस्य “गतिरनन्तरा” इत्यपेक्षये-
स्यादिः । तथा च स्वविषये चारितार्थ्यभावा इति भावः । बाधकत्वेनाभिप्रेतस्याप्राप्तिमु-
पपादयति—*पादादिरूपत्वादिना* । पदात्परत्वाभावेन चेति* । अत्र चकारो बाधं न
पादनास्याप्यामृष्टव्यः । तेन “पदान्” इति सूत्रस्येन अयं “पदान्” इत्यधिकारः साकृत्
“प्राक्” मुपि पुरगनात्” इति भाष्येण न विरोधः ।

अथ “गतिर्गतौ” इति सूत्रे “अभ्युद्धरति” इत्यत्र “यत् क्रियायुक्ता” इति वचनादभे-
दरति प्रति योगो न धातुग्रहणार्थं प्रतीत्यतिव्याप्तिनादाहयोरो योतस्तद्विप्रयोगेन समा-
धाने कृते भाष्यहत्या तेनास्य विरोध इति वाच्यम् ? तस्य भाष्यस्यापादादिरूपत्वप्रयोगवि-
षयपक्षपादस्य तु पादादिरूपत्वप्रयोगामिप्राप्यकृत्यात् ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

यपि न कर्मभेदः । *न गम्यगताति* । स्यान्ने चारितार्थ्यभावादिनिभावाः ।

अन्येषु अनेकप्रानेकविधैरुपपन्नपक्षपादा पविभाषा एव न कर्तव्या । परी तत्तमपौ ध
इति व्यस्य कस्यापरावित्युपपादाहारां प्रवृत्तेः परावित्यर्थे “प्रत्ययग्रहणे चाप्यभ्या”
इति निषेधात्प्रवृत्तिरिति सिद्धिः । यत्र यस्तत्र तत्तमपरावपत्तिरिति इत्यर्थेन चाऽदोषः ।
“यस्य” इत्यादौ “उत्तरपदाधिकार” इति निषेधः । “तिष्ठति” इत्यादौ सार्वभाष्यकोद्दे-
शकत्वात्सामान्यधिकारे पाठ्यामर्थ्यां दोषः ॥ २७ ॥

न चाम्युद्धृतमित्यादावभिना समासेऽनन्तरस्योदः पूर्वपदत्वाभावेऽपि स्वरार्थं तदिति वाच्यम् । “कारकादुत्त” इति (१-२-१४८) सूत्रे कारकादिति योगं विमज्ज्य गतिग्रहणमनुवर्त्य कारकादेव परं गतिपूर्वपदं कान्तमन्तोदात्तमिति नियमेन थायादिस्वरप्राप्त्या कृतस्वरेणोद उदात्तत्वसिद्धयेः । तस्मादनन्तरग्रहणं व्यवहितनिवृत्त्यर्थमेवेति ज्ञापकमेव ।

यत्र गतिकारकसमभिव्याहृतं कृदन्तं तत्र कृदुग्रहणे तद्विशिष्टस्यैव ग्रहणमपिशब्दात्तदसमभिव्याहृतस्य केवलस्यापीतितर्कः । अन्यथा अनया कृदुग्रहणविषये परस्यात् प्रत्ययग्रहणपरिभाषाया वाच्य एव स्यादित्यपि ग्रहणम् ।

अथैव

मन्वनन्तरग्रहणस्यान्यार्थत्वमपि सम्भाव्यत इति कथं तस्य ज्ञापकत्वमित्याशयेन शङ्कते—न चेति* । *अभिना समास इति* । आद्युदात्तोद्धृतशब्दस्येति शेषः । *स्वरार्थन्तदिति* । अनन्तरग्रहणमित्यर्थः ।

अयम्भावः—“बहुवीहौ प्रकृत्वा” इति सूत्रात् पूर्वपदग्रहणानुवृत्तौ कर्मकान्तोत्तरपदप्रत्यासत्त्या तत्समासावयवः पूर्वपदे प्रकृत्येति पर्यवसितांशोऽनन्तरग्रहणाभावे स्यात् । तथा चैतत्समासे उदस्तत्वाभावेन स न स्यात् । किन्तु पूर्वोक्तरीत्या थायादिस्वरस्य सति शिष्टत्वात्तुद्धृतशब्दस्यान्तोदात्तत्वमेव स्यादिति । *उदात्तत्वसिद्धेरिति* । “गतिकारकोपपन्नात्” इत्यनेनाद्युदात्तसिद्धिरित्यर्थः । न च “प्रत्ययग्रहणे ज्ञापकस्या” इति निषेधात् कथमत्र तदुक्तविधिरिति वाच्यम् । कारकात् परत्यस्य उत्तरपदविशेषणतया पञ्चम्यन्तात् परस्य प्रत्ययस्येहाश्रयणाभावात् ।

अन्ये तु ज्ञापकत्वासम्भववादिमते परिभाषाया अभावेनोद्धृतस्य कान्तत्वाभावेनान्तोदात्ताप्राप्त्याऽनन्तरग्रहणस्य तद्वाचकत्वासम्भवादनन्तरग्रहणे ज्ञापकमेव भविष्यतीति शङ्कासमाधानयोरसङ्गतिः ।

न चैतदपरिभाषा प्राचीनपठितैव । तत्र किङ्कप्रदर्शनमात्रमेतदित्येवामादायैवान्तोदात्तत्वस्य प्राप्तिरिति वाच्यम् । एवं सति सिद्धपरिभाषयैव उद्धृतशब्दस्य कान्तत्वेन “गतिः” इति सूत्रेणाभेः स्वरप्राप्त्या तद्धारणायैवानन्तरग्रहणस्यावश्यकत्वेन ज्ञापकत्वरूपनासङ्गतिः प्रसङ्गात् । यदि त्वनन्तरग्रहणं पूर्वाचार्यपठिता परिभाषा इहाप्याश्रीयते इत्यर्थः कमेवास्त्विति श्रूये तथाप्यनन्तरग्रहणं ज्ञापयतीति भाष्याक्षरस्वारस्य मङ्गोऽस्त्येवेति शशङ्किरे ।

अत्राहुः—परिभाषायां ज्ञापितायां स्वविषये चारितार्थ्यं सति ज्ञापकत्वं सुखदम्भवति ज्ञापकत्वभावात् । तथात्वत्र नास्ति अनन्तरग्रहणस्यान्यार्थकत्वस्यापि सम्भवादिति शङ्काभिप्रायः । उत्तराशयस्तु कारकात्परत्वाभावेन थायादिस्वरप्राप्त्या कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वरेणैव मयदभिप्रेतस्य स्वरस्यानन्तरग्रहणसाध्यस्य सिद्धावनन्तरग्रहणमनन्तरस्योद्धृतो भवतीत्यर्थस्य स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थमेवेत्याहुः ।

केचित्तु ज्ञापयतीत्यस्य स्वरशास्त्रे तत्प्रकृतिमित्यादौ पूरणेनैकदेशद्वारा सा परिभाषेहाश्रयित इत्येवाय इत्याहुः ।

परिभाषार्थमाह—“यत्रेत्यादिना* । *तदसमभिव्याहृतमिति* । “समासेऽनन्तपूर्वे क्त्वा ख्यम्” इति सूत्रेऽकृतत्वादाह । स्यादादेशवारणायाननुपूर्वग्रहणे कृतं, तच्च तदसमभिव्याहृतस्य ग्रहण इव चरितार्थमिति तत्करणमत्रार्थं मानम् । *अन्यथा* । अपिशब्दाभावे । *परत्वादिति* । न च कृदुग्रहणे सर्वत्रैव प्रत्ययग्रहणपरिभाषाप्राप्त्याऽस्या अचारितार्थ्येन परत्वादित्युक्तिरसङ्गतेति वाच्यम् । व्यावक्रोशीत्यादौ “सोप्रत्यये चानुपसर्जनेन” इत्यनया प्रत्ययग्रहणपरिभाषानिषेधात्तद्विचिशिष्टस्य निजन्तत्वंतुदिसम्पादकत्वाऽस्याश्चारितार्थात् ।

अतएव साङ्कृतिनमिति 'गतिकारकोपपदानाम्' (पृ ७५) इति 'कृ-
द्रूपहण' इति च परिभाषाभ्यां कृदन्तेन समासे कृते विशिष्टादेर्वाणि, सिध्य-
न्ति, न तु साङ्कृतिनमितीति "पुंयोगात् (४-१-४८) इति सूत्रे भाष्योक्तं सङ्ग-
च्छन्ते । अन्यथा तत्र केवलं कृदिन्नित्येतस्यापीनुणन्तत्वात्ततोऽपि पाक्षिक-
दोषो दुर्वार एव स्यात् । स्पष्टं चेदं सर्वं "समासेऽनञ्पूर्वे" (७-२-३७)
इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः । "गतिरनन्तरः" (६-२-४९) इत्यत्र तु गतेः पूर्व-
पदस्य कान्त उन्तरपदे परे कार्यविधानात्तत्समवधानेऽपि केवलस्य कान्त-
त्वेन ग्रहणं बोध्यम् । इयं च कृतसामान्यग्रहणे कृदिद्रुशेषग्रहणे च, न तु कृद-
द्रुग्रहणे इति "अनुपसर्जनात्" (४-१-१४) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥२८॥

पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य ॥ २९ ॥

यदमङ्गं विशेष्यं विशेषणेन च तदन्तविधिः । "येनविधिः" (१-६-७२)

भैरवी ।

अत एव । अविशब्दपठितपरिभाषासत्वादेव । अपिशब्दाभावे केवलस्य । कृदित्रि-
त्यस्य कृदन्तत्वमनया परिभाषया न स्यात् । पृथक् "गतिकारकोपपदानाम्" इति वचनस्य
प्रयुक्तिर्न स्यात् । यदि परिभाषैव न स्यात् । तदा साङ्कृतिनित्यस्येणुनन्तत्वञ्च स्यात् इति
सादृशप्रमुदायादण्प्रत्ययो न स्यात् इति भावः ।

न चानन्तरग्रहणेन कृद्रूपहणे तदादिनियमो नेत्येवं ज्ञाप्ये तावदेव विशिष्टादण्मविच्छ-
न्तीति वाच्यम् । अधिकस्यान्वादात्तस्यापि ग्रहणापत्त्या परमसाङ्कृतिं दादादप्यण् स्यात्,
स्तोकारपाममुक्तं इत्यादौ, समासापत्तेश्च । *अन्यथा* । गतिकारकसमभिध्याहृतकृदन्तो
यत्र सत्र तद्विशिष्टस्यैव ग्रहणमिति नियमाभावे । "पुंयोगात्" इति सूत्रभाष्ये हि—साङ्क-
दिनमित्यस्य "कृद्रूपहणे गतिकारक" इति परिभाषाफलत्वमुक्तम् ।

अनु गतिकारकसमभिध्याहारे तद्विशिष्टस्यैव कृद्रूपहणेन ग्रहणमिति नियमक्षेप्त्वा "गतिर-
नन्तरः" इति सूत्रेणोद्भूतशब्दस्य स्वरमिदित्तेन स्यात्, उभूतशब्दस्य कप्रत्ययान्तत्वेनाग्रहणात्
पुरोहितमित्यादौ कारकसमभिध्याहारेऽपि दोषक्षेप्यत्वाद् बाह—*गतिरनन्तर इति* । पृथक्
तत्र सूत्रारम्भत्वामभ्यात् पूर्वोक्तनियमस्य त्याग इति भावः । *इयञ्च* । परिभाषा च, प्रद-
भाक् इति ज्ञेयः । *कृतसामान्यग्रहण इति* । तेन विष्णुमुकृतमित्यत्र "कर्तृकरणेकता बहु-
लम्" इति सूत्रेण विष्णुनेतिवृत्तयान्तस्य सुटनशब्देन समासो "गतिकारकोपपदात्" इति
कृदुत्तरपदप्रतिस्वरेण भगवोदात्तत्वञ्च विध्यति । *कृदिनेषग्रहण इति* । एतन्फले सा-
ङ्कृतिनमित्युक्तमेव । *न तु कृदृद्रूपहण इति* । तेन बहुमुदागिणी नगरीत्यत्र "इन-
विषाम्" इति कप्रत्ययो न, पुष्पसुहारीत्यादौ जिनोति पूर्वपदाद्युदात्तत्वञ्च । तत्र हि-
"कादथरतीतिगापाम्" । "कम्पारिदशम्पायनान्तेवामिष्यत्र" इत्यादिविहितगिनेस्नादित-
स्यापि ग्रहणात् । *भाष्य- इति* । नत्र हि—प्रधानेन तदन्तविधिः प्रयोजनदोम्भकारो
मिदिः । अन्यथा ग्रन्थग्रहणपरिभाषया कारीशब्दादेव उरूपादिर्हि कथितेनया वित्तिरा-
म्भयान् प्रत्ययोल्लिखितवाच्यमेवमुक्तम् । "दिद्रु" इति सूत्रे कृद्रुशेषग्रहणं कृदृद्रुशेषग्रहणे
दोषप्रत्ययः केवल्यकारोशब्दादिर्हि भावः ॥ २८ ॥

तदन्तविधिप्रसङ्गादाह—*पदाङ्गाधिकार इति* । विशेष्यविशेषणभावविशेषे तात्पर्य-
वाहकत्वस्यान्तेन पदाधिकारोऽङ्गाधिकारे यस्याद्ये पश्यते तत्र पदाङ्गादप्योपपन्नस्य विशेष-
त्वेन गिदिति । सादृशताप्येवाहकत्वादेराह—*येन विधीयते* । पदाधिकारं प्रयोजन-

वर्तते कार्यं प्रतीत्येकस्मिन्नसंहायेऽपि तत्कार्यं कर्त्तव्यमित्यर्थः । तेनाकारस्याप्यदन्तत्वाच्च क्षतिः । एकस्मिन्नित्युक्तेः सभासन्नयन आकारस्य नादित्वं दरिद्राधाताविकारस्य नान्तत्वम् । अन्यथा सभासन्नयने भव इत्यर्थे “वृद्धाच्छुः” (२-१-१४) दरिद्रातेरिवर्णान्तलक्षणोऽप्य स्यात् । अत एव हरिप्रित्यादौ सोः पदत्वं न । लोकेऽपि बहुपुत्रसत्त्वे नैकस्मिन् ज्येष्ठत्वकनिष्ठत्वादिव्यवहारोऽयं मे ज्येष्ठः कनिष्ठो मध्यम इति किन्त्वेकपुत्रसन्त्र एव । अनेन चाशास्त्रीयस्याप्यतिदेशः । अत एव इयायेत्यादावेकाक्षत्यनिबन्धनद्वित्वसिद्धिः । अत एव भयतीत्यादौ भू इत्यस्याङ्गत्वम्, इयानित्यादौ कार्य्यकालपक्षे तद्विद्वान्तत्वनियन्धनप्रातिपदिकत्वं च सिध्यति ।

अन्यथा यस्माद्विहितस्तदादित्वाभावाच्च स्यात् ।

भैरवी ।

यः । *तेन* । व्यपदेशिवदेकस्मिन्निति परिभाषाङ्गीकारेण । *अकारस्य* । वासुदेववाचकस्याकारस्य । *नादित्वमिति* । अत्र स्वाव्यवहितोत्तरत्वप्रम्वन्वावर्कितप्रतियोगिताकय-त्किञ्चिन्प्रतियोगिताकाभाववत्त्वमादित्वव्यपदेशे निमित्तम् स चाभावः सभासन्नयनात्रय-वाकारे नास्ति तादृशसम्बन्धव्यपदेशोऽप्यस्य सद्भावादिति न मुख्यवादित्वमसहायत्वाभावेनेवे परिभाषा तु न प्रयत्नत इति । एवं दरिद्रादाववयवाकारेऽपि बोध्यम् । अत्रोक्तस्य विशेष्य-स्याभावादिति भावः । *अन्यथा* । असहाय इत्येतदर्थरूपेकस्मिन्नित्यस्याभावे । *अत एव* । एकस्मिन्नित्यस्य सत्त्वादेव । व्यपदेशिवदेकस्मिन्निति वचनं लौकिकमिति ध्वनयितु-माह—*लोकेऽपीत्यादि* । *एकपुत्रसत्य एवेति* । एतेन तत्रापि असहायत्व एव तादृशो व्यवहार इत्यस्य दृढीकरणम् । अत्र एकपुत्रस्य एवेत्यत्र बहुमीदृशत्वः । व्यवदेशिगदित्यस्य लौ-किकत्वस्वीकारात् फलान्तरमपि सिध्यतीत्याक्षेपमाह—*अनेनेति* । अशास्त्रीयस्यापीत्य-पिना शास्त्रीयपरिग्रहः । तेन “अचो यत्” इत्यादावाच् इत्यादेरजन्त इत्यर्थो यद्यपि शास्त्रयो-ध्यस्तथाप्यनेन न्यायेन केषुचिदतिदेशो भवति । *अत एव* । अशास्त्रीयस्य अतिदेशादेव । तत्त्वप्रकाशिका ।

प्रागभावाधिकरणसंगृहितत्वेतच्चित्तयसम्बन्धेन समुदायविशिष्टत्वम् । एतच्चाद्यन्तवदितिसूत्र-मारभतः सूत्रद्वयोऽभिमतम् । अत एव सत्यन्यस्मिन्मन्त्रमात्रपूर्वो नास्ति ॥ आदिः, सत्यन्य-स्मिन्मन्त्रमात्रपूर्वो नास्ति तदन्यमित्युक्तं भाष्ये । अत्र यस्मादित्यस्य वत्समुदायादित्यर्थः । पूर्वं इत्यस्य तत्समुदायघटकीभूतात् आदित्वेनाभिमतवर्णात्पूर्वं इत्यर्थः । अत एव घटप-टावित्यत्र प्रकारात्पूर्वमकारस्य सत्येऽपि नादित्वव्याघातः । एवमन्यत्वलक्षणेऽपि बोध्यम् ।

वार्तिककारस्तु, अनयोर्लक्षणे पूर्वोत्तरत्येऽनिवेद्य सूत्रं प्रत्याघगयी । भाष्यकारस्तु भुगि-त्यादौ घटकत्वातिदेशार्थमिमांस्पतिभाषामारभन् जनार्णव दोषान् निराचकार । आदित्यान्त्य-त्वलक्षणे वार्तिकद्वयमभिमतं ऽङ्गीकृतवान् । एवं चादित्यान्त्यत्वघटकत्वघटितत्वेतिधर्मचतुष्ट-यम् भाष्यग्रामाण्यादनुपातिदिश्यते । घटकत्वञ्च स्वसमानाधिकरणाभावाप्रतियोगित्व-स्याभावाधिकरणशून्यत्वे घटदुभयसम्बन्धेन स्यविशिष्टत्वम् । एवं घटितत्वं स्याभावाधि-कारणाशून्यत्वं स्वसमाधिकरणाभावप्रतियोगित्वे तदुभयसम्बन्धेन स्यविशिष्टत्वम् बोध्यम् । उभयत्र विषयिनामन्त्रेण ज्ञानरूपमधिकरणं बोध्यम् ।

एतेन भुगिरयादौ घटत्वं लोकात्मिकं व्यर्थमपरिभाषा इति वदन्तः प्रत्युक्तः, द्विती-यसम्बन्धमात्रेण परिभाषा बिना घटकत्वाभावात् । *असहाय इति* । अतिदिदिक्षितधर्म-वदप्यत्र अतिदिदिक्षितधर्मवदप्यत्र अतिदिक्षितधर्मवदप्यत्र अतिदिक्षितधर्मवदप्यत्र असहायत्वम् ।

यत्तु योऽर्थवांस्तत्र अर्थस्य त्यागोपादानाभ्यामेकाज्ज्यपदेशो यथेयाये-
त्यादावर्थवतो धातोरयं वर्णरूप एकोऽजिति कैयटस्तत्र । तस्यैकपदा ऋणि-
त्यत्र भाष्योक्तिरित्या मुख्यव्यवहारसत्त्वात् । एकपदा ऋणित्यत्रार्थेन युक्तो
व्यपदेश इति भाष्य उक्तम् । ऋक्त्वादेरर्थशब्दोभयवृत्तित्वेन तस्याः शब्द-
मात्ररूपं पदमेकोऽवयव इत्यर्थः इति तदाशयः । तस्मादेकस्मिन्स्तत्तद्धर्मा-
रोपेण युगपद्यथा ज्येष्ठत्वादिव्यवहारो यथा च शिलापुत्रकस्य शरीरमित्या-
दायेकस्मिन्नारोपितानेकावस्थाभिः समुदायरूपत्वाद्यारोपेण एतस्य शरी-
रमित्यादिव्यवहारः तथा अत्रैकाच्चादिव्यवहारोपपत्तिरिति 'लोकन्या-
यसिद्धेयम् ।

न चासहाय एवैतत् प्रवृत्तौ भवतीत्यत्र भू इत्यस्याङ्गत्वानापत्तिः सस-
हायत्वादिति वाच्यम् ? शपमादायाङ्गत्वे कार्ये यस्माद्विहितस्नदादिव्ये
तस्य ससहायत्वाभावालोके विजातीयकन्यादिसरयेऽप्येकपुत्रस्य तस्मिन्ने-
वायमेव ज्येष्ठ इत्यादिव्यवहारवत् ।

भैरवी

“भाष्यन्तवत्” सूत्रस्थकैयटोक्तमनुवदति—*पत्तिव्रति* । शब्दार्थसमुदायन्यान्वयदा-
र्थत्वे शब्दमात्रस्य तद्व्यवस्थमित्येकाज्ज्यपदेशो युक्त एवेति भावः ॥ मुख्यव्यवहारसत्त्वादि-
त्यनेन तथोपपादने गौणत्वानापत्त्या लोकरुष्टान्तविरोध इति भावः । अर्धमाश्रित्य यो व्य-
वहारः स मुख्य इत्यत्र भाष्यसम्मतिमाह—*एकपदेति* । युक्तपदोपादानेन व्यपदेशिवदि-
त्यस्य मुख्यव्यवहारतुल्य एव प्रवृत्तौ भाष्यसम्मतेनार्थमादाय व्यपदेशिवन्नावोपपादनमयु-
क्तमिति सूचितम् । यथा व्यपदेशिवन्नावस्य प्रयोजनमुक्तं तथा आह—*तस्मादिति* ।
ययः कृतावस्थानां प्राणिधर्मत्वादाह—*आरोपितेति । अनेकावस्थाविशिष्टः शिलापुत्रकप-
दव्यवहारः, पदायस्याविशिष्टः शरीरपदजव्यवहारविषयः । *कार्ये* । कर्तुमिष्टे । *तदा
दित्व इति* । तदादित्वव्यवहार इत्यर्थः । *विजातीयकन्येति* । लोके कन्यायाः पुत्रवैजात्यं
प्रसिद्धमेव, शास्त्रेऽस्मिन् वैजात्यन्तु तत्तत्कार्यविधायकशास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकाकान्तसमु-
दायघटतत्वाभाववदनेन, तेन विजातीयप्रकृतिमहायसत्त्वेन हरिषु करोपीत्यादौ प्रत्ययमात्रस्य
पदत्वे स्यादिति निरस्तम् । भवनीत्यादौ शपमादायाङ्गत्वे विकीर्णिते यस्माच्छब्दविस्त-
दादित्वस्य शप्परत्वविशिष्टस्य उद्देश्यतावच्छेदकतया तस्य मुख्यत्वाभावेन व्यववदेशिवन्ना-
यः प्रवर्तते । असहायत्वञ्च सजातीयद्वितीयरहितत्वम् । सजातीयत्वमत्र तत्तदुद्देश्यतावच्छेद-

तत्त्वप्रकाशिका ।

अनेनेति । अयम्भावः—दीक्षितैः परिभाषायाः शास्त्रीयकार्ये एव प्रवृत्तिरित्यभिप्रेत्य प्रत्यय-
पर्युदासभावे हरिष्वित्यादौ प्रत्ययस्य प्रातिपदिकत्वेन सुबन्तत्वात्पदत्वे पत्वनिषेधापत्ति-
मुपपाद्य व्यपदेशिवन्नावेन प्रत्ययान्तपर्युदासमाशङ्क्य तत्र तदादिपदोपस्थित्या तस्य चाशा-
स्त्रीयत्वेन, परिभाषायाः अप्रवृत्तिरुक्ता । तत्र शास्त्रीयत्वं शास्त्रकारीयसङ्केतविषयतावच्छेद-
कधर्मघटितधर्मवत्त्वरूपमभिप्रेतम् । अत एवेयायेत्यादौएकाच्चात्वनिरन्धनद्वित्वसिद्धिः । अन्य-
थैकाच्चात्त्वस्य शास्त्रकारीयसङ्केतविषयताभयत्वाभावात्तत्र स्थानम् ।

भवनीत्यास्तु शास्त्रीयलक्षणे घटितत्वनियोगे मानाभावाद्गौरवादस्या अशास्त्रीयकार्येऽपि
प्रवृत्तौ बाधकाभावादयुक्ततदिति मन्यन्ते । हरिष्वित्यादौ प्रत्यये प्रत्ययान्तत्वातिदेशस्त्व-
सहायत्वाभावाच्च । *त्यागोपादानेति* । *ज्येष्ठत्वेत्यादि* । स्वजन्यत्व स्वजन्योत्पत्त्युत्त-

न चैवं "निजौ चत्वार एकाच्" इति भाष्यासङ्गतिरिकारस्यासहायत्वाभावेन तत्र एकाच्त्वानुपपादनादिति वाच्यम् ? एकस्मिन्नित्यस्यापठ्यालोचनया तत्प्रवृत्तेः । अर्थवता व्यपदेशिवद्भाव इत्यत्रार्थवत्पदेनाप्यसहायत्वमुपलक्ष्यते । अर्थबोधकेन शब्देन व्यपदेशिसङ्गशो भावः कार्यं लभ्यते इति तदर्थः । प्रायोऽसहाय एवार्थवत्त्वात् कुरुत इत्यादौ तद्व्याकारोऽचामन्त्य भैरवी ।

कावचिद्व्यवहृत्येन विवक्षितम् । *न चैवमिति* । असहाय पुत्रैतत्परिभाषाप्रवृत्तिस्वीकार इत्यर्थः । *तत्र* । इकारे । अनुपपादनादित्यस्यानया परिभाषेत्यादिः । *तत्प्रवृत्तेः* । उक्तभाष्यप्रवृत्तेः । एतेनास्य भाष्यस्य एकदेश्युक्तित्वं दृढीकृतम् ।

ननुअप्येता व्यपदेशिवद्भाव इति भगवदुक्तैरर्थस्य त्यागोपादानाभ्यामेव व्यपदेशिवद्भावप्रयोजनं कैयदोक्तरीत्येनोचितमिति तत् खण्डनमनुचिन्तयत आह—*अर्थवतेति* । *पदेनापीति* । अत्रापि शब्दः । सूत्रस्थैकशब्दसमुच्चयकः । अर्थवतैतदत्र पठ्यर्थं मनुष्य पठ्यर्थश्च सम्बन्धः स च वाच्यवाचकमात्र एव ।

एवञ्च यत्फलितं तदाह—*अर्थबोधकेनेति* । व्यपदेशिवद्भाव इत्यत्र तृतीयान्ताद्वृत्तिमा सादृश्यलाभादाह—*व्यपदेशितदृष्ट इति* । भावपदद्वार्वपरम् । *तदर्थः* । उक्तभाष्याभ्युपगमः । असहायत्वस्य उपलक्ष्यत्वे मानमाह—*प्राय इति* । इति आत्मनेपदशेषवाकारोऽप्यसहायत्वसिद्धिस्तत्त्वमस्येति तस्य दिव्यशायामेवसिद्धिरित्याह—*कुरुत इत्यादौ चित्तवप्रकाशिका ।

रकालावृत्ति—उत्पत्तिकालिकत्वं स्वप्नन्योत्पत्तिप्राकालिकोत्पत्तिरुचैतन्निमित्तवसम्बन्धेन पितृविशिष्टत्वं ज्येष्ठत्वम् । यत्र देवदत्तास्य प्रयः पुत्राः सन्ति तत्र कनिष्ठे सम्बन्धद्वयाभावात् ज्येष्ठत्वं मध्यमे कनिष्ठस्यापेक्षया प्राकालिकोत्पत्तिरूपेऽपि ज्येष्ठपेक्षयोच्चरकालवृत्त्युत्पत्तिरित्याह ज्येष्ठत्वं किन्त्येतज्ज्येष्ठ एव । यत्र स्येक एव पुत्रस्तत्र अत्रादेशिवद्भावोदिततुपपद्यते नैवमेकादा क्षणित्यादौ तत्रार्थत्यागोपादानाभ्यामुपव्यवहारस्य विद्यमानत्वात् ।

असहायत्वमिति । केचित्तु उक्तसहायत्वलक्षणस्वीकारे सभासन्नपत्तेर्युक्तनिष्प्राप्तिपदिकत्वस्य व्यपदेशिवद्भावेनाभावात् एकदत्तावृत्तावच्छेदकधर्मव्यादेशो भवतीति निरने सान्नो लोभनी इत्यादयोदन्ताद्व्यवहनत्वस्यातिदेहेनाप्राप्तिरतः एकदत्तावृत्तावच्छेदकत्वे सति अतिदिश्यमानघटकरमाप्रधानविशेषणीभूतधर्मत्वम् असहायत्वम् वक्तव्यम् । इतित्यादायतिदिश्यमानादन्तस्वघटकरमाप्रधानविशेषणीभूतत्वात्त्वस्यास्ये मत्तान्नपति व्यपदेशिवद्भावः । धुगित्यादौ धात्वप्रत्ययैकत्वव्यवहारीभूतस्य धात्वत्वस्य मत्तान्, इत्यादेत्यादौकाव्यवहारीभूतत्वस्य मत्तान् अतिदेशो भवति । हरिषु घटस्फुराणे न सुघन्ततद्वादिवाचकः तस्य एवपदतत्त्वज्ञातव्यत्वाभावात् । अत एव रामराष्ट्रेन जरातद्वत्त्वात्परोपः अतिदिश्यमान मण्डपव्यवहारीभूतत्वमस्यामत्तान् । यद्यपि जरातेतरयति भत्वादिरूपमण्डपव्यवहारीभूतः । वास्तेत्यवृत्तपदोऽस्ति, तथापि तस्य सुतवधर्मत्वाभावात् परिचायकमार्थं केवल्यन्तदिति वदन्ति ।

अभ्येत्तु अतएव घटव्यवहारीभूत एवादितिर्नये । अत एवासहायत्वेन रामराष्ट्रे ॥ जरावाराणः । न च स्वमुक्तप्रतिष्ठमस्यैव स्वस्मिन्प्राप्तो भवति नैव जरातद्वत्त्वादेः, अजरातत्वादेस्तु मत्ताराणः स्वस्याकारस्य भुगे प्रविष्टत्वादिति वाच्यम् ? आकाशव्यवहारीभूतप्राप्तेः । एकस्मिन्भुगे ज्येष्ठपदेनतिदेशान्, उक्तमार्गे, तदव्यवहारीभूतप्राप्तोपाध्यापतेः, भूधिरमादी दुष्टादस्य भूमाशानावतिभ्यानिदिश्यमानमण्डपव्यवहारीभूतप्राप्तोपाध्यापतेः ।

अथ घटव्यवहारीभूतमात्रनिर्देशे एकस्मिन् ज्येष्ठत्वादिव्यवहारानुगतमित्यवशिष्टमिति

इति व्यवहारे, स आदिर्यस्येति व्यवहारे, असहाय एवेति तत्र व्यपदेशिव-
द्भावेन टिसंज्ञासिद्धिरिति अन्यत्र विस्तरः ॥ ३० ॥

ननु गर्गादिभ्यो विहितो यञ् तदन्तविधिना परमगर्गादिभ्योऽपि स्या-
दत आह—

ग्रहणयता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति ॥ ३१ ॥

इयं च "समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेध" "उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्" इति वार्त्ति-
भैरवी ।

ति* । यदुक्तम् प्राय इति तदभिप्रायस्तु कविदेकवर्णोऽपि ससहाय पृथार्थवत्त्वम् । यथाऽधोत
इत्यादौ । *अन्यत्र* । उद्योतादौ ॥ ३० ॥

तदन्तविधिप्रसङ्गात् "अत इति सूत्रस्य प्रागुक्तत्वात् तस्य तद्विधिविधायकतया "गर्गा-
दिभ्यः" इत्यप्युपस्थितमलस्तत्र शङ्कते—*नन्विति* । *ग्रहणयतेत्यादिना* । अत्र यस्य प्रा-
तिपदिकस्य सूत्रे ग्रहणमुपादानं तेन तदन्तविधिर्नास्तीत्यर्थकरणे "अस्मायामेधास्त्रजोविनिः"
इति सूत्रे समाघटकरूपद्वयोपात्तस्य प्रातिपदिकत्वात्तदन्तविध्यभावावयवौ यशस्वीत्यादिरूपा-
सिद्धिरतः प्रातिपदिकत्वव्याप्यधर्मवत्त्वेनोपादानं यस्य प्रातिपदिकस्य तेन तदन्तविधिर्ना-
स्तीत्यर्थः काप्यः । अस्त्वन्न प्रातिपदिकाप्रातिपदिकसाधारणमिति भवति तेन तदन्तविधिः ।

नन्वेवं "जराया जरसन्यतरस्याम्" इत्यादौ तदन्तविधिर्न स्यादत आह—*इयमेति* ।

तत्त्वप्रकाशिका—

वाच्यम् ? स्वघटकस्य स्वघटकोत्पत्त्युत्तरकालिकोत्पत्तिकृत्वाभाववत्त्वोभयसम्बन्धेन स्वपुत्र-
समुदायविशिष्टस्वरूपस्यैष्टवश्यवद्धारस्य स्वघटकस्य स्वघटकोत्पत्तिपूर्वकालिकोत्पत्तिकृत्वा-
भाववत्त्वोभयसम्बन्धेन स्वपुत्रसमुदायविशिष्टस्वरूपस्यैष्टवश्यवद्धारस्य घटकत्वातिदेशेनै-
वोपपत्तेः ॥ ३० ॥

नन्विति । पदाङ्गेतिपरिभाषाघटकत्वस्येत्यस्योपपादिकानुस्त्वात्तदन्तेत्यैशस्यातिव्या-
प्तिवारकत्वंनोपपादिकामवसरसङ्कत्वाह इत्यपि कश्चित् । *परमगर्गादिभ्योऽपीति* । अपिना
केवलस्यापि ग्रहणम् ।

नच 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' इति व्यपदेशिवद्भावभावात् "येन" इति सूत्रेऽपि
तत्त्वेत्यंशान्नादत्तकं केवलस्येति वाच्यम् ? प्रतिषेधस्य सूत्रगृहीतान्तादिशऽविषयकत्वाद्
इत्याशयात् । *प्रातिपदिकत्वव्याप्येत्यादि* । "अचः" इत्यदौ अस्त्वस्य प्रातिपदिकत्व-
व्याप्यत्वाभावेन निषेधाप्रवृत्त्या तदन्तविधावनेकार्थे प्रवृत्तेः ग्रहणवत्प्रातिपदिकत्वं प्रत्य-
योगिद्वर्णग्रहणान्यतमभिन्नत्वे सति प्रातिपदिकवृत्तिविषयताप्रयोजकत्वम् बोध्यम् । तेन "य-
जिजोश्च" "उगितश्च" "अत इञ्" इत्यादौ निषेधाप्रवृत्तिः ।

केचित्तु "संज्ञाया अतिशान्त्याया" इत्यादौ संज्ञायात्वस्य प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणत्वेन
प्रासतदन्तविधिवारणाय प्रत्ययपदं प्रत्ययमात्रम् । अन्यथा "बहुशयत्रुडति" इत्यत्र
"संज्ञाविधौ" इति निषेधेन इतिमात्रस्य संज्ञायामपि प्रदेशेषु संज्ञाया इत्यादिषु प्रातिप-
दिकविशेषणत्वेन तदन्तविधौ संज्ञान्तादित्यर्थं केवलस्यापि वृत्तेः संज्ञायाश्चरितार्थात् पञ्चक
इतिवत् प्रियपञ्चक इत्यपि स्यात् ।

मम ॥ मात्रपदनिषेधेन प्रदेशे 'ग्रहणयता' इति निषेधात्तदन्तविध्यभावेन चोक्तदोषः ।
इदानीं केवलस्य संज्ञायाः व्यप्यर्थात्संज्ञाविधाविति वाधित्वा तदन्तस्य संज्ञेत्यन्यदेतत् । अत
एव स्त्रीप्रत्ययेषु ग्रहणयतेति निषेधाप्रवृत्तौ अनुवसर्जनादित्यस्य त्रुपकृत्वं भाष्यश्लोकोक्तं
सङ्गच्छते । अन्यथा "टिड्ड" इत्यत्र टित्वस्य प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणत्वेनैतन्निषेधाप्रवृत्त्या

अन्यथा “पूर्वादिनिः” (५-२-८६) इत्यत्र तदन्तविधिनैव सिद्धे किं तेन ॥३१॥
नन्वेवं “सूत्रान्तात् ठक्” (४-२-६०) “दशान्ताङ्ङः” (५-२-४५)
“एकगोपूर्वात्” (५-२-११८) इत्यादेः केवलसूत्रशब्ददशान्शब्दैकशब्दादि-
प्यपि प्रवृत्तिर्व्यपदेशिवद्भावात्स्यादत आह—

उपपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन ॥ ३२ ॥

पूर्वात्सपूर्वादिनिरित्येकयोग एव कर्त्तव्ये पृथग्योगकरणमस्यां ज्ञापकम् ।
भैरवी ।

सिद्धो भवतीति भगवतोक्तम् ततो नैतदस्ति प्रयोजनं ग्रहणयता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिः
प्रतिपिष्यते इत्युक्त्वा न च ठक्विधौ काचित् प्रकृतिगृह्यते इदं तर्हि प्रयोजनमाहं दगोपुच्छ-
सङ्ख्यापरिमाणात् ठक् परमगोपुच्छेन प्रीतम्पारमगोपुच्छिउमग्र ठक्प्रतिपेधङ्ङ् सिद्धो
भरति एतदपि नास्ति प्रयोजनम् विधौ प्रतिपेधः प्रतिपेधश्चायमिति प्रतिपादिम् । अथ न
ठक् विधौ काचिदित्येवं कथनेन तत्तद्वृत्तेन प्रातिपदिकस्य यत्र ग्रहणे तत्र प्रतिपेधः इति कथ-
नेन च ग्रहणयतेत्यस्य प्रत्ययविधिविषयत्वमेवेति ध्वनितमित्यर्थः । *अन्यथा* । एतद्वचना-
भावे । एतेन व्याख्यानानेन यत्केनचिदुक्तं “ममासप्रत्ययविधौ” इत्येतद्वेक्षया “ग्रहणयता”
इति भिन्नवचनमिति तन्निरस्ताम् । असमासग्रहणस्य वार्त्तिकस्य प्रत्ययदांशो नाप्यत्र इत्यत्रैव
ज्ञापकत्वादिति ॥ ३१ ॥

तदन्तस्य उपस्थितिप्रसङ्गादाह—*नन्वेवमिति* । *एवम्* । प्रातिपदिकेन तदन्तवि-
धिप्रतिपेधे ऽपीति नेयः । एतेनैकातिप्रसङ्गस्य परिहारेऽप्यतिप्रसङ्गान्तरमत्ययेनेति ध्वन्यने
तत्त्वप्रकाशिका ।

न चैवम् “अङ्गोपोऽन” इत्यग्रादिति तपरकरणं व्यर्थं स्यादिति वाच्यम् ? अन्धातोः
किप्युपधादीर्घं आनित्यादीं कृत्वातिदेशेऽपि अस्त्वस्यानतिदेशादन्वित्याविति निषेध-
स्याप्रवृत्त्या स्यान्निवृत्तावेनान्त्वातिदेशेन प्राप्ताखलोपस्य वारणाय तदावश्यकत्वादिति घट-
न्ति । *प्रत्ययविधिविषय इति* । तत्रञ्च स्वतादात्म्यं स्वनिष्ठोद्देश्यतानिरूपितविधेयता-
श्रयत्वैतदुच्यते तस्मिन्वर्धनं प्रत्ययाधिकारपठितत्वे सति प्रत्ययविशिष्टविधायकत्वम् । आद्यसम्ब-
न्धनिर्देशाद् “गर्गादिभ्योऽथञ्” इत्यस्य ‘सङ्ग्रहः’, द्वितीयेन “नान्तादङ्ङयादेः” इत्यस्येति
बोध्यम् । विशेष्यानुपादाने “अग्रान्त” इत्यादावपि निषेधप्रवृत्त्या कुङ्मलाप्रदमिति त
स्यात् । *उत्तरार्थत्वादेव* । प्रत्ययविधिविषयत्वादेवेत्यर्थः ॥ ३१ ॥

एकयोगे इति । ननु स्यात्तिरिक्तावयवकत्वस्य व्यपदेशिवद्भावेनातिदेशेऽनुमदाश्रयत्वादे-
कयोगे केवलपूर्वशब्दात्कथमिनेः प्राप्तिरिति चेन्न “पूर्वादिनिः” “सपूर्वाच्च” इत्यनयोः स्थाने
“पूर्वान्तरादिनि” “इष्टादिभ्यश्च” इत्यत्रेष्टाद्यन्तेभ्य इत्येव कर्त्तव्ये पृथग्योगद्वयकरणमस्यां
ज्ञापकम् इत्यत्र तात्पर्यात् । न च पूर्वशब्दस्येष्टादिगणे पाठे इष्टाद्यन्तेभ्य
इतिरित्येकमुद्रकरणेन लाघवमिति, अनेनेत्यस्यानुवृत्त्येष्टाद्यन्तनिरूपितकर्त्तव्यं एव प्रत्या-
सत्या प्रत्ययस्य विधाने कृतपूर्वोक्तस्य सिद्धावपि व्यपदेशिवद्भावेन पूर्वोक्तस्याभिध्यापत्तेः
पूर्वान्तनिरूपितकर्त्तृत्वाभावात् । अतो योगविभागसामर्थ्याद्बहिर्भूतक्रियानिमित्तकर्त्तृत्वेऽपि
पूर्वशब्दात्प्रत्ययार्थे तथा पाठस्यावश्यकत्वादिति वाच्यम्, योगविभागाभावस्यैव लाघवात् ।
इत्यञ्च धर्मिप्राहकमानेन सूत्रोपात्तान्तादिशब्दविषयकत्वमेव तस्याम् । इति सिद्धम् ।
युक्तञ्चेत् प्रत्ययविधिविषयकत्वे हि “रोणी” “उगितश्च” इत्यादीनां केवलेऽप्रवृत्त्यापत्तिः ।
एतदर्थं तस्य चेति पाठे गौरवं स्यात् ।

न च "इष्टादिभ्यः" (५-२-८८) इति सूत्रेऽनुवृत्त्यर्थं तथा पाठोऽत एवानिष्टी-
त्यादिसिद्धिरिति वाच्यम् ? ज्ञापकपरभाष्यप्रामाण्येनानिष्टीत्यादिप्रयो-
गाणामनिष्टत्वात्, एकयोगेऽपि तावत् उत्तरप्रानुवृत्तौ बाधकाभावाच्च ।
अत एव "नान्तादसंज्ञयादेः" (५-२-४९) इति चरितार्थम् । अन्यथा पञ्च-
म इत्यादावपि व्यपदेशिवद्भावेन सङ्ख्यादित्वाच्चद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । इयं च
प्रातिपदिकग्रहण एव, न तु प्रातिपदिकाप्रातिपदिकग्रहणे । तेन "उगितश्च"

मैरवी ।

ज्ञानेवातिप्रसङ्गानुपपादयति—*श्रुतान्तादित्यादिना* । *व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन* ।
अद्यापि प्रातिपदिकपदं पूर्ववत् प्रातिपदिकत्वव्याप्यतद्धर्मावच्छिन्नपरमेव । अत एव व्यपदे-
शिवद्भावेन "अत इह" इत्यनेनेन अस्यापत्यमिति यादौ भवति । *अत एव* । सपूर्वादित्य-
नुवृत्तैरेव । परोक्तम् "एकयोगनिर्दिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः" इति न्यायमाभि-
त्य खण्डयति—*ज्ञापकपरैत्यादिना* । द्वितीयस्यावमाश्रित्याह—*एकयोगेऽपीति* । *अत
एव* । प्रातिपदिकेन व्यपदेशिवद्भावमिषेधादेव । इतीत्यस्येति सूत्रमित्यर्थः । *अन्यथा* ।
एतन्निषेधाभावे । परिभाषाघटकं प्रातिपदिकपदमुपास्यप्रातिपदिकत्वव्याप्यतद्धर्मावच्छिन्न-
परमित्येतत् व्युत्पादयति—*इयमित्यादिना* । *उगितश्चेति* । यदि प्रातिपदिकपदं प्राति-
पदिकपदकृतमात्रपदे तदा "उगितश्च" इति सूत्रवदकृत्योगित्वरूपं प्रातिपदिकपदक-
त्वात्, तेनापि व्यपदेशिवद्भावो न स्यात्, तथा चेयतीत्यत्र दीप्त्यस्यात्, यदि च 'तस्य च' इ-
ति वार्तिकमन्तरात्केवलमपि णिप्त्युच्यते तदा ओभावं आवमित्यत्र "इयन्ताच्च लुपुर्वात्"—
इत्यत्रप्रत्ययसिद्धिः पूर्वोक्तार्थस्य फलम्, एवं हि पूर्वपरिभाषासाक्षात्प्रत्ययस्याः परिभाषाया
मत्रति, अत एव प्रत्ययविधिभिन्ने व्यपदेशिवद्भावः सिध्यति, तेन सर्वमर्थानं सर्वं येसि वा
मत्रं इत्यत्र 'मत्रादेः' इति लुक् पूर्वपरिभाषायाः प्रत्ययविधिमाश्रयितव्यत्वात् परमसमूहस्यत्र
स्त्वच्च सिध्यति ।

ननु यदि "व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन" इति परिभाषायाः पूर्वपरिभाषामाज्ञात्वात्
प्रत्ययविधिमाश्रयितव्यत्वं तदाऽत एव "नान्तादसंज्ञयादेः" इति सूत्रस्यैतत्परिभाषासञ्ज्ञा-
धारितार्थप्रदर्शनमनुक्तम्, यदि प्रत्ययविधिपदं प्रत्ययोद्देश्यकविधिपरं तदा पृथ-
गगणकणस्य ज्ञापकप्रत्ययरूपतामङ्गतिः । इयं ग्रहणत्रयेति चेत्पुनरप्यन्तामङ्गतिश्चेति चेत्, मन्त्रादीनां स्वतः प्रत्य-
यत्रयेनेत्याशयस्य कल्पनात् । प्रत्ययविधिषाब्दस्तु प्रत्ययकर्माकविधिरत्र एव, मन्त्रादीनां प्रत्य-
यत्रये "नान्तादसंज्ञयादेः" इत्यादिषु उद्ग्रहणानुवृत्तिर्न कल्प्या, प्रथमान्तस्य पठ्यन्तश्चकल्पना
य न कल्प्येति खण्डयन् । "द्वेस्तीषः" इत्यनेनेकत्वस्य भवति "पृक्ती" इत्यत्र तु युक्तस्याने
भङ्गित्वाद्यम् । आगमप्रतिपादनपरमन्यात्र प्राचामनुतेथेनेति व्याख्येयम् ।

न च मन्त्रादीनां प्रत्ययस्य पठ इत्यत्र ज्ञत्यस्य अनुर्य इत्यत्र रेफस्य स्थाने त्रिमार्त्यस्य च
"स्यादिप्यपरानामस्यान" इति पठशक्तिरिति वाच्यम् ? "पठ्याहमास्यां अनुर्वाधाशिरी"
इति निर्देनेन भाषानुमानात् ।

न चैवमपि त्रिराजितम् इत्यत्र प्रत्ययापुदात्तत्वेन सञ्ज्ञाकारस्य उदात्तत्वापत्तिरागमस्य
तु अनुदात्तत्वमिति दोष इति वाच्यम् ? "इयन्त्यादित्य" इति सूत्रे येतिवत्तद्वेऽन्यतरस्यां
ग्रहणेन मनु च्ययापेनान्तोदात्तत्वमपि विधीयत इत्यपार्थक्यम् ।

अत्र मानन्तु "उमर्षो मजिदमपे देवमनुष्याः" इति भाष्योदाहरणवर्तेनोमपनाद्वादि-
वचनाभाष्यपनान्तिनातिगम इत्यन्तोदात्तत्वागमेव ।

पदा "पठ्याहमास्यां अनुर्वा" इति निर्देनेन उद्ग्रहणस्यानुवृत्तस्य मन्त्रस्य मन्त्रस्य

(४-१-६) इत्यत्र न दोष इति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । इयं 'ग्रहणवता'
(५० ३१) इति च परिभाषा प्रत्ययविधिविषयैवेति "असमासे निष्कादि-
भ्यः" (५-१-२०) इति सूत्रे भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् । तेन "अहन्" (८-२-३८)
इत्यादेः परमाहन्शब्दे कंचलाहन् शब्दे च प्रवृत्तिरित्यन्यत्र विस्तरः ॥ ३२ ॥ •
अनु "वान्तो यि" (६-१-७९) इत्यादौ यादौ प्रत्यय इत्यर्थः कथमत आह—

यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे ॥ ३३ ॥

भैरवी ।

एवञ्च शयादीनां विकरणत्ववत् मडादीनामपि तत्त्वमस्तु । एवमान्यत्र "विकरणेभ्यः" इत्सु-
तया तस्य प्रत्ययाद्युदात्तत्वप्रवृत्तावपि दोषो न भविष्यतीति स्वरे यो दोषः सोऽपि वारित
इति केचिन् ।

परे तु मडादीनामागमत्वमेव युक्तम् "मडादिषु यस्यादिस्तत्त्रिदंशः कर्त्तव्यः, अक्रियमाणे
प्रत्ययाधिकारात्, प्रत्ययो विज्ञायेत तत्र स्वरे दोषः" इति भाष्येण प्रत्ययपक्षस्य दुष्टत्व-
वृणनात् ।

नन्वेवं पञ्चम इत्यत्र व्यपदेशिवद्भावेन पञ्चमशब्दस्य संख्यादिस्वात् निषेधस्य प्रवृत्तिः
स्यादिति चेत्, एवं सति सर्वत्रैव सङ्ख्यादिस्वात् सूत्रस्यैव वैधर्म्यमिति मडागमविधानसा-
मर्थ्यात् सङ्घिषये व्यपदेशिवद्भावानाश्रयणात् । एवञ्च पृथग्योगकरणे ज्ञापकमित्यस्य व्यपदे-
शिवद्भावस्य क्वचित्कत्वबोधनद्वारेति शेषः । *अत एव* व्यपदेशिवद्भावस्य क्वचित्कत्वा-
द्देव । *अन्यथा* । क्वचित्कत्वानङ्गीकारे इति रीत्योपपत्तिः कार्यैस्त्याहुः । द्वयोः परिभाष-
योः प्रत्ययविधिमात्रविषयत्वे मानान्तरमाह—*इयमित्यादिना* । *तेन* । उक्तपरिभाष-
योः प्रत्ययविधिमात्रविषयत्वेन । "असमासे निष्कादिभ्यः" इति सूत्रे—"विधौ प्रतिषेधः प्र-
तिषेधश्चायम्" इति भाष्योक्त्या तत्र कल्पतादिति प्रागुक्तम् ।

न च "विधौ प्रतिषेधः" इत्युक्त्या पूर्वपरिभाषाया वाचिषयत्वध्वननमस्तु, द्वितीयायाः
प्रत्ययविधिमात्रविषयत्वध्वननन्तु कथमिति वाच्यम् ? असमासग्रहणेन तदन्तविधौ ज्ञापिते
सति केवले तदन्तस्थो यो निषेधस्तत्तद्विरुद्धप्युपपादनीया सा नोपपादिता व्यपदेशिवद्भावेन
केवले तदन्ते तत्सम्भवस्याभिप्रायविषयत्वात्तेन द्वितीयपरिभाषायां प्रत्ययविधिमात्रविषये-
त्यस्य ध्वननात् ॥ ३२ ॥

तदन्तविधियपवादत्वात् स्मृतामन्यामपि परिभाषामवतारयति—*नन्वित्यादिना* । *क-
थमिति* । तदन्तविधेः सम्भववादिति भावः ।

न च यान्तप्रत्ययाप्रसिद्ध्या न तदन्तविधिरिति वाच्ये गोकाम्यमतोति गोकाम्यात्
पुतस्माच्छब्दादाययानार्थके णिचि हिलोपे यान्तप्रत्ययस्य सम्भवत् ।

न च "अचः परस्मिन्" इति स्थानिवत्त्वम्, अज्ज्ञलादेशत्वात् । सूत्रारम्भसामर्थ्यादिति-
द्वत्वमपि न । *यस्मिन्नित्यादि* । अत्र यस्मिन्नितिसम्यन्तानुकरणम्, अल् गृह्णने ज्ञायते
येन तस्मिन् सप्तम्यन्ते यो विधिः स तद्वादी बोध्य इति अर्थकरणे "इको यणचि" इत्यादावपि
तदादिविधेरापत्तिरिति तदन्तविध्यपवादत्वमस्या उक्तम् । तदन्तविधिः समानविभक्तिकविशे-
ष्यविशेषणवाचकपदसन्निधाने भवति यथा तथेयमपि सप्तम्यन्तविशेष्यविशेषणवाचकसन्नि-
धाने भवतीति कल्प्यम् । तथा च गृह्यते इतरभिन्नत्वेन ज्ञायते येन तद्ग्रहणम् विशेषणमिति
तत्त्वप्रकाशिका ।

नचैवं कुट्टमलाप्रदमिति न स्यात्, व्यपदेशिवद्भावप्राप्तेरिति वाच्यम् ? दृष्टापत्तेः ॥ ३२ ॥
समानविभक्तिकेत्यादि । नामार्थयोरभेदान्यये समानविभक्तिकत्वनियमात् सामाना-

तदन्तविधेरपवाद इयम् । वाचनिक्येया "येन विधिः" (१-१-७२) इत्यत्र भाष्ये पठिता । अस्याश्च स्वरूपसती सप्तमी निमित्तम् । अत एव "नेङ्गशि कृति" (७-२-८) इत्यादौ वशादेः कृत इत्याद्यर्थलाभः । इयं च

भैरवी ।

यावत्, अलग्नहण इति कर्मधारयः पूर्वनिपातप्रकरणस्य "समुदाभादय" इति निर्देशेनान्वय-
त्वाद्दिशेपगस्य ग्रहणपदस्य परनिपातः गृह्यमाण इत्यस्याध्याहारः । एवञ्चेतरभेदानुमितजनक-
ज्ञानविषये विशेषणे सप्तम्यन्तपदेन गृह्यमाणे यो विधिः स तदादौ बोध्य इति परिभाषायां
भवति तस्य च यत्र विशेष्यवाचकं सन्निहितं भवति तत्रैव सम्भवो नान्यत्रेकोपगमात्तयादौ
शब्दतादृशविशेष्यसन्निधानाभावात् । क्वचित्तु विशेष्यबोधकपदसमिधानेऽपि अल्लबोधकस्य
विशेष्यममर्पकतापीति स्वीकार्यम् "कारनामि च" इति सूत्रे आदिग्रहणान् तेनाचोत्यस्य
सन्निधानेऽपि "प्रावृहोऽटोऽप्येप्येपु" इत्यादेरुहाद्यवयवेऽचोत्यर्थनानुपपत्तिः । वाचनिक्येपेति ।
यद्येया "नल्यपितिज्ञापकयाध्या तथाहि अत्र हि "धुमास्य" इति सूत्रे हलोत्यस्य किङ्कतीत्यनेन
सम्यग्व्येन हलन्तकिङ्कतीत्यर्थो वाच्यस्तथा सति ल्यपस्तत्त्वासम्भवेनेत्याप्राप्तिरतः सप्तम्यन्ते
एङिनीत्यस्मिन् सन्निहिते यद्वर्त्तति तत्तदादेवोपक्रममिति स्वीकार्यमित्येया स्वीकार्या
अस्ति च तस्य सूत्रस्य उदाहरणे पीतगानित्यादि तत्सादिपरश्चेति यद्वन्ति । तन्न मनोरमम्,
हलोत्यस्य कटिद्दिशेपगस्य तदन्तविधौ पीतमित्याद्यसिद्ध्यापत्तेः । ल्यप उपदेशे हलन्तस्य
शीपदेशिरुल्लङ्घने इत्यप्रभुत्विज्ञापनेन चारितार्थ्याच्च ।

एतेन पीयते इत्यादिरपि सिध्यति । अकारान्ते ऋटिति प्रत्ययेपीत्यं प्रवर्त्तत इत्यप्यंज्ञान-
यतयापि चारितार्थ्याच्च ।

नन्यस्यां परिभाषायां यस्मिन् विधिरिति न वाच्यम् तदादावलिग्रहण इति पाठ्यम्
"तस्मिन्" इति परिभाषा पूर्वस्येत्येवविशेष्यपतिष्ठतामन आह—*अस्याश्चेति । अस्याप-
त्तित्वेन सप्तम्यर्थोभावेऽपि अस्याः प्रवृत्तिरितिसूच्यते तस्मिन्निति परिभाषया तु न निर्वाह-
स्तस्याः सप्तम्यर्थमज्ञात्वा एव प्रवृत्तेः । *अन एव* । मन्त्रमोक्षवगमोन्नेन प्रभु संरेव । अस्याः

तस्यप्रकाशिका ।

धिकृत्य समानविभक्तिकानामेव । एवञ्चवदयमागविशेष्यविशेष्ययोरेभयोः सप्तम्यन्तत्वेति
ग्रन्थः व्यापमिदार्थानुवादः ।

एतेन गृह्य पयतीत्यादौ व्यभिचारादपुनमेतदिति यदन्तः प्रत्युक्ताः । नामप्राप्त्यर्थो-
क्त्यादादेऽपि सामार्थ्येतरथास्यात् ।

चारितार्थ्याच्चेति । ऋटिति विद्यमानो यो हल् तस्मिन्निप्रत्ययंतादौपाद्य ।

एतेन "रथरद्वोऽत्र" इति सूत्रे "त्रौ च" इति वार्तिके चाभ्यासंज्ञाप्रकम् । अन्यथा "कोः क १" इत्यादौ उत्तरपदे इत्यर्थं व्याप्यवृत्तन्त्येन तेनैव सिद्धौ एतयोर्व्यप्ये व्याप्यव्या-
स्यात् । आपट्टयन्त्यात् किपि निष्पद्यतेः रद्वोः परत आदेशविधानेन चारितार्थ्यात् । नच
तस्मात्प्रवोऽनन्तरं रद्वोःस्त्वोः चर्दितिवाच्यम्, किञ्चन्तम् यदातोः व्याप्यव्यवस्थात् ।

यत्तु प्रदापट्टप्रमित्यत्र तुकि इत्यव्याजार्थक्या "नल्यदि" इत्यस्य चारितार्थ्यं नच
परिहृत्यता तुकोऽभिप्रायः, "नाज्ञानन्तयं" इति निषेधादिनि यद्वन्ति तत्र । "आनां लोप इटि-
च" इत्यादावपि अजने आर्चयानुक्त इत्यर्थोक्तौ प्रदापट्टादावकारस्यैव लोपे चारितार्थ्यं
व्याप्यव्याप्यात् ।

नेचित् सप्तम्यनि सामानाधिकरण्ये यद्विशिष्टव्यवस्थायव्यवस्थात् "न ल्यपि" "अपो-
भि" इत्यादौनां शारदशमिति यद्वन्ति ।

“आर्द्धधातुकस्येड्” (७-२-३५) इति सूत्रे बलादेरित्यादिप्रहणसाम-
र्थ्याद्विशेष्यविशेषणयोर्बभूवोः सप्तम्यन्तत्वं एव प्रवर्तते । तेन “ङः सि धुट्”
(८-३-२६) इत्यादौ सादेः पदस्येति नार्थः । “तीपसह” (७-२-४८)
भैरवी ।

पृथुत्वं विरोधान्तरमाह—*इयञ्चेत्यादिना* । *आदिप्रहणसामर्थ्यादिति* । अन्यथा बली-
त्येव मूयात् ।

ननुभयोः सप्तम्यन्तत्वं एव चेदस्याः प्रवृत्तिस्तदा “तीपसह” इति सूत्रेऽनुवृत्तस्य विशेष्य-
बोधस्त्याद्धं धातुस्येत्यस्य सप्तम्यन्तत्वाभावात्सादेरित्यर्थेलाभः कथमत आह—*तीपसहेति* ।
अत्रावृत्तस्य बलादेरित्यस्य त्रीतिविशेषणम् त्रीतिसौत्री प्रथमार्थं सप्तमी । एवञ्च बलादेरि-
तिप्रमुद्रायापेक्षान्तरान्तेह व्यधिकरणत्वादित्यत्रलादिपदार्थरुदेशरूपदार्थ्यभेदेन विशेषणम् ।
बलं तत्काररूपबलादेरित्यर्थ एतत्परिभाषाप्रवृत्तिं विनापि सिध्यति । एवं “सैत्तिवि” इत्य-
त्रापि बोध्यम् ।

धनुस्तस्य “तीपसह” इत्यत्र “सैत्तिवि” इत्यत्र च सप्तमी यथाश्रुतैव बलादेरिति च
तन्नानुवर्तते त्रीति इच्छत्यादिविशेषणं तस्मिन्निति परिभाषायाः प्रवृत्त्या च तत्काराव्यवहि-
तपूर्वस्य इच्छत्यादिभ्यः परस्य बलाद्यार्द्धधातुकस्येडित्याद्यर्थान्वयणेन घेष्टसिद्धिः काव्या ।

एवञ्च त्रीतिसप्तम्याः प्रथमार्थकत्वरूपेणा सौत्रत्यादेकरुदेशान्वयकल्पना च न काव्या
“तस्मिन्” इति परिभाषाया पदार्थशक्तिरूपाया उपस्थितिश्चान्यत्र बलैव ।

न च “तीपसह” इत्यादेर्बलादिपदार्थविशेषणत्वेन तस्य त्रीतिविशेषणं न स्यान्ननुपा-
धेयत्वाधिर्भवति विशेषणस्य वा विशेषणमिति न्यायादिति वाच्यम् ? गुणः कृतात्मसंस्कार-
इति न्यायस्यापि क्लृप्तत्वात् ।

गन्धेवम् “आर्द्धधातुकस्येड्बलादेः” इति सूत्रे आदिपदन्त्यकत्वा बलीत्येव पाठ्यमार्ध-
सत्त्वप्रकाशिका ।

बलीत्येव मूयादिति । ननु विभिन्नविभक्तिकत्वेन सामानाधिकरण्याभावात्सादांशवि-
प्रेतप्रवृत्तौ तस्मिन्निति परिभाषया बलि परत आर्द्धधातुकस्येडागमविधाने भविष्यतीत्यादा-
येव स्यान्ननु भवितेत्यादावपि “नेड्शि” इतिनिषेधस्तु पुनश्चमौ देवदत्त इत्यादौ चरितार्थः ।
एवञ्चादिप्रहणं सकलमिति चेन्न बहुलस्यसंस्कारानुरोधेन बलीति सप्तम्याः पठ्यर्थेत्याहो-
कारेण तस्मिन्नित्यस्याप्रवृत्त्या सामानाधिकरण्यस्यापि सत्त्वेन परिभाषाप्रवृत्तेर्नियतत्वात्
शमिता यज्ञे इत्यादिनिर्देशानामसङ्गत्वापत्तेश्च । *सादेः पदस्येति* । नचैवं तदादिविध्यमा-
येऽपि तदन्तविधिर्द्वौ तदा पठ्यर्थकस्त्रीतिसप्तम्याः सामानाधिकरण्यादिति वाच्यम् “ङः सि” इति-
इत्यादौ स्त्वविसर्गयोः सिद्धत्वेन सान्तपदस्यासम्भवात् । अगत्या बल्यधिकरण्यान्वयस्यैव
मन्तव्यत्वात् ।

नचैवं तदादिविधेरप्यप्राप्तिः, तदन्तविधौ तयाहोकारेऽपि तदादिविधौ सामानाधिकर-
ण्यसम्भवात्तदानीचित्वात् ।

केचित्तु प्रत्ययावयवकाराव्यवहितपूर्वयोरोदीतोरबावौ स्त इत्यर्थेन सर्वत्रसिद्धौ परि-
भाषा व्यर्थ । नचाश्वशब्दात् गौयुगलप्रत्यये अश्वगौयुगमित्यत्र प्रत्ययावयवकाराव्यवहि-
तपूर्वत्वेन गोघटकौकारस्यावादेशापत्तिः, नच ओकारोच्चारणसामर्थ्यान्नावादेशः । अन्य-
थागव्यनेव विदध्यात्, अश्वेन समासे अश्वगौयुगलशब्दादाद्यष्ट्यन्तागिणचि क्तीरि विपि
क्तिन्निमित्तकयलोपे निष्पन्ने अश्वगोशब्दे तस्य चारितार्थत्वात् । अन्यथा वस्त्योऽपि वृद्धौ अश्वगौ
इति स्यात् । छोपात्प्रागेवदेशस्तु अकृतव्यूहतिपरिभाषया नेति वाच्यम् ओकारसाहचर्येण
तत्प्रत्ययानवयवौकारस्य ग्रहणात् । “ङ्यो इत्यादौ” इत्यादौ पदे परतः यो ङम् ततः परस्य

“तेऽसिचि” (७-२-५१) इत्यादौ यथा सादेरित्याद्यर्थलाभस्तथा शब्दे
न्दुशेखरे निरूपितम् ॥ ३३ ॥

घटपटं घटपटावित्यादिसिद्धये आह—

सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकद्वयति ॥ ३४ ॥

भैरवी ।

धातुरूप्य प्रत्ययतथा यस्माद्विहितशब्देरित्यस्य उपस्थितस्य बलीतिविशेषगमिति बलश्रु
ग्रहितपूर्वांशस्मादुद्घातुरुविधित्वादेः परस्माद्धातुरूपेडित्यर्थनेष्टसिद्धिरिति चेन्न । ननु
प्राथेक्याभिर्भवति विशेषणस्य वा विशेषणमिति न्यायस्यापीह शास्त्रे कश्चित् प्रवृत्तिर्भवती
त्यस्य ज्ञापनार्थमेतत् सत्वात् ।

यत्तु प्रकृतसूत्रे आदिग्रहणाभावे श्रुतत्वाद्बलीति आहं धातुरूप्यैव विशेषणं स्यान्नाक्षि
प्तस्येतिवत्प्राहं धातुरूप्येत्यर्थापत्तौ भविष्यतीत्यादायेदेदस्यान्न तु भवितेत्यादावित्यादिप्र
हणस्य चारितार्थत्वं न ज्ञापकत्वसम्भव इति तन्न, “लुप्रापिनेन कृञ्श्रुति” इति निर्दे
शेन तादृशाथोपसम्भवात् । न चेकारणकादेशे कृते चकारकृतवत्परत्वेन निर्देशोपरस्मिन्निति
याच्यम् ? “अचः परस्मिन्” इति स्यानिबद्धानेन सत्वासम्भवात्, “परोक्षे लिट्” इति सूत्रे
माधनेपु परोक्षेऽपि त्यर्थकल्पने यदा कथायान्तत्पदुक्तोक्तं दृष्टुं पठ्यन्तत्र भवितव्यमिति भाष्य-
प्रयोगे दृढनापत्तेः ।

यत्तु विशेषणविशेष्ययोरुभयोः सम्यगन्तत्वं एव चेत्तदादिविधित्वात् “द्विगोष्ठं गनरस्ये”
इति सूत्रभाष्ये पञ्चागंरुच्यमित्यादौ लुक्परिहारायाजादिग्रहणं कर्तव्यमिति धात्विक्कृतोक्तं
सत्यं स्यादन्ताथम् “गोत्रेऽलुगचि” इति सूत्राद्वात्स्यरुच्ययाजादेरिति वाक्यभेदेन व्याख्यातम् ।
तेन यत्र विद्वज्जादयि लुक् द्विरप इत्यत्र यतो यथेति श्लोकं तदेतद्विद्वद्वमिति तदपि न, तत्त्वं
भाष्यग्रन्थस्याप्यत्र च इत्यस्यैव यद्वाजादौतिममुदितन्तन्न काष्ठाश्लिष्टादिप्रहणस्यैवमित्यत्र
तात्पर्यात् । न चेद्यमपि “हुमल्लभ्यो हेवि” इति सूत्रे भाष्ये यदिहि स्रविहोऽयम् स्रज्ज्वात्
परत्वात् धित् प्रान्तोत्तरत्वात् ह्य “यन्निमसोहंलि ख” इत्यनो हलोत्पत्तुत्वं ह्लादेः हेरिति
व्याख्यानेन श्लोः परिहृतः तत्र विशेष्यस्य सन्तम्बन्तस्याभावेन तदादिरस्येन व्याख्याने
विशेष्य इति वाच्यम्, निर्दिश्यमानरिति वाच्यैव श्लोकाभावे सिद्धे हल्लङ्गानुङ्गितपरभा-
ष्यस्यैकदेशमुक्तिरादिति दिक् ॥ ३३ ॥

दृष्टग्रहण इति परिभाषया यथाऽतिदेशेन गतिकारकविशिष्टस्य कार्यं भवति तथा द्वन्द्व-
विषयैऽपि अतिदेशमाह—सर्वो द्वन्द्वः इत्यादि* । सर्वत्र द्वन्द्व कारकस्योपेक्षया द्वन्द्व प्रागो-

सत्यप्रकाशिका ।

उमुदागम इत्यर्थेन नव्यमते परमद्विज्जावित्यादौ उमुदागमो न उमः परे परतत्राभावात् ।
प्राचीनमतेऽपि उमन्तस्य पदरत्नाभावात् न दोषः । “मिनातिमोति” इत्यत्र लक्ष्मणशब्दे
निरुक्तत्वादावित्यर्थः । इत्येवमपि परे इत्यर्थो वा । ज्ञाप्येत्येवमालोकाप्यभावात्परतत्रादौ भूत-
प्राग्वत्प्रधानेन नव्यमते चोपपत्त्यम् । “आतो लोप इति च” इत्यत्राचं धातुकावयवायोः द्विदिशोः
पर्याप्तित्वेन निराहः । एवं सर्वत्र । अत एव एक इत्यादौ तादौचेत्यादौ आदिग्रहणं परि-
ताथम्, इति वदन्ति ।

यन्नुपानु सम्भवति सामानाधिकरत्ये वैयधिकरत्यस्यान्वयत्वात्परिभाषाकृत्यननेत्र
न्यायस्य ॥ ३३ ॥

अतिदेशमादिति । सूत्रमनुग्रहयतिभावः । *सर्वो द्वन्द्व इति* । ननु गमुदागमः चपराग-
मः पदया भावो द्विगोष्ठस्योपेक्षाद्वन्द्वः, अनारोपे समादातः इति विषययोक्तत्वात्तद्वयम् ।

“ह्रन्दश्च प्राणी” (२-४-२) इत्यादिप्रकरणाविषयः सर्वो ह्रन्द इत्यर्थः ।
 “चार्यं ह्रन्दः” (२-२-२९) इति सूत्रेण समाहारेतेतरयोगयोरविशेषेण
 ह्रन्दविधानात् न्यायसिद्धयेयम् । “तिष्यपुनर्वस्वोः” (१-२-६३) इति
 सूत्रस्थं बहुवचनस्येतिप्रहणमस्यां ज्ञापकम् । तद्धीदं तिष्यपुनर्वस्वित्यत्र
 तद्व्यावृत्त्यर्थम् । नचैवमप्यत्र “जातिरप्राणिनाम्” (२-४-६) इति नित्यै-
 क्यज्ञायेन बहुवचनाभावादित्दं सूत्रं व्यर्थमिति वाच्यम् ? तद्वैकलिपकत्व-
 स्यापि अनेन ज्ञापनात् । नचैते प्राणिन इति वाच्यम्, ‘आपोमयः प्राण’

भैरवी

त्यादिप्रकरणविषयेऽपि वैकलिपकत्वं प्राप्नोतीत्यत आह—*ह्रन्दश्चेति* । सामर्थ्यात्तस्य
 प्रकरणस्य न वैकलिपकत्वम् । एवञ्च सर्वपदं परिभाषाघटकम् “चार्यं ह्रन्द” इति सूत्रोदाहर-
 णस्य बोधकं न तु लक्षणस्येति कलितम् । अस्याः परिभाषाया न्यायसिद्धयेऽपि दाढायां
 लिङ्गमप्याह—*तिष्येत्यादिना* । ज्ञापकमित्यस्यापीति शेषः । बहुवचनप्रहणस्य ज्ञापक-
 त्वमुपपादयति—*तद्धीत्यादिना* । पुनर्वसुशब्दस्य ताराद्वयबोधकतया वाच्यार्थस्य बहु-
 त्वस्य व्यावृत्त्याप्रसिद्ध्या बहुवचनप्रहणं व्यर्थमिति तदेनां परिभाषां ज्ञापयति । एतत्सत्त्वे
 त्वनयैवेदं तिष्यपुनर्वस्वित्यस्य सिद्धिरिति भावः । *एवम्* । “चार्यं ह्रन्द” इत्यस्य वैकलिप-
 कत्वे । इदमित्युपादानेन “तिष्यपुनर्वसु” इति समाहारह्रन्दे ऋतुसकं । तथा च “जातिरप्राणि-
 नाम्” इति सूत्रस्य विषयतास्तोतिशङ्काभिप्रायः । *सूत्रं व्यर्थमिति* । अस्योद्देश्याप्रसिद्धे-
 रिति शेषः । तद्वैकलिपकत्वेति* । अस्याप्र लक्ष्य इति शेषः । न तु सामान्यतो वैकलिपक-
 त्वमेव तस्य, “चार्यं ह्रन्द” इत्यनेनैव सिद्ध्याऽस्य सूत्रस्य वैयर्थ्यमेव स्यात् ।

यद्वा यत्र व्यक्तेः प्राधान्यविवक्षा तत्रेदं प्रवर्तते, यत्र तु जातेः प्राधान्यविवक्षा तत्र तु
 प्रवर्तते इत्येवंरीत्या वैकलिपकत्वमित्यर्थः कार्यः । अत एव उपक्रमोक्तं घटपदं घटपटावित्ये-
 तद्व्युपपद्यते व्यक्तेस्तत्र प्राधान्यस्याश्रयणात् । एवमेव तिष्यपुनर्वसुशब्दोद्देश्ये व्यक्ति-
 प्राधान्यविवक्षायां पूर्वोक्तीत्या बहुवचने प्राप्ते द्विवचनविधाने सङ्गच्छते । *प्राणिन इति* ।
 देवतादेवां प्राणित्वमित्यादायः । *आपोमय इति* । अत्रापसुशब्दादप्लुतातुप्रकृतिकाऽ-
 मुत्प्रत्ययान्ताज्जलपानीयात् प्राचुर्यं “तत्प्रवृत्तवचने मण्ड” इति सूत्रेणाहमय इति यन्म-
 तत्त्वप्रकाशिका ।

सिद्धौ व्यर्थेप्यपरिभाषेतिचेन्न सर्वनामसंज्ञकत्वेनाभिमतशब्देषु विवक्षाद्वयसत्त्वेऽपि इतरत्र
 तत्सत्त्वे मानाभावेनोक्तरूपद्वयानापत्तेः । अत एव लोके वृक्षाः वनमिति व्यवस्थया प्रयोगः,
 नतु वनानि वृक्ष इति । सर्वनामस्थले तु सर्वो लोकः सर्वे लोका इति द्विविधप्रयोगदर्शनादुभय-
 यविवक्षापि भवति ।

तथाच—कश्चिदुभूतावयवभेदकमुदायबोधकः यथा वृक्षशब्दः, कश्चिदुद्भूतावयवभेदकस-
 मुदायबोधकः यथा वनशब्दः, कश्चिदुभयविधबोधकः यथा सर्वादयः । तत्र ह्रन्दस्योभयविध-
 बोधकाभावात्परिभाषारम्भ इति तात्पर्यम् ।

न च “चार्यं ह्रन्द” इत्यनेन समाहारेतेतरयोरविशेषेण ह्रन्दविधानादेव विभाषयैकत्राद्ये
 सिद्धे किमर्थोऽयमारम्भ इतिवाच्यम् ? “ह्रन्दश्च प्राणितूर्य” इत्यनेन प्राण्यङ्गादीनामेव समा-
 हारो नेतरेषामिति प्राप्तविपरीतनियमन्यावृत्त्या परिभाषाया आवश्यकत्वात् । *व्यावृत्त्या-
 ऽप्रसिद्धेति* । विपरीतनियमो नैकवद्भावाप्रवृत्तेः । *ज्ञापयति* । विपरीतनियमाभावकल्पन-
 येतिशेषः । *व्यक्तिप्राधान्यविवक्षायाम्पूर्वोक्तीत्येति* । “कल्युगोत्प्रोदपदानाम्” इत्यतो
 नक्षत्रप्रहणानुवृत्तिसम्भवे पुनर्नक्षत्रप्रहणेन व्यक्तप्राधान्य एवैतत्प्रवृत्तेः । एतेनैतद्वैकलिपकत्व-

इति श्रुतेरङ्घ्रिना ग्लायमानप्राणानामेव प्राणित्वात् । स्पष्टं चेदं “तिप्यपु-
नर्यस्योः” (१-२-६३) इति सूत्रे भाष्ये । अत एव “द्वन्द्वश्च प्राणी”
(२-४-२) इत्यादेः प्राण्यङ्गादीनामेव समाहार इति विपरीतनियमो न ॥३४॥

सर्वे विधयश्छन्दासि विकल्प्यन्ते ॥ ३५ ॥

“व्यत्ययो बहुलम्” (३-१-८५) इति सूत्रे भाष्ये बहुलमित्योगवि-
भागेन “यष्टीयुक्तश्छन्दसि” (१-४-६) इति सूत्रे चेति योगविभागेन चैषा
साधिता । तेन प्रतीपमन्य ऊर्मिर्युध्यतीत्यादि सिद्धम् । युध्यत इति प्राप्नोति ॥३५॥
ननु “तियः” (८-२-४६) इत्यादावियङ्ग्यमत आह—

प्रकृतिवदनुकरणं भवति ॥ ३६ ॥

अर्थः ।

यद् आप मयमिदम् सर्वमापो मूर्तिः शरीरिणामिति यथा । *भाष्ये* । बहुवचनग्रहणस्य
प्रयोजनरूपधनरभाष्ये ।

मन्त्रेषां प्राणित्वमस्तु “जातिरप्राणिनाम्” इत्यस्य च वैकल्पिकत्वं मास्तु “द्वन्द्वश्च प्राणि”
इत्यादिसूत्रविषये समाहारः प्राण्यङ्गादीनामेवेति नियमोऽस्त्विति तिप्यपुनर्यस्य शब्दयोरितरे-
तरयोग एव द्वन्द्व इति बहुवचनस्यैव मत्स्याद्बहुवचन ग्रहणमनर्थकमत आह—*अत एवेति* ।
बहुवचनग्रहणादेव पूर्वोक्तप्रकारादेव बहुवचनग्रहणस्य वैधर्म्यं स्पष्टमेवेति प्राण्यङ्गादीनां समा-
हार एतेत्येव नियमो वाक्यमन्या चेताराणामुक्तरीत्या प्राणित्वाभावात्तेषां समाहारद्वन्द्वो
भविष्यत्येव । एषश्च निरर्थकवद्वाते बहुवचनाभावाद्बहुवचनग्रहणे व्यर्थमेवेति जातिरप्राणिनाम्
मित्यस्योक्तरीत्या वैकल्पिकत्वं स्वीकार्यमिति भावः । “जातिरप्राणिनाम्” इत्यस्य नित्यस्य
“तत्त्वादित” इति सूत्रभाष्ये ‘क्षीरोदकं सम्पृक्त’ इति प्रयोगे द्विवचनामिद्विरपि न्यादिति
ग्रहणम् ॥ ३४ ॥

विकल्पस्य प्रकान्तत्वादाह—*सर्वे विधय इति* । अस्यापार्थक्येति शेषः । विकल्पयन्त
इति पाठ्यमु मुगमः । एतल्लामोपायमाह—*इत्यस्ये इति* । *येतियोगविभागेनेति* ।
एषज्ञानेन योगविभागेन सर्वेष्टमिद्वी एतन्मि विकल्पविधायकं सर्ववचनं व्यर्थमिति धरति
तम् । *नेन* । एतन्मि सर्वविधोर्ना वैकल्पिकत्वेन ॥ ३५ ॥

एषादावस्य प्राक् प्रकृताक्तप्रमद्वेनातिदेशान्तरस्यापि, स्मृतौ तस्यापि निरूपणमु-
चितमिति तद्विरूपयितुमवतारयति—*नन्विति* । कथमिति* । सूत्रघटकशब्दावयवक्षिशब्दौ
तत्त्वप्रकाशिका ।

जापयोगे बहुवचनस्य कारिताध्यात्मपरिभाषाज्ञापकत्वासम्भार इति यदन्तः प्रत्युक्ता, जाति
प्राधान्ये प्रतमानस्य “जातिरप्राणिनाम्” इत्यस्यात्र विषयाभावेन व्यक्तप्राधान्ये पूर्व-
ग्रहणव्यर्थस्य मतेन तद्व्यर्थस्य मौष्ट्यात् ॥ ३४ ॥

*क्षिप इति । ननु इत्यान्तानुकरणे विधेयायामिवशानुवर्तितः, परत्वाद्गुणेन बाधाय ।
दीर्घान्तानुकरणे “क्षिपो दीर्घान्” इत्यत्र दीर्घग्रहणे व्यर्थमिति चेन्न असम्भोतिपदुद्गमेनाति
क्षिप्यापुनानाध्वम्यैव धित्वस्योकारेण गुणाप्राप्तेः । तन्मयाऽन्तान्नेवस्यापि गुणाभावस्याति
देशादादाव । अत एव “क्षिपो दीर्घान्” इति दीर्घग्रहणं सङ्गच्छते ।

केचित्तु दीर्घान्तस्यैवानुकरणे दीर्घग्रहणं तात्पर्यवाहकमित्याहुः ।

यत्तु त्रयस्योतिरपुनर्यस्य व्याधर्मपरिभाषया वा अथेयोमोनेच्छारान्तस्य स्पर्शपटका-
पांचरागान्तस्य वाक्यस्य वा मन्त्राविधानान्न निर्देशामुद्गतिरिति तत्र “विभाषा इति” इति
निर्देशस्यासङ्गतापत्तेः । शुभेतिव्यव्यामिद्व्यापत्तेः ।

क्षिय इतीयङ्निर्देशोऽस्या ज्ञापकः । तत्रैव प्रातिपदिकत्वनिवन्धनविभक्तिकरणादनित्या चेयमिति “क्षियो दीर्घात्” (८-१-३६) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥ ३६ ॥

ननु रामादित्यादौ वृद्धौ कृतायां कार्यकालपक्षे कथं पदत्वमुभयतः भवति ।

हि क्षियात्वानुकरणं तु क्षियातुरेवेति भावः । *निर्देशः* । सौत्रनिर्देशः ।

ननु यद्यतिदेशेन धातुत्वन्तर्हि धातुपर्व्युदासात् प्रातिपदिकत्वाभावेन विभक्तिरेव न स्यादत्र आह—*तत्रैवेति ॥ ३६ ॥

अतिदेशप्रमत्तादतिदेशान्तरमपि वक्तुमाह—*नन्विति* । *कार्यकालपक्ष इति* । रामस्मरतीतिप्रयोगे नियातप्रवृत्तिसमये पदत्वज्ञानमपेक्षिततन्त्रं न सम्भवति प्रवृत्तययनप्रत्यययोः स्थाने जातस्यादेशस्यैकस्य उभयकालस्य निरुपगममप्यभवात् । यो हि द्वयोः पक्षो निर्दिष्टयोः स्थाने जातः सोऽन्यतरपक्षदेशं लभते इति न्यायेनाप्ययं प्रवृत्तययनप्रत्ययस्य पदत्वाभावः, यदि नुबितिर्यपदेशभाक् तदा पूर्वभागे यस्माद्विहितस्त्वत्वाभावा इति समुदायस्य पदत्वं कथमिति भावः । अत्र कार्यकालपक्ष इत्युपलक्षणम्, यथोक्तपक्षेऽपि पूर्वकालप्रवृत्तस्य पदत्वस्यैकादेशे कृते रामादित्यादौ समुदायस्यान्यत्वादभावात् । एकदेशेन विकृतमिति भावत्तान्तेन तृतीयान्तस्य समाम एकदेशस्य विकारप्रतियोगिनोऽपि कारणत्वविवक्षया तृतीयेति तत्र “अर्शभाच्च” इति केचित् ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

यस्तुतस्तु दीर्घस्यैवानुकरणम्, “क्षियो दीर्घात्” इत्यत्रत्यदीर्घग्रहणन्तु प्रातिपदोक्तक्षीपृधातोः क्वावृत्त्यर्थमिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

पूर्वकालप्रवृत्तस्येति । नित्यमपि एकादेशं वाधित्वा फलानभिस्तन्धाननापरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वादिति भावः । *समुदायस्यान्यत्वादभावादिति* । इदं न युक्तम्, आनुमानिकन्यायनिवृत्तयेन पदत्वस्य सुलभत्वात् । कार्यकाले तु नानुमानिकस्थानिवृत्तायः यस्माद्विहितस्त्वदादित्यस्याशास्त्रीयत्वात् ।

ननु आकङ्क्षारोभपदसंज्ञासु यथोद्देशपक्षस्यैव मिद्वान्तितत्वेनैकतरपक्षेणैकसिद्धौ पक्षान्तरेणतदुद्भावनन्यानुचितत्वेन च कार्यकालपक्ष इत्ययद्वयम् । इणधातौ उभयत आश्रयणेत्यस्यानाश्रयणादुभयत आश्रयण इत्यप्यसद्वृत्तमिति चेन्न प्राचीनमनेनैतद्व्यपन्यप्रवृत्तैः । अनाहचयेण पदरूप “स्वादिषु” इतिविहितपदरत्वात् । यदा “कार्यं तदा संज्ञा, स्वदेशतयागश्च” इत्यंशशयवतः कार्यकालपक्षस्य स्वदेशतयागांश्च एव पूर्वग्रन्थस्यैवकारेण व्याचर्तनात् । पक्षद्वयेनापि दोषाभावसम्भवस्याभिप्रेतत्वात् ।

यस्तुतस्तु रामादित्युपलक्षणम् चकार सुपुपुनुरित्यस्य । अत्र हि द्विरुक्तस्याभ्याससंज्ञायाम् “उरत्” इत्यस्य सम्प्रसारणे च कृते “हलादिः षेप” इत्यस्य पूर्वभागे द्विरुक्तपूर्वभागत्वाभावेन्यास्यासत्त्वाभावादप्रवृत्त्यापत्तिः । स्थानिवृत्तावेन तु नाभ्यासत्वस्य निर्वाहः क्रकारादेरभ्यासत्वाभावात् । “सर्वे सर्वपदादेशाः” इति न्यायेनापि नातिदेशः तस्याथैवद्विपक्षकत्वेनात्राभ्यासस्यानर्थकत्वात् । न चार्धविकारोणाधार्धिक्येन वा न्यायाप्रवृत्त्या कथमभ्यासत्वमिति वाच्यम् ? स्वीयविधेयताश्रयावधिपूर्वत्वं स्वीयोद्देश्यविधेयोभयमाश्रयणसमुदायघटकत्वोभयमभ्यन्येन द्वित्वशास्त्रविशिष्टोऽभ्याससंज्ञको भवतीत्यर्थे “पूर्वोऽभ्यास” इत्यस्य प्रवृत्तौ “कृह” इति समुदायनिष्ठस्य स्वीयोद्देश्यविधेयोभयमाश्रयणसमुदायत्वस्य “कहू” इत्यत्र न्यायेनातिदेशात् । द्वितीयसम्बन्धानुष्ठानेत्यत्रोक्तं इत्यस्य नाभ्यासत्वमिति बोध्यम् ।

यत्तु देवदत्तः पञ्चे, ग्रहिणोति, ग्रहाम्यां कुलाम्यामित्यादि फलम् “पञ्च इ” इत्यत्रत्यति-

उत्करणमिदमित्युक्ता किमर्थं विवृतनिर्देश एतदेव ज्ञापयत्याचार्यो भवत्ये-
षा परिभाषैकदेशविकृतमनन्यवदित्युक्तम् । एतेनायं, न्यायः शास्त्रीयका-
र्यं एव शास्त्रीयविकारे एवेत्यपास्तम् । विवृतावयवनिबन्धनकार्यं नु
नायं, छिन्नपुच्छे शुनि पुच्छवत्त्वव्यवहारवद्विवृतावयवव्यवहारस्य दुरुपपा-
दत्वात् । एवमक्तपरिमाणग्रहणेऽपि नायम्, उक्तयुक्तेः । एतत् “येन विधिः”
भैरवी ।

विवृतनिर्देशः । इकाराभावरूपो यो विकारस्तद्विनिष्टनिर्देशः, अत्र विकारो न शास्त्रीयः
किन्तु इच्छानुधारणमेव । यत्र शास्त्रीयो विकारस्तत्रैवैषा परिभाषा प्रवर्तते इति नाग्रहः ।
किञ्च शास्त्रीयविकारेऽपि, परिभाषाया लोकावधारसिद्धत्वात् । अत एव रामावित्यादौ वृद्धेः
शास्त्रबोधयत्येऽपि अकारनिवृत्तेराधिक्येनाशास्त्रीयत्वेऽपि परिभाषाप्रवृत्तिः । अन्यत्वस्य
निषेधे शक्ततावच्छेदिका याऽऽनुपूर्वी तदभेदप्रतीतिरपि अर्थशोधजनकनिषामिकास्तीति
तस्मादर्थयोधः । *एनेन* । अस्य न्यायस्य लोकसिद्धत्वेन ।

ननु कार्यकालपक्षमुपक्रम्यैतत्परिभाषावतरणमयुक्तमाकङ्क्षाधिकारस्य संज्ञाविषये यथो-
द्देशपक्षस्यैवाश्रयणादिति चेन्न, यत्र तदधिकारस्य संज्ञाद्वयप्रसक्तिस्तत्रैव यथोद्देशत्वस्याश्रय-
णात् । तथाचोक्तं प्राक् “आकङ्क्षाधिकारस्य भेदसंज्ञाविषयत्विति” यत्र तु न द्वयोः प्रसक्ति-
स्तत्र कार्यकालत्वमपि । अत एव “अन्तादिवच्च” इति सूत्रे परादिवद्भावस्य वृक्षे तिष्ठती-
त्यादौ कार्यकालपक्षे निघातसिद्धिः फलमित्युक्तम् ।

ननु व्यवस्थितयोः कार्यकालपक्षयथोद्देशपक्षयोर्मध्ये यथा प्रवृत्तसंज्ञाविषये यथोद्देशपक्ष-
स्यैवाङ्गीक्रियते । अन्यथा “अणोऽप्रवृत्तस्य” इत्येतदेकवाक्यतापन्नस्य “इदूदेत्” इति सूत्रस्य
प्लुतदृष्ट्याऽसिद्धत्वात् । प्लुते कृते “आगच्छतमग्नी” इत्यादौ त्रिमात्रत्वादी कारस्य प्रवृत्त्याभा-
वेऽनुनासिकापसिर्गर्थोद्देशपक्षाश्रयणे तु प्लुतस्यैव प्रवृत्तसंज्ञाविधायकशास्त्रदृष्ट्यासिद्धत्वेनादौ
प्रवृत्तस्यैव भवति । न च तस्य स्थाने प्लुतादेशे तन्निवृत्तिरिति वाच्यम्, त्रिमात्रेऽपि प्लुते-
सिद्धत्वेन त्रिमात्रप्रवृत्त्या पुनः प्रवृत्तत्वाङ्गीकारात् । तथा रामावित्यादौ यथोद्देशत्वाङ्गीकारेण
पदत्वस्य पूर्वप्रवृत्तस्य “सर्वे सर्वप्रज्ञादेशा” इति न्यायेन सिद्धौ “एकदेशविकृतमनन्यवद” इति
परिभाषानाश्रयणीयेति चेन्न, द्व्युप्ती अत्युप्तीत्यादावन्नङि कृते “बहुव्रीहिरूपस” इति ङी-
प्रवृत्त्यर्थं परिभाषाङ्गीकारस्यावश्यकत्वात् । *विवृतावयवेति* । यथा मघवतः मघवतेत्यत्र
“मघवा बहुलम्” इति व्रीहेश्चे कृते सम्प्रसारणमनेन न्यायेन, तत्रहि इवादीनां सम्प्रसारणे
नरारान्तप्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थमिति हि भाष्ये उक्तम् ।

उक्तार्थं मानमाह—*छिन्नपुच्छ इति* । विज्ञेयान्तरमप्याह—*एवमक्तेति* । परि-
च्छिन्नपरिमाणेति पं. “परिमाणस्य प्रत्युप्यं, यथेष्टपरिमाणस्यैव तत्त्वान्तरेण तद्विज्ञेयता-
धिकं न्यूने वा न प्रवृत्तिरिति लोके दृश्यते तद्वत् । अत एवाज्जातीयमित्यत्र “राज्ञः कच”
तत्त्वप्रकाशिका ।

अर्थं सम्बन्धिसमुदायान्तर्वृत्तमित्यर्थः । *किमर्थमिति* । न च लाघवात्तान्तस्यैवावधित्वे
नैवैवैदमनुकरणं न विशिष्टस्येति वाच्यम् ? “अत इह” इत्यत्राणिशोः पर्यायेण विधानव्या-
वृत्त्यर्थमर्थानामेवावधिमत्त्वस्येष्टत्वेनावध्यवध्यवधिमतोऽस्माज्जात्यमितिनियमार्थस्यैवावधि-
त्यस्येष्टत्वात्तान्तस्य निरर्थकत्वेन तत्त्वासम्भवात् । एवञ्चैकदेशविवृतोऽप्यर्थयोधकः ।
अन्यथाऽनेन न्यायेन शब्दस्वरूपाभेदप्रतिपादनेऽप्युक्तीत्याऽर्थयोधत्वेनार्थत्वावधित्वं न
स्यादिति भावः । *ज्ञापयतीति* । बोधयतीत्यर्थः । स्वांशे चारितार्थ्यसम्भवात् ।

नन्येवं कतरदित्यत्र विवृतावयववद्वत्त्वप्रयुक्तमपि कार्यं स्यादत आह—*विवृतावय-
वेति* । *अक्तपरिमाणेति* । संख्यात्यपरिमाणत्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नप्रकारताकयुद्धिनिष्ठप्र

(१-१-७२) इत्यत्र भाष्यकैयटयोर्ध्वनितम् । यत्र त्वर्ध्वं तदधिकं वा विकृतं तत्र जातिव्यञ्जकभूयोऽवयवदर्शनाभावेन तत्त्वाप्रतीतौ कार्यसिद्धयर्थं विकृतानलरूपावयवत्वप्रतीत्यर्थं च स्थानिवत्सूत्रम् । क्वचित्तु लक्ष्यानुसंधान्यायानाश्रयणम् । तेनाभीयादित्यादिसिद्धिः । स्पष्टं च क्वचिन्न्यमैरवी ।

इति छप्रत्यये नकारस्य ककारादेवे च कृते “अल्लोपो ऽनः” इति न । एवञ्च विशिष्टानुपूर्वाकाणां शब्दानां साक्षात् संज्ञाद्वारा वा यत्राच्छ्रयणन्तर्गते न प्रवर्तते इति, संज्ञाद्वारा परम्पराश्रयणादभीयादित्यादौ “एतलिङि” इति न प्रवर्तते । तदेतद् वक्ष्यति “क्वचित्तु लक्ष्यानुसंधादिति” । *एतत्* । पूर्वोक्तमर्थजातम् । *ध्वनितमिति* । तत्र ह्यक्षपरिमाणानामर्थानां याचका ये शब्दास्ते न नूने न बाधिके इत्यस्य न्यायस्य सङ्ख्याशब्दपरिमाणशब्दयोः प्रवृत्तिरुक्ता, तथाप्येवमस्य वाच्यपरस्य संज्ञापरस्य च कथनं ध्वनितमित्यर्थः । एवञ्च “स्थूलम्” इति सूत्रेऽपि । प्रकृते एकदेशविकृतन्यायेनैव निर्वाहऽवयवादेशस्थले स्थानिवत्सूत्रस्य न प्रयोजनं किन्तु यत्र समुदायादेशस्तत्रैवेति कश्चिद्वाह तदुक्तिं खण्डयति—*यत्र त्वर्ध्वमिति* । यथा यत्प्रस्तौतीत्यत्र “तिङि चोदात्तप्रति” इति प्रशब्दस्य निघातः प्रशब्दस्य गतित्वे सति स्यात् । तत्र प्रकृतेषां तु त्वसाध्यस्तत्र नैकदेशविकृतन्यायेनेति तदर्थमपि सूत्रास्मै आवश्यकः ।

एवञ्च तत्र “सर्वे सर्वपदादेशाः” इति न्यायेन स्थित्यस्य स्तौतिशब्ददेशकत्वनया स्थानिध्वन्यानेन धातुत्वमुक्त्या प्रशब्दस्य कार्यकालपक्षे गतित्वं भवति । *नदधिकमिति* । यथा “प्रतीरम्” इत्यत्र पूर्ववत् प्रशब्दस्य गतित्वे सति “गतिरनन्तर” इति प्रकृतिस्वरसिद्धिर्भवति ।

यदि सर्वप्रकृतेष्वविकृतन्याय आधीयते तदा बहुधीवानमाच्छेदोत्तर्यं जिघि टिलोपे नदन्तादिपि जिघोपे वा तस्यापि तेन न्यायेनाद्यन्तपदुधोदिपिपद्येन ग्रहणं स्यात् । तथाच तस्मात् दाक्ष्यात् । *कार्यमिदमर्थमिति* । राज्ञेत्यादौ सुलोपेऽपि स्थानिध्वन्यानेन पदत्वसिद्धिः समुदायादेशस्यार्थे यथा भवति, तथा धिषी कतरत् इत्यादौ यस्माद् विहितस्तत्त्वप्रतीतिरपि स्थानिध्वन्याप्येव । *अभीयादिन्यादिनिदिधिरिति* । अत्रोपमर्गतरस्यात्कपतत्त्वप्रकाशिका—

निश्चयता निरुचितप्रतिशब्दकतावच्छेदकविषयताध्वनिशिष्टम् वे० स्वघटित्व स्वयमनियतान्तरात्मन्यनेन । दृष्टव्यं च तस्यैकत्वप्रतिशब्दकभूतद्विध्यपटित्वम् । जरास्वादेशिह्यप्रतिशब्दकं नूतचतुष्टयमनियतत्वात्परिच्छिन्नपरिमाणत्वम् । गुणोदकमित्यत्र दृक्शब्दे उदकशब्दस्यानिदेशनर भाष्येन पुनोक्त्यापदुनिमित्तकायां पूर्वमन्तरादौऽप्येकादेशो नैतिपरिमाणवा पूर्वमेव स्वरप्रवृत्तिरकदेशस्युक्तम् । न चैवं दीव्यति तद्वत्त्वस्याप्यनेनातिदेशाभावात्, दीव्यतिशब्दगिद्योपमर्गतरस्याप्येवोदकशब्दोदकशब्देति येनेष्टमिदोः ।

यत्तु यत्तु न जगत्स्वयमनियते यत्तुपुन्य प्रतिषर्गमिभ्रतवादिति तत्र जरास्वजातेः समनियतत्वाभावे, निराद्यन्यपि निष्ठधर्मस्य तथात्वात् । अत एव लक्षणं न जातिपदोपादानम् एतेन जातिपटित्वस्यैव कृता येनोपशब्दाय व्याकरणाभावात्प्रतिषोभित्वपर्यन्तं विदधन्तः स्तोः पात्याः ।

क्वचित्तु “उदके नैवेदे” इति मूलम्याप्यसिद्धिप्राप्य समनियतधर्मस्यानेनानतिदेशः, अभिर्भाषादिभ्यश्च तु न्यायस्यानिष्ठाया इत्याश्रयः । अत एवाभीयास्वरनश्रित्यस्य न जगत्स्वमिति पदमिति । *अभीयादिनि* । यद्यपि “अद्यः परस्मिन्” इति न्यायिस्वरनेन भाग्यस्य पदवाभावात्प्राप्य पटित्वोपादानादुदकशब्दं बोध्यम् ।

याप्रवृत्तिः “प्रथमयोः पूर्वसवर्णः” (६-१-१०२) इत्यत्र कैयटेन दर्शिते-
त्यन्यत्र धिस्तरः ॥ ३७ ॥

इति प्रथमम्प्रकरणम् ।

भैरवी ।

रिमाणनिष्ठतयाऽयन्न्याय “पूर्तेलिङि” इति विधीयमाने ह्रस्वे यद्यपि पूर्वोक्तरीत्या न भवति,
तथापि पदत्वस्याक्तपरिमाणनिष्ठत्वाभावेन भान्ते जस्त्वाभावसिद्धयर्थमिह लक्ष्यानुश्र-
यणे कर्तव्यमिति बोध्यम् । उक्तार्थदाढ्याय दृष्टान्तमाह—*स्पष्टञ्चेति* । *कैयटेनेति* ।
तत्र वृक्षानित्यत्र “प्रथमयोः” इति सूर्यं बाधित्वा पररूपं प्राप्नोति इति शङ्खायां “प्रथमयोः”
इति योगविभागं प्रदश्यं योगविभागेन पररूपस्य बाधे प्रदर्शिते यथा योगविभागेन
“प्रथमयोः” इति सूत्रम् “अतो गुणे ” इति पररूपं बाधते तथा “अमि पूर्व ”
इत्येतमपि बाधेतेति शङ्खायां भाष्ये ‘मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते’ इत्यर्थं योगवि-
भागः पररूपं बाधिष्यते अमि पूर्वत्वञ्च बाधिष्यते इति समाहितम् । ततो भाष्यकृतेनोक्तम्
यद्येतदस्ति मध्येऽपवादाः, पुरस्तादपवादा इति नार्थपक्षेनापि योगविभागेन पुरस्तादपवादा
अनन्तरान्विधीन्याधन्ते, इत्येवं पररूपम् “अकः सवर्णे”दीर्घत्वं बाधिष्यते “प्रथमयोः पूर्वसव-
र्णः” दीर्घत्वञ्च बाधिष्यते इति तत्र मध्येऽपवादा इतीतिप्रतीकमुपादाय कैयटेनोक्तम् । न्यायश्चा-
यन्न तु वचनं पद्व्यति यद्येतदस्तीति न हि वचनस्यांसत्ता सम्भायना न्यायस्तु क्वचिन्
क्वचिदाधीयत इति मुख्यतं वक्तुमिति ॥ ३७ ॥

इति प्रथमम्प्रकरणम् ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

केचित्तु एतन्न्यायस्वीकारे यत्र यत्राक्तपरिमाणादौ दोषस्तत्र तत्र न्यायानाश्रयणेनैव
निर्वाहो लाघवादिति तत्र, अण्णन्ताच्छ्रायसशब्दाद्द्विवेने श्रायसावित्यत्र वृद्धौ सान्तस्यो-
गित्वेनानेन न्यायेनाङ्गतया च प्राप्तस्य नुमः पूर्वसम्बन्धित्वेन “अचः परस्मिन्” इतिस्था-
नित्वेन चारणपरभाष्यासङ्गतेः । अतः पदत्वे कर्तव्ये एतन्न्यायानाश्रयणमिति बोध्यम् ।
अन्यत्रेति । वस्तुतो व्यर्थेयं परिभाषा रामावित्यादौ यथोद्देशपक्षेण निर्वाहात् । आरेत्या-
दौ स्वीयविधेयताध्यावधिकपूर्वत्वं स्वीयोद्देश्यताश्रयसम्भिव्याहृतवर्णोपदितत्वोभयस-
म्बन्धेन द्वित्वशास्त्रविशिष्टोऽभ्याससंज्ञको भवतीत्यर्थक “पूर्वोभ्यास” इत्यनेनाभ्यासत्वेनादो-
षपात् । ‘प्राग्दीन्यत’ इत्यत्र तु सौत्रहकारलोपः । अत इव स्थानिवत्सूत्रे भाष्ये आदेशग्रहणे-
नानुमानिकस्थान्यादेशभावेन पञ्चत्विव्यादीनां पदत्वमङ्गीकृत्य एतदर्थमेकदेशविकृतस्योपसं-
ख्यानमिति यन्नोदिनं तन्न वक्तव्यं भवतीत्युक्तं सङ्गच्छत इति दिक् ॥ ३७ ॥

इति प्रथमम्प्रकरणम् ।

अथद्वितीयम्प्रकरणम् ।

पूर्वपरानित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः ॥ ३८ ॥

पूर्वापरं बलवत् । विप्रतिषेधशास्त्रात्पूर्वस्य परं बाधकमिति यावत् ३= नन्वेवं 'भिन्धि' (भिन्तात्) इत्यत्र परत्वात् तातडा बाधितोऽकच् (धिः) न

भैरवी ।

अथबाधवीजप्रकरणम् ।

एतदेतावद्वृत्तमनन्यवदित्यत्र प्रतिषेधार्थकस्य नञः सत्त्वातिषेधेन भावांशस्य बाधो दृष्ट इति तत्प्रसङ्गेनान्यप्रयुक्तबाधानामप्युपस्थितिरिति तद्विरूपयति—*पूर्वपरेत्यादिना* । सं- बाधकवाक्यमेतत् । पूर्वापेक्षया परस्य बलवत्त्वमात्रेण लक्ष्याणां सिद्धिर्न भवतीति फलिता- र्थमाह—*पूर्वस्येति* ॥ ३८ ॥

नन्येवमिति । पूर्वस्य परत्वात्तेन विप्रतिषेधशास्त्रमलाद्बाधकत्वपत्तेः । *अकज्जुन स्यात्* । "तिष्ठश्च" इति विहितोऽकज्जुनस्यादित्यर्थः । क्वचित्परत्वात्तातडा बाधितो धिर्न स्यादिति- पाठोऽस्ति सत्त्वयुक्तः धिर्नस्यादित्वस्य भिन्धीत्यत्र धीत्यस्य धयणश्च स्यादित्यत्र तात्प- र्यमिति धारयन्तश्च न सम्भवति तातडो वैकल्पिकतया एतदभाये तच्छ्रयणस्य मिद्धेरिति तात्पर्यार्थविरोधात्, एवमाज्ञातु पुनः प्रसङ्गविज्ञानन्यायेन समाधानमपि न युक्तम् "अचश्च" इति सूत्रस्यभाष्यविरोधात् । तत्र हि-भाष्ये प्रतप्त्य प्रस्तयेत्यत्र संयोगनिवृत्त्यर्थम् "ज्जाल" इति सूत्रेऽज्ञप्रहणम्, अन्यथा "इत्यस्य पिति" इति तुक् स्यादित्युक्त्वा अच्ममुदायनि- वृत्त्यर्थज्ञाज्ञप्रहणम् । अन्यथा "छे च" इति तुको "दीर्घात्पदन्तरद्वा" इति वैकल्पिकमुक्ता तित- उच्छात्रमिन्ध्यात्रात्समुदायस्य दीर्घसंज्ञायां बाधः स्यादिति "ज्जालोऽच्" इतिसूत्रेऽज्ञप्रहणस्य प्रयोजनम् "अचश्च" इतिसूत्रे उक्तम् । तत्र कैयटः, दीर्घलक्षणे तुकि परत्वात् प्रवृत्ते सद्भूति- न्यायादुपस्थानलक्षणः पुनः प्रवर्तते ।

नवीं विधेयविधेयं पुनः प्रसङ्गविज्ञानमस्ति नित्यविकृतपयोर्विरोधात् पूर्वोऽपि परस्य बाधप्र- तत्त्वप्रकाशिका ।

अथ बाधवीजप्रकरणम् ।

प्रमप्राप्तं बाधरीजं यदनुमाह-एकदेशेति* । *उत्तरोत्तरमिति* । "आनुपूर्व्ये द्वे वाक्ये" इत्युत्तरानुपूर्व्य द्वित्वं समामयञ्च बहुलमिति बहुलप्रहणनाम्न समामयद्वयः । एवञ्च पूर्वयो- र्त्पानुपूर्व्यां यदुत्तरे सत्त्वयोज्य इत्यर्थः । अथवा समाहारद्वन्द्वः एक उत्तराशब्दः पराशब्दः, एकस्त्वत्कारणेन वृद्धांशोत्तरपदः ।

ननु परत्वात्पूर्वप्राप्तादनुपूर्वपरत्वात्परत्वादित्यनुमानं हेतोः पञ्चमाप्रवृत्तित्वेनामाधार- णन्याद्व्याप्तिप्रवृत्तिव्याप्तिप्रयोजन इत्यमन आह—*विप्रतिषेधशास्त्रादिनि* । एवाज्ञातु- क्तनर्यस्याप्राप्तिप्रयोजनार्थहेताविति भावः ॥ ३८ ॥

अकज्जुन स्यादिति । इदं न युक्तमरुधो युष्मानिमित्तकृतेन यदिरुद्धत्वात् । *अधयण- स्यादिति* । परत्वात्तातडा बाधकत्वात् । "तातडा हेः स्थानिःस्थप्रतिषेधो धनस्य" इति वार्ति- केन न्यायिनःस्थनिषेधाच्च । *मिद्धेरिति* । नच तातडोऽभावपक्षे धिमावाभावाऽपि विधेय इति वाच्यम् । अप्राप्तविभाषास्यनेऽभावस्य मिद्धेतयः भाषमात्रस्य विधानात् । अतः पुनः शुभुशब्दे यम इत्यप्राप्त्यामणोऽनं ।

नेपिणु भिन्धीति भिन्तादित्यन्योरन्यथा । तत्र परत्वात्तातडा बाधितो धिर्न स्यात् ।

स्यादत आह—

पुनः प्रसङ्गविज्ञानातिमद्धम् ॥ ३२ ॥

नन्येयं तिसृणामित्यत्र परत्वात्तिन्नादेशे पुनर्नयादेशः स्यादत आह—

सकृद्गतौ विप्रतिपद्ये यद्वाधितं तद्वाधितमेव ॥ ४० ॥

तत्र कचिच्चरितार्थयोरेकस्मिन् गुणपदुभयोः कार्ययोरसम्भवेन धाव-
काभावात्पर्यायेण तृत्तादिवच्छास्त्रद्वयप्रसङ्गे नियमायं विप्रतिषेधसूत्रमिति
सकृद्वृत्तिन्यायनिवृत्तिः ।

यथा—तुल्यफलयोगेकः प्रेष्यो भवति स तयोः पर्यायेण कार्यं करोति । यदा तनुभौ युगपत्प्रेषयतो नानादिषु च कार्यं तदाभयोर्न करोति यौगप-
द्यासम्भवात्तथा शास्त्रयोर्लक्ष्यार्थयोः कञ्चित्क्षणे यौगपद्येन प्रवृत्त्यसम्भवाद्-
प्रतिपत्तौ प्राप्तायामिदं पराधिध्यर्थं, तत्र कृते यदि पूर्वप्राप्तिस्तदपि भवत्येवेति
पुनः प्रसङ्गविज्ञानसिद्धिरिति विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

यत्तु कीयदादयो व्यक्तौ पदार्थे अनिलद्वयं लक्षणोपप्लवाद्बुभयोरपि शा-
भैरवी ।

सङ्गात् यत्र हि पूर्वो विधिः परप्र बाधने तत्र पुनः प्रसङ्गविज्ञानमित्याह—यथा भिन्धीत्यत्र ।
एवञ्च भिन्धीत्यत्र तासुहि कृतेऽपि यदि " पुनः प्रसङ्गन्यायेन " समुदायस्य धिः स्यात् तदा
तासुहप्रवृत्तिबाधः स्पष्ट एव ॥ ३९ ॥

[illegible]

नचानुगतजातेः शस्यन्वाभावे शस्यतावच्छेदकत्वानुपपत्तिरिति धार्यम् ? अकारणत्वेऽपि कारणतावच्छेदकत्वपदशक्यतेऽपि शस्यतावच्छेदकत्वसम्भवात् । तत्रैव शक्तिपदे शक्यनिष्ठा वा त्रिनेप्यता तदवच्छेदकतया भागमानत्वम् । अवच्छेदकत्वज्ञान्युपानातरिकवृत्तित्वमतः गृथिवीत्यादेर्न घटादिपदशक्यतावच्छेदकत्वापत्तिः । आकाशशब्दादौ तु संज्ञाशब्दशब्दाकाशशब्दावच्छिन्ने शक्तिरिति नाशः शब्दादय इति व्यवहारानुपपत्तिः । *प्रति-
तत्त्वप्रकाशिका।

एवञ्च स्थानिवत्त्वप्रतिषेधरम्भो व्यर्थः स्यादिति भावः । आप्यानुगामिनस्तु तिसृणामित्यत्र
परत्वात्तिष्ठादेशेन बाधितो नृद्वयः स्यादित्यत्रतरणमाहुः ॥ ३९ ॥

शास्त्रद्वयप्रसङ्ग इति । अयम्भावः—यद्यपि विषये स्वीदे श्यतावच्छेदकावच्छेदेन ध्याप-

दिः" इत्याहुस्तत्र । व्यक्तिपक्षे सर्वं लक्ष्यं शास्त्रं व्याप्नोति न जातिपक्षे इत्यत्र मानाभावात् । न शास्त्रं हन्यादित्यादौ जात्याश्रयसकलव्यक्तिविषयत्वार्थमेव जातिपक्षाश्रयणस्य भाष्ये दर्शनात् । अत एव "सरूप"सूत्रे भाष्ये जातौ पदार्थेऽनवयवेन साकल्येन विधेः प्रवृत्तेर्गौरवबन्ध इत्यादौ सकलगवानुबन्धनासम्भवात्कर्मणो वैगुण्यमुक्तम् । द्रव्यवादे चासर्वद्रव्यावगतेर्गौरवबन्ध इत्यादावेकः शास्त्रोक्तोऽपरोऽशास्त्रोक्त इत्युक्तम् ।

भैरवी ।

तत्रेति—तत्रेत्यादिना* ।

सर्गं लक्ष्ये शास्त्रमिति । सर्वं लक्ष्यमिति कर्मबोधकम् शास्त्रमिति कर्तृपरम् ।

ननु जातेर्वाच्यत्वमते जातौ कार्यान्वयस्य शास्त्रबोधकत्वभातौ कार्यान्वयश्च । यत्किञ्चित्शक्तिद्वारा जातश्चेदपि शास्त्रञ्जरितार्थमिति सर्वलक्ष्यव्यापने शास्त्रारम्भसामर्थ्यं यत् तत्त्वस्मिन् पक्षे मानन्तश्चास्तीति यदाम इत्यत आह—न ब्राह्मणमिति* । सकलव्यक्तिविषयत्वाधेन्याहणत्वजात्याश्रयसकलब्राह्मणहनननिषेधाय । *भाष्ये* । सरूपमुच्यते ।

अयम्भावः—व्यक्तेरेव जातेरेव वाच्यत्वमिति पक्षत्वाश्रयणं युक्तम् जातिशक्तिवादे गोत्वशक्तिप्रहादगोत्वपदजन्याद्गोत्वविशेष्यरूपोधापत्तेः । न च गोत्वपदशक्तिप्रहो गोत्वत्वाच्छिन्नविशेष्यताको गोपदशक्तिप्रहस्तु गोत्वत्वानवच्छिन्नविशेष्यताक इति न गोत्वपदजन्यशक्तिप्रहादापत्तिरिति वाच्यम्, गोत्वनिष्ठनिरवच्छिन्नविशेष्यताकशक्तिप्रहस्य गोत्वत्वज्ञ गोपदशक्त्यमिति बाधप्रहस्तत्वेऽपि सम्भावेन तादृशबाधप्रहकाले गोत्वनिष्ठनिरवच्छिन्नविषयताकशब्दोधापत्तेः । पदि च गोत्वे निरवच्छिन्नं गोत्वपदस्य शक्तिः, गोपदं गीरित्वाकारकं स्वरूपतो गोत्वप्रकारकं गोपदत्वविशिष्टविशेष्यकं शक्तिज्ञाने गोत्वविशिष्टविशेष्यकशब्दोधापत्तेः । हेतुतिर्युच्यते । तदा कदाचित्समवायेन गोत्वप्रकारकशब्दादित्कालिकसम्बन्धेन गोत्वप्रकारकमिति व्यवस्थानुपपत्तिः । जातिविशिष्टशक्तिस्वीकारं तु समवायेन गोत्वविशिष्टविषयकशक्तिप्रहस्य समवायेन गोत्वप्रकारकशब्दशुद्धिप्रति हेतुत्वमितिकाव्यकारणभावेन नानुपपत्तिः । गोत्वपदस्य गोत्वत्वे शक्तिव्यापोगोपदस्य गोत्व इति तु वक्तुमशक्यम्, लाघवमूलकत्वाद्गोत्वविशिष्टविषय शिथिलत्वापत्तेः ।

किञ्च वेदलक्ष्यत्वेवाच्यत्वे गौः शुक्लधलो दित्य इति सह प्रयोगानुपपत्तिर्धर्मविशेषान् ।

किञ्च यत्र हस्तिपक्षे हस्तिनः पालकृत्वसम्बन्धो न गृहीतस्तस्यापि हस्तिपक्षान्तरविशेष्यकमन्वयः प्रहादोधापत्तिरिति तद्वारणाय तद्व्यक्तिविशेष्यकशब्दोधापत्तेः तद्व्यक्तिविशेष्यकसम्बन्धप्रहस्य हेतुता वाच्या । तथा सति व्यक्तीनां नानात्वात्कालान्तरीयदेशान्तरीयव्यक्तिविषयकशब्दोधानुपपत्तिरतो गवादिपशूनाद्गोत्वादिविशिष्टे शक्तिरित्येवापेक्षम् । एतद्व्युक्तं सरूपसुब्रह्मण्ये—“न ह्यावृत्तिपदार्थस्य द्रव्येन पदार्थो द्रव्यपदार्थकवादितमं आकृतिर्न पदार्थ इत्युभयोरभयम्पदार्थ” इति यद्यप्येतद्भाष्याद्विशकलितशक्तिवाद इति प्रतीयते, तथापि कस्यचित्कश्चिद्व्युत्पन्नभूतद्विधित् प्रधानभूतमित्युत्तरभाष्यपर्यालोचनया विशिष्टशक्तिवाद एव तात्पर्यमवधार्यते ।

किञ्च जातिरेव पदार्थ इति मते सर्वलक्ष्यव्यापने जातिवाच्यत्ववादस्य शिथिलत्वापत्तिः । उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन शास्त्रप्रवृत्तेस्तत्पक्षे लाभादित्यपि बोध्यम् ।

उक्तार्थे मानमाह—अत एवेति* । जातिवादस्य सकलव्यक्तिसंग्रहार्थमेव । *अनवयवेन । अस्त्येव व्याख्या साकल्येनेति व्यक्तिविशेषा एवान्वया इत्युच्यते । *असम्भवादिति* । देशकालभेदेन व्यक्तीनामान्तर्यादिति भावः । *वैगुण्यमुक्तमिति* । तस्य फलानवाप्तौ तात्पर्यम् । तर्हि द्रव्यमेव वाच्यमित्यस्त्वित्यत आह—द्रव्येति* । *चस्त्वर्थे* । *एकः शास्त्रोक्त

किञ्च न हि भाष्योक्ततृजादिदृष्टान्तस्य व्यक्तिपक्ष एव सर्वविषयत्वं न जा-
तिपक्ष इत्यत्र मानमस्ति । अपि च व्यक्तिपक्षेऽप्यन्यव्यक्तिरूपविषयलाभेन
चरितार्थयोरित्यं व्यक्तिविरोधात् स्वविषयकत्वं न कल्पयतीति वक्तुं श-
क्यम् । जातिपक्षेऽपि तज्जात्याश्रयतद्व्यक्तिविषयकत्वमेव नैतद्व्यक्तिविषय-
कत्वमित्यत्र विनिगमकाभावः । तत्र लक्ष्यानुसारात् कचिच्छास्त्रीयदृष्टा-
न्ताश्रयणं कचिन्नोक्तिकदृष्टान्ताश्रयणमिति भाष्यसम्मतमार्गं एव युक्त इति
बोध्यम् । द्वयोः कार्य्ययोर्योगपक्षेनासम्भव एव विप्रतिषेधशास्त्रोपयोगी ।
इदम् "एको गुणः" इति (१-१-३) सूत्रे कैयटे स्पष्टम् । यथा शिष्टादित्यादौ
तातङ्शाभावयोर्युगपत्प्रवृत्तौ स्वस्वनिमित्तानन्तर्यासम्भवः ।

यद्यपि तातङ्गादेः स्थानिवत्त्वेनास्त्येव तत्, तथाप्यादेशप्रवृत्त्युत्तरमेव
स, न तु तत्प्रवृत्तिकाले । एवं युगपद्व्यवस्थयोः प्रियकोष्ठनीत्यादौ युगपदस-
म्भवो यदागमाः । (प० ११) इत्यस्य युगपद्व्यवस्थेः प्रवृत्तेः । एवं मि-

मैत्री ।

इति । इत्यस्य वाक्यत्वरश्चेत्यर्थं तद्विनिर्देशस्योक्ततृजादीनुपलब्ध्य इतिशास्त्रघटनेः शब्द-
पूजागोचरस्यविधायकः स्यात् तथायैकेन पुरुषेण तच्छास्त्रजवाधोत्तरमेकगोनुवन्द्ये कृतंऽपि
शास्त्रस्य कृतार्थत्वादपरः पुरुषो यदि तथा कृतार्थत्वाऽशास्त्रोक्तद्वयादित्यर्थः । व्यक्तेर्गोचरस्य-
तमपर येन प्रकारेण विप्रतिषेधसुत्रस्य निषामस्त्वमुक्तं ॥ प्रकारान्तरित्यति—*अपिचेति* ।
विनिगमकाभाव इति । तथा च—जातिपक्षेऽपिमर्यव्यक्तिविषयकत्वसम्भवेन पदार्थाप्रमाणी
विप्रतिषेधस्य निषामार्थं स्यादिति भावः ।

पुनरुक्त्यादिमन्मतमागन्तुपयित्वा स्वमिद्वान्तमाह—*तत्रेति* । "विप्रतिषेधे परद्रव्य-
म्" इत्यस्य सूत्रस्य यत्र प्रवृत्तिस्तद्वर्तयति—*द्वयोः रित्यादिना* । द्वयोः रित्यस्य, परस्परविष-
यपरिहारेण लक्ष्यावकाशयोरित्यादि । एतच्च यथान्यतरस्य निरवकाशत्वन्तत्र निरवकारास्य
चरितार्थवाधरताया दर्शनादर्थमिदम् । *शास्त्रोपयोगी* । शास्त्रप्रवृत्त्युपयोगी । योगपक्षेना-
सम्भव इत्यनेन एकस्मिन् प्रयोगे योगपक्षेनासम्भवे दक्षितो मत्त्वकस्य कार्य्यद्वयसम्भव
पदेति दर्शितम् । अतएव भाष्ये नावश्यमिद्विकार्य्ययोग एव विप्रतिषेधः किन्तुसम्भवोऽपीति
प्रणिपादितम् । द्विकार्य्ययोगेतिवच्यं द्वाभ्यामुक्त्याभ्यां योगो यस्यैकस्य स न विप्रतिषेधविषय
इत्यर्थः । *अत्र इति* । तेन हि तत्र द्विकार्य्ययोगवत्ताभावे केवलोऽव्यवस्थयो विप्रतिषेध
इत्युक्तम् । केवलसम्भवमेव दर्शयति—*यथेति* । *स्वस्वनिमित्तमिति* । तत्र शाभावे स्थानन्त-
र्यनिमित्तमिति स्पष्टमेव । तातङ्गादेः "तुयोः" इति सूत्रस्याङ्गपरिहारे पाठेनाङ्गानन्तर्या-
निमित्तमिति बोध्यम् । नचाङ्गस्येति मानन्तरपदवाहारेण तस्मिन्निमित्तमव्यवस्थार्थिका पदो
विनिर्दिष्टनिमित्तनिमित्तभाव इति वाच्यम्, अङ्गदेना यस्यापि विहितस्तस्मिन् तदादेभ-
वतीति तस्यैवपदवाहारेण तत्र निमित्तत्वन्तर्वादेने मति स्थानियद्गार्यं विना न सम्भवतीति
भावः । *आतङ्गादेरिति* । अत्रादिना शाभापरिहारेः । *तत्र* । आतन्तर्य्यम् । *ततः* ।
स्थानिवद्वाजः । एवं स्वस्वनिमित्तसम्भवस्य यथा पूर्वत्र प्रदर्शितं तद्वत् प्रत्यक्षस्याङ्गानन्तर्या-
नसम्भव निमित्तमङ्गदेना च तत्प्रवृत्तिगोच्येति भावः । *यदागमा इति* । स्थानिवद्वाजस्या-

तत्त्वप्रधानिका ।

शार्पद्वयसम्भव इति । शास्त्रेण शास्त्रादीनामगापुल्याय स्वविषयपरिति साधु तदि-
तरङ्गापु इत्यस्यैव बोधार्थे, एवोरित्यनेन शास्त्रादित्यस्य साधुतयं शास्त्रादित्यस्यागापुत्यमे-

धोत्यत्र तातद्धिभावयोर्युगपदेकस्थानिसम्बन्धस्याङ्गरूपनिमित्तानन्तर्य-
स्य चासम्भयो धोत्यः । "नुमुनुदोः" अपि नुटयजादिविभक्त्यानन्तर्यवा-
धो नुमि हस्वान्तरङ्गवाध इत्यसम्भवाद्विप्रतिषेधः । क्वचिदिष्टानुरोधेन
पूर्वशास्त्रे स्वरितत्वप्रतिष्ठापत्वात् स्वरितेनाधिकं कार्यमित्यर्थात्पूर्वमेव
भवति । तेन सर्वं पूर्वविप्रतिषेधाः संगृहीता इति "स्वरितेन" (१-३-११)
इति सूत्रे भाष्ये । विप्रतिषेधसूत्रस्य परशब्दस्येष्टवाचित्वात् तत्संग्रह इति
विप्रतिषेधसूत्रे भाष्ये ॥ ४० ॥

नन्वेवमेधते, इत्यादौ परत्वाद्विकरणे "अनुदात्तङितः" (१-३-१२)
इत्यादिनियमानुपपत्तिस्तेन व्यवधानादत आह—

विकरणेभ्यो नियमो यल्लयान् ॥ ४१ ॥

अत्र "बुद्ध्यः स्वसनोः" (१-३-१२) इति सूत्रेण स्ये विभावात्तद्वि-
धानं ज्ञापकम् । अन्यथा स्वध्यवधाने नियमाप्रवृत्तौ सामान्यशास्त्रेणोभय-

भैरवी ।

पुनर्लक्षणम् । पृथम् पूर्वतो विरोधोऽप्यस्तौत्वाह—*युगपदेकेति । नादेशस्यान्यतरस्य तत्र
प्रसक्तिस्तत्रैव विप्रतिषेधविचारः शास्त्रे प्रवृत्त्युपयोगां किन्तुर्नागमविषयेऽपीत्याह—*नुमु-
नोत्पाति* । पूर्वोक्तसङ्ग्राहकभावस्य पूर्वपक्षया परस्य यदुल्लवन्तश्चोपक्रममेव लभ्यते,
न तु परापेक्षया पूर्वस्य बलवत्त्वबोधवत्त्वन्तथाप्येतस्योपलक्षणत्वन्न स्पेतदुक्तस्थल एव बल-
वत्त्वमित्याशयेनाह—*क्वचिदित्यादि ॥ ४० ॥

पूर्वविप्रतिषेधस्य भाष्योक्तस्यल एव प्रवृत्तिरित्याशयेन शङ्कते—*नन्वेवमिति* । *पृ-
थम्* । पूर्वविप्रतिषेधादन्यत्र परस्य पूर्वबाधकरणे । *पृथगे इत्यादाविति* । आदिना पचल-
इत्यस्य संग्रहः । "अनुदात्तङितः" इत्यादिपदेन "स्वरितमितः" इत्यस्य संग्रहः । सामान्यशा-
स्त्रेण स्यादित्यः परत्वात् प्रथमतो जातानामादेशानामयश्चियम इत्यादायेन शङ्क्यम् । *अत्र* ।
अस्यां परिभाषायाम् । *स्ये इति* । सतीतिशेषः । *विभावात्तद्विधानमिति* । अतङिति-
शेष इव सूत्रं परस्यैवपदबाधकारकमेवपदस्य बाधकमित्याशयेनैवमुक्तिः । *अन्यथा* । एतत्प-
रिभाषाभावे । *सामान्यशास्त्रेण* । "तिसृस्त्रि" इत्यनेन ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

वं शास्त्रादिरयनेन शास्त्रित्वस्य सांप्रत्यमितरस्यासांप्रत्य बोध्यत इति परस्परं विरोधोऽपि
स्पष्ट एव । एवमन्यत्रापि विरोधोऽनुसन्धेयः ॥ ४० ॥

परम्बलवदित्यस्यापवादभूतां, परिभाषामवतारयति—*पूर्वविप्रतिषेधेति* । *परत्वादि-
ति* । विकरणस्य खश्चानशादौ, आत्मनेपदस्य तु लिङादौ चारितार्थ्यम्; प्रकृते उभयोः
प्राप्तौ परत्वाद्विकरणमिति भावः । इदमत्र तत्त्वम्—"तिसृस्त्री" इत्यनेन विहिताः तिबादयः
"अनुदात्तङितः" इत्यादिभिर्नियम्यन्ते, एवञ्च तिबादिषु सत्सु नियमविकरणयोः प्राप्तौ परत्वा-
द्विकरणे विकरणेन व्यवधानाग्नियमाप्राप्तिः । न च विकरणे कृताकृतप्रसङ्गित्वादितुल्यबलवि-
रोधत्वम्, परत्वादिरयस्य नित्यत्वादित्यत्रोपलक्षणत्वात् । "परास्त्रियम्" इत्यस्यानन्तरम-
नुल्लेखस्तु वैविध्यार्थः ।

नच नियमस्याप्राप्तियोग्ये विकरणस्य चारितार्थ्यभावेन नियमबाध इति वाच्य-
म् । कृते नियमे चरितार्थत्वात् । नचैवं तत्त्वकौण्डिन्यायायेन बाधः, "अविध्यति गम्यादयः"
इति मिदंशेन तस्यानित्यत्वेनात्राप्रवृत्तेः । अत्र कल्पे विषयसत्स्याग्नयणे विप्रतिषेधशास्त्र-

न्यस्तु पूर्वमेव नियमः ।

यद्वाऽलमात्रापेक्षत्वादन्तरङ्गा आदेशा लकारविशेषापेक्षत्वात्स्यादयो-
रहितरङ्गा इति दिग्योगलक्षणपञ्चम्यामपि न दोषः । अत्र पक्षे “वृद्धयः स्य”
(१-३-६२) इति सूत्रं स्यविषय इति व्याख्येयम् । आत्मनेपदशब्दादौ
भाविसंज्ञाश्रयणीयेति तत्त्वम् । भिन्नवाक्यतया सामान्यशास्त्रविहितानां निय-
मे तु लुगादिनेव नियमेन जातनिवृत्तिरङ्गीकार्या । भुक्तवन्तं प्रति मा
मुद्धया इति श्रूयात् किं तेन कृतं स्यादिति न्यायस्तु नात्र शास्त्र आश्रयितुं
युक्तो नियमादिशास्त्राणां वैयर्थ्यापत्तेः । “ध्वनितं चेदं “स्थानेऽन्तरतम”-
(१-१-५०) इति सूत्रे भाष्ये । शास्त्रानर्थक्यं तु वृद्धिसंज्ञासूत्रे भाष्ये ति-
त्कृतम् । सामान्यशास्त्रेणोत्पत्तिस्तु सरूपसूत्रस्थकैयट्परीत्या प्रधानानु-
भैरवी ।

गतके तेषां विधानादिति शेषः । *नियमः* । एकवाक्यतया विधानम् । इदञ्च व्याख्यानं
“स्यतासीललुटोः” इति सूत्रे “आर्द्धधातुक” इत्यस्यानुवृत्तिरुद्देशानामन्तरङ्गत्वज्ञानपे-
क्षत्वे कृतम् । तदननुवृत्तौ पूर्वोक्तीत्या लोदेशानामन्तरङ्गस्य च धातोरिति परशब्दापेक्षया दि-
योगलक्षणा पञ्चम्येवास्त्वित्वाशयेनाह—यद्वेति* । *लमात्रेत्यादि* । इदमन्तरङ्गत्वोपपा-
दनं कैयटीत्या । वस्तुतस्तु अपरनिमित्तकस्येन लोदेशानामन्तरङ्गत्वमत्र धोष्यम् । *न दो-
षः* । शब्दादिभ्योऽपि पूर्वमेव लोदेशानां प्रवृत्तेर्न दोषः । *अत्र पक्षे* । एकवाक्यतया आ-
त्मनेपदविधायकत्वम् “अनुदात्तञ्चित” इत्यादेरिति पक्षे ।

नन्वेकवाक्यतैव, अनुपपन्ना पूर्वन्तिबादीनां परस्मैपदत्वेनात्मनेपदत्वेन च ज्ञानस्य लक्ष्यानि-
श्चयज्ञानसापेक्षत्वाद्भूतानि कृत्वज्ञाने च परस्मैपदत्वज्ञानस्य कारणत्वादित्येवोद्देश्यं परत्वा-
दित्यत आह—*आत्मनेपदशब्दादाविति* । *भाविसंज्ञेति* । एकवाक्यतैव कार्या
अनुदात्तञ्चितो धातोर्लस्य स्थाने मैतादशास्तिवादयो भवन्ति येषां जातानामात्मनेपदसंज्ञा
भविष्यतीति ।

आत्मनेपदसंज्ञाविधायके लक्षणानुवृत्तेः फलन्तु चानशस्तत्संज्ञावारगमेव । वस्तुत इ-
त्याद्युक्तपक्षापेक्षया पूर्वोक्तपक्षयोर्दोषानाह—*मिच्छेत्यादिना, गौरवमित्यन्तेन* । *नियमे* ।
पूर्वोक्तीत्या नियमाश्रयणे । *जातनिवृत्तिः* । सामान्यशास्त्रेण जातानामन्तिशब्दानामनुदात्त-
ङिदादिभ्यो निवृत्तिः ।

ननु नियमेन निवृत्तिरसम्भवो भुक्तवन्तमिति न्यायविरोधादत आह—*भुक्तवन्तमिति* ।
नियमादिशास्त्राणामित्यादिना निषेधशास्त्रपरिग्रहः । भुक्तवन्तमिति न्यायानाश्रयणस्य भाष्या-
रूढत्वमपि सूचयन्नाह—*ध्वनितञ्चेदमिति* । *इदम्* । उक्तन्यायानाश्रयणम् । तत्र हि—तस्य
सूत्रस्य शास्त्रान्तरेण जातानामन्तरतमानामादेशानां निवर्तकत्वं कथितम् । नियमादिशा-
स्त्रवैयर्थ्ये इहापत्तिरिहरति—*शास्त्रेत्यादिना* । प्रमाणभूत आचार्यों दर्भपाणिः शुचावव-
शेन प्रादुर्मुख उपविश्य सूत्राणि प्रणयति स्म । तत्र नैकेनापि वर्णनानर्थकेन भवितव्यमिति
ग्रन्थेन तिरस्कृतम् ।

ननु सामान्यशास्त्रेण जातानां निवृत्तिरित्यस्य कथमुपपत्तिः, नहि एकस्माद्भातोर्जातस्यैकस्य
लक्ष्यानेकादेशानां सम्भवः, समुदायस्य स्थान्यर्थाभिधानसमर्थत्वाभावादत आह—*सामा-
न्येति* । *सरूपसूत्रस्थकैयटीत्येति* । तत्र हि—एकस्माद्गर्गशब्दात् बहूनां यज्ञप्रत्ययाना-
मसम्भवं प्रतिपाद्यैकस्यापत्यस्य प्रवृत्त्यर्थेन योगात् प्रधानभेदे च गुणावृत्त्या गार्ग्यशब्दाना-
मेवैकशेष इति हि तेनोक्तम् । *प्रधानानुलोभेनेति* । गार्ग्या इत्यत्र यज्ञप्रत्ययस्य प्रधान्य-

रोधेन गुणभेदकल्पना तावत् प्रकृतिकल्पनया कातर्या, प्रत्ययनिवृत्तौ च तत्कल्पितप्रकृतेरपि निवृत्तिः कल्प्येति गौरवमित्यन्यत्र विस्तरः ॥ ४१ ॥

परान्नित्यं बलवत् ॥ ४२ ॥

कृताकृतप्रसङ्गित्वात् । तत्राकलृप्ता भावकस्याभावकल्पनापेक्षया पलृप्ता-
भावकस्यैव तत्कल्पनमुचितमिति नित्यस्य बलवत्त्वे योजम् । तदाह-कृता-
कृतप्रसङ्गि नित्यं तद्विपरितमनित्यम् । अत एव तुदतीत्यादौ परादपि गुणा-
न्नित्यत्वात् शप्रत्ययादिर्भवति ॥ ४२ ॥

भैरवी ।

न्तु प्रधानीभूताथं प्रतिपादकतया स्पष्टमेव । तियादिप्रत्ययानान्तु “भावप्रधानमाख्यातं स-
त्त्वप्रधानानि नामानि” इति यास्कोक्तरीत्या यद्यपि न सम्भवत्तत्त्वोपपद्यते तथापि सिद्ध-
त्वात्स्वतन्वादेन तेषां विधानेनापूर्वाणां विधानात् प्राधान्यं द्रष्टव्यम् । *गुणभेदः* ।
प्रकृतिभेदः । *प्रत्ययनिवृत्तौ चेति* । चकारः प्रकृतेरपि निवृत्तिश्चेत्यनन्तरं द्रष्टव्यः । *विस्तार-
इति* । एतेन लुगादिस्थले यथा प्रत्ययानामनुत्पत्तौरेवान्वाख्यानमिति सिद्धान्तस्तथेहापि
नियमादिना सामान्यशान्वाविहितानुत्पत्तौरेवान्वाख्यानमित्याधोयते तत्रापपक्षयोरपि द्वाया-
भाय इत्यस्य विस्तार इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

*परादिह्यादि । परस्यापि बलवतो नित्यमबाधकमित्यर्थः । *तत्र* । परनित्ययोर्मध्ये ।
 धीशमिति । लाघवमेव नित्यस्य बलवत्ये धीजे नित्ये वाचनिकमिति भावः । *तदाह*—
 पक्षित्यस्य बलवत्ये धीजमुक्तं तदेवाह—*भतपयः* । नित्यस्य बलवत्त्वादेव ।

मनु मुदतीत्यप्र सत्यपि सम्भवे बाधनं भवतीति न्यायेन शत्रुत्ययस्य पूर्वं प्रकृतिर्भवति, न तु नित्यत्वेन गुणस्यापि, कृते शत्रुत्ययप्रसक्तः, बाधकेन “कृडिति च” इत्यनेन बाध इति त्व-
म्यदिति साम्यमुभयोरत आह—*आद्रीति* । तेन कृषद्धि रन्वपति अस्मै इत्यस्य स्पष्टः ।
आद्ये गुणं बाधित्वा वनम् । द्वितीये तु उपधावृद्धि बाधित्वा “रश्मिजभोरवि” इति नुम् । तृ-
तीये नित्यत्वात् अस्मै भवति । कृताह्वनप्रसङ्गि नित्यम्, तद्विपरीतमनित्यमिति समुदिता
परिभाषा ॥ ४३ ॥

सत्यप्रकाशिका ।

वराधित्यमिति । नित्यमपरादुल्लसदिति प्रतिज्ञावाक्यम् । तत्र हेतुमाह—*कृताहृतप्रस-
 द्धित्वान् इति* । बाधवशेकं श्राद्धभोजनादौ दीहित्रादिवदिति दृष्टान्तः । परत्वमनिश्चये
 उपपन्नम् । तथापिवादान्तरे हेतुत्वमप्युच्यम् । तेन सदादाय न व्यभिचाराः । विप्रतिषेधमा-
 श्रुत्याभ्य प्रायश्चित्तबोधनेन बाधस्तु नाशद्वयीयः, नित्यमप्य कृताहृतप्रसद्धित्वेन तुल्यवकति-
 तीयामावात् । हेतुदले श्रेयादिकमिच्छत्ये सतीति विशेषणीयम् । तेन मयादिकानित्यस्य बल-
 वशेऽपि न क्षतिः । अप्रयोजकवशाद्वावाक्याय तर्कमाह—*कल्लसामायेकेति ।

ननु तुदगीत्यत्रोभयप्रवृत्तौ नियमेन कथं पराशास्त्रबाध इति चेन्न, उभयोर्वैतन्यपद्यात्मभेदाः
 स्यन्तरशास्त्रस्य प्रवृत्तेरापदपक्षेनेनाक्षयमोक्षोपपत्त्य नित्यस्यैव प्रवृत्तेरचिनत्वात् । तथाहि—
 यदि परशास्त्रस्य पूर्वप्रवृत्तिमत्ता एतत्कारिकापक्षेदेनैव ननु तदैवनापक्षेदेकपक्षिप्रमातिरि-
 क्तमेव नियतशास्त्रमस्तौ, यदि नियमेन परस्य मोक्षोपपत्त्या एतदुद्देश्यतापक्षेदेकपक्षिप्रमा-
 तिरिति त्वेति पात्येति गृह्योक्त्यालम्ब्यम् । ॥ अत्रस्यवादिरिति ॥ अत्र जल्प निश्चयमात्रं दं-
 गुलामात्र इति वाच्यम् । विषयि पृच्छतीत्यादौ सप्तप्रकारमाद्यप्येवम् तस्य चातितापक्षोऽपि
 नप प्रतिरक्षोऽपि, तुदः प्रतिरक्षोऽपि त्वेवादिता ॥ इत्याद्यामात्रपारवत्तम् ॥ ५१ ॥

यद्व्यक्तिसम्बन्धितया पूर्वं प्रवृत्तिस्तद्व्यक्तिसम्बन्धितयैव पुनः प्रवृत्तौ कृताकृतप्रसङ्गित्वमित्याशयेनाह—

शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्निवाधिरानित्यो भवति ॥ ४३ ॥

इदं “शब्देः शितः” (१-३-६०) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । तत्र हि न्यवि-
शतेत्यत्र विकरणे कृते तदन्तस्याङ्कृते धातुमाश्रयेत्यङनित्य इत्युक्तम् ॥ ४३ ॥
एतत्तुल्यन्यायेन आह—

शब्दान्तरात् प्राप्नुवतः शब्दान्तरे प्राप्नुवतश्च
अनित्यत्वम् ॥ ४४ ॥

एतन्मूलकमेवाह—

लक्षणान्तरेण प्राप्नुवन्निवाधिरानित्यः ॥ ४५ ॥

अतिदेशविषय इयमसिद्धयसूत्रे कैयटेनोक्ता ॥ ४५ ॥

भैरवी

तत्र प्रथमांशस्योदाहरणं प्रदर्श्य द्वितीयांशस्यानेकविधत्वं यथा सम्भवति तद्दर्शयति—*य
व्यक्तीत्यादिना* । अयमर्थोऽयमर्थमेपिपतीत्यर्थं स्वीकार्यः । अत्र हीपधातोः सति द्विर्वच-
नेङागमयोः प्राप्ती शब्दान्तरप्राप्तिकानित्याद्द्विर्वचनात् प्रागिङागमे कृते पिपशाब्दस्य द्विर्व-
चने भवति, इदम् व्यक्तिविशेषसम्बन्धस्य चिन्तनेनानित्यत्वम् । व्यक्तिविशेषचिन्तायामपि
नित्यस्य उदाहरणम्, च्यवन्ते प्लवन्त इति । अत्र हि च्युभभन्त इति स्थिते शप्रत्ययनि-
मित्तकगुणस्य “अतो गुण” इति परस्वैकादेशस्य च प्राप्ती वक्ष्यमाणरीत्या नित्यैकादेशात्
प्रागुणस्य सिद्धिः ॥ ४३ ॥

इयञ्च यद्व्यक्तीत्यादिनोक्ता परिभाषा न्यायभूता, न तु वाचनीकी, तत्र व्यक्तिपदेनोद्दे-
श्यव्यक्तिवन्निमित्तव्यक्तेरुद्देशाव्यवहितोच्चारितशब्दव्यक्तेश्च ग्रहणमपि सम्भाव्यत इत्याशयेन
आह—*एतत्तुल्यमेति । आलोदाहरणम्माभंवानुजिहदिति । अत्र सुहेगिणि लुङि शब्दान्तरात्
प्राप्नुवतोऽनित्याद्द्वित्वात् पूर्वं परत्वेन “गौ चडि” इत्युपधाहस्वत्वस्य प्रवृत्तिर्भवति, यदि ॥
“गौ चडि” इति सूत्रभाष्योक्त्या यदयमोणिमृदितङ्कुरोति तज्ज्ञापयत्याचार्यो द्विर्वचनात्
ह्रस्वत्वं बलीय इति रीत्या कृताकृतप्रसङ्गित्वेन ह्रस्वस्य नित्यत्वेऽपि ह्रस्वत्वस्य पूर्वं प्रवृत्तिरि-
त्युच्यते तदापूर्वोक्तमेव च्यवन्ते प्लवन्त इत्युदाहरणं बोध्यम् ।

अत्र हि गुणे कृते शब्दान्तरात् प्राप्नुवत एकादेशस्यानित्यत्वात् पूर्वं गुणो भवति ।
अन्यथैकादेशे ङिति निषेधः स्यात् । अत्रापि “अचः परस्मिन्” इति स्थानिवद्भाषयस्य निषेधे
कर्तव्ये प्रवृत्तिरिति, चेदुच्यते तदा “नेर्विदः” इति सूत्रस्यस्य न्यविशतेत्यत्र विकरणान्तस्याङि
कृते विशेषः । परत्वाभावाज्जिह्यानुपपत्तानुपसर्गनियमेऽह्व्यवाय उपसङ्ख्यानमिति यद्वातिकं
शस्योक्तिसम्भव एवैतस्याः प्रयोजनम् । द्वितीयोदाहरणम्तु करिष्यते हरिष्यते इत्यादि ।
अत्र हि शब्दान्तरे प्राप्नुवतो विकरणस्यानित्यत्वात् एकादेशे “स्वरितमित” इत्यनेन
कृतेऽस्य प्रवृत्तिरन्यथा कृते विकरणे भितः परत्वाभावाज्जिह्यो न स्यात् ॥ ४४ ॥

यदि तु यद्व्यक्तीत्यत्र व्यक्तिपदे शास्त्रव्यक्तिपरमिति गृह्यते तदाह—एतन्मूलकेति* । उक्त-
युक्तिमूलकेत्यर्थः । *लक्षणान्तरेण* । उपदेशातिरिक्तेन । *असिद्धवत्सूत्र इति* । तत्र हि
कुर्वं इत्यत्र कुरडवसिति स्थिते लघुपधगुणोकारलोपयोः प्राप्ती उलोपो नित्यो गुणस्तु उलोपे
कृते प्रत्ययलक्षणेन प्राप्त इत्यनेन न्यायेनानित्य इत्युक्तम् । एतदुदाहरणमजरांसि कुलानीति,

यदा तु शास्त्रव्यतिरेकेण तद्विधेयकार्ययोरेव नित्यत्वादिविचारो यदा-
पि व्यक्तिविशेषाश्रयणभावस्तदाह—

कचित्तु कृताकृतप्रसङ्गमात्रेणापि नित्यता ॥ ४६ ॥

कृते द्वितीये नित्यत्वेनाभिमतस्य पुनः प्रसंगमात्रं नित्यत्वव्यवहारे प्रयो-
जकं न तु बाधकाबाधितफलोपहितप्रसङ्गोऽपि तथेति भावः ॥ ४६ ॥

तदाह—

यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते न तदनित्यम् ॥ ४७ ॥

कचित्तु बाधकाबाधितफलोपहितप्रसंग एव गृह्यते । तदाह—

यस्य च लक्षणान्तरेण निमित्तं विहन्यते तदप्यनित्यम् ॥ ४८ ॥

सप्तमे कैपटेनैतदुपष्टम्भकं लोकव्यवहारद्वयमुदाहरणम् । बालिमुग्रीव-

भैरवी ।

अत्र हि सुम्भुजसदृशयोः प्राप्तयोरेतदभावे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन नित्यत्वानुभूत्या स्यात्, त-
स्मिन् सति सुम्भुजव्यवधानाजसरादेशो न स्यात्, एतत्परिभाषास्वीकारे तु पूर्वमजन्तत्वाज्ज-
रसादेशे तु मूलन्तत्वात् प्राप्तिरिति लक्षणान्तरप्राप्तिकत्वेन सुम्भुजनित्य इति पराज्जरसि
कृते मूलन्तलक्षणो नुम्भवति ॥ ४६ ॥

नन्वेव सुदर्शित्यत्र गुणे कृते शत्रव्यवस्य शब्दास्तत्वात् प्राप्तयेन स्यान्नित्यतादिदेशेन च
प्राप्तत्वेनानित्यत्वात् परत्वाद्गुणे कृते प्राप्तेरुक्तमिदं आह—यथा तु बाध इति* ।
यथा कल्याणपुरोधेन एषा एव परिभाषा सत्र स्थोकित्य इति भावः । कृताकृतप्रसङ्गि नित्य-
मिति प्रथमांशपठकप्रसङ्गांशो बाधकाबाधितवस्तुविशेषमत्रासत्त्वद्वैविध्येनोक्त इति परि-
भाषापि द्विविधेयाशयेन आह—कृते द्वितीय इति । कार्यस्येति । अभिमतस्येत्यस्य वि-
शेष्यमध्याहार्यम् । *प्रसङ्गमात्रमिति* । एतस्य मात्रवदस्य व्यवच्छेद्यं दर्शयति—नन्वेति ४६

लक्षणान्तरेण । शास्त्रान्तरेण । एनेन तस्य विशेषणस्यासत्त्वं दर्शितम् ॥ ४७ ॥

तद्विशेषणविनिर्दिष्टा परिभाषामाह—कचित्स्थिति* । सप्तमे इति* । सत्र "स्वमोर्लुपमकाण्"
इति सूत्रभाष्ये "स्वमोर्लुक्" इत्यत्रादिभ्यश्च" इति वक्तव्यमिति वार्तिककृतोक्तम् । इदञ्च वार्ति-
कमन्तरङ्गानपि विधीन इत्यत्रापि शब्दः परस्वैव संग्राहक इत्याशयेन प्रवृत्तम् । इहापि यथा
स्यात्, तन् ब्राह्मणकुलमिति । किन्तुः कारणं न मिष्यति । कृते कृते न सुम्भवेत् । अस्य
कृते सुम्भु न प्राप्नोति । इदमिह सम्प्रधानम् । अस्त्वक्रियतां लुगिति । किमत्र कर्तव्यं,
परत्वादित्यम् । नित्योलुक्, कृतेऽप्यत्र प्राप्नोत्यकृतेऽपि । अनित्यो लुक्, नहि कृतेऽप्ये प्रा-
प्नोति । "अतोऽम्" इत्यस्यानेन भवितव्यम् । तस्मात् "इत्यत्रादिभ्यश्च" इति वक्तव्यमिति भाष्ये-
ऽभिहितम् । अत्र कैपटः—नित्यो लुगिति । अस्त्वन्तु लुकि कृते प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधान्न प्राप्नो-
तस्त्वप्रकाशिका ।

यद्यप्ये लक्षणान्तरेणेति* । सम्प्रोदाहरणं व्यापयति भाषयतीति । अत्र प्रत्ययन्तस्य स्वमो-
परत्वात्पुनं नित्यत्वादिलोपः वृद्धिः पुनः । अत्र परस्वेति मतिः "प्रहृत्यैकाच्" इति प्रहृतिभाष्ये
यद्यपि निमित्तं विहन्यते, तथाप्यनया नित्यत्वम् टिप्पण्यम् । मयागन्तरङ्गत्वात्परस्वं प्रहृति-
भावे स्वादपत्तीर्षादम्, "जाज्ञानलब्धं" इति निषेधात् । तद्व्यवहारेऽन्तरङ्गपरिभाषावानित्य-
त्वाच्च । नच वार्तिकपरिभाषया टिप्पण्यः, भाष्यकार्यं पृथक् परिभाषाहकारादेन सम्प्राप्तं प्रहृतेः ।
एतन्मते तदुदाहरणम् ॥ ४७ ॥

अनित्यमिति* । अस्योदाहरणम् स्यात्, अत्र गुणात्पूर्वं नित्यत्वाद्गुणमन्तुष्टिं यथा

योर्युध्यमानयोर्भगवता घालिनि हनेऽपि सुग्रीवस्य घालितः प्राद्याल्यं न
व्यवहरन्ति । भगवत्सहायैः पाण्डवैर्जये ल्यूधेऽपि पाण्डवानां प्राथल्यं
व्यवहरन्ति चेति । सर्वं चेदं लक्ष्यानुरोधाद्व्यवस्थितम् ॥ ४८ ॥

“लुटःप्रथमस्य” (२-४-८५) इति सूत्रे भाष्ये—

स्वरभिन्नस्य प्राप्नुवान्विधिरनित्यो भवति ॥ ४२ ॥

इति पठ्यते ।

यत्र त्वेकस्यैव कार्यस्य परत्वं नित्यत्वं च तत्रेच्छुयान्यतरत् तदुभयं
धा तस्य यलपरत्वे नियामकमुल्लेख्यम् । अत एव तत्र तत्र परत्वाभित्यत्या-
चवेति भाष्ये उच्यते । घस्तुतस्तत्र परत्वादित्युक्तिरेकदेशिनः । स्पष्टं चेदं
विप्रतिषेधसूत्रे कैयटे । “णौ चङि” (७-४-१) इति ह्रस्वापेक्षया नित्यत्वा-
न्तरङ्गत्वप्रयुक्तद्वित्वस्य प्रथमतः प्रवृत्तौ नित्यत्वादित्येव भाष्य उक्तम् ।

मैरवी ।

सीत्पनित्यम् । अनित्यो लुगिति । अल्पे कृते लुगबाधकस्यामादेशस्य प्राप्त्या लक्षणा-
न्तरोपपादिप्रवृत्तिविधानं दुर्बलमेव धार्तराष्ट्रानिरेति । एतेन बाधकाबाधितेतिविशेषणविशिष्टे
कृताकृतप्रसङ्गित्वं नित्यत्वव्यवहारे निमित्तं दर्शितम् ॥ ४८ ॥

शब्दान्तरस्येति प्रागुक्तपरिभाषायाः प्रपञ्चभूतामन्यामपि परिभाषामाह—*लुट इत्या-
दिना* । *स्वरभिन्नस्येति* । स्वरेण भिन्नस्येत्यर्थः । स्वरोऽपि शब्दान्तरत्वसम्पादक इति
भावः । *पठ्यत इति* । तत्र भाष्ये स्वः कर्त्तव्यादौ तस्य “अनुदात्तो” इति स्वरापत्ति-
मुपपाद्य तस्य डादिभिर्विप्रतिषेधविचारे कृताकृतप्रसङ्गित्वेन द्वयोरपि नित्यत्वमुक्त्वा लक्ष-
णान्तरेणेति प्रागुक्तरीत्या निघातस्यानित्यत्वं प्रतिपाद्य डादीनामनित्यत्वमेवमुक्तम् । स्वर-
स्यापि शब्दान्तरस्वकारकत्वमिति तन्नावः । एतत्परिभाषोदाहरणे दध्युदकमिति । अत्र दधि
उदकमितिस्थिते नञ्विषयस्येत्याद्युदात्तत्वेनेकारस्यानुदात्तस्य कृताकृतप्रसङ्गितया प्राप्तनि-
स्पत्त्येकोपगमादेशः पूर्वस्य भवति किन्तु “उदके केवल” इति पूर्वपदान्तोदात्तस्वरेण भिन्नस्य
स्याने प्राप्तत्ववदनित्य इति परत्वादुदके केवल इति पूर्वपदान्तोदात्तत्वे कृते प्रवर्त्तते । तत
“उदात्तस्वरितयोर्यण” इति स्वरितत्वमुक्तारस्य सिध्यति ।

सर्वसाधारणविशेषमाह—*यत्रेति* । *अन्यतरत्* । परत्वनित्यत्वान्यतरत् । एकस्य
कार्यस्य बलवत्त्वमुपपादनीयं तच्चोभयथापि सम्भवति । *अत एव* । बलवत्त्वप्रतिपादनता-
स्पष्ट्यत्वादेव । *तत्र तत्रेति* । अस्य भाष्य इत्यत्रान्वयः । *तत्र* । भाष्ये । *एकदेशिन
इति* । नित्यानित्ययोरुत्पल्यबलत्वेन विप्रतिषेधशाखाप्राप्तेः । *स्पष्टब्देमिति* । तत्र हि-
“विप्रतिषेधे परं कार्यम्” इत्यत्र यः कार्यशब्दस्तत्राहार्थकृत्यः । कारणयोरर्थे कार्यस्तुत्यव-
च्छेद तथेति नित्यानित्योत्सर्गापवादान्तरङ्गबहिरङ्गत्वस्य सूत्रस्याव्यापार इति तेनोक्तम् । एवञ्च
तत्र नित्यत्वादित्याद्येकदेशिवाक्यम् । उक्तार्थे भाष्यमुपपष्टमकमित्याह—*णौ चङीति* ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

बाधितत्वादनित्य इति ध्येयम् । एवमस्मै इत्यत्रानादेशात्पूर्वं नित्यत्वात्स्मयादेशस्ततो
हिलोपेन बाधादनित्य अनादेश इति ॥ ४८ ॥

डादीनामनित्यत्वमिति । अनया डादीनामनित्यत्वात्परत्वात्स्वरे अन्तोदात्तसिद्धि-
का । एतद्भावे लक्षणान्तरेणेतिपरिभाषया निघातस्यानित्यत्वेन नित्यत्वाद्भावे ढिलोपे
तत्स्वरे उदात्तनिष्ठित्वस्वरेणान्तोदात्तत्वानापत्तिरिति भावः । *सिध्यतीति* । इदं पूर्वोत्तर-

एवं नित्यान्तरङ्गयोर्वलवत्त्वमपि यौगपद्यासम्भव एवेति बोध्यम् ॥ ४९ ॥
नित्यादप्यन्तरङ्गं वलीयोऽन्तरङ्गे बहिरङ्गस्यासिद्धत्वात् । तदाह—

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे ॥ ५० ॥

अन्तर्मध्ये बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्येऽन्तर्भूतान्यङ्गानि निमित्ति-

भैरवी ।

यद्यप्युभये बलवत्त्वप्रयोजकं भवति तथापि प्रथमोपस्थितत्यागो नोचित इत्याशयेन नित्य-
त्वादित्येवोक्तमिति भावः । विशेषान्तरमप्याह—*पञ्चमिति* । परत्वस्य बलवत्त्वप्रयोजक-
त्वस्य बलवदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

पक्षे सौरेदेवादयः नित्यादपि अन्तरङ्गम् वलीय इति परिभाषान्तरम् । यत्र नित्यस्य
बहिरङ्गत्वमनित्यस्य ॥ अन्तरङ्गत्वं तत्रास्य प्रवृत्तिः, तेन बहिरङ्गागन्तरङ्गयोरन्तरङ्गे व-
लीय इति सिद्धञ्चाजानन्तरव्यपरिभाषया च अस्य न निषेध इति । तत्र तन्मतं कृपयितुमुप-
क्रमते—*नित्यादपि अन्तरङ्गमित्यादिना* । *असिद्धमित्यादि* । एतत्परिभाषास्वीका-
रात् पदस्य विभज्यान्वाख्यानमिति पक्षे प्रामाण्यं न इत्यादौ कृताकृतप्रसङ्गिनित्यादपि नून-
मप्राक् इत्यस्य सिद्धिरस्यथा नुमनजनन्तत्वाच्च स्यात् । उक्तपरिभाषायाः कर्तव्य इति
शेषः । परिभाषां पूरणेन व्यापदे—*अन्तरित्यादिना* । अन्तः शब्दार्थमाह—*मध्ये इति*
मध्यमस्य साधयित्वेनावध्याकाङ्क्षाशान्त्यर्थमाह—*यदिरित्यादि* । उपस्थितत्वाद्बहिरङ्ग-
शास्त्रीयनिमित्तसमुदाय एव गृह्यत इति भावः । अन्तर्भूतानीति शेषपूरणम् । अङ्गशब्दो नि-
मित्तप्राची । *निमित्तसमुदायादिति* । अत एवातिष्ठितित्यत्र निमित्तकके गुणे कर्तव्ये अ-
हिरङ्गस्य “तिष्ठतेति” इतीत्यस्यासिद्धत्वात् गुणाभावस्य सिद्धिः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

पदकार्यादन्तरङ्गोऽप्येकादेश इत्यत्रैकादेशपक्षे सन्धिकार्यस्योपलक्षणमित्यर्थाज्ञानेन ॥ ४९ ॥

नन्विदमन्तरागमयुक्तमन्तरिभाषातुल्यपदार्थतात्पर्येणाकिञ्चित्करत्वादतो नित्यापेक्षयाऽन्त-
रङ्गरूप बलवत्त्वे योजमाहेत्येवापत्तर्कं यस्तु युक्तमित्यभिप्रेत्य प्रन्यासयमाह—*यत्तुसौरेदेवा-
दय इति* । *नित्यादप्यादि* । अपिना परस्य संप्रहः । अन्तरङ्गत्वादिति हेतुः, हेतोः पक्षमा-
श्रयस्तिन्नेनाप्रयोजकस्य शङ्कावारणायानुवृत्तं तर्कमाह—*अन्तरङ्गे बहिरङ्गस्येति* । साध्यदलेऽ-
पनादमिदमिति विरोधोपपन्नं देयम् । तानापवादेनान्तरङ्गबाधेऽपि न क्षतिः । *न स्यादिति* ।
इदमित्यादन्तरङ्गस्यादाहरणं, परादन्तरङ्गस्य तु चिन्ति अमुद्युवदित्यादि । अत्र परमपि
समुपपन्नं बाधित्या पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वादित्युच्यते ।

अनु परापेक्षयाऽन्तरङ्गस्य बलवत्त्वे किं योजयितुं शान्तरङ्गत्वेन परत्वासिद्धत्वेन युग-
पदसम्भाररूपविप्रतिषेधाभावात् विप्रतिषेधनाश्याप्रवृत्तेः । अत एव “अगोमाहोश्च” इत्यादयश्च-
न चरितार्थम् । एवं नित्यादन्तरङ्गस्य बलवत्त्वेऽपि बोध्यम् । अत एव “अचः परस्मिन्” इ-
तिमुपे पदस्या गृह्या इत्यादौ “अचः परस्मिन्” इत्यस्य खण्डनावधारे नित्यस्यापि परयगा-
देशान्तरागममित्यादौ पनादेशान्तरागमितीति भावः । *अन्तः शब्दार्थमाह द्वि । अन्तर्भूता-
नीतिनिरुद्धकान्तः शब्दार्थमित्यर्थः । परिभाषाघटकान्तः शब्दार्थमाह—*अन्तर्भूतानीति* ।
तु मध्याधी, समानाधिकरानामेव बह्वीहिरनुशासनात् । *शेषपूरणमिति । अन्तर्भूतानी-
त्यस्य इति शेषः । बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायमध्ये इत्यन्तमिति भावः । बहिरङ्गशास्त्री-
येति शब्दाधोऽप्यने ननु तत्त्वेन निवेदोऽगो मान्योन्वाद्ययः । लक्षणं तु बहिरङ्गत्वेन निपुञ्जि-
नशास्त्रीयोद्देशपनाद्यप्येदस्येनाभायमानादसमुदायपदकनिमित्तकत्वम् । बहिरङ्गत्वेन नि-
पुञ्जिमित्यस्य बहिरङ्गत्वप्रकाराज्ञानविषयकत्वापि बोधनेत्यर्थः । तथा च बहिरङ्ग वि-

त्तानि यस्य तदन्तरङ्गम् । एवं तदीयनिमित्तसमुदायाद्विभूताङ्गकं बहिरङ्गम् ।
एतच्च “खरयसानयोः” (८-३-१५) इति सूत्रेऽसिद्धवत्सूत्रे च भाष्यकैय-
टयोः स्पष्टम् । अप्राङ्गशब्देन शब्दरूपं निमित्तमेव गृह्यते शब्दशास्त्रे तस्यैव
प्रधानत्वात् । तेनार्थनिमित्तकस्य न बहिरङ्गत्वम् । अत एव “न तिसृचतस्रः”
(६-४-४) इति निषेधश्चरितार्थः । अन्यथा स्त्रीत्वरूपार्थनिमित्तकतिष्ठपे-
क्षयान्तरङ्गवारत्रयादेशे तदसङ्गतिः स्पष्टैव । अत एव त्रयादेशे “अन्तस्य
भैरवी ।

अत्र प्रायः—अन्तः शब्दस्याधिकरणशक्तिप्रधानतया क्रियायामेवास्यान्वय इति स्थि-
तानीत्यस्याशेषः । अन्तः स्थितनिमित्तकत्वञ्च पारिभाषिकम् पूर्वस्थानिकत्वात्परिनिमित्तक-
त्वपूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वपरनिमित्तकत्वाभावान्यतमरूपम् द्वितीयं घटकत्वेन सङ्गृह्यतां वा
वृत्तीयन्तु प्रक्रियाक्रमेण प्रयोगे प्रागुच्चारणेन वा यथावर्थं भाव्यम् । एतेषामुदाहरणानि तत्र तत्र
स्फुटानि । कार्त्तिक्यणो, निमित्तत्वेनानाभ्रयणस्यान्यत्र दर्शनादिहापि कार्त्तिक्यो निमित्तपदेन यद्यपि
न गृह्यते तथापि कार्त्तिक्यो विशेषणस्य निमित्तस्य निमित्ततावच्छेदकस्य चेह निमित्तपदे
न गृह्यम् । एतेषु वृत्तियस्य यत्रान्तरङ्गबहिरङ्गयोर्गुणपदप्रवृत्तिस्तत्राश्रयणम् । अप्रान्तरङ्गशा-
स्त्रीय बहिरङ्गशास्त्रात् प्राक्प्रवृत्तिरेतावतैव बहिरङ्गस्यासिद्धत्वव्यवहारः । एतादृशस्यान्तरङ्ग-
त्वस्य लोकोद्घटन्यायतो लाभः चतुर्थान्तरङ्गत्वमादाय तु जातस्य बहिरङ्गस्यासिद्धत्वं
भवति । द्वितीयेनापि क्षिप्रजातस्यासिद्धत्वम् । यथाऽतिक्षिप्रदित्यादावित्याहुः ।

भाष्यानुमारीणस्तुक्तेषु नानाविधान्तरङ्गभावेषु यत्र भाष्याद्यनुग्रहः एव सहेतुकत्वेना-
श्रयणीय इत्याहुः । निमित्तानीति बहुवचनमुदाहरणानामनानात्वाभिप्रायेण । *तदीयेति* ।
अन्तरङ्गशास्त्रीयेत्यर्थः । बहिर्भूतत्वमप्युक्तवैपरीत्येन बोध्यम् । उक्तार्थं प्रमाणमाह—एत-
चेति* । *खेति* । अन्तरङ्गं बहिरङ्गमिति प्रतिद्वन्द्वभाविनायेतावयववित्यादिना तत्र स्पष्ट-
मित्यर्थः । स्वसिद्धान्तमाह—अत्रेति* । *शब्दरूपमेवेति* । अत्र शब्दपदं सप्तम्याग्रन्त-
शब्दोपात्तप्रयोगस्य शब्दरूपपरम् । एवकारव्यवच्छेदं स्पष्टयति—तेनेति* । अत एवाति-
क्षिप्ते इत्यत्र “इकोऽवि” इतिनुमागमस्याधिकङ्कावार्थसापेक्षस्य क्षिया इतीयपेक्षया न बहि-
रङ्गत्वम् । उक्तार्थं पाणिनिसम्मतिं दर्शयति—अत एवेति* । अर्थनिमित्तकस्य बहिरङ्गत्व-
स्यानङ्गीकारादेव । *त्रयादेश इति* । इदमुपलक्षणं दीर्घस्वस्यापि । ययन्तरङ्गत्वमिति दी-
र्घत्वं पूर्वं स्यात्, तदा कृतदीर्घस्य तिच्चादेशे विकारकृतलक्ष्यमेशभावेन ‘लक्ष्ये लक्षणे सहदेव
प्रवर्तत’ इति न्यायेन पुनर्दीर्घप्राप्तौ निषेधवैयर्थ्यं स्पष्टमेव । एतेन बहिरङ्गत्वेन तिच्चादेशस्य
पूर्वमप्रवृत्तावप्यन्तङ्गे त्रयादेशे कृते तस्य स्थानिकत्वात् त्रिशब्दत्वाच्च पुनस्तिच्चादेशो दीर्घां-
सृचपं “न तिसृचतस्रः” इति सूत्रमस्त्विति शङ्कापि निरस्ता ।

तत्त्वप्रकाशिका—

नाऽपि ह्रस्वाया अप्रतिबन्धत्वेन तद्विषयकेच्छामवितुमर्हति अतो नोक्तदोषः । एवं बहिर-
ङ्गत्वलक्षणेऽप्युक्तम् ।

यत्तु स्वप्रवृत्तावित्यादि तत्र स्वशब्दस्याननुगतत्वात् ।

शङ्कापि निरस्तेति । न च विशिष्टरूपोपादानेनार्थवत्त्वपरिभाषया “त्रेक्षया” इत्यत्रोद्दे-
श्यनिमित्तयोरुपस्थितार्थद्वयेन साम्यमिति वाच्यम् ? तिच्चादेशोऽपि, उपस्थितार्थद्वयेन
कांत्वरूपार्थेन चाधिक्यात् ।

तनु तिच्चादेशे शब्दान्तरत्वेन विकाराभावाच्च लक्ष्ये लक्षणन्यायप्रवृत्तिः । अत एव भा-
ष्ये, विकारागमादिभिः शब्दान्तरत्वमाशङ्क्यादेशेन शब्दान्तरत्वकथनं सङ्गच्छतेऽतः प्राप्तदी-

प्रतिपद्य" इति स्थानिवत्सूत्रस्थमाप्यवार्त्तिकादि सङ्गच्छते । एतेन गौधेः पचेरदित्यादावेयादीनामङ्गसंज्ञासापेक्षत्वेन बहिरङ्गतया असिद्धत्वाद्वल्लोपो न स्यादिति परास्तम् । एयादेशादेरपरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च ।

शैखी ।

किञ्च "नामि" इति दीर्घदृष्ट्याऽर्थनिमित्तकबहिरङ्गत्वित्वादेशस्यासिद्धत्वान्निषेधवैयर्थ्यमित्यपि बोध्यम् । *अत एव* । अर्थनिमित्तकबहिरङ्गत्वानाश्रयणादेव ।

यद्यर्थनिमित्तकस्य बहिरङ्गत्वं तदाऽन्तरङ्गे त्रयादेशे तस्य स्थानिवद्भावेन तित्वादेशे कृते "लक्ष्ये लक्षणस्य" इति न्यायेन पुनल्लयादेशाप्राप्तेर्वाचिकस्य सङ्गतिन्यायेन समाधानपरभाष्यस्य चासंगतिः स्पष्टैव । वाचिकादीत्यादिपदेन तत्प्रत्याख्यानपरभाष्यस्य संग्रहः । *एतेन* । अर्थवृत्तबहिरङ्गत्वस्यानाश्रयणे प्रयोजकस्य उच्चशब्दरूपनिमित्तकत्वैवाश्रयणेन । एयादीनामित्यादिपदेन सीयुहागमपरिग्रहः ।

न च सीयुदोऽङ्गाधिकारे पाठाभावेनाङ्गसंज्ञासापेक्षत्वेन, बहिरङ्गत्वं वक्तुमशक्यमिति वाच्यम् ? अङ्गसंज्ञेत्यङ्गाङ्गस्य संज्ञाऽङ्गसंज्ञेत्यर्थाश्रयणेनाङ्गसम्बन्धिधातुसंज्ञाया विवक्षितत्वात् । पचेरदित्यादावित्यादिपदेन भवेदित्यादिसंग्रहे तु एयादीनामित्यादिपदेनेयादेशपरिग्रहः । यत्तु "वर्णो वर्णेन" इति सूत्रभाष्ये 'समानाधिकरणसमासाद्बहुव्रीहिर्भवति विप्रतिपेदेन' इति वाचिकप्रत्ययानासरे स्वपदार्थे विधीयमानः कर्मधारयोऽन्तरङ्गः अन्यपदार्थे बहुव्रीहिर्यद्वहिरङ्ग इत्यनिहितं तदेतदर्थनिमित्तकबहिरङ्गत्वाश्रयणे विरुध्यतेति । तत्र । उक्तान्तरङ्गबहिरङ्गभावप्रदर्शनेन विप्रतिपेक्षस्य लङ्घनेऽपीष्टस्य बहुव्रीहिरस्यपक्षेन तस्य भाष्यस्यैकदेशयुक्तित्वात् । किञ्च विप्रतिपेक्षोपपादनासरे बहुव्रीहेः कष्टे काल इत्यप्रापकानां प्रदर्शनता "येषो बहुव्रीहिः" इतिसूत्रस्थस्य समानाधिकरणानां बहुव्रीहिरितिवासिक्त्योक्तिः परित्यजेतेति तस्यैकदेशयुक्तित्वम् ।

किञ्चित्स्वरङ्गानासरे कर्मधारयबहुव्रीहोरन्तरङ्गबहिरङ्गभावोपपादनमप्युक्तम् । बहुव्रीहेः समासाधिकरणपदसम्बन्धिनश्चास्तितात्पर्याभावात् । एतदपि ॥ इदिरियं वदिता समानाधिकरणमासाद्बहुव्रीहिरिति यदतापि बहुव्रीहेश्चास्तितात्पर्येऽप्येवमित्येवमिति समानाधिकरणेत्यार-
* येदिरित्यन्तभाष्यस्यैकदेशयुक्तित्वमावश्यकमेव ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

घोराणाव निषेधश्चरितार्थे इत्यरह्येताह—*किञ्चेति* । *इत्यपि बोध्यमिति* । अयमाशयः—अन्तरङ्गत्वात् त्रयादेशे दीर्घं च कृते ततस्तिष्ठादेशे पुनर्न दीर्घस्य प्राप्तिः, बहिरङ्गत्वेन तित्वादेशस्यासिद्धत्वात् ।

ननु दीर्घोऽज्ञानन्तर्यस्येन "नाज्ञानन्तर्यं" परिभाषयाक्षेप्यते तिसृणामित्यत्राविद्धत्वाभावात् "न तिष्ठतय" इति निषेधस्य न वैयर्थ्यमन्त आह—*अत एव* त्रयोदेशे धन्यत्वमिति ।

न च तिसृणामित्यत्र स्थानिवत्त्वेन प्राप्तस्य "यद्विषयतुभ्यो ह्यकारिः" इति स्वरस्य निवृत्तिस्तत्परम् । त्रयादेशे एव स्थानिवत्त्वस्य प्रतिपिद्धत्वेन स्वरे तस्येष्टत्वात् ।

ननु एयादेरङ्गप्रत्ययसंज्ञोभयानेकत्वस्यैव, छोपस्य निषेधस्येऽपि संज्ञाया अविवेकस्येन निमित्तत्वे बाधकाभावात् ॥ छोपविषयकस्य छोपस्यसंज्ञोभयनिमित्तकत्वेन साम्यम् ॥ अङ्गसंज्ञाया अनिमित्तकस्यैवत्यरह्येताह—*पचेरिति* । अत्र ईयादेशः अङ्गपागावंपातुक-
संज्ञेतिऽज्ञाद्युहापेक्षत्वेन बहिरङ्गः ।

ननु समुदायगारंभेपादेसापेक्षया छोपस्य घर्णद्वयापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वमन्त आह—*अत्रानि-
मित्तकत्वेनेति* ।

ननु "येन विधिस्तदन्तस्य" (१-१-७२) इति सूत्रे भाष्ये "एको यण-
चि" (६-१-७७) इत्यादावपि तदन्तविधौ स्योन इत्यत्रान्तरङ्गत्वाद्यणो
गुणसाधकत्वमिष्यते तत्र सिद्ध्येत्, ऊनशब्दमाश्रित्य यणादेशो नशब्दमा-
श्रित्य गुण इत्यन्तरङ्गत्वाद्गुण एव स्यादित्युक्तम् ।

अत्र कैयटः-सिवेर्वाहुलकादौणादिके नप्रत्यये गुणवलोपोठां प्रसङ्गे ऊड-
पवादात्वाद्दलोपं बाधते गुणं त्वन्तरङ्गत्वाद्बाधते । गुणो ह्यङ्गसम्बन्धिनीमि-
श्लक्षणां लक्ष्योपधामादूर्ध्वधातुकं चाश्रयति । उद् तु वकारान्तमङ्गमनुना-
सिकादिञ्च प्रत्ययमित्यलपापेक्षत्वादन्तरङ्गः, तत्र कृते यणगुणौ प्राप्नुत इति ।
भैरवी ।

पञ्च कैयटेन "येन विधिः" इति सूत्रस्थभाष्यस्य योजनाय तादृशशब्दरूपनिमित्तानि-
रिक्तस्याश्रयणं कृतं तत्त्वगडयितुं शक्नुते-—*नन्विति* । *अचीत्यादावपीति* । अत्रापि-
तत्त्वप्रकाशिका ।

न चोभयविधान्तरङ्गत्वस्योभयत्र सत्त्वात्कथमसिद्धत्वमिति वाच्यम् ? "उपदेशग्रहणं
कर्तव्यमिति "आयनेयी" इति खेखरसिद्धान्तादेशविधायकशास्त्रीयनिमित्तसमुदायघटकनिमि-
त्तत्वाभावेन पक्षेदित्यत्र लोपलयेपादेऽवयवकारनिमित्तकत्वादिपादेऽवयवनिमित्तसमु-
दायघटकत्वाभावेन च लोपविधायकत्वान्तरङ्गत्वाभावात् ।

केचित्तु चेष्टेः कनोपेरितिनिर्देशेन बलि लोपेऽन्तरङ्गपरिभाषा न प्रवर्तत इति कल्पनेन प्रा-
प्त्यामते न दोषः । एवञ्च चिन्त्यमिदं सर्वमिति वदन्ति । अपरनिमित्तान्तरङ्गत्वस्वीकारे की-
जन्तु "उकाल" इति निर्देश एव । अन्यथा समाहारद्वन्द्वे उऊऊ इति स्थिते परत्वात्सव-
र्णदीर्घे ततो ह्रस्वे उकाल इति स्यात् । अपरनिमित्तकत्वेनेत्यस्य उपपक्षेपातिरिक्तनिमित्तक-
त्वमर्थः । एवञ्च पञ्चम्यन्तसम्यन्तान्यतरनिमित्तकं बहिरङ्गमिति कथितम् । अत एव "यस्त" इत्यादौ
"त्यदादीनाम" इत्यतः प्राग्यन्तरङ्गत्वात् "हलन्वयादि" लोपो न । अत एवाजरासी-
त्यत्र पुम् जरसादेशात्पूर्वविप्रतिपेक्षेनेति स्वप्नविरोधो ऽऽ । अन्यथाऽपरनिमित्तकत्वेनान्तर-
ङ्गत्वादेव जरसाः पूर्व शीभाये तद्वन्धासङ्गतिः स्यात् । अत एव "नामि" इति सूत्रे आमीति
न्यासे नित्यत्वादीर्घे आपादितो भाष्ये । सप्तम्यन्तमात्रनिमित्तकत्वेन तस्यैतु तत्सङ्गतं स्यात् ।
"मृतो भारद्वाजस्य" इति सूत्रेपदेशानपकये जहर्धत्यत्र परतःशङ्कान्तत्वाच्चिपेया
न प्रोप्नोतीत्युक्तं, भाष्ये, तत्वेतु गुणात्पूर्वमेवेदितिपेये तद्वत्तु तिः स्पष्टव ।

केचित्तु जातबहिरङ्गस्यैव एव उक्तान्तरङ्गत्वस्वीकारेणोक्तभाष्यद्वयस्याविरोधं वदन्ति ।
तत्र युक्तम् । तादृशस्यैव एवैतादृशान्तरङ्गत्वस्वीकारे मानाभावात्कलाभावाच्च । यदितु इतरे-
साद्वन्द्वेन "उकाल" इति निर्देशस्योपपत्तिरिति श्रूते तदा अवलोक्यम् । इत्यत्र तपरकरणमात्राणे
बीजमित्यपेदि । तद्धि आ इत्यत्राभावव्यापृत्यर्थम् । अन्यथा अत्र आश्चेति समाहारद्वन्द्वे
परत्वात्सवर्णदीर्घे ततो ह्रस्वे आ इति रूपभावे सर्वत्र ह्रस्वत्वैव सम्भवेन तद्यथं स्यात् । त-
त्वेतु अन्तरङ्गत्वात्पूर्वं ह्रस्वे ततो दीर्घे लक्ष्ये लक्षणन्यायेन न पुनर्ह्रस्वः । न च परत्वाद्बृहदौ सत्यां
टिलोप इति मने तितउशब्दादाचक्षुण्णयन्तात्कृत्किपि तिता इत्यत्र चारिताम्यम् । नच ह्रस्वः
टिलोपस्य रूपानिवृत्तादिति वाच्यम् ? बृहदलोपो बलोयानिति सिद्धान्तपक्षे तितमित्यल्येपे,
स्यात् । नचात्रापि ह्रस्वे टिलोपस्य रूपानिवृत्तमिति वाच्यम् ? अनादिष्टाद्वयः पूर्वत्वाभावात्
नचैव दुष्पुपतात्यत्र दिवस इति स्थिते उडे बाधित्वा परनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वात्पूर्वं
द्वित्येऽभ्यासे उकारश्रवणानापत्तिरिति वाच्यम्, घटकनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्वस्योपपत्ति-
सत्वेनोभयोः साम्ये परत्वात्पूर्वमूद्रप्रवृत्तेः सुपपादत्वात् ।

एवं च संज्ञापेक्षस्यापि बहिरङ्गत्वं स्पष्टमेवोक्तमिति चेत्, न, तदन्तविधाय-
पि बहुपदार्थापेक्षत्वरूपबहिरङ्गत्वस्य गुणे सत्त्वेन तत्र दोषकथनपरमाध्या-
सङ्गतेः । बहिरङ्गान्तरङ्गशब्दाभ्यां बह्वपेक्षत्वाल्पापेक्षयोः शब्दमर्थ्याद्याऽ
लाभाय । तथा सत्यसिद्धं बह्वपेक्षमल्पापेक्ष इत्येव वदेत् । अत एव "विप्र-
तिपेक्ष" सूत्रे भाष्ये गुणाद्यणादेशोऽन्तरङ्गत्वादित्यस्य स्यान् इत्युदाहरणं न
तु गुणादूङ्गन्तरङ्गत्वादित्युक्तम् । त्वद्गीत्यातदपि वक्तुमुचितम् । प्राथम्यात्त-
देव वा वक्तुमुचितम् । मम त्वन्तरङ्गपरिभाषया तद्व्याख्यासम्भवात्तत्रोक्तम् ।
किं च सिद्धान्ते नित्यत्वात् गुणात्पूर्वमूढं, गुणस्तु अटि यणा बाधितत्वा-
मैव ।

शब्देन यत्र विरोधे प्रकान्तं तत्र तु भवत्येव, यत्र ॥ न प्रकान्तं तत्रापि शब्दस्वरूपस्य वि-
रोधेप्यत्वात् तदन्तविधिस्वीकार इति दर्शितम् । इगन्तस्य शब्दस्याजादौ शब्दे परे यणादि-
रित्येवमर्थस्तदा स्यादिति बोध्यम् । *संज्ञापेक्षस्येति* । गुणस्येति शेषः । *तदन्तविधाय-
पीति* । अत्रापिशब्दोपादानाद्विरोधसन्निधानाभावेन न तदन्तविधिरिति ध्वनितम् । तदुक्तं
वार्तिकरुता प्रकृते तदन्तविधिरिति । *बहुपदार्थेति* । उक्तरीत्या पदार्थपञ्चापेक्षेत्यर्थः
यणादेशस्तु इगन्ताजादिसापेक्षत्वादनतरङ्ग इति भावः । तदन्तविधौ यादृशस्यान्तरङ्गबहि-
रङ्गशब्दार्थस्याश्रयणे न दोष उक्तः स एव तु नास्तीत्याह—*बहिरङ्गान्तरङ्गेति* ।

ननु शब्दत्वा तेन शब्देन तस्यालाभेऽपि तत्तात्पर्येण प्रयोगालक्षणाया तथास्तु इत्यत
आह—*तथासत्येति* । *इत्येवेति* । निर्दोषलक्षणापेक्षया स्पष्टप्रतिपत्त्यर्थमित्येव वदेदित्यर्थः ।
अतएव । भवदुक्तस्य तदर्थस्याभावादेव । *इत्युदाहरणमिति* । दत्तमिति शेषः । *इत्यु-
क्तमिति* । अन्तरङ्गमन्तीय इत्यस्य फलनिरूपणाद्यमर इति शेषः । *त्वद्गीत्या* । कैयटो-
क्तरीत्या । *उचितमिति* । उद्युगयोरपि तयोः सत्त्वादिति भावः । *ममत्विति* । अत
इति शेषः । *तद्व्यापेति* । उक्ता गुणगणेत्यर्थः ।

ननु भाष्याम्ययानुपपत्त्या कैयटोक्तमावश्यकमिति यदाम इति चेत् तत्राह—*किञ्च सि-
द्धान्त इति* । अत्र सिद्धान्तपदोपादानेन तस्मिन् काले तदतिद्विरपि दोष इति ध्वनितम् ।
तत्त्वप्रकाशिका ।

यस्तुतस्तु कृत्यन्तास्तुमनायशब्दात्कर्तृविधि अल्लोपयलोपयोः सुमना इत्यत्र तपरका-
णस्य चारितार्थ्येन शापरत्वात्सम्भवात्फलाभावात्परनिमित्तकत्वमन्तरङ्गत्वमिति न युक्तम् ।
न च इत्यः, भल्लोपयलोपस्य स्थानित्वात्, "को लुप्तं न स्थानित्व" इति तु न, को विधिं
प्रत्येवतत्प्रकृतेः । अत एव दुपुपकृत्यपि साधु सङ्गच्छते । *उपवादादित्यादिति* । ननु देवमाचष्टे
पुरित्यत्र टिलोपणिलोपयोः स्थानित्वस्येन यलोपाप्राप्त्योऽपि कोविधिप्रतिनिपेक्षादप्राप्त्या त-
त्राद्वारितार्थ्यमिति चेन्न, अनुनासिकनिमित्तकत्वोऽपवादत्वमित्यभिप्रायात् । *अन्तरङ्गत्वा-
दिति* । गुणे निमित्तानि पञ्च उटि चत्वारोति भावः । *असङ्गतेरिति* । कैयटमते उटोव य-
प्यरीगन्ताजादिशब्दपदमात्रपेक्षस्येन गुणशब्दोपसर्गायावधिमिषान्तर्भावादगुणापेक्षयाऽन्त-
रङ्गत्वस्य ॥ अप्येन भाष्यामङ्गतिरिति भावः । न च गुणेऽपि पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वस्या-
न्तरङ्गत्वस्य वस्तु शङ्क्यपेक्षोभयोरन्तरङ्गयोः परत्वादगुणस्येत्यादिति न भाष्यामङ्गतिरिति
याच्यम् ? मिद्वान्तेऽपि त्वद्गीत्यान्तरङ्गत्वस्य गुणे सत्येन यणोऽन्तरङ्गत्वेन गुणपक्षस्यप्र-
तिपत्तिरन्तरभाष्यामङ्गतेः ।

ननु शब्दत्वान्तरङ्गबहिरङ्गभावस्य प्राधान्यं, शब्दशाब्दे तस्य प्राधान्यात्, अर्थरूपस्य ;
तु गौणत्वम् । पञ्च प्रधानान्तरङ्गगुणपक्षेण यणोऽभिप्रायात् तस्मात्तद्वहिरङ्गत्वाभ्युपेक्षेति

दनीत्यः । ऊनशब्दमाश्रित्येत्यादिभाष्येण च परिभाषायामङ्गशब्देन सप्तम्या-
द्यन्ततयोपात्तं शब्दरूपं निमित्तमेव गृह्यत इति स्पष्टमेवोक्तम् ।

यत्तु कैयटेन तदन्तविधिपक्षे परत्वाद्गुणः प्राप्नोतीत्युक्तं तत्तूनशब्द-
माश्रित्येत्यादिभाष्यासङ्गत्या चिन्त्यम् । वलि लोपेऽन्तरङ्गपरिभाषा न
प्रवर्तन इति तु न युक्तम् । तत्सूत्रे भाष्ये एव वञ्चादिषु लोपानिप्रसङ्गमाश-
भैरवी ।

यथा बाधितत्वादिति । बाधकाबाधितप्रसङ्गस्य नित्यत्वसाधकत्वादिति भावः । कैयटो-
क्तार्थे भाष्यविरोधमप्याह—*ऊनेत्यादि । संभ्रम्याद्यन्तेति* । अत्रादिना पठ्यन्तशब्दोपा-
त्ततिरिक्तस्य ग्रहणं, न तु पठ्यन्तशब्दोपात्तस्य, कार्यिणो निमित्तत्वेन अनाश्रयगात् । पद-
त्वाश्रयसमुदायस्यापि ग्रहणं, तेन परिभाषाज्ञापकपरिभाष्यस्यापि सङ्गतिः । *परत्वाद्गुण इति ।
तदा ह्योस्तौल्यादिति भावः । *भाष्येति* । अन्तरङ्गत्वबहिरङ्गत्वयोधकभाष्येत्यर्थः । गौधेरः
पथेरन्नित्यग्रेक्तशङ्कायामन्यकृतसमाधानं दूषयति । *वलिलोप इत्यादिना* । *तत्सूत्रे-
तत्त्वप्रकाशिका ।

भाष्यामङ्गतिरित्याह—*तदन्तविधौ यादृशस्येति* । *लक्षणया संयास्त्विति* । अन्तर्भूत-
संया अङ्गानि यस्येति विग्रहे चार्थमर्थादयाऽपि लाभसम्भवः ।

ननु मुख्यगौणबहिरङ्गान्तरङ्गभावस्य तथा सति लाभसम्भवादाप्यमसङ्गतं स्यात्
अतस्तथानोपात्तमत आह—*अन प्येति* ।

ननु रितिद्वयस्य सम्भवादविशेषाभेदमत आह—*प्रायम्यादिति* । *गुणात्पूर्वमूढि-
ति* । ननु तदन्तविधिपक्षे यणो बहिरङ्गत्वेन कृताकृतप्रसङ्गित्वाद्गुणस्यापि नित्यत्वेन ऊ-
गुणयोः प्राप्तौ परत्वाद्गुण एव तत्र ऊठि इकोऽभावाद्यणः प्राप्तिरेव नास्ति इति ऊनशब्दमा-
श्रित्येति भाष्यमसङ्गतं स्यात्, मम तु संज्ञाकृतबहिरङ्गत्वेन कृताकृतप्रसङ्गित्वाभावाच्च गुण-
स्य नित्यत्वमितिभाष्ये सम्यगेति चेन्न, ऊठि उकारे अन्यथा वकारे परतः विधानेन गुण-
स्यानित्यत्वात्, शब्दान्तरे प्राप्नुवन् विधिरनित्यो भवतीति परिभ्रमणात् । मय गुणे शब्दा-
न्तरात् प्राप्नुवत ऊठोऽप्यनित्यत्वमितिवाच्यम्, स्यान्नुरोपेन तस्येहानाश्रयगात् ।

ननु तत्र मते 'सिद्ध न' इति समुदायस्योभयवशादप्यनाश्रयगादृक्त्ववहितत्वाभावेन भाष्यम-
सङ्गतं स्यादत आह—*ऊनशब्दमाश्रित्येति* । *सप्तम्याद्यन्ततयेति* । बहिरङ्गत्वेन जिघृ-
क्षितशास्त्रवदकथित्वाश्रित्येदेनाधीयमाणशब्दसमुदायवदकरणार्थोपस्थितौयप्रकारतासमानाधि-
करणविषयताप्रयोजकमसम्पन्नपञ्चम्यन्तान्यतरपदधितशास्त्रमन्तरङ्गत्वम् । बहिरङ्गस्ये-
वाभिमतं शास्त्रम् "इको यणचि" इति तेनाधीयमाणशब्दसमुदाय ऊन इति तद्वदकः 'न'
इत्येतत्पयोतोपस्थितौयप्रकारतासमानाधिकरणविषयताप्रयोजकं सप्तम्यन्तरदमाधिधातुक इति
सत्पदधितत्वम् "पुनन्तल्लुपधस्य च" इतीत्यस्य । एवमन्यत्रापि शोध्यम् ।

पश्चाद् बहिरङ्गत्वेन जिघृक्षितशास्त्रविशिष्टशास्त्रमिद्वत्त्वमन्तरङ्गत्वम् । शास्त्रे वै० स्त्रीयोद्देश्य-
तापल्लेदकत्वेनाधीयमाणशब्दसमुदायवदकनिमित्तकत्वाभाववत्त्व स्वयदकौयदपेक्षिकाधिक-
रणयोधकमसम्पन्नपञ्चम्यन्तान्यतरपदप्रयोज्योपस्थितौयविषयताप्रयोज्यधिकरणोभूतसमुदा-
यवदकरणार्थोपस्थितौयप्रकारतासमानाधिकरणविषयताप्रयोजकमसम्पन्नपञ्चम्यन्तान्यतरप-
दधितत्वाभावात्स्वेतदुभयसम्बन्धेन । एवञ्च प्रष्टुं "ऊकाल" "वाह ऊद्" इत्यादौ च त्र काप्य-
नुरतिः । * न प्रवर्तते इति * । एतत्पठन्नु लोपयति, पातिः, पथेदित्यादि । अत्र गिरि-
मिन्नरस्य पुङ्गः किमितिस्वातो लोपस्य प्रष्टुतिप्रत्ययमयापेक्षत्वेन बहिरङ्गस्येनादेशस्य
शान्तभूतनिमित्तत्वेनान्तरेण वलि लोपे नामिददृशम् । एवमशस्त्ररितिभाष्योदाहृतं
ऊठोऽगिदित्यादिल लोपो ण । *नामानन्तर्य इत्यप्यनान्तरेण हने इत्यपि मानाभासो

द्वयोपदेशसामर्थ्यात् । न च वृश्चतीत्यादौ चारितार्थ्यम्, बहिरङ्गतया संप्रसारणस्यासिद्धत्वेन पूर्वमेव तत्प्राप्तेरिति भाष्योक्तेः ।

यत्तु नलोपस्य षट्संज्ञायामसिद्धत्वात्पञ्चेत्यत्र “न पट्” (४-१-१०) इति निषेध इति तच्चिन्त्यम् । नलोपस्य हि षट्संज्ञासापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वं वाच्यम्, तच्च न । संज्ञाकृतबहिरङ्गत्वस्यानाश्रयणात् । पञ्चेत्यत्र निषेधस्तु स्त्रियां यत् प्राप्नोति तन्नेति व्याख्यानसामर्थ्येन भूतपूर्वपट्त्वमादयेति यो-
भैरवी ।

ति* । “लोपोव्यो” इतिसूत्रेत्यर्थः । *तत्प्राप्तेः* । बलोपप्राप्तेः उक्तकैयटोक्तिवत् “नलोपः सुप्स्वर” इतिसूत्रस्यकैयटोक्तिमपि खण्डयति । *यत्स्विति* । *तच्चिन्त्यमिति* । नलोपस्य बहिरङ्गत्वसाधकभावादिति शेषः । तमेवाह—*नलोपस्येत्पादिना* । अन्ये च पञ्चेत्यत्र टायाप-
तत्त्वप्रकाशिका ।

गौरवञ्च । अत्र मानन्तु चेलेः वनोपेरितिनिर्देशः, स्वरदीर्घलोपेऽपि त्वत्त्वत्र बलोपग्रहणञ्च । तद्वि वाच्येतित्यत्र बलि लोपे स्थानिवत्त्वात्, बलि लोपऽन्तरङ्गपरिभाषाप्रवृत्तौ तथैव सिद्धेः तद्वैपथ्यं रूपमेव । *नयुक्तमिति* । न च “स्वरदीर्घ” इति वार्तिके बलोपग्रहणे व्य-
थेमिति वाच्यम्, धर्मिप्राहकमानेन परिभाषायामागमादेशातिरिक्तस्यैव निमित्तस्याङ्गपदेन ग्रहणेन प्रवृत्ते बलि लोपस्यान्तरङ्गत्वाभावात् । “भविष्यति गम्यादयश्च” इति निर्देशेन प्रकृतिप्रत्ययनिमित्तकस्यान्तरङ्गे धर्म्येऽसिद्धत्वे नेति कल्पनेनादोषाच्च । अतएव मघ्नाती-
त्यादौ “अनिदिताम्” इति नलोपसिद्धिः । अन्यथा वनाप्रत्ययस्यासिद्धत्वात्तत्र स्यात् । यस्तु—
न इदमेव युक्तं बलि लोपे उक्तधर्मिप्राहकमानेन जातबहिरङ्गासिद्धत्वाभावस्यैव कल्पनान्नैत-
त्सुग्रन्थभाष्यविरोधः । “लापो व्योः” इत्यत्र वकारग्रहणस्य भाष्ये प्रत्याख्यानवचन-
विषये न प्रवर्तते इति कल्पनाद्वा । न च सम्प्रसारणाविषये वचनेत्यत्र लोपो दुर्बल इति
वाच्यम् । पदस्वरूपेऽपि वृश्चतीत्यत्र विकरणात्प्राग्बलोपप्राप्त्या, धकारोच्चारणमाम-
र्थ्यादप्यत्र धात्ववयववकारातिरिक्तस्य “लोपो व्योः” इत्यत्र वकारस्य ग्रहणेनादोषात् । अत-
एव पञ्चेदिति सिध्यति । अन्यथा धात्वानिकेवादेशस्यासिद्धत्वेन बलोपो न स्यात् ।

केचित्तु बलि लोप इत्यत्र “न पट्” इत्यस्य बलोपग्रहणम् शापकम्, अन्यथा वायायति
इति समुदायमापक्षत्वेन बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वाद्न्तरङ्गबलिलोपस्याप्राप्त्या तदसङ्गतिः
स्वयमेति वदन्ति । तत्र, प्यन्तादयुधातोः क्विपि णिलोपे बलोपे च आ इति विध्यति, तत्र
बलि लोपे णिलोपस्य स्थानिवत्त्वप्रतिषेधाय तच्चारिताभ्याम् । णिलोपबलिलोपयोस्तुल्यनि-
मित्तकत्वेन बलि लोपस्यान्तरङ्गत्वाभावात् ।

अन्ये तु घरेपदौ शापकम्, न च ज्ञापिते वायायवर इत्यत्र प्रहृतिप्रत्ययापेक्षनवाऽलोप-
स्यापि न दृश्येनालोपाभावेन घरेपदौ व्यर्थमेवेति वाच्यम् “आतो लोपः” इत्यस्य तदादिपदो-
पस्थिरया तत्रनिमित्तरत्वात् ।

अनु धर्म्यकप्रत्ययान्तपिक्ताब्दस्याशब्देन समाने सत आदेशाणाप्यन्ताद्वाचि णिलोपे
गुणे प्यन्त इति सिध्यन्तत्वरितार्थम्, अन्यथा णिलोपस्य स्थानिवत्त्वाद्गुणे न स्यादिति
पेध, घरे इत्यस्य घरे रुग्ण न स्थानिवत्त्वपेक्षेन निषेधाप्रवृत्त्या पिक्त्वर इत्यस्यैवेष्टव्यात् ।
• चट्संज्ञायामसिद्धत्वादिति* । ययोर्देशे कैयटादिमाने षट्स्यस्याङ्गपदेन कार्यकापे-
विज्ञातवयवविकरणात्तत्रैव षट्संज्ञायाऽप्यङ्गपदेन ज्ञानस्वरसम्भवेन षट्स्यप्राप्त्याऽप्याऽसि-
ध्यते । व्योः इत्यत्र, चट्संज्ञायाम् स्यामापेक्षयोऽपि षट्स्यनिर्दिष्टेति संज्ञाद्वयमापेक्षत्वेन
ययोर्देशे बहिरङ्गत्वमिति भावः । *स्याङ्गयाममापेक्षेनेति* । इदं कार्यकालाग्रे । ययो-

ध्यम् । अत एव कृति तुग्रग्रहणं चरितार्थम् । वृत्रहभ्यामित्यादौ पदत्वनि-
मित्तकत्वेऽपि नलोपस्य बहिरङ्गत्वाभावात् । भ्यामः पदसंज्ञानिमित्तत्वेऽपि
नलोपस्य तन्निमित्तकत्वाभावात् । परम्परया निमित्तत्वमादाय बहिरङ्ग-
भैरवी ।

तिः । न च “नलोपः सुप्स्वरः” इति निर्गन्धः, पदसंज्ञायां नलोपासिद्धत्वस्य तत्रांफलत्वस्य
भाष्ये कथनादत आह—*पञ्चेत्यत्रेति* । *अतः* *एवम्* । अर्थकृतबहिरङ्गत्वस्यानाश्र-
यणादेव । *अभावादिति* । संज्ञाकृतबहिरङ्गत्वानाश्रयणस्य प्रायुक्तत्वादिति ।

ननु पदसंज्ञाद्वारा पदत्वस्य भ्यान्निमित्तकत्वमस्त्वित्यत आह—*परम्परयेति* ।
नलोपे भ्याम इति शेषः । यदि परम्परया निमित्तस्याश्रयण स्यात् तदा कृतितुग्रग्रहणं व्यर्थमेव
स्यादिति भावः ।

ननु परम्परया निमित्तत्वमप्रसिद्धमनुमतमिति न्यायेन भाष्यकारमममतमेव, पुनश्च कृति-
तुग्रग्रहणे न कार्यमिति लाघवं भवति, अतएव असंज्ञायाः परनिमित्तकत्वमभिप्रेत्यैव ध्वन्यमाण-
तत्त्वप्रकाशिका ।

वृद्धे तु लुगधं जातं पदत्वमादायैवानुमानिकस्यानिवृत्तायेन सिद्धम् ।

ननु प्रियपञ्चा द्वौयदीत्यत्र ङीष्ङाग्नियेन व्याख्यानं चरितार्थमिति चेत्सत्यम्, “अजा-
घतश्चाप” ऋषि पादः, अन्यतरस्यां ङीप् पाद इति वर्तते ऋचोति निवृत्ततत “ऋक्षेभ्य” इति
न्यासेन सिद्धे ङीप्प्रकरणमध्ये पुनष्टाप्करणेन टापो निषेध इति बोधनेन भूतपूर्वपदत्वमा-
दाय तत्प्रवृत्तेस्सुषुपादत्वात् ।

किञ्च स्थानिवद्भावेन यथोद्देशस्यैवाश्रयगात्रिषेधोपपत्तेः सङ्केतमन्वयेन पदत्वपद-
त्वत्वस्य पदत्वस्यालक्ष्यधर्माभावात् । अत एव पदमेतन्नलोपासिद्धत्वस्य न फलमिति
पदसंज्ञासूत्रे भाष्योक्तं सङ्गच्छते ।

किञ्च “न पद” इति सूत्रे “छात्रुभाभ्याम्” त्वन्नानुवर्त्य वास्यभेदेन व्याख्यानानाद पाठः ।
* नलोपासिद्धत्वस्य तत्रांफलत्वस्य भाष्ये कथनादिति* । तत्र हि “संज्ञाविधौ किमुदाहर-
णम् ? दण्डिदशौ दत्तदण्डिनौ, नात्र चित्वाहण्डिन एव पूर्वनिपातः, ननु य यदा चित्वा तदा
पूर्वनिपातः, यदा पूर्वनिपातस्तदा नलोपे चित्वाविर्तादमपुक्तम्, संज्ञाग्रहणसामर्थ्येन यस्य
पूर्वपदस्य चित्वा भावि तस्य पूर्वनिपात इत्युक्तम् । यदि पदसंज्ञायां फलं स्यात्तदा नाम-
व्योपपादनमसङ्गतं स्यात् । तस्माद्विसंज्ञायामेव तत्प्रवर्तत इति भावः । फलं त्वस्य पुक्ता-
माविति । नचैतायन्मात्रार्थत्वे “द्वन्द्वे चि” इत्यनन्तरं “दिव” इति पठित्वा शब्दस्वरूपविशेष्यक-
सद्वन्तविधिना परमपुक्तामावित्यादिसिद्धेः संज्ञाग्रहणं न कार्यमिति प्राच्यम् मामणिपुत्रावि-
त्यत्र पूर्वनिपातात् संज्ञाग्रहणस्यावश्यकत्वात् ।

किञ्च गुरुच्छत्रमित्यत्र पूर्वनिपाते तुकि चित्वासम्भवादनियमः सिध्यति, उक्तार्थानाश्र-
यणे नियमापत्तिः । अत एवाजुग्रहणेन “ननुमता” इत्यस्यानित्यत्वापत्तेरभाष्ये सङ्ग-
च्छते । अन्यपाश्लुकि वारिपुशय इत्यत्र सम्बोधने लुमोऽसिद्धत्वेन गुरुपञ्चायां “गुरोरनृत”
इति प्लुतः स्यात् । तद्वारणायाजुग्रहणस्यावश्यकत्वेन भाष्यमममत्तं स्यात् । *भूतपूर्वपदत्व-
मादायेति* । पूर्व भूते स्थिते षट्त्वं स्यानिवृत्तायेनादापेत्यर्थः । *चरितार्थमिति* । न च
वृत्रहधनमित्यग्रापरनिमित्तकत्वेन पदत्वस्यान्तरङ्गत्वं शङ्क्यं बहिर्भूतमुपनिमित्तकरत्वा-
पेक्षनलोपापेक्षया किञ्चिन्निमित्तकतुकोऽन्तरङ्गत्वादानेः । *वृत्रहभ्यामिति* । वृत्रेति वृषक्-
पदम् । तेन न समुदायापेक्षबहिरङ्गत्वाशङ्का । हभ्यामित्यत्र वर्तमाने ङीप् । तेन मरुणेति-
नियमाप्राप्तिः ।

न च प्रियायां बहिरङ्गपरिमापायाऽग्रहण्या कथमेतदिति प्राच्यम् ? कृतितुग्रग्रहणमात्रे

त्वाश्रयणे तु न मानम् । ध्वनितं चेदं “नलोपः सुप्” (८-२-२) इति सूत्रे भाष्य इति तत्रय भाष्यप्रदीपोद्योते निरूपितम् ।

अन्तरङ्गे कर्त्तव्ये जातं तत्कालप्राप्तिकं च बहिरङ्गमसिद्धमित्यर्थः ।

भैरवी ।

परिभाषाज्ञापनस्यापि सङ्गतिर्भवतीत्यत आह—*ध्वनितमिति* । तत्र हि “वृत्रहभ्याम्” इत्यत्र कृतितुरग्रहणस्य प्रयोजनमुक्त्वा, तुविधौ चोक्तम्, किमुक्तम् “सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य” इति, ग्रामणिकुलमित्यादी तुगभाववाच्यविरूपाऽनयैव परिभाषया वृत्रहभ्यामित्यस्यापि सिद्धौ कृतितुरग्रहणं न कार्यम् । ग्रामणिकुलमित्यत्रातन्तत्वं ह्रस्वत्वस्य निमित्तं यदि तस्मिन् कृते तुक् स्यादवयववाचयवत् नमुदायावयवो नेतिगृह्यस्तदा तादृशसन्निपातविघातः स्वह एवेत्याशयः । अत्र भाष्यकृता सन्निपातपरिभाषया वृत्रहभ्यामित्यस्य सिद्धिसुक्त्वा कृतितुरग्रहणस्याकर्त्तव्यतोक्ता, न तु बहिरङ्गसिद्धत्वेन, निमित्तैः सैर्वा प्रति निमित्तत्वेऽपि नलोपं प्रत्यनिमित्तत्वं, परम्परया निमित्तत्वज्ञानाश्रितं, तेनैव ध्वनितमित्यर्थः । तत एकदेश्याह इदं तर्हि प्रयोजनम् । कृतीति वक्ष्यामि । इह माभूत् । वृत्रहच्छत्रम् । तुगभावो माभूदित्यर्थः स एव आह—नियमार्थमेतद्विष्णुति । कृत्-क्षणेन पुन तुहमाभूत्, छलक्षणो यथा स्यात्, अत्रापि प्रत्ययलक्षणेन विभक्तिपरिघातनिमित्तं यत्पदं तस्य नलोपे निमित्तत्वे वादृशसन्निपातः पदसंज्ञया निमित्तं तस्य विघातस्तुकि सति स्यादिति परम्परामाश्रित्य वादृशसन्निपातः पदसंज्ञया निमित्तं तस्य विघातस्तुकि सति स्यादिति परम्परामाश्रित्य सन्निपातपरिभाषयैव कृते स्यादित्याशङ्क्योत्तरमुक्तं न ह्येवः सन्निपातलक्षणः, प्रत्ययलक्षणेन सुबन्तस्य यत्पदस्य तद्विनिमित्तकत्वाभावात् । एवञ्च वृत्रहभ्यामित्यत्र नियमानुपयोग इति भावः ।

अनु बहिरङ्गपरिभाषया वृत्रहच्छत्रमित्यत्र तुगभावः सिद्ध इति नियम आवश्यक इति चेत् अत्र कैयटः—पदत्वमात्रनिमित्तकत्वात् नात्र बहिरङ्गो नलोपः नहि एव इत्यनेन परम्परया निमित्तत्वे मानाऽभाव इति स्पष्टमेव प्रतीयते इति । परिभाषाज्ञापनावसरे तु ज्ञापकार-भाष्यग्रामाण्यादसंज्ञाद्वारा तत्र विभक्तिनिमित्तकत्वमाश्रीयत इति भावः ।

वस्तुतस्तु ॥ सामान्यतोऽर्थनिमित्तकबहिरङ्गत्वस्यानाश्रयणम् “स्वाधेयव्यक्तिङ्गसंज्ञाकारकाणां श्रमिकत्वात्” येन क्रमेण ज्ञानन्तेन क्रमेण तद्व्योपकारकद्रादुभौऽन्यन्तरङ्गबहिरङ्गभावेन स्वीकारात् तथा बहिर्भूतभावनायैकप्रत्ययनिमित्तकद्विस्वपेक्षयाऽन्तरङ्गार्थनिमित्तकः सुत्रादौ भवतीति ग्रन्थस्तथा “निगत एकजगद्” इति सूत्रे पुरुषाजिति कर्मधारयो न बहु-धीर्द्विषेत्तदर्थप्रधानत्वेनान्तरङ्गत्वादिति ग्रन्थश्रोत्रोक्तिर्भवति । तथा “वर्गो धर्मोऽयं” इति मूलस्योक्तभाष्यमप्याम्रजस्योपपद्यते किन्तु अन्तरङ्गे बहिरङ्गमिति प्रतिद्वन्द्वमावि-गापेताऽर्थोऽविति “न्यवमानयोः” इति सूत्रस्य भाष्यप्रमाण्येवोभयोः शब्दयोस्तुल्यत्वात् न्यायमिदमस्य यत्र बहिरङ्गज्ञाप्येनाभिप्रेतमर्थनिमित्तकमन्तरङ्गज्ञाप्यं न तथा किन्तु शब्दनिमित्तकमेव तदर्थतयाः परिभाषाया अप्रवृत्तिर्यत्र तुमधोरत्पथनिमित्तकत्वेन तत्त्वन्तत्र तु प्रवर्तनं एवेति व्यप्यते । अत एव अनुष्योऽयमप्रातस्तथापेत्वादिरोत्था साजिताया बहिरङ्गातरङ्गयोऽन्तरङ्गे वर्त्तय इति परिभाषाया ग्रन्थामेयान्तर्भावोऽप्युपपद्यत इति शिक् ।

एवावता प्रवर्त्तयेत्तदर्थं निरूप्य वाक्यार्थं धर्मयति—*अन्तरङ्ग इति* । अनु जातत-त्वात्प्रातिरङ्गबहिरङ्गस्यैकानिद्वयमेव चेदोच्यते तदा “स्योरोच्योः” इति मूलस्य प्रागुक्तभा-ष्यविरोधः । अत्र सुपदेशोक्तं बलोपस्य प्रातिस्तदोन्नोन्न सम्प्रसारणस्य जाततत्वरक्तान्प्राति-तत्त्वप्रकटिका ।

तुकि नलोपस्यानिद्वयभावेनाप्रवृत्तिरोजामावात् । *जातमिति* । अनु साम्नु जातमिदस्य

तत्त्वप्रकाशिका ।

फलाभावात् "वाह ऊह" सूत्रस्योद्ग्रहणस्य ज्ञापकत्वप्रतिपादनपरं भाष्यस्तेऽरुदेशयुक्तिः । न च पचापेदमिति फलम्, अन्यथा एत एइत्यैत्वं स्यादिति वाच्यम् । 'इत ऐ' इति न्यासेनादोषात् । भवानोत्पन्नः तु नास्य प्रवृत्तिः, "मेनि" इतीकारोच्चारणसामर्थ्यात्, गौरवाद् मेने इति न कृन्मिति चेत्तर्हि सामर्थ्यादित्यस्य सक्रियायेनैतदुपवादत्वादित्यर्थात् ।

यत्तु "मोन" इति कर्तव्ये "मेनि" इतीकारोच्चारणसामर्थ्याद्वाह इति, भवाम इत्यत्र तु न दोषः, "सेहंपिञ्च" इति साहचर्येणैकवचनसम्बन्धिन एव ग्रहणादिति तत्र "आदेः परस्य" इत्यस्याप्रवृत्त्या मकारस्य नकारादेशासम्भवात् ।

न च पचापेदमित्यत्र "आमेत" इत्यस्य दुर्बारत्वम् तथाऽऽचारकिञ्चिन्ताश्शब्दादुक्ति कर्मण्यतिहारे उत्तमगुरुषु इति निष्पन्नेन पञ्चन्द्रेण पचापेत्स्यस्य "आख्यातमाख्यातेन" इति समासे पुनः पञ्चन्द्रेण समासे नृपसकृदस्य सुवर्चाय इत्यत्रैत्वापत्त्या तथाभ्यासस्य दुष्टत्वमिति वाच्यम् । प्रतिपदोच्चारणग्रहणेनादोषात् । न च पचाप मत्राय एव कर्मणु तेभ्यः पचापमत्रायेभ्य इत्यत्र प्रतिपदोच्चारणस्य सस्तेनैत्वापत्तिरिति वाच्यम्, "दित आत्मनेपदानां देरे" इत्यत आत्मनेपदानामित्यनुवर्त्यात्मनेपदघटितशास्त्रसम्बन्धिन एवैतद्विधानात् । न च व्यवधानात्कथमनुवृत्तिरिति वाच्यम्, "धुवः पञ्चानामादित आहो धुवः" "दित आत्मनेपदानां देरे," "धासः से," "लिटस्तज्ञयोरेशिरेच" "लोट आमेतः" "मत्राभ्यां वामी," "उत दम्प एन ऐ, पिच मत्रोत्तमस्य सम्बध्यते ततः एतुन, लब्धय, एवः, "सेहंपिच" "वा छन्दसि," "मेनि," "लोडोडादौ," इति सूत्रव्यत्यासेन मण्डुकप्लुत्या वा अनुवृत्तेर्दुर्बारत्वात् । नचादिद्वयद्वित्यत्र "गौचद" इति ह्रस्वे "अत उपधाया" वृद्धिर्निति फलम्, न च तत्परकरणसामर्थ्यादुपधाह्रस्वे वृद्धिर्नैतिरूपनेनादोषः, इक्षाद्येति ममाहारे यम्, यम्पालयतीति यपालः, तस्यापत्यं स्त्री ऐयपाली, सा भार्या यस्य । ऐयपालभार्य इत्यत्र तरस्य सकलत्वाद्, अन्यथाऽपि पापदत्ताकारस्य वृद्धौ "वृद्धिनिमित्तस्य" इति निषेधादुपवद्रावो न स्यात्, यदि चात्राल्लोपगिलोपयोः स्यात् निवत्त्वाच्च वृद्धिरित्युच्यते तर्हि यदासस्यापत्यमेव दासी, सा भार्या यस्य स ऐयदासभार्य इत्यत्र चरितार्थत्वमप्येहि इति वाच्यम् अनुपधाद्विहिते विग्नोत्पत्त्येनादोषात् । अत एव युवानमाचष्टे कथयतीति भाष्यप्रयोगः सङ्गच्छते । नचैवं मारयतीति न स्याद्, इदुदुपधेभ्यो गिबोऽनभिधानात् । नच जहारेत्यत्र "कृच्छत्युताम्" इति गुणे, अभाजि, राग इत्यत्र गलोपे वृद्धिर्न स्यादिति वाच्यम् "कृच्छत्युतां," "मजेश्च" चिणि, घञि च, मावकरणयोरित्यादौ विषयसम्प्राश्रयणेनादोषात् ।

यत्तु "नागलोपि" इति सूत्रे शाम्ग्रहणं ज्ञापकमुपधाह्रस्वनिष्पन्ने वृद्धिर्निति, अन्यथा "गौचडि" इति ह्रस्वेऽपि वृद्धावशाशासद्वितित्यादेरेति तत्र किञ्चिन्तशाम्ग्रहस्य पञ्चन्द्रेण समासे तत आचष्टे गिचि टिलापे लुकि चडि "किञ्चुगुपधात्वचइपरनिहासेपु" इति स्यानिवत्त्वप्रतिषेधादुपधे टिलोपस्य स्यानिवत्त्वाद्दुर्बरेप्राप्तेरशाशसद्वितिप्राप्ते तद्वारणाय शासग्रहणस्य चरितार्थत्वात् । नाप्यसुषुप्तद्वित्यत्र "गौ चडि" इति ह्रस्वस्यापि दत्त्वात्तदुपगुणमायः फलम् । नोः स्तिवेन प्रत्ययोपदेशकालिकलक्षूपस्य गुणविधानात् पुगन्तमार्वाधातुकमाहचयां दार्घ्याशुके परतः स्वोत्तरप्रत्ययानिमित्तकस्यैवेको गुणविधानाच्च ।

न चैवं तोतोर्ति दोधोर्ति इत्यादौ गुणो न स्यात्, यल्लुक्कण्डमः स्यात्, न च मुनीधातोः घनिपि तोवेति न स्यात्, उपदेशसामर्थ्यादलोपो नैतिवकारप्रत्याख्यानपरभाष्यप्राभाष्यात् स्यान्मभिधानात् । एते जागृत् इत्यत्र सम्प्रसारणस्यासिद्धत्वाद् रुपादयो नेत्यपि फलम् । मृदुपधे योऽभ्यासस्तस्य स्यादय इत्यर्थेन तदप्राप्तेः । जगदम्बेत्यत्र ह्रस्वस्यासिद्धत्वाच्च टावित्यपि न फलं सन्निशतपरिभाषया टापोऽप्रवृत्तेः । नच जगदम्बात्रेत्यत्र सवर्गदीर्घस्यासिद्ध-

वृश्चत्यादिषु पदसंस्कारपक्षे समानकालत्वमेव द्वयोरिति बोध्यम् ।

एतेनान्तरङ्गं बहिरङ्गाद्वर्तीय इति परिभाषान्तरमित्यथास्तम् । एनामा-
धित्व्य चिप्रतिपेधसूत्रे भाष्ये तस्याः प्रत्याख्यानार्थः । अन्तरङ्गशास्त्रत्वमस्या
लिङ्गम् ।

भैरवी ।

कृत्वाहितेनासिद्धत्वासम्भावादत आह—*वृश्चत्यादिष्विति* । आदिना पदव्या मृद्येत्यस्य
सप्रहः । *पदसंस्कारपक्ष इति* । एतेन पदसंस्कारपक्षमिप्रायकमेव तन्नाप्यमतो न तद्विरो-
धः । *एनेन* । अस्याः परिभाषाया उक्तार्थकरणेन । ननु वक्ष्यमाणज्ञापकसाजात्याजातस्यैव
बहिरङ्गस्यानेन असिद्धत्वविधानं युक्तमत आह—*एनामिति* । एवञ्च विप्रतिपेधसूत्रोप-
हिरङ्गादन्तरङ्गं यलोप इति परिभाषालङ्घनपरभाष्यप्रामाण्येन तत्कालभूमिकमित्येतोऽपि
सप्रमाण एव जात इत्यंशस्तु ज्ञापकसाजात्यात्कल्प्यत इति बोधयितुं ज्ञापकं दर्शयिष्यामि ।
परिभाषाया लिङ्गवत्त्वनियमालिङ्गं तावदाह—*अन्तरङ्गशास्त्रत्वमिति* । कैयटादिममता-

तत्त्वप्रकाशिका ।

त्याश्च पुनर्हन्त इति फलमिति वाच्यम् लक्ष्ये लक्षणन्यायेन पुनर्हत्वाप्रवृत्तेः । नच दीर्घस्य सन्मा-
श्रोतृदृश्यकविकारभावेन तल्लक्ष्यत्वाभावे इति वाच्यम् । विभक्तिस्थानिकैकादेशस्थले एव
तथा स्वीकोत्तम् । अत एव उक्ततुरित्तिप्रयोगः सन्नच्छते, इति चेन्न, किञ्चन्तभूषाभ्यास्तुपि
भुवावित्प्रयोगोऽसिद्धत्वादुदाऽभावेन सफलत्वात्, न च सत्यप्युक्ति यणीष्टमिद्धि, अन्तरङ्ग-
त्वादपवादत्वाच्च पूर्व सजर्णार्थे ततो यणि भ्यावित्थापत्तेः, नवाङ्गत्वात् "ओः सुपि" इति यणि
तत्तिसिद्धिः, "नभृसुधिषोः इति निषेधस्तु साहचर्यादलप्ये एतेति वाच्यम् ? चक्ररापतेद्वेन्द्र-
त्वात् । तथाहि पूर्व पूर्वोक्ते "ह्रौं यगवि" इति प्राप्तोति तं सवर्णार्थः बाधते तमाङ्गत्वादाः सुरी-
ति तमन्तरङ्गत्वादिषो यगपीति । स्वापम्भावमित्यथोद्वेष्टाङ्गत्वाद्गुणं बाधित्वायलि गुणे स्वा-
पम्भोरमिरापापक्षे । "रुद्रोः" इत्यत्र एतादृशवर्णप्रत्ययानिमित्तकस्य घस्य घहनेन न दोष
इति तु न यस्तु वाक्येन विद्यन्तेपुषातोरेकभेदेन समासे तत् आधारकपि क्षतरि क्षपा सहैका-
देशे इपदित्यत्र एत्ये क्रिः प्रत्ययलक्षणेन शब्दे इन्द्रादित्यत्र प्रत्ययनिमित्तकस्य छस्यस्य स-
त्वात्, पररूपस्य स्थानिवद्भासस्तु न "नपदान्त" इति निषेधात् । घप्रथमप्रत्ययान्तादिवश-
*दादापाराद्विभक्त्याणी दिवधतोऽस्य च फलत्वात् । अन्यथा क्षिप्रमादस्य यलोपः स्यात् ।

यस्तुतस्तु अस्युदिरधवि फलम्बोध्यम् ततोः क्तिकरणेन प्रत्ययवयवप्रवृत्त्यवयवैतदुभया-
रूपमपयोगनिमित्तकगुणरक्षा लघुर्भञ्जं न बाधत इत्येव कल्प्यते । ननु प्रत्ययोपदेशकालिको यो
लघुर्भञ्ज इति, अस्युदिरधस्य प्रत्ययोपदेशकालिकलघुवृत्तत्वाभावेन गुणाप्राप्त्या, लघुर्भञ्ज-
णादन्तरङ्गत्वादुपपत्ति भाष्यासङ्गत्वापत्तेः । एवं भुवावित्प्रयोगोऽसिद्धत्वाद् नेति यो-
ध्यम् । *अन्तरङ्गशास्त्रत्वमस्या लिङ्गमिति* । "मामध्यं सजर्णभञ्जनां लिङ्गमित्यभिधीयते"
इत्यभिपुञ्जोः । चन्द्रमामध्यं लिङ्गम्, तदेव परिभाषाया अङ्गभावे निमित्तम् । तत्प्रातरङ्ग-
शास्त्रेण एव इति तत्रैव युक्तिरूपनय प्रवर्तते, ननु बहिरङ्गशास्त्रं भाष्यन्तरङ्गस्ये । अत एव
गच्छ पपोऽद् पपोऽद् इत्यादावुत्पद्यता यस्तुम्यामिदृशे भाष्योक्तं सङ्गच्छते । अन्यथा
बहिरङ्गस्य यस्तुम्य त्रिरादीरूपतया परिभाषाया अङ्गत्वात् प्रातरात्पुन एव स्यादुत्पद्यता
यस्तुम्याधकारेण विद्वत्त्वात् । अत एव पूर्वत्रामिदमिष्येनेन त्रिरादिकातरङ्गस्य शास्त्रेण
रूपेणाविद्वत्त्वा न तत्र परिभाषाप्रवृत्तित्वयान्ताकाशेनाभिद्वत्त्वपि तत्प्रवृत्तिर्वाता स्यात् ।

प्राप्तस्तु अन्तरङ्गत्वमेवास्याः प्रवृत्तौ निमित्तम् त्रिरादाविये प्रवर्तते एव । अत एव
नार्जुः वर्जितः सुप्युताम्य नामेन इत्यादीनां विद्वत्त्वम् "त्रिरादीनां नुत्तरदे" "निद्वाम्यम-

५ इयं च त्रिपाद्यां न प्रवर्त्तने त्रिपाद्या अभिद्वत्वात् । अस्याञ्च "वाह ऊट्" सूत्रस्य मूठ्प्रहणं ज्ञापकमित्येषा सपादमसाध्यायीस्था । अन्यथा संप्रसारणमात्रविधानेन लघूपधगुणे "वृद्धिरेचि" (६-१-८८) इति वृद्धौ विश्वौह इत्यादिसिद्धयेस्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । सत्यां होतस्यां बहिरङ्गसम्प्रसारणस्याभैवी ।

मवांचीनोक्तिं खण्डयितुं सिद्धान्तं तावदाह—*इयञ्चेति* ।

नन्वस्याः सपादमसाध्यायीस्यत्ये एतद्वृद्ध्या त्रिपाद्या असिद्धत्वं सम्भवति तदेव कथमत आह—*अस्याञ्चेति* । एवञ्च सपादमसाध्यायीस्यज्ञापकज्ञाप्यत्वात्सपादसप्तधाध्यायीस्यत्वमत्र सिध्यति । *अन्यथा* । एतत्स्वरिभाषाभावे । *सम्प्रसारणेति* । "यसोः सम्प्रसारणम्" इतिसूत्रात् सम्प्रसारणपदानुवृत्त्येत्यादिः । *लघूपधगुण इति* । पूर्वस्वोत्तः व्याधये लघूपधगुणे । *तद्वैयर्थ्यम्* । ऊट्प्रहणवैयर्थ्यम् । ननूद्विधानाभावे प्रष्टौहः प्रष्टौ इत्यत्रा "उडिदम्" इतिस्वरो ऽ स्यादिति चेदत्राहुः, "उडिदम्" इति सूत्रे वृद्धिमिति पठित्वा च उरितिपद्योसमासे बुञ्च ऊट् वेति द्वन्द्वेन स्वरस्य सिद्धेः । वकारपाठकले ऽ धृधातोः क्विपि पुरः पुरेत्यत्र तस्याप्रवृत्तिः । न चैवमपि बध्धातोः क्विपि उपेत्यत्र प्राप्नोतीति वाच्यम् । ऊट्साहचर्येणेणन्ताद्गोदेइत्यस्यैव बोधहणात् । उट्पुपधाप्रहणमिति शक्तिरपि बुद्ध इति पाठ्यम् । तेन पश्यत्य विभज्यान्वाहयानमितिरपि द्वेष्टः क्विपि ह्यो हुरेत्यत्र न तस्य प्रवृत्तिः । सम्प्रसारणपूर्वत्वस्य नित्यत्वात् पूर्वमेव प्रवृत्त्यानुपपात्त्वात् स्वराप्रवृत्तेः । न चैवमपि बध्धातोः क्विपि सम्प्रसारणे ऊह ऊहेत्यत्र स्वरः प्राप्नोतीति वाच्यम् । उकारसाहचर्येणैव यत्र वकारस्योकारविधायकत्वात् उट्प्रहणतत्वात् उट्प्रहणमस्य साक्षादुपादाने तत्र स्वरप्रवृत्तेरङ्गीकारात् । "वचिस्व" इति सूत्रे यजादिपदेन बध्धातोः सङ्ग्रेहोऽपि साक्षादुपादानाभावेनोह इत्यादौ तस्याऽप्रवृत्तिः । एवञ्च "वृत्पुपधाप्रहणम्" इति वार्तिकस्याशङ्क्येति व्यावर्त्यमस्तु । प्राचीनरीत्योद्वहणस्य ज्ञापकत्वं विद्यमिति ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

इदं "यणःप्रतिषेधो वाच्यः" भूमतीवत्वप्रतिषेधः" इति वार्तिकचतुष्टयमारम्भान्तररूपरिभाषया प्रत्याख्यार्त भाष्ये ।

नवीनास्तु वार्तिकचतुष्टये कर्तव्यमेवेति वदन्ति निरूपयिष्यते चेत्तत्पुरस्तात् ।

व्यावर्त्यमस्तिपति । दिवन्नाथभट्टास्तु बाहदित् बाहट् इति वा न्यासेन सिद्धे "ऊट्-रदम्" इत्यत्र उडिदमितिऊट्पुपधाप्रहणमित्यत्र उट्पुपधाप्रहणमिति च न्यस्य उडिद्विधानारम्भसामर्थ्याच्चिरञ्च इव सम्प्रसारणविशिष्टस्य उट्त्वात्स्वरसिद्धेरुत्विधाने व्यर्थमेवेत्याहुः ।

शिष्यगङ्गाकारास्तु एकमात्रालापणेन स्वरविधायके उदेरपि पाठेन ज्ञापकपरभाष्यग्रामायेन बहेः क्षितोऽनभिधानेन वैयर्थ्यमुद्घाटयन्ति ।

यसु तेनैव यद्वा इत्य उट् विधेयः, स्वरविधायके च उडिति पाठ्यम् तस्मादुट्विधानमसार्थमिति ज्ञापकत्वं सम्भवेति तत्र पदगौरवेणानुक्तत्वादिति हेमोकारः ।

यस्तुनस्तु मात्रालापयस्य बलवत्त्वात् युमेवात एतेनातोःरिक्काराकारी प्रत्याख्यार्तो मग्नता भाष्यहृता । अशङ्क्येत्यत्र तु उट्पुपधाप्रहणमितिकरणेनादोषः ।

केचित्तु ऊडिदमित्यत्र उडिदमिति न्यस्य "पृथेयत्पृथुदम्" "ज्वरत्वं" इत्यादौ इत्य एव उट् विधेय इति न क्वाप्यनुपरातिरिति वदन्ति तत्र आश्रयतेः क्त्वादि वार्णरिभाषया सगन्तिप बाधित्वा गुणट्प्रहणरवाकिरूपापरोः, इष्यते तु औचित्येति विद्वन्नाथभट्टाः ।

यसु यत्र याधेतिविधौ बलि बलोपेन यौ, तञ्च ऊधेति द्वन्द्वे ततः यद्यौतत्पुरे यो इति, ह्रस्वि शवादेने यडिदमिति स्वरविधायकः न्यस्य ववाभ्याने यौ दीर्घद्वयो उकारौ ताभ्यां

सिद्धत्वाज्ञापधगुणो न स्यात् । न च “पुगन्त” (७-३-८६) इति सूत्रे निमित्तमिका विशेषमत एव भिनत्तीत्यादौ न गुणः । एवं च “नाजानन्तर्ये” (प० ५१) इति निषेधात्कथं परिभाषाप्रवृत्तिरिति वाच्यम् । प्रत्ययस्याः क्लृप्ता उत्थिताकाङ्क्षत्वेन तत्रैवान्वयात् । पुगन्तेत्यादौ कर्मधारयाश्रयणेन प्रत्ययपराङ्माद्यवयवधूपधारापेक्षो गुण इति “इको गुणवृद्धी” (१-१-३) इति

भैरवी ।

नचेति । *अतएव* । निमित्तस्येतिविशेषणत्वादेव । *न गुण इति* । येन नाव्यवधानस्या-
येनेकवर्णव्यवधान एव प्रवृत्तेरङ्गीकारात् । *एवञ्च* । निमित्तस्येतिविशेषणत्वे च । *तद्यं च* ।
अङ्गे एव । एवञ्चाऽन्यानन्तर्याश्रयणाभावः स्फुट एव । *प्रत्ययेति* । सार्वधातुकाङ्क्षा-
नुकूल्यर्थः ।

ननु सम्प्रसारणमात्रविधाने प्रौढः दध्युह इत्यादि न सिध्यति । अवि पररूपप्रसङ्गस्य
तत्त्वप्रकाशिका ।

परायाऽमर्शनामस्यानविभक्तं रश्चात्तविधानेनेष्टसिद्धिरिति तत्र । “हलोपो ष्योः” इति सूत्रस्य-
वकारप्रस्थानान्परमाप्यविरोधादित्युत्तरावलिङ्कारः ।

सिद्धान्तविदस्तु आप्यप्रामाण्यात् विश्वौह इत्यप्रौढिदमित्यस्याप्रवृत्तिर्येति यदन्ति ।
चन्द्रिकाकारस्तु ऊडिदमित्यत्र सवर्णदीर्घणोकारः प्रदिलभ्यते, सच साहचर्याङ्कारस्या-
निरूपकभाभूतो धातुस्थश्च गृह्यते, तेन तस्थुष इत्यादौ नातिप्रसङ्गः । विश्वौह इत्यादौ
चाभीष्टस्यरिमिदिरित्याह—यद्विरक्तसम्प्रसारणस्येति* । अस्य यद्विरक्तत्वं भवत्वम् पदद्वया-
धितत्वेन बोध्यम् ।

नच सङ्गाहस्यविरक्तत्वस्य परम्पराया वा यद्विरक्तत्वस्यानाधयणाद्येदं युक्तमिति वाच्यम् ?
अत्येन निमित्तस्याप्येतात् । नच परनिमित्तत्वेन गुणस्यापि यद्विरक्तत्वमिति वाच्यम् ।
आहूपदस्य प्रत्ययपरताः विधानेऽवस्थादिमिति शक्तिरूपोक्तेरनेभयोः परनिमित्तत्वाविशेषात् ।
लघूपधगुणो न स्यादिति । नच सम्प्रसारणस्यासिद्धत्वेऽपि पूर्वरूपस्यासिद्धत्वाभावाद्
गुणेनेष्टसिद्धिरिति वाच्यम् “हल” इति ज्ञापकेन सम्प्रसारणवृत्तिधर्मस्य “सम्प्रसारणाच्च”
इति पूर्वरूपेऽप्यारोपेण तत्र यद्विरक्तत्वस्य सूर्यत्वात् । अत एव दूत इत्यादौ पूर्वरूपेऽपि
सम्प्रसारणत्वाद्वाप्येति सिद्धिः । अत एव जागृढ इत्यादौ सम्प्रसारणस्यासिद्धित्ववत्त्वत्वाप्यसि-
द्धत्वाद्गुणादिर्न । नच “अचः परस्मिन्” इति स्थानिरुद्धायेन ऋदुपपत्त्वान्नेदं कलमिति
वाच्यम् ? भव्यामकायं । तदुत्तररश्चादेनास्य तत्त्वायेतिवच्यकीभूते स्थानिरुद्धं नेति
कथनेन तन्निषेधात् । अत एव समुपसमारणमन्विष्यो मिदं वक्ष्यमिति याचितं सङ्ग-
च्छते । अन्यथा सम्प्रसारणस्याभीयतेनासिद्धत्वेऽपि पूर्वरूपस्यादित्यसामानेन लोपमिदं वा
तदसङ्गतं स्यात् । *उत्थिताकाङ्क्षेति* । अङ्गुतः इत्यप्रत्ययपरतो विधानावस्थादौ ना-
स्ति तत्र प्रत्ययस्योत्थिताकाङ्क्षत्वमिति वच्यमिति वाच्यम् । यथाभूते तु न युक्तम् आहूपद-
स्येतिविशेषादिराधेयमनिरूपकत्वाभावात् सङ्गेतस्यमन्विष्येनाङ्गुतस्यैवाङ्गुतस्यार्थत्वाच्च । *उ-
त्थिताकाङ्क्षेति* । पूर्वरूपस्य पतितत्वाङ्गुतस्य नित्यत्वाकाङ्क्षमिति प्रत्ययाने उ-
त्थिताकाङ्क्ष-
वेतिनात्पर्यमिति वाच्यम् ? स्यात्त्वयदित्युक्तस्य स्वनिर्दिष्टविशेषतानिरूपितोद्देश्यताध्या-
यपरवत्त्वोभयमन्विष्येन प्रत्ययविशिष्टत्वरूपाङ्गुतस्यैव देवदत्तस्य पुत्र इत्यादाश्रयाकाङ्क्ष-
क्षणात्तथा निरवयाकाङ्क्षत्वाभावात् । प्रत्ययस्यापि रूपं स्वप्रवृत्त्यव्यवहारार्थं प्रत्याप्यत्य-
व्यवहारोत्थितत्वाकाङ्क्षत्वाभावात् । साक्षात्त्वमेव विनाशः पुत्र इत्याङ्गुतस्यैव प्रत्यये विनिर्दि-
शेनाङ्गुतस्यैव प्रत्ययपरवत्त्व इत्यर्थे परिभाषाप्रवृत्तेर्दुर्वात्तत्वाच्च ।

सूत्रभाष्यसम्मतोऽर्थे भिनत्तीत्यादावदोषाच्च । अकारान्तोपसर्गेऽनकारान्ते चोपपदे चहेर्वादेर्वा सिवविच्चावनभिधानाच्च स्त एव । वाय्यूहेत्यादि तूहतेः क्विपि बोध्यम् । घातूनामनेकार्थत्वाच्चार्थासङ्कतिः । 'प्रौह' इत्याद्यसाध्वेव वृद्धेरप्राप्तेः । अस्योहस्यानर्थक्यात् न "प्रादूहोढो" (६-१-८९-३ वा०) इत्यस्यापि प्रवृत्तिः ।

अन च कार्प्यकालपक्षे त्रिपाद्यामेतत्प्रवृत्तिर्दुर्वारिति वाच्यम् ? पूर्वं प्रति परस्यासिद्धत्वादन्तरङ्गाभावेन पूर्वस्य तन्निरूपितवहिरंगत्वाभावास्तथा तस्यासिद्धत्वप्रतिपादनासम्भवात् ।

भैरवी

उकारस्य च गुणाप्राप्तेरिति कथमुदग्रहणस्य शापकतेत्यत आह—*अकारान्तोपेति* । बाहेर्वै-
त्यत्र बाहवद्ः समुच्चये "वा स्याद्विकल्पोपमयोः" इति कोशात् ।
नन्वत्र बाहेर्विजित्यनुचितम्, णिलोपस्य स्यान्निबन्धावेन भसशक्षिसप्रत्ययपरत्वाभावेन सम्प्र-
सारणाप्राप्ते भसञ्ज्ञया प्रत्ययविशेषाक्षेपश्च आवश्यजोऽन्यथा बाहवाद्दशशब्दावपवबाहशब्दस्य
सम्प्रसारणापत्तिः स्यात्, न च विज्ञग्रहणं किर उपलक्षणमिति 'कौ लुप्तमिति' स्यान्निबन्ध-
स्य निषेधो भविष्यतीति वाच्यम् ? तस्य असार्वत्रिकत्वादिति चेन्न, 'बाह, प्रयत्ने' इत्यस्मा-
द्विजित्यभिप्रायात् । अस्य दन्त्योष्ठयादित्वमपरमते प्रसिद्धम् वेदवत् ।

वस्तुतस्तु प्रौह आगतं प्रष्टवाङ् रूपमिति "विभाषा पूर्वाह" इतिसूत्रे भाष्ये प्रयोगा-
दौक्तिकविषये प्रौह इत्यस्य दर्शनेन "वहश्च" इति छन्दसीत्यस्यासम्बन्धेन लोपेऽपि पिवप्र-
त्ययस्य स्वीकारान्नानुपपत्तिरिति ।

अनु यद्यनकारान्तोपपदे तस्यानभिधानं तदा वाय्यूह इति न स्यादत आह—*वाय्यूह-
इत्यादीति* ।

मन्येव प्रौह इत्यपि तथा स्यादत आह—*प्रौह इति । *अप्राप्तेरिति* । ऊङोऽभावा-
दिति भावः ।

मन्येवमपि "प्रादूहोढ" इत्यनेन वृद्धिः स्यादत आह—*अस्योहेति* । आनासन्तैकदेशस्तेत्यर्थः ।
ऊङेत्यकारान्तस्य शसैकदेशाकारेण निष्पाद्यस्य कथञ्चिदप्यर्थवत्त्वं नास्तीति भावः । यदुक्तं
पूर्वत्रेण त्रिपाद्याच्च प्रवर्तत इति, तत्र कैयटोक्तरीतिमाश्रित्य प्राचाभुक्तिं खण्डयितुमुपक्रमते ।
न चेत्यादिना । *तथा* । बहिरङ्गपरिभाषया तत्रोपस्थिततया । *तस्य* । पूर्वस्थबहिर-

तत्त्वप्रकाशिका ।

वस्तुतस्तु "युगान्त" इत्यस्यैकवर्गव्यवधाने प्रवृत्तावपि "वर्जानन्तर्य" परिभाषायां
तत्त्वहने मानाभाव इति नप्राप्तिरिति चेत् । *नानुपपत्तिरिति* । केचित्तु प्रौह इति रूपे
बाह्यातोरेपि सम्भवेन भाष्योपपत्तौ लोकेऽपि पिवप्रत्ययस्य स्वीकारे मानामात्र इत्याहुः ।

परस्यासिद्धत्वादिति । नच पूर्वत्र कर्त्र्ये परस्य "पूर्वत्रासिद्धम्" इत्यनेनासिद्धत्वे-
ऽपि ह्ये परस्यासिद्धत्वे मानाभावेन कार्तिरित्यादौ वृद्धौ नत्वविषयकस्यासिद्धत्वाभावात्
परिभाषाप्रवृत्त्या युद्धेर्बहिरङ्गासिद्धत्वेन तत्त्वाप्रवृत्तिः । अतः पूर्वाष्टानामिति प्रनोक्त्यशे-
खरोऽपि सङ्गच्छते । अत एव बहिरङ्गमिदृशत्वेन नृमती वत्प्रतिषेध इत्यादिनिर्दिष्टां
प्रत्याख्यानमपि सम्मोरेतिवाच्यम् "नमकुशुराम" इत्यत्र कुर्षहणेन कृते पूर्वस्मिन् परस्या-
सिद्धत्वस्य कल्पनात् । अन्यथा कुर्षादित्यत्र "अत उतमार्धघातुके" इत्यत्र तत्राकारेण
गुणाभावग्रहीर्यस्यापि धारणसम्भवाच्चर्यः स्यात् । मम तु हृनेऽप्युन्ने दीर्घस्यासिद्धत्वेन
तदग्रहणं युक्तमेव । अत एव चक्ष्यते इत्यत्र "उत्पारस्यात" इत्युक्तिं दीर्घः मिथ्यः ।

न चानया पूर्वस्यासिद्धत्वात्तदभावेन तं प्रति परासिद्धत्वं “पूर्वत्र”
(८-२-१) इत्यनेन वक्तुमशक्यमिति वाच्यम्? एवं हि विनिगमनाविर-
हादुभयोरप्यप्रवृत्त्यापत्तेः ।

किंच पूर्वव्रत्यस्य प्रत्यक्षत्वेन तेनानुमानिकया अस्या बाध एवो-
चितः । अतः कार्यकालपक्षेऽपि त्रिपाद्यामस्या अनुपस्थितिरेव ।
एव कार्यकालपक्षमेवोपक्रम्योक्तयुक्तीरुक्तातो “अगुक्तोऽयं परिहारो न वा
यदिरङ्गलक्षणत्वात्” इतीत्युक्तं “विसर्जनीय” सूत्रे भाष्ये सिद्धान्तिना त्रि-
पादीस्थेऽन्तरंगे कर्तव्येऽयं परिहारो न युक्त इति तदर्थः । किं तु वचनमेवा-
भैरवी ।

इत्य । *अनया* । असिद्धं यदिरङ्गत्वमनया । *एवंहि* । ‘पूर्वत्रासिद्धम्’, ‘असिद्धं यदिर-
ङ्गम्’ इत्याभ्यां मिथः प्रवृत्तिप्रतियोग्ये द्वैत्यर्थः । *भाष्येति* । अन्यतरा प्रवृत्तिरिष्टा
न तु उभयोरिति भावः । एवमन्युपगम्ययादेनोक्तम् ।

यस्तुतो विनिगमरूपमस्तौत्पाद- *किञ्चेति* । *अस्याः* । यदिरङ्गपरिभाषायाः । *अतः*
उक्तहेतुभ्याम् । अपिशब्दस्तदभिमत यथोद्देशपक्षसमुच्चायकः । स्वोक्तायं भाष्यसम्मति-
माह— *अत एवेति* । उभयस्यैतदनुपस्थितिरेष्टयादेव । *विसर्जनीयत्वमिति* । विसर्जनी-
यविधायके “स्वरवमानयोः” इतिमूत्र इत्यर्थः । *न युक्तः* । संयोगान्तस्य “रदाभ्याम्” इत्यादी
यत्र यत्रोक्तः स सर्वो न युक्त इत्यर्थः । *वचनमिति* । पक्षनानीत्यर्थः । एकवचने प्रकृताभिप्रा-
येन । यत्र यत्र दोषस्य प्रसक्तिस्तत्र तत्र वचनमारब्धव्यमित्यर्थो वा । यथा “संयोगान्तस्य
लोपः” इति सूत्रे दध्यन्तस्य प्रकारस्य लोपवारणाय “संयोगान्तस्य लोपे यणः प्रनिषेधः”
इति वचनमारब्धन्तस्य “न वा झलो लोपात्” इत्यनेन प्रत्याख्यानं कृतम् । तत्र घातशब्दा-
दानेन वचनात्मनः कर्तव्यो “झलो लोपः” इति वा स्वोक्तार्थमित्यर्थः । यथा “मादुपधाया”
इति सूत्रे नामन्ते पत्वस्य प्रतिषेध इत्यस्य “न वा यदिरङ्गलक्षणत्वात्” इत्यनेन यत्र प्रत्या-
ख्याने तत् न युक्तं किन्तु प्रतिषेधवचनमेव युक्तम् । अत्र नृमसोऽपत्यमिति विग्रहे जातरूपाणो
रेकनिमित्तत्वेन यदिरङ्गत्वेऽपि तत्प्रत्याख्यानमुक्तयुक्त्या न युक्तमिति भावः । तथा
“रदाभ्याम्” इति सूत्रे निष्ठान्त्यमनुदः” इतिरथनं कारितिरित्याद्यर्थे कर्तव्यम् । तथा “स्वर-
तत्त्वप्रकाशिका—

त्रिपाद्यामप्रतुली कलन्तु तद्वानित्यञ्च यत्स्यासिद्धत्वाभावेनानुनामिको न, कदरः अत्र
कदादेशस्यासिद्धत्वाभावाज्जडत्वभाषो न, पारिणा मन्त्रेषां करिष्यतीत्यत्र प्रवृत्तिप्रत्ययनि-
मित्तत्वेन यदिरङ्गस्य युद्धं स्वस्य नाभावस्य चासिद्धत्वाभावात् पत्वजत्वाभाषो न, पिर-
क्षति यदममीभिरप्राप्तयोः क्षणादिनिमित्तकत्वेन “यश्च” इति पत्वस्य “नदो ध” इति
अन्त्यस्य चासिद्धत्वाभावात्पत्वजत्वाभावो न, अन्त्ये भिन्ननिमित्तकत्वेन यदिरङ्गत्वेऽप्यत्रा-
तिवृत्त्येन इत्याभाषो नेति बोध्यम् । *अलो लोर इति वेति* । एतेन स्वन्मने इव मन्म-
तोऽपि एतद्वर्तिमानारम्भ इति सूचितम् । *न युक्तमिति भाव इति* । नृमनः क्रमश्चन्द्र-
स्याप्युपलक्षणत्वेन मन्मात्वं वयजन्तावच्छिन्नं “भामेत्पत्” इत्यप्राट् इति वृद्धेयदिरङ्गत्वार्थः,
वयजन्तावच्छिन्नत्वात् ।

यथा “मादुपधाया” इति विद्वन्विशेषणाध्यायमात्, यथादेशादतिगणत्वाच्च दोषाभावे
मन्मोऽपि याभिज्ञानारम्भ एव । *कारितिरित्याद्यर्थमिति* । आत्ययकत्वेन, यथागोः
के भाषासिद्धिं ज्ञानेदिक्ष्वत्र वृद्धेयदिरङ्गत्वभावेन नस्यामावाधम् । तथा मन्त्रुत्पाद्यर्थमिद-
प्यस्येति सूत्रे वृद्धेयसिद्धये पत्त्यमिति वचनमारब्धव्यम् ; यथा मन्त्रपदनादतिगणत्वमन्मोऽपि

रब्धव्यमिति तदाशयः । अत एव 'निगाल्यत' इत्यादौ लत्वार्थे "तस्य दोष" इति वचनमेवास्त्वम् । अन्ययान्तरङ्गत्वाणि लोपात्पूर्वं वैकल्पिकलत्वे तद्वै-
यर्थ्यं स्पष्टमेव । येऽपि लक्ष्यानुरोधादानुमानिक्याप्यन्तरङ्गपरिभाषया
मैरवी ।

'विसर्गानयोः' इति सूत्रे नार्कुदो नार्पत्य इत्यत्र विमर्गधारणाय विसर्जनीयोऽनुत्तरपदे इति वचनं
कृतम् । अस्योत्तरपदे सति न विसर्ग इति नार्थः यशः समूह इत्यत्र विसर्गानापत्तेः । किन्तु उत्त-
रपदे सति यो रेफ उत्तरपदनिमित्तक इति यावत् । न चोत्तरपदस्य न रेफनिमित्तत्वं किन्त्व-
ण इति वाच्यम् । तस्याग्निमित्तकत्वेऽपि उत्तरपदे सत्युकारस्यादित्वव्यपदेशेनोत्तरपदस्य
निमित्तत्वात् । आदेशव्यपदेशाद्वारकं निमित्तत्वमिदं विवक्षितं मित्याशयात् ।

न चैवमपि नार्थलिपरित्यक्तोत्तरपदस्य निमित्तत्वाभावाद्विसर्गो दुर्जर इति वाच्यम् ।
'अनुत्तरपद' इत्यस्योत्तरं यत्पदमर्थवत् तन्निमित्तकमिदं मित्यर्थात् । एवमेव "रदाम्याम्"
इति सूत्रे रदाब्जस्योत्तरं यदर्थवत् तन्निमित्तकमिदं नोपलक्ष्यते । "मादुपधाया" इति सूत्रेऽ-
कारस्यापि साहस्यस्य प्राकृतया सामञ्जस्यान्तानावचनारम्भमङ्गनगौरवन्तु फलमुखत्वात्
दोषावहमिति बोध्यम् ।

कार्प्यकालपक्षे लक्ष्यदर्शनवशादानुमानिक्या परिभाषया प्रत्यक्षसिद्धरूप पूर्वप्राप्तिर्देमि-
त्यस्य बाधक्यते लक्षणैकव्युत्थां यत्तुमुचितं किन्तु वचनारम्भ एव स्वीकृतमुचित इत्यत्र
सिद्धान्तमस्मतिमाह—*अत एवेति* । त्रिपाद्यामेतत्परिभाषाया अप्रवृत्तैरेव ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

'द्विनोत्पत्त्या न दोषावकाशः । *अर्थवत् तन्निमित्तेत्यादि* । स्वाव्यवहितपूर्वत्व स्त्रोत्तर-
प्रत्ययनिमित्तकत्वोभयसम्बन्धो नार्थवद्विशिष्टस्य रेफस्य विसर्गो न इत्यर्थः । न चैतद्वचनात्म-
एव गौरवम्, रामाणां त्रिपाद्यनः राज इत्यादौ नुदलोपयोरेषिद्वत्वेन णत्वश्चुत्तानापत्तेः ।
न च "मविप्यति गम्याद्यः" इति निर्देशेनान्तरङ्गपरिभाषायाः प्रत्ययवाक्यवकार्येऽप्रवृत्तिरिति
कल्प्यतेऽन्यथा स्वल्पासिद्धत्वादिना स्यादिति वाच्यम् । कात्तिर्नामन्त इत्याद्यर्थे तथापि
वार्तिकारम्भापत्तेः ।

यस्तु सत्तु "उभययर्थुः" इति निर्देशेन स्याव्यवहितपूर्वत्व अस्त्वनिकत्वं स्वाव्यवहितपदा-
घटननिमित्तकदेशावयवत्वत्रितयसम्बन्धेन खर्विशिष्टस्य रेफस्य विसर्जनीयो न भवतीति
कल्पने । नर्कलिपरित्यक्त रेफे ककाराव्यवहितपूर्वत्वस्य ककारादिवहित पदघटकेऽप्रत्यय-
निमित्तकारावेदावयवत्वस्य न सत्येन न विसर्जनीयः । पूर्वं प्राकृतोत्पत्त्यापि बोध्यम् । एवञ्च
वार्तिकमकरणीयमेव ।

यत्तु स्वाव्यवहितपदाघटकत्वसम्बन्धेन खर्विशिष्टस्य रेफस्य विसर्जनीयो न भवतीति कल्पने ।
न इति तद्वत्कस्य ककारस्यानिकरेफस्य सत्येनाघटकत्वाभावाद्विसर्गोपत्तेः । यदपि स्वाव्य-
वहितपदाघटकाण्यनिमित्तको रेफ इति व्याख्यानं तदपि चिन्त्यम् । सम्बन्धे निमित्तपदा-
घटेनात् ।

यत्तु स्वाव्यवहितपूर्वोच्त्थानिकत्वं स्वनिमित्तकत्वोभयसम्बन्धेन खर्विशिष्टरेफस्य
निमित्तको विसर्जनीयो न भवतीति कल्पने इति उपाधेनोत्पादो न दोषः । अत्र निमि-
त्तता तद्व्याप्यभावितापत्तेः । प्रथमसम्बन्धेन दास्याः पुत्र इत्यादौ न दोषः । अव्यवहित-
पूर्वत्वात् या होतुः पुत्र इत्यादौ न दोषः । अचरदोषाभावेन शार्ङ्गिरिठ्ठनीत्यत्र न । द्विती-
यसम्बन्धेन घातः पश्येत्यादौ न सतिरिति वदन्ति । *यैवर्प्यमिति* । न च पलायने अप्रा-
न्तरङ्गत्वादीं ल्त्वायं, तथा तक्षिरक्षिभ्यां ण्यन्ताभ्यां त्रिषि त्क् रगित्यत्र संयोगादिलो-
पायं, प्रदिपोतीत्यन्तरङ्गगुणपेक्षया णत्वस्यासिद्धत्वात् ण्यत्वायं वचनभाष्यद्वयमिति कथं

प्रत्यक्षसिद्धस्य पूर्वत्रेत्यस्य वाचं चदन्ति तेऽपि लक्षणेकचक्षुर्मिनादित्या इति दिक् ।

अन एव “ओमाडोश्च” (६-१-२५) इत्याङ्ग्रहणं चरितार्थम् । तद्वि शैवी ।

यदुक्तमन्तरंगे कर्तव्ये जातं तत्कालप्राप्तिकञ्च बहिरंगमसिद्धमिति । आपरुसिद्धत्वं प्रदर्श्य द्वितीयांशस्यापि सूत्रकारसम्मतत्वं दर्शयति—*अत एवेति* । द्वितीयांशनिवेशादेव । *तदधीत्यादि* । वाक्यसंस्कारपक्षे इदं, तस्य विभज्यान्वाख्यान तत्त्वप्रकाशिका ।

व्यर्थमिति वाच्यम् ? लक्ष्ये निगालयते इति भाष्यीयप्रयोगार्थं तस्य, व्यर्थमिति वाक्यात् । *मादरणीयेति* । केचित्तु कार्यकालेऽस्याः सर्वथाऽप्रवृत्तौ न मानम्, पूर्वमप्रति परस्यासिद्धत्वादित्युक्तयुक्तिर्न मूलम् कृते पूर्वस्मिन् परस्यासिद्धस्य मानाभावात् । अत एव तत्र यत्र बाधेन्दुशेखरे बाधरत्ने च तथाप्रतिपादितस्तद्वच्छते । “कर्तरि चरी” इत्यादिनिर्देशः कार्यकालेऽस्याः क्वचिन्निपाद्यामप्रवृत्तौ गमकाः ।

किञ्च सर्वथा त्रिपाद्यामप्रवृत्तौ दूषय कर्तुः नार्हतः सैकृतिरित्याद्यर्थमनेकवचनारम्भे सदैव गौरवम् । आरम्भप्रत्याख्यानयोः फलैक्याय फलान्तराभिनिवेशस्य निष्प्रमाणात्वाद्भ-भिधानाच्च । विसर्जनीयसूत्रस्यमतो “अयुक्तोऽयं परिहारो भवत बहिरङ्गलक्षणत्वात्” इति भाष्यम् “तस्य दोष” इत्यत्र लक्ष्यग्रहणे कुत्रता वार्तिककृता पूर्वत्र कृतेऽपि परस्यासिद्धत्वा-ङ्गीकारात्तद्वीत्या तत्प्रति तत्परिहारस्यायुक्तताभिप्रायकमिति न तद्विरोधः । अत एव प्रत्या-हारान्हिके वृत्तमनस्यापक्षे नानेकनिरित्यत्र तत्वं प्रति बहिरसिद्धेत्युक्तम् ।

किञ्च वार्तिके लक्ष्यग्रहणं ज्ञायत इत्यत्र लक्ष्ये स्थानिवद्भाष्यम् । अत्रैकादेशापेक्षया विनिष्टसमुदायनिमित्तकलक्ष्यमेव बहिरङ्गमिति न बहिरङ्गपरिभाषया सिद्धिः । विसर्जनीय-सूत्रस्य लक्ष्यमेवा परिभाषा सिद्धा भवतीत्यन्तमेव भाष्यं सिद्धान्त्युक्तिः । कुतो नुबल्लि-स्यादित्येकदेशिनः पूर्वत्र कृते परस्यासिद्धस्य मानाभावात् । “नभकुट्टराम्” इति सूत्रे कुप-हर्णं ॥ परिभाषायां व्योददेशपक्षे तात्पर्यग्राहकमित्याहुः ।

अयमत्र निष्कर्षः—प्राप्तस्तु त्रिपाद्यामन्तरङ्गपरिभाषा प्रवर्तते नेति संशये कार्यकाले प्रवर्ततेऽन्यत्र नेत्याहुः । एवञ्च नाकुट्टरार्थं तत्तद्वचनारम्भो न कर्तव्यो भवति तद्वान् रामा-णामित्यादि तु व्योददेशपक्षप्रयोगेन सिद्धम्, व्यपस्थितपक्षद्वय इति न्यायान्न विपरीत-नाद्वोदावयमिति तेषामाशयः । युक्त्यतिशय, अनेकप्राज्ञैककल्पनयाऽस्य लघुभूतत्वात् ।

तस्यास्तु न व्योददेशः नापि कार्यकालः किन्तु “पूर्वप्राप्तिसिद्धम्” इतिसूत्रमेव त्रिपाद्यां प्रवृत्तिनिर्णायकमूलम् इति त्रिपाद्या असिद्धत्वादेयां ॥ त्रिपाद्यां प्रवृत्तिरित्याहुः । निरूपि-तत्रैवम् व्योददेशपक्षनिरूपणारम्भे । पूर्वत्र कृते परस्यासिद्धत्वाभावेनानेकवार्तिकारम्भकृत-गौरवेण केतयुक्तमित्य प्रतिमातीति विवेचयन्तु कृतधियाः । *द्वितीयांशनिवेशादेव* । कृतमस्य विपत्ति, शङ्कित्यन, ग्रामणिनी अपत्रे इन्द्रम्, रूपति केसा इत्यादि, आद्ययोः लघुरयगुणा-दन्तराद्वत्वादिप्रत्ययौ, वृत्तीयव्युत्पयोः शुद्धार्थम्यामन्तराद्वत्वाद् इत्यगुणौ, पञ्चमेऽङ्गद्वय-मन्तराद्वत्वादिमुद, अन्त्ये शुभादन्तगुणवत्त्वस्यैकीये, इति केचित् ।

अन्येषु सप्तपि गुणे जातबहिरङ्गासिद्धत्वेनाद्ययोर्विपद्यौ निष्प्रत्युदायित्वाद्द्वस्त-गुणस्यासिद्धत्वेऽपि वृत्तपञ्चाशदनामम्भयान् । अत एव “पूर्वप्राप्तिसिद्धम्” इत्यत्र नाप्यामि-दत्वं सिद्धमिति सर्वेः ।

यत्तु कोऽस्ति कर्तृजात्युपगतमाहव्याप्य-इत्यन्तद्वयपक्षे एव गुणप्रवृत्तेर्नैतद्वत्त्वमिति अप्रापारश्चित्तपक्षेऽप्यतमिषयानोः कर्तृविद्यमवलोपपन्नोपयोस्तत्र भाष्यारविचरि मयतीति

खट्वा आ ऊदेत्यत्र परमपि सवर्णदीर्घं बाधित्वा अन्तरङ्गत्वाद्गुणे कृने
बुद्धिप्राप्तौ पररूपार्थम् । साधनबोधकप्रत्ययोत्पत्त्यनन्तरं पूर्वं धातोऽपसर्गयोगो
पश्चात् खट्वाशब्दस्य समुदायेन योगाद्गुणस्यान्तरङ्गत्वमिति "सम्प्रसार-
णाच्च" (६-१-१०८) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । पृहीत्यनुकरणस्य शिवा-
दिशब्दसम्बन्धे तु नास्य प्रवृत्तिर्ज्ञापकपरः 'सम्प्रसारणाच्च' इति सूत्र-
भैरवी ।

एव समकालप्राप्तिसम्भव इत्याशयेन । तथैव दर्शयति—*खट्वेति* । ननु गुणस्य सवर्णदीर्घा-
द्वान्तरङ्गत्वं न सम्भवत्युभयापेक्षयोभयत्र सत्त्वात् प्रत्युत पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपमन्त-
रङ्गत्वं सवर्णदीर्घं पृथेक्यत आह—*साधनेत्यादि समुदायेन* । उपसर्गद्योतार्थसहितधात्वर्थेन
कारकस्य क्रियाकाङ्क्षानिवारणात्, एवञ्च प्रक्रियाक्रमेण पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपमन्तरङ्गत्व-
माद्गुणस्यैवेति भावः । अत्र साधनबोधकप्रत्ययोत्पत्त्यनन्तरमिति कथं वक्ष्यमाणो यः पूर्व
धातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेण इति सिद्धान्तस्तदभिप्रायेण । न च प्रयोगे प्रागुच्चारणस्य
पूर्वोपस्थितत्वं दीर्घनिमित्तस्येति तस्याप्यन्तरङ्गत्वसम्भवेनोभयोः समत्वात्परत्वादीर्घं एव
स्यादिति वाच्यम् । धातुपसर्गाकार्थ्यत्वेन गुणस्यान्तरङ्गत्वात् । आङ्ग्रहणस्य ज्ञापकतापर-
भाष्यप्रामाण्येनैकपद एव पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्वस्य धत्वत्वप्रयोजकत्वकल्प-
नाच्च । न चात्र सहोदादेशस्याप्येकपदावयवरूपं यत्पूर्वोपस्थितनिमित्तं तत्प्रयोज्यत्ववन्ना-
स्तीति कथमाद्गुणस्यान्तरङ्गत्वमिति वाच्यम्, एकपदं परेत्यस्यैकाधेयबोधकं यत्पदं तद्वयम्
निमित्तकमित्यर्थात् । उपसर्गाणां द्योतकतया आज्ञा सहितस्य समासरूपपदस्यैकाधेयत्वापि
बोधकता स्फुटैव । खट्वा सहितस्य तु वाक्यार्थबोधकतया नैकपदावयवनिमित्तकत्वमेव ।

ननु स्वतन्त्रं यदेकीतिपदं तदवयवैकारस्य पूर्वान्तवद्भावेनाद्वत्वात् तदनुकरणेनैकीत्यनेन
पृथगन्तशिवशब्दस्य समाप्ते प्रकृतिवदनुकरणमितिन्यायेनाद्वैतबुद्ध्या तत्र बुद्धिवोराणाम आ-
ङ्ग्रहणस्य चरितार्थत्वात् । कथमाङ्ग्रहणस्य ज्ञापकत्वमत आह—*पृहीत्यनुकरणस्येति* ।
अयम् । "ओमाहोश्च" इत्यस्य । इदं समुदायानुकरणे समुदायघटकणं यो व्यवहारः
सोऽनुकरणावयवेऽपीतिवदतां प्राचामनुरोधेन ।

वस्तुतस्तथा न युक्तम् 'अस्य धामीयं सूक्तम्' इत्येतदवयवस्य सुरोऽनुगापत्तेः 'प्रकृतिवद्'
इत्यस्यानित्यत्वेन तद्वारणन्तु छिद्यम् ।

किञ्चैदमनुकरणं समुदायस्य नत्येकदेशस्येति समुदायनिष्ठधर्मस्त्वैवातिदेशो युक्तो
तत्त्वप्रकाशिका ।

स्नानापत्तेः अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वेन व्यवधायात् ।
मम तु हृद्भजेति नित्यप्रमाणेनादौषः । अवज्ञे इन्द्रमित्यत्र द्यौर्धम्बाधित्वा नित्यत्वात्
गुण इत्यपि न, सवर्णदीर्घस्यापवादत्वात् । अन्तरङ्गत्वे त्वपवादो वक्ष्यन्प्रेतिन्यायात्तदौषः ।
अत एवाङ्ग्रहणस्य ज्ञापनपरस्वभन्योऽपि सङ्गच्छते । परव्या सृष्टेतिभाष्योदाहरणमपि
युक्तमेव । पूर्व परमणादेशः ततः पूर्वस्येति न युक्तम् अनलिवधावितितत्रिपेधात् । परमणा-
दिस्य बलवत्त्वाच्च ।

अपरे तु हृच्छति, अभवत् इति परमाद्येऽन्तरङ्गत्वात्तुकि गुणोऽन, अन्त्ये नित्यादप्य-
कथोऽन्तरङ्गत्वात् "इतश्च" इति लोपः । अन्यथा पृच्छति, अभवत् इति स्यादित्याहुः ।
ननु बुद्धिसूत्रस्य भाष्यप्रामाण्यात्पदानां स्वातन्त्र्येणैव व्युत्पाद्यतन्त्रतोऽस्या खट्वा
ओदेतिसिद्धयोः सम्बन्धे बुद्धिबोधार्थमाङ्ग्रहणं चरितार्थमत आह—*तदीति* । "युष्म-
दुपरदे" इत्यादिसूत्रस्यास्येन वाक्यसंस्कारपक्षस्यापि दाखे आशयगन्तप्राङ्ग्रहणं व्यपेक्षमिति
भासः । परमपि सवर्णदीर्घमिति* । न च क्तात्रतत्त्वमित्येन नित्यत्वादायान्तेति ।

प्रत्यक्षसिद्धस्य पूर्वत्रेत्यस्य बाधं यदन्ति तेषां लक्षणेकचक्षुर्भिर्नादित्या इति दिक् ।

अत एव “ओमाडोश्च” (६-१-२५) इत्याङ्ग्रहणं चरितार्थम् । तद्धि मैत्री ।

यदुक्तमन्तरंगे कर्तव्ये जाते तत्कालप्राप्तिकञ्च बहिर्गममिदमिति तत्रार्थसिद्ध्यापकसिद्धत्वे प्रदर्श्य द्वितीयांशस्यापि सूत्रकारसम्मतत्वे दर्शयति—*अत एवेति* । द्वितीयांशनिवेशादेव । *तदधीत्यादि* । वाक्यसेत्कारपक्षे इदं, तस्य विमज्ज्यावाक्यान् तत्प्रकाशिका ।

कथंमिति वाच्यम् ? एतदे निगालयते इति भाष्यीयप्रयोगार्थं तस्य, वेद्यत्वंमित्याशयात् । *नादरणीयेति* । केचित्तु कार्यकालेऽस्याः सर्वथाऽप्रवृत्तौ न मानम्, पूर्वम्प्रति परस्यासिद्धत्वादित्युक्तयुक्तिर्न मूलम् कृते पूर्वस्मिन् परस्यासिद्धत्वे मानामावात् । अत एव तत्र तत्र शब्देन्दुशेखरे शब्दरत्ने च तथाप्रतिपादितरूपसङ्गच्छते । “कर्तरि धर्पो” इत्यादिनिर्देशाः कार्यकालेऽस्याः कधिप्रियाधामप्रवृत्तौ गमकाः ।

किञ्च सर्वथा त्रिशाधामप्रवृत्तौ दृश्यते कर्तुः नार्हतेः नेष्टुतिरित्याद्यर्थमनेकवचनारम्भे तत्रैव गौरवम् । आरम्भप्रत्याख्यानयोः फलेक्याय फलान्तराभिनिवेशस्य निष्प्रमाणत्वादनभिधानाच्च । विसर्जनीयसूत्रस्थमतो “अयुक्तोऽयं परिहारो नवा बहिरङ्गलक्षणत्वात्” इति भाष्यन्तु “तस्य दोष” इत्यत्र एतदग्रहणं कुर्वाणां त्रिककृतां पूर्वत्र कृतेऽपि परस्यासिद्धत्वाङ्गीकाराद्यधीत्या तन्प्रति तत्परिहारस्यापुक्ततामिषायकमिति न सङ्घितोऽयं । अत एव प्रत्याहारान्निषेधे नूनमनस्यापर्य नार्हमनिरित्यत्र गतत्वं प्रति युद्धिरसिद्धेऽयुक्तम् ।

किञ्च धार्तिके एतदग्रहणे ज्ञायते इत्यत्र एतदे स्यानिवृत्तवर्धम् अत्रैकादेशापेक्षया विशिष्टसमुदायनिमित्तकत्वमेव बहिरङ्गमिति न बहिरङ्गपरिभाषा सिद्धिः । विसर्जनीयसूत्रस्य त्वेवमेवा परिभाषा सिद्धा भवतीत्यन्तमेव भाष्यं सिद्धान्त्युक्तिः । कुतो नुबहिःस्थादित्वेकदेशिनः पूर्वत्र कृते परस्यासिद्धत्वे मानामावात् । “नमकुर्तुरात्” इति सूत्रे कुर्तुर्ग्रहणं तु परिभाषायां यथोद्देशपक्षे तात्पर्यप्राप्तकमित्याहुः ।

अयमत्र निष्कर्षः—प्राज्ञस्तु त्रिशाधामगतरङ्गपरिभाषा प्रजनेते नयेति संशये कार्यकाले प्रजनेत्यस्यैव नेत्याहुः । एवञ्च नाहुंटाद्यर्थं तत्तद्वचनारम्भो न कर्तव्यो भवति तद्वान् रामाणामित्यादि तु यथोद्देशपक्षाप्रवगेन सिद्धम्, कथंस्थितपक्षद्वय इति न्यायात् विपरीतशङ्कोद्भावमिति तेषामाशयः । युक्त्येतत्, अनेकप्रानेकक्षिप्रकल्पनयाऽस्य लघुभूतत्वात् ।

नप्यास्तु न यथोद्देशः नापि कार्यकालः किन्तु “पूर्वत्रासिद्धम्” इति सूत्रमेव त्रिशाधामप्रवृत्तिनिवृत्त्योर्मूलम् इति त्रिशाधा अभिव्यक्त्वादेर्पो त्रिशाधां प्रवृत्तिरित्याहुः । निरुपितीतीत्यर्थो यथोद्देशपक्षनिरुपणावसरः । पूर्वत्र कृते परस्यासिद्धस्याभावेनानेकप्रतिकारममृतगौरवेण चेत्युक्तमत्र प्रतिभातीति विशेषयन्तु कृतधियः । *द्वितीयांशनिवेशादेव* । पञ्चमस्य विपत्ति, गङ्गान्त, घामगिनी अयमे इन्द्रम्, रूपति केसा इत्यादि, आद्ययोः लघुपक्षगुणादन्तरङ्गत्वादिवद्बुद्धी, नृनीयचतुर्थयोः सुप्तोपाध्यामन्तरङ्गत्वाद् दृश्यगुणी, पञ्चमेऽहंस्वामन्तरङ्गत्वाद्यागुद, अन्त्ये गुणादन्तरङ्गत्वात्समर्थादीर्षः, इति केचित् ।

अयेषु मत्स्येपि गुणे ज्ञानबहिरङ्गमिदस्येनाद्योरिवद्बुद्धी निष्प्रत्युदाविरपाहुस्तत्र, गुणस्यासिद्धत्वेऽपि पूर्वपक्षाग्रहणासम्भवात् । अत एव “पूर्वत्रासिद्धम्” इत्यत्र तात्पर्यसिद्ध्यर्थं सिद्धान्तितं सती ।

यत्तु कोऽत्रिङ्गत्वात्पुनराग्रहणार्थं इत्यस्यैवपक्षे एव गुणप्रवृत्तेर्निरुपणमिति तत्रापातविरुद्धपक्षेऽङ्गान्वितयोः कर्मविशेषलोच्योपपत्त्योऽन्तत आपातविरुद्धमपटीति

युक्तत्वमुक्तं साधनं हि क्रियां निर्वर्त्तयतीत्यादिना भाष्ये । उपसर्गद्योत्यार्थान्तर्भावेण धातुनैवार्थाभिधानादुक्तेषु कर्मणि लकारादिसिद्धिः । पश्चाच्छ्रोतुर्योधाय द्योतकोपसर्गसम्बन्धः । एवं च अन्तरङ्गतरार्थकोपसर्गनिमित्तः सुद् संक्रान्तीयवस्थायां द्वित्वादितः पूर्वं प्रवर्त्तते ततो द्वित्वादि । अत एव प्रणिदापयतीत्यादौ णत्वं “यद्वागमाः” (प० ११) इति न्यायेन समाहितं भाष्ये । अत एव प्रत्येति प्रत्यय इत्यादिसिद्धिः । अन्यथान्तरङ्गत्वात् सर्वार्थदीर्घं रूपासिद्धिः । यदुपसर्गनिमित्तकं कार्य्यमुपसर्गार्थाश्रितं विशिष्टोप-

भैरवी

उपसर्गद्योत्येति । *धातुनैवद्योत्यः* । अनुभवादिः । एवकार उपसर्गसंज्ञकशब्दसम्बन्धाभावाद्यधनाय धातुनामनेकार्थत्वादिति भावः । *उक्तेषु* । अनुभूयते सुखमित्यादिषु ।

ननु धातोरनेकार्थत्वेनोपसर्गद्योत्यार्थान्तर्भावेन पूर्वमेव चेद्भातोर्धृत्तिस्तदोपसर्गोच्चारणं ध्यर्थमित्यत आह—*पश्चादिति* । *योग इति* । उपसर्गसंज्ञकशब्दस्य सम्बन्धं करोति । अन्यथा प्रयोगान्तरे तत्समभिध्याद्वाराभावे तादृशार्थस्याप्रतीततया वक्तुर्द्योत्यार्थविशिष्टार्थवृत्तिरपि धातुरिति ज्ञानसत्वेऽपि तादृशार्थवृत्तित्वनिमित्तकस्य प्रत्ययस्य प्रयोगेऽपि धोतुस्ततस्तादृशार्थबोधो न स्यादत उपसर्गसंज्ञकशब्दसम्बन्ध आवश्यक इति भावः । एवञ्चैव क्रमः सिद्धः । पूर्वमुपसर्गयोगो नामोपसर्गद्योत्यार्थं धृत्तिस्ततस्तत्संज्ञकशब्दसम्बन्धात् प्राक् साधनप्रयुक्तः कार्य्यस्य प्रत्ययस्य योगस्तत उपसर्गसंज्ञकस्य शब्दस्य सम्बन्ध इति । पूर्वक्रमरूपेण द्वयोरपि वचनयोरैक्यावयवैव भवति न तु विरोधः । एतेन दीक्षितादिकल्पितो वचनायो निरस्तो द्रष्टव्यः । नैहि द्वयोर्वचनयोर्यथाधुतार्थकता स्वीकृता । एवञ्च यत्र “पूर्वं धातुपसर्गणं” इतिपक्षस्तदोपसर्गसम्बन्धेऽपि तत्प्रयुक्तं कार्य्यं प्रत्यय इत्यादिनिर्देशेन न प्रवर्त्तते, किन्तु साधनबोधकप्रत्यये कृते तत्प्रयुक्तकार्य्यं च कृते प्रवर्त्तत इति, शापकेन निर्गह इत्येवं लक्ष्याणां सिद्धिरित्युक्तम् ।

परन्तु पूर्वं द्वयोर्विरोधरूपेण ततो ज्ञापकेन निर्वाहस्य कल्पनेति गौरवं तत्परिहारायैक्यावयवैवोपपादितरीत्या स्वीकर्त्तुमुचितेत्याशयेनाह—*एवञ्चेति* । *संश्रुतीत्यवस्थापामिति* । अत्र तिशाब्दोच्चारणे साधनबोधकत्वं द्यस्तुतः प्रयुज्यमानस्यादेशस्यैव, लकारस्य तु तत्स्थानित्वेन कल्पितस्य प्रक्रियानिर्वाहाय तदर्थस्य कल्पनेत्यभिप्रायेण । उपसर्गाधेः स्यान्तरङ्गत्वं धातोः पूर्वं तस्मिन्नर्थवृत्त्या । अत एव साधनरूपाधेर्विक्षया तस्य प्रकर्षः । अतस्तादृशार्थं निमित्तकत्वात्सुप्तादेशेऽप्यन्तरङ्गत्वं शास्त्रसाधनप्रयुक्तं यत्कार्य्यं प्रत्ययस्तन्निमित्तकत्वात् द्वित्वादेशादिरङ्गत्वम्, एवं रीत्या सिद्धौ “सुद्कात्पूर्वं” इति न बाध्यमिति भावः । उपसर्गसंज्ञकशब्दसम्बन्धात् प्राक् साधनयोग इत्यर्थं भाष्यकारसम्मतिमाह—*अत एवेति* । पूर्वं साधनयोगादेत्यर्थः । *णत्वमिति* । यदि पूर्वमुपसर्गसम्बन्धः स्यात् तदान्तरङ्गत्वात् णत्वं तदुत्तरं पुकि न्योयानुपयोगः स्पष्ट एव ।

ननु धैरादिकेऽन्तरङ्गे बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेर्गत्वात् प्राक् पुगागम एवेति न्याया-
*पुगेनां युक्तमेवेति चेन्न । बहिरङ्गपरिभाषाप्रवृत्तिप्रभुपेत्य णत्वमिति न, किन्तु प्रायुक्तरीत्या पुङ्गः प्राङ्गलिकत्वाग्न्याधानुसरणे विनापि णत्वञ्च स्यादिति भाष्यकारोपायानुसरणेन पूर्वं साधनसम्बन्धो भवतीति वदाम इत्याशयात् । *अत एव* । साधनबोधकप्रत्यययोगस्य पूर्वं स्वीकारादेव । प्रत्यय इत्यादिपदेन “जेरप्ययने वृत्तम्” इति निर्देशस्य संप्रहः । एवञ्चोक्तार्थं सुप्रकारस्यापि सम्मतिरिति भावः । *अन्यथा* । उदाहरणानुसारे । *अन्तरङ्गत्वात्* । *पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वात्* । *न धातुलोप आर्द्धधातुके* इति सूत्रस्य भाष्यविरोधपरिहारायाह—*यदुपसर्गं* । निशिष्टोपसर्गनिमित्तकत्वात् । धात्यर्थगतविच्छेदार्थ-

स्थभाष्यप्रामाण्येनानित्यं प्रकृतिवदनुकरणमित्यतिदेशमादाय लब्धाङ्गत्वे
एतदप्रवृत्तेः ।

यत्तु पूर्वं धातुरूपसर्गेण युज्यते पश्चात्साधनेन च । उपसर्गेण तत्संज्ञक-
शब्देन साधनेन कारकेण तत्प्रयुक्तकार्येण च । अतएवानुभूयत इत्यादौ सक-
र्मकत्वात् कर्मणि लकारसिद्धिरिति तत्र । क्रियायाः साध्यत्वेन बोधात्सा-
ध्यस्य च साधनाकाङ्क्षतया तत्सम्बन्धोत्तरमेव निश्चितक्रियाबोधेन साधन-
कार्यप्रवृत्त्युत्तमेव क्रियायोगनिमित्तोपसर्गसंज्ञकस्य सम्बन्धोचित्यात् ।
अत एव “सुद्धकात् पूर्वः” (६-१-१३५) इति सूत्रे पूर्वं धातुरूपसर्गेणेत्युक्ता
नैतत् सारं पूर्वधातुः साधनेन युज्यते पश्चादुपसर्गेणेत्युक्तोक्तयुक्तया अस्यैव
भैरवी ।

नतदेकदेशनिष्ठस्येति बोध्यम् ।

अथ प्राज्ञः पूर्वोक्तरीत्या आरूपहणस्य ज्ञापकज्ञापारम्भाय धातुपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्ग-
मित्येतन्न्यायविरुद्धमिति वदन्ति, तन्मर खण्डयितुमुपक्रमते—*पस्त्विति* । कैयटसम्मतं
पूर्वं धातुरूपसर्गेण युज्यत इति वधनरूपार्थमनुवदति—*उपेत्यादिना* । साधनरूपार्थसम्ब-
न्धेन नेष्टसिद्धिरत आह—*तत्प्रयुक्तेति* । *अत एव* । पूर्वमुपसर्गसम्बन्धस्त्रीकारादेव ।
इत्यादावित्यादिपदेनोपास्यते गुरित्वादेः संग्रहः । क्रियाया इति* । अस्य धातुत इत्यादि ।
साध्यस्य । साध्यत्वेन प्रतीयमानस्य । साधनस्येत्यादौ नियमत इति शेषः । साध्यत्वसा-
धनत्वयोनिरूप्यनिरूपकभावादिति भावः । *तत्सम्बन्धोत्तरम्* । साधनप्रयुक्तकार्यसम्ब-
न्धोत्तरमेव । *निश्चितक्रियाबोधेन* । निश्चिते यतिक्रियात्वे तस्य बोधेन, क्रियात्वस्य साध्य-
त्वेन प्रतीयमानज्ञापारकत्वरूपत्वात् । *क्रियायोगेति* । क्रियाविशेषणीभूतार्थद्योतकैत्यर्थः ।
क्रियागतविशेषार्थद्योतनाय हि प्रादेरुपसर्गस्य योगः स्त्रीक्रियते, क्रियात्वनिश्चयश्च तदैव
भवतीति भावः । *अत एव* । उक्तेस्तोरेव ।

अनु यदि पूर्वोपसर्गस्ययोगस्तदा पूर्वोक्तस्थले कर्मणि लकारसिद्धिः कथमत आह—

तत्त्वप्रकाशिका—

पाठ्यम् । दीर्घरूपापवादत्वात् । ज्ञापिते तु अपवादो वधन्यत्रेति न्यायेनान्तरङ्गत्वाद्गुण
पूरेति भावः । *नतदेकदेशनिष्ठस्येति* । इदं बालम्भद्वयानुरोधेन । *गुणस्यान्तरङ्गत्वमिति* ।
न य देव आ उष्णमित्यत्र धातुपसर्गकार्याभावेन गुणस्यान्तरङ्गत्वासम्भवात्प्राज्ञादौचं प्राप्ते
नित्याश्लिष्य वलीय इत्यत्रैवाद्यद्वयस्य ज्ञापकत्वं युक्तं, खट्वा आ उड इत्यत्रापि नित्य-
स्यात् गुणे वृद्धिवाचनार्थत्वात्तत्परिमिति वाच्यम् । अथकदास्वातन्त्र्येदीर्घं तत् गुणे दृष्टस्य-
मिदंस्त्वस्य अपर्धत्वात् । ज्ञापिते तु “अपवादो वधन्यत्र” इति न्यायेनान्तरङ्गत्वात् गुणे
वृद्धिवाचनार्थत्वात्परितार्थम् । *इति बोध्यमिति* । यन्तुतन्तु अतिदेशस्यानित्यत्वेन प्राप्तः
गुणोर्लुङ्ग वारितो भाव्यः । अत एव जडिजोड इत्यादौ जोडं जडोतिमुदायानुक्रमेणैवपदस्य
गुणवाक्योपस्थित्यति । *तत्सम्बन्धोत्तरमिति* । नच साधनमाध्यन्त्यात्पूर्वं क्रियाबोधेन
रथाभावात्तदेष धातुरसिमिति वाच्यम्, यथा आरिमाधनमम्बन्धनाद्यनेन क्रियावाचिन्मा-
धिरय धातुमेजा ज्ञापनं यथाच आदिर्मन्त्रमाधिरयोऽक्रम एव कर्मत्वं तथा भाव्युपसर्गस-
म्बन्धानुक्रम एव विसिद्धिवाचाचित् । हयतामिन्वर्थकः—

धातोः ज्ञापनयोगस्य भाविनः प्रक्रममात्रा ।

धातुस्य कर्मभावश्च तथान्यदपि हयताम् ।

इति इतिवाचिकासमाहिगम्याम् ।

युक्तत्वमुक्तं साधनं हि क्रियां निर्वर्त्तयतीत्यादिना भाष्ये । उपसर्गद्योत्यार्था-
न्तर्भावेण धातुनैवार्थमिधानादुक्तेषु कर्मणि लकारादिसिद्धिः । पश्चाच्छ्रु-
तुर्थोपाय द्योतकोपसर्गसम्बन्धः । एवं च अन्तरङ्गतरार्थकोपसर्गनिमित्तः
सुद संकृतोत्पत्त्यायां हित्वादितः पूर्वं प्रवर्त्तते ततो द्वित्वादि । अत एव
प्रणिदापयतीत्यादौ शब्दं “यदागमाः” (प० ११) इति न्यायेन समाहितं
भाष्ये । अत एव प्रत्येति प्रत्यय इत्यादिसिद्धिः । अन्यथान्तरङ्गत्वात् सव-
र्णदीर्घ रूपासिद्धिः । यदुपसर्गनिमित्तकं कार्यमुपसर्गार्थाश्रितं विशिष्टोप-
भैरवी

उपसर्गद्योत्येति । *धातुनैवद्योत्यः* । अनुभावादिः । एवकार उपसर्गसंज्ञकशब्दसम्बन्धा-
भावबोधनाय धातुनामनेकार्थत्वादिति भावः । *उक्तेषु* । अनुभूयते सुखमित्यादिषु ।

ननु धातोरनेकार्थत्वेनोपसर्गद्योत्यार्थान्तर्भावेन पूर्वमेव चेद्वातोवृत्तिस्तदोपसर्गोच्चारणं
व्यर्थमित्यत आह—*पश्चादिति* । *योग इति* । उपसर्गसंज्ञकशब्दस्य सम्बन्धं करोति ।
अन्यथा प्रयोगान्तरे सत्सममिष्याहराभावे तादृशार्थस्याप्रतीततया वक्तुर्द्योत्यार्थविशिष्टा-
र्थवृत्तियै धातुरिति ज्ञानसत्वेऽपि तादृशार्थवृत्तित्वनिमित्तकस्य प्रत्ययस्य प्रयोगेऽपि धोतु-
स्त्वतस्तादृशार्थबोधो न स्यादत उपसर्गसंज्ञकशब्दसम्बन्ध आवश्यक इति भावः । एवञ्चैव
क्रमः सिद्धः । पूर्वमुपसर्गयोगो नामोपसर्गद्योत्यार्थं वृत्तिस्तत्सत्संज्ञाशब्दसम्बन्धान् प्राक्
साधनप्रयुक्तः कार्यस्य प्रत्ययस्य, योगस्तत उपसर्गसंज्ञकस्य शब्दस्य सम्बन्ध इति । पूर्व
क्रमकल्पनेन द्वयोरपि वचनयोरैकवाक्यतैव भवति न तु विरोधः । एतेन दीक्षितादिकल्पितो
वचनार्थो निरस्तो ब्रह्मण्यः । नैहि द्वयोर्वचनयोर्यथाश्रुतार्थकता स्वीकृता । एवञ्च यदा “पूर्वं
धातुरूपसर्गण” इतिपक्षस्तदोपसर्गसम्बन्धेऽपि तत्प्रयुक्तं कार्यं प्रत्यय इत्यादिनिर्देशेन न
प्रवर्त्तते, किन्तु साधनबोधकप्रत्यये कृते तत्प्रयुक्तकार्यं च कृते प्रवर्त्तते इति, ज्ञापकेन निर्वाह
इत्येव लक्षणाणां सिद्धिरित्युक्तम् ।

परन्तु पूर्वं द्वयोर्विरोधकल्पना ततो ज्ञापकेन निर्वाहस्य कल्पनेति गौरवे तत्परिहारायै-
कवाक्यतैवोपपादितरीत्या स्वीकर्तुमुचितेत्याशयेनाह—*एवञ्चेति* । *संस्कृतोत्पत्त्याया-
मिति* । अत्र तिस्रश्चोच्चारणं साधनबोधकत्वं वस्तुतः प्रयुज्यमानस्यादेशस्यैव, लकारस्य
ए तत्स्थानित्वेन कल्पितस्य प्रक्रियानिर्वाहाय तदर्थत्वकल्पनेत्यभिप्रायेण । उपसर्गार्थस्या-
न्तरङ्गत्वं धातोः पूर्वं तस्मिन्नर्थवृत्त्या । अत एव साधनरूपार्थपेक्षया तस्य प्रकर्षः । अत-
स्तादृशार्थं निमित्तकत्वात्सुधादेशप्यन्तरङ्गत्वं बाह्यसाधनप्रयुक्तं यत्कार्यं प्रत्ययस्तन्निमित्त-
कत्वात् द्वित्वादीर्वाहिरङ्गत्वम्, एवं रीत्या सिद्धौ “सुदकात्पूर्वं” इति ॥ वाच्यमिति भावः ।
उपसर्गसंज्ञकशब्दसम्बन्धात् प्राक् साधनयोग इत्यर्थे भाष्यकारसम्मतिमाह—*अत एते-
ति* । पूर्वं साधनयोगादेशेत्यर्थः । *शब्दमिति* । यदि पूर्वमुपसर्गसम्बन्धः स्यात् तदान्त-
रङ्गत्वात् शब्दं तदुत्तरं पुकि न्यायानुपयोगः स्पष्ट एव ।

ननु त्रैपादिकेऽन्तरङ्गे बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेर्नित्वात् प्राक् शुभागम एवेति न्याया-
नुसरणे युक्तमेवेति चेन्न । बहिरङ्गपरिभाषाप्रवृत्तिमभ्युपेत्य शब्दमिति न, किन्तु प्रागुक्तरीत्या
पुनः प्राक्कालिकत्वात्न्यायानुसरणे विनापि शब्दस्य स्यादिति भाष्यकारीयानुसरणेन पूर्वं साध-
नसम्बन्धो भवतीति वदाम इत्याशयात् । *अत एव* । साधनबोधकप्रत्यययोगस्य पूर्वं
स्वीकारादेव । प्रत्यय इत्यादिपदेन “गौरव्ययने वृत्तम्” इति निर्देशस्य संप्रदः । एवञ्चोक्तार्थं
सूत्रकारस्यापि सम्मतिरिति भावः । *अन्यथा* । उक्तार्थानङ्गीकारे । *अन्तरङ्गत्वात्* ।
पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वात् । “न धातुलोप आर्द्धधातुके” इति सूत्रस्य भाष्यवि-
रोधपरिहारायाह—*यदुपसर्गोति* । विशिष्टोपसर्गनिमित्तत्वात् । धात्वर्थगतविलक्षणार्थ-

सर्गनिमित्तकत्वात्तदन्तरङ्गम् ।

यत्तु न तथा, तत्र पूर्वागतसाधननिमित्तकमेवान्तरङ्गम् । अत एव “न धातु” (१-१-४) इति सूत्रे प्रेक्ष इत्यत्र गुणो बहिरङ्ग इति भाष्ये उक्तम् ।

किञ्च पूर्वमुपसर्गयोगे धातूपसर्गयोः समास ऐकस्वर्याद्यापत्तिरिति “उपपदमतिङ्” इति (२-२-१९) सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । भावार्थप्रत्ययस्यापि नैवमेवोत्पत्तिः । अत एव “शेरध्ययने” (७-२-२६) इति निर्देशः सङ्गच्छते । इदं च सामान्यापेक्षं ज्ञापकं भावतिङोऽपि पूर्वमुत्पत्तेः । अन्यथा तत्र समासापत्तिः । तिङित्यतिङितिनिषेधाच्च तत्र दोषो यदि भावतिङ्युपसर्गयोगोऽस्तीत्यलम् ।

यत्तु विशेषापेक्षारसामान्यापेक्षमन्तरङ्गं विशेषापेक्षे विशेषधर्मस्याधिकस्य निमित्तत्वात् । यथा “रुदादिभ्यः सार्वधातुके” (७-२-६६) इत्यत्र रुदादित्वं सार्वधातुकत्वं च । तत्र सार्वधातुकत्वज्ञानाय प्रकृतेर्धातुत्वज्ञानं प्रत्ययस्य प्रत्ययत्वज्ञानं चावश्यकमिति यासुडन्तरङ्गः ।

एतेन यत् “अनुदात्तङितिः” (१-३-१२) इति सूत्रे कैयटेनोक्तं ‘लमा-प्रापेक्षयाऽन्तरङ्गास्तियाद्यो, लकारविशेषापेक्षत्वाद्बहिरङ्गाः स्यादयः’ इति तत्परास्तम् । विशेषापेक्षत्वेऽपि तस्य सामान्यधर्मनिमित्तकत्वाभावेन तस्य-
श्रेयो ।

योनिरुताविशिष्टोपसर्गनिमित्तकत्वात् । मध्यस्कारेणैव सुखया । *न तथा* । न तादृशा-
धेनिमित्तकं, किन्तु उपसर्गसंज्ञकताश्चसम्बन्धनिमित्तकं तद्व्यहिरङ्गमिति स्वीकार्यम् ।
पूर्वागतेति । पूर्वोत्तराद्यर्थः । *साधननिमित्तकम्* । साधनशोधकप्रत्ययनिमित्तकम् ।
पूर्वागतेतिरुधनेन पश्चादागतं यत्पदान्तरे स्वदेश्यादि तत्प्रयुक्तं बहिरङ्गमिति पूर्वोक्तार्थः
सूचितः । *भाष्ये उक्तमिति* । यद्यपि प्रेक्ष इत्यत्र गुणस्य नोपसर्गनिमित्तकत्वं किन्तु तद-
वयवनिमित्तकत्वं तथाप्युपसर्गस्य तद्व्यापकभावेन निमित्तत्वम् विशिष्टपदोपादानेनोपसर्ग-
संज्ञकस्य समुदायस्य निमित्तत्वे तद्विशेषगोभूतस्वार्थत्वापि निमित्तत्वमिति चरनितम् ।
“पूर्वं धातुपसर्गोऽनुयते” इति मते दोषान्तरमप्यस्तोत्याह—*किञ्चेति* । *समामे* ।
“मह” इतिप्राग्विभागेन “कुगति” इति वा समासे । ऐकस्वर्यादीत्यादिपदेनैकपदपरिपक्षः ।

अनु यत्र प्रत्ययस्य साधनशोधकता तत्र तथा अस्तु, यत्र तु भावे प्रत्ययान्तनोपसर्गनि-
मित्तकमेवादी स्यादन आह—*भावार्थेकेति* । *पूर्वमिति* । उपसर्गसंज्ञकताश्चसम्बन्ध-
प्रागित्यर्थः । पृथक् तत्राप्यन्तरङ्गत्वादादौ प्रत्ययनिमित्तमेव कार्यं भवतीति भावः । *अत-
एव* । भावार्थकप्रत्ययस्य पूर्वमुत्पत्तिस्वीकारादेव । *अन्यथा* । तिङः पूर्वमुत्पत्त्यस्यो-
कारे । *अत्र* । तिङविषये । धातुनोपसर्गान्येतिशेवः । *पदिभाषेति* । यस्तुनोभावतिङन्-
त्यर्थे उपसर्गयोग पृथ नास्तीति यद्विशेषोपादानेन चरनितम् ।

प्राधान्यमुक्तिरत्रापि—*यत्तिङिति* । *अधिकस्य* । सामान्यधर्माधिकस्य । *मार्त-
धातुकरादिति* । निमित्तमिति शेषः । पृथक् सामान्यधर्माधिकताश्चसम्बन्धप्राधिको धर्मो
निमित्तकोऽपि यत्र विशेषांशोऽस्ति तद्व्यहिरङ्गमिति कर्तव्यम् । तथा येद्व्यहिरङ्गो यासुड-
न्तरङ्गस्तथाह—*प्राधान्यमिति* । एतेन तद्व्यवसायकोण । तं प्रकारमेव आह—*विशेषा-
न्तरङ्गप्रकाशनात् ।

विशेषेति । *यच्च तद्व्यहिरङ्गव्यवसायकोणं ज्ञातमेवेति समामो द्वयोरप्येतिशयम् ।

स्य दुरुपपादत्वात्, परनिमित्तकत्वेन स्यादीनां बहिरङ्गत्वाच्चेति तत्र । विशेषस्य व्याप्यत्वेन व्यापकस्यानुमानेनोपस्थितायपि तस्य निमित्तत्वे मानाभावेनाधिकधर्मनिमित्तकत्वानुपपादनात् । भाष्ये एवं विधान्तरङ्ग्य-हरङ्गभावस्य काव्यनुल्लेखाच्च ।

यत्तु मनुस्मृत्ये भाष्ये पञ्च भावो यस्य सन्ति स पञ्चगुरित्यत्र मनुप्रा-
सिमाशङ्क्य प्रत्येकमसामर्थ्यात् समुदायादप्रातिपदिकत्वात् समासात् समा-
सेनोक्तत्वादिति सिद्धान्तिनोक्ते नैतत्सारमुक्तेऽपि हि प्रत्ययार्थ उत्पद्यते द्विगो-
स्तद्धितो यथा पाञ्चनापितिरिति पूर्वपक्षयुक्तिर्भाष्ये । “द्विगोर्लुगनपत्ये”
(४-१-८८) लुग्यिधानास्तद्धितार्थद्विगोस्तद्धितो भवति पञ्चगुशब्दश्च द्विगुरिति
तदाशयं कैयटः । ततो द्वैमातुरः पाञ्चनापितिः पाञ्चसु कपालेषु संस्कृत इत्यादौ
सावकाशद्विगोर्बहुव्रीहिणा प्रकृते परत्याह्वाय इत्याशयेन नैव द्विगुः फस्तर्हि
बहुव्रीहिरिति सिद्धान्तिनोक्ते समवकाशमज्जानानोऽपवादाद्वाद्द्विगुः प्राप्नो-
तीति पूर्वपक्षी । अन्यपक्षार्थः सुचन्तमात्रस्य विधीयमानबहुव्रीहेः संख्यायाः
स्तद्धितार्थं विधीयमानो द्विगुर्विशेषपिहितत्वाद्वाधकः प्राप्नोतीति कैयटः ।

भैरवी ।

क्षत्येऽपीति* । *तस्य* । बहिरङ्गत्वेनाभिप्रेतस्य । सामान्यधर्मनिमित्तत्वाभावेनेत्यनेनोभयनि-
मित्तकत्वाभावो बोधितः । *तत्त्वस्य* । बहिरङ्गत्वस्य । विशेषपक्षेक्षताञ्चात्सामान्यापेक्षताच्च
न्तदान्तरङ्गमन्त्रेण विशेषधर्मस्य (१) व्याप्यस्य ज्ञाने सति (२) व्यापकस्यानुमितिविषयस्य
सामान्यधर्मस्यापि विशेषपक्षेक्षताञ्चाप्रवृत्तावपेक्षा स्यात् तदेव तु नेत्माशयेन दूषयति—*त-
त्त्वत्वादिना* । *अनुमानेनेति* । अनुमानमनुमितिकरणे तेनोपस्थितिस्तत्प्रयोग्यानुमितिरि-
त्यर्थः । एतादृशे विषयेऽस्यैव सम्भवादिति भावः । *तस्य निमित्तत्वे* । व्यापकस्य निमित्तत्वे ।
मानाभावेनेति । शब्दानुपात्तत्वात् । तस्य निमित्तत्वस्वीकाराभावेऽप्यतिप्रसङ्गाभावादिति
भावः । एवं सति तत्र नित्यत्वाद्यामुद् । अद्विद्येस्तु यावुद् न प्राप्तिरङ्गत्वाभावादिति
बोध्यम् । यदुक्तं भाष्ये ‘एवंविधान्तरङ्गबहिरङ्गभावस्य ह्यपि अनुसरेखाद्’ इति तत्र युक्तं
मनुस्मृत्यभाष्य एव तथोक्तत्वादिति कश्चिन् भाष्येदत्तत्वाद्दशशङ्कानुत्थानार्थं तद्भाष्यमनुर-
दिति—*यत्त्विति* । *इत्यादाङ्कु* । इत्यादाङ्कुबोधकशब्दे श्रुत्वा । अस्य सिद्धान्तिनोक्ते
इत्यप्रान्वयः । *मनुप्राप्नोतीति* । भवता कस्मादापाद्यते वाक्याद्यवयवान् प्रत्येकाद्वास्याद्वा
समासादिति कोटिश्रेण वितर्क्य क्रमेण खण्डयति—*प्रत्येकमित्यादिना* । *अयामप्यन्तु* ।
परस्परपक्षत्वेनास्यामर्थात् । नैतन् सारमित्यारभ्य पूर्णपक्षयुक्तिरित्यन्त एको ग्रन्थः । यद्यपि
तद्वितार्थविषये द्विगुममासविधानात्तद्वितर्क्य योऽर्थस्तदाचकता समासस्य नास्तीत्यतस्तद्धि-
तोत्पत्तिः सुलभैवेति, तथापि न्यायसिद्ध्यर्थं लिङ्गदर्शनमप्यस्तीत्याशयेन तदभिप्राये कैयट आह—
द्विगोरित्यादिना । *तत् इति* । अस्य सिद्धान्तिनोक्ते इत्यप्रान्वयः । *पूर्वपक्षेति* ।
अस्य आदिति शेषः । तदाशये प्रकटयति—*अन्यपक्षार्थमात्र इत्यादिना* । द्वैमातुरः पाञ्चना-
पितिरित्यत्र प्रत्ययस्य न लुक् “अनपत्य” इति पर्युदासात् द्विगुर्विषयेऽप्यन्यपक्षार्थमन्त्रानेन

(१) व्याप्यत्वमिति । स्वाभावदशसित्वम्, व्याप्यत्वम् ।

(२) व्यापकत्वमिति । स्वाधिकरणवृत्ति आगन्ताभावव्यतिथिर्गोतानवत्पदरूपधर्मव-

त्वं व्यापकत्वम् ।

ततः सिद्धान्त्येकदेश्याह, अन्तरङ्गत्वाद्बहुव्रीहिः । कान्तरङ्गता, अन्यपदार्थे बहुव्रीहिविशिष्टेऽन्यपदार्थे द्विगुस्तस्मिन्स्यास्य तद्धितेऽस्तिग्रहणं कियत इति । अधिकास्त्यर्थापेक्षमत्वर्थनिमित्तो द्विगुबहिरङ्ग इति कैयट इति । नैषा सिद्धान्त्युक्तिरेतावतापि अपवादत्वाद्वाहनेः । अचूखामान्यापेक्षयणो विशिष्टस्य सर्वाजपेक्षदर्शेण बाधदर्शनात् ।

किञ्च उक्तरीत्या परत्वेनैव बाधसिद्धेः । किञ्च अप्राधिकापेक्षत्वेनैव बहिरङ्गत्वम् । ॥ केवलविशेषापेक्षत्वेनेति नैतद्भाष्याद्बद्धं विशेषापेक्षस्य बहिरङ्गत्वम् । अतएव सुबन्तसामान्यापेक्षो बहुव्रीहिस्तद्विशेषापेक्षो द्विगुरिति नोक्तं भाष्ये । न चार्थकृतबहिरङ्गत्वस्य अनाध्वयणादिदमयुक्तम्, एकदेश्युक्तिव्येनादोषात् । अतएवास्तिग्रहणं नोपाध्यर्थं, किन्तु अस्तिशब्दात्म-तुवर्थमितित्यदभिमतं बहिरङ्गत्वमपि द्विगोर्नास्तीति प्रतिपाद्य सिद्धान्तितना "मत्वर्थे द्विगोः प्रतिषेधो वक्तव्यः" इति चवनेनैतत्सिद्धमित्युक्तम् । अतएव "तदोः सः सौ" (७-२-१०६) इति सूत्रेऽनन्त्ययोरिति चरितार्थम् ।

अन्यथा प्रत्ययसामान्यापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वादन्यस्याग्रेऽनन्त्यस्यैव साधये सिद्धे तद्वैयर्थ्यं रूपमेव । "पादः पत्" (६-४-१३०) इति सूत्रे भाष्यकैयटयो-भिर्यो ।

शुद्धीः प्राप्तिरिति भावः । *सिद्धान्त्येकदेश्यादिति* । समाधानकर्तृत्वेनाप्ये सिद्धान्तो, एकदेशित्वं चाख्याये नपेक्ष्यादिना स्पष्टम् । *अन्यपदार्थः* । अन्यपदार्थमात्रे । *विशिष्टः* । अस्तीति विशेषगविशिष्टे अन्यपदार्थे । *तस्मिन्निस्थादि* । अस्य द्विगोरर्थद्वारा निमित्तभूते तद्धिते तद्धितविधायके "तस्यास्त्यस्मिन्" इति सूत्र इति योजना । *प्राप्तयता* । अधिकापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वेऽपि । *अपवादत्वाद्वाहनेः* । पूर्वपक्षिणैव बहुक्तमपवादत्वं तस्याहने, तद्वीर्या अधिकापेक्षत्वेऽपि बाधकत्वात् । तत्र हेतुमाह—*अजिति* । *विशिष्टः* । अधिकः । सर्वगत्यस्य मरणपदप्रवृत्तिनिमित्तो अस्मावर्ण्यं तत्परत्वमिह बोध्यम् । इदं रूपो मपवादत्वमभ्युपेतम् ।

यन्मुनोऽपवादत्वमेव नास्तीत्याह—*किञ्चेति* । सावकाशत्वस्य दर्शनादिति भावः ।

गन्धस्य पृथग्देवुक्तिव्यमन्मु तथापि विशेषापेक्षारसामान्यापेक्षमन्तरङ्गमिति प्रकाशितमेतत्पत आह—*किञ्चात्रेति* । *अग्र* । द्विगौ । अधिकापेक्षत्वेन* । अधिकनिमित्त-पत्वेन । *बहिरङ्गत्वमिति* । अयदभिमतमस्तीति शेषः । *अत एव* । भाष्यकाराऽनभि-प्रेतन्यादेव । अन्यथा सत्प्ययुक्तम् स्यादिति भावः । *इदम्* । एवं रीत्या बहिरङ्गत्वोप-पादनम् । *अत एव* । एवदेव्युक्तिर्यादेव । *अस्तिशब्दादिति* । अस्तिमानित्यादी । *त्वदभिमतम्* । सिद्धान्त्येकदेश्याभिमतम् । *बहिरङ्गत्वमिति* । अप्रापित्वाऽपवादत्वस्य ममुचयः । *सिद्धान्तितना* । सिद्धान्तित्वेनाभिमेन । यन्मुनो मप सिद्धान्तो, पूर्वोक्तरीत्या प्राप्येनैव सिद्धौ वचनाद्बहिरङ्गस्य निष्पष्टम्य करणात् । तथा च पक्ष साधोऽस्य सन्ति स पचगुरित्यत्र परत्वेनैव द्विगु बाधित्वा बहुव्रीहिर्भवतीति बोध्यम् । *अत एव* । विशेषापे-क्षारसामान्यापेक्षमन्तरङ्गमित्यस्याभावादेव । एवञ्च साहचान्तरङ्गबहिरङ्गभावः सन्नविद्य इत्याशयः । *अन्यथा* । तथाहोरात्रं । *प्रत्ययेति* । निमित्तरीत्यर्थः । पूर्वोक्तार्थं द्रष्टव्यं—*रादन्तितीति* । *भाष्यकैयटयोरिति* । तत्र निर्दिष्टमान्यपरिभाषायाः प्रयोजनरूपं यथाभावात् शब्दाभिध्यादाविज्ञासाधोः मन्त्रधारणयो पररादित्वाद्वागन्तरङ्गत्वं तामा-

रूपेतदन्तरङ्गत्वाभाव एव सूचित इति सूधियो विभावयन्तु ।

नन्वेवमसुषुप्तदित्यत्र लघूपधगुणादुबडोऽल्पनिमित्तत्वाभावादुबडु न स्यादिति चेत् । न । तत्रान्तःकार्यत्वरूपान्तरङ्गत्वसत्त्वात् । अन्तःकार्यत्वं च पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वमङ्गशब्दस्य निमित्तपरत्वात् । इदमन्तरङ्गत्वं लोकन्यायसिद्धमिति मनुष्योऽयं प्रातरुत्थाय स्वशरीरकार्याणि करोति ततः सुहृदां ततः सम्बन्धिनामर्थानामपि जानिग्यक्तिनिष्कसंख्याकारकाणां बोधक्रमः शास्त्रकृतकल्पितस्तत्कमेणैव च तद्वोधकशब्दप्रादुर्भावः कल्पित इति तत्कमेणैव तत्कार्याणीति पटुष्येत्यादावन्तरङ्गत्वात् पूर्वं पूर्वयणादेशः परयणादेशस्य बहिरङ्गतया असिद्धत्वादित्यनेन "अचः परस्मिन्" (१-१-५७)

भैरवी ।

दीनामुक्तम्, कैयदेन च प्राग्लादेशेभ्यो धात्वधिकारात् तामादीनामन्तरङ्गत्वमुक्तम् ।

यदि विशेषापेक्षासामान्यापेक्षमन्तरङ्गमिति स्यात्तदा लादेशविषये धात्वधिकारलत्वेऽपि तामादीनां सामान्यापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वं वक्तुं शक्यमिति प्राग्लादेशेभ्य इति कथनमनर्थकमापद्येतेति भावः ।

प्रागुक्तेषु पारिभाषिकान्तः स्थितनिमित्तकत्वेषु तृतीयस्याभ्रयणं युक्तमेव लक्ष्यानुरोधाभाष्यकारादिसम्मतत्वाच्चेति ध्वनयितुमाशङ्क्य समाधत्ते—*नन्वित्यादिना* । *पृथक्* । उक्तसिद्धान्ते । *अल्पनिमित्तत्वाभावादिति । एतेन द्वितीयस्यान्तः स्थितनिमित्तकत्वस्याभाव उक्तः । उदाहरणं च इमात्रस्य गुणे तु सार्धधातुकमात्रस्यापेक्षास्ति । यद्यपि लघूपधस्याङ्गस्य तत्र प्रहणे घटकत्वेन उबडोऽप्यपेक्षास्ति तथापि निमित्तत्वेन तस्य न प्रहणम् ससम्पन्तशब्दानुपात्तत्वादिति भावः ।

तृतीयमप्रकारमाश्रित्य समाधत्ते—*तत्रेति* । प्राचीनसम्मतस्यालपापेक्षमन्तरङ्गमित्यस्याभावेऽपि बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायघटकनिमित्तकत्वस्याभावेऽपि चान्तःकार्यत्वरूपस्यान्तरङ्गत्वेन प्रादुर्बुदित्यादेः सिद्धिरिति भावः । एतादृशान्तरङ्गत्वं लोकेऽपि दृष्टमित्याह—*इदमिति* । उक्तान्तरङ्गत्वे भाष्यकारस्यापि सम्मतिं दर्शयितुमाह—*अर्थानामित्यादिना* । *अर्थानाम्* । शब्दवाच्यानाम् । *शब्दवाच्यत्वं कल्पित इति* । शास्त्रकारीययुक्तिसिद्ध इत्यर्थः । विशिष्टबुद्धिं प्रति विशेषणज्ञानस्य कारणतया विशिष्टबुद्धिरादौ न सम्भवति निष्प्रकारिका व्यक्तप्रतीतिश्च निर्विकल्पकमिदं नास्त्येव निर्विकल्पके स्ववदये जातिभानमेतदर्थमेव निर्विकल्पकस्य स्वीकार इति रीत्या जातेरादौ प्रतीतिरिति व्यवहारः । ततो लिङ्गादीनाञ्जिराश्रितानाञ्च भानमिति व्यक्तप्रतीतिः, ततः सङ्ख्यापेक्षया लिङ्गस्य पदार्थाः अन्तरापेक्षत्वात्प्रथमं प्रतीतिः, सङ्ख्यायास्तु द्वित्वादिकायाः पदार्थान्तरसापेक्षत्वं स्पष्टमेव । एकत्वमपि प्रसिद्धसङ्ख्यास्य वस्तुमात्रसाधारणमतो न व्यावर्तकमिति समभिप्राह्यतपदार्थसंसर्गित्वाविशिष्टपदार्थतावच्छेदकावच्छिन्ननिष्ठभेदप्रतियोगितानवच्छेदकत्वमेकत्वमेकवचनार्थ इति तदपि पदार्थान्तरसापेक्षमतो लिङ्गाद्वहिरङ्गम् । एवंरीत्या लिङ्गस्यान्तरङ्गत्वात् तत्प्रयुक्तत्वादेरुत्पत्तिः । ततः कारकत्वस्य विजातीयक्रियापेक्षत्वं सङ्ख्यायास्तु सजातीयपेक्षत्वमिति सङ्ख्याप्रतीतिस्ततो बहिर्भूतक्रियासापेक्षकारकत्वप्रतीतिरिति क्रमः शास्त्रकृतकल्पित इत्यर्थः ।

ननु एतादृशैकत्वस्यैकवचनार्थत्वं एतन्ना यत्रेतेत्यादावनुपपत्तिः, समभिप्राह्यतं पदं यत्रेतेति तत्संसर्गित्वविशिष्टपदार्थतावच्छेदकं यागीयपशुत्वं च तत्तत्प्राणीयपशुत्वं तेन रूपेण पशुप्राणोरपस्थित्यभावाच्चिच्छिन्नपञ्चमन्तरनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वस्याप्यनुनिष्ठै-

इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । तदपि युगपत्प्राप्तौ पूर्वप्रवृत्तिनियामकमेव यथा पट्व्येत्यत्र पदस्य विभज्यान्वाख्याने न तु जातस्य बहिरङ्गस्य तादृशेऽन्तरङ्गेऽसिद्धतानियामकं प्रागुक्तलोकन्यायेन तथैव लाभादिति “वाह ऊट् (६-४-१३२)-सूत्रे कैयटे स्पष्टम् । अत एव वाच्योक्त्यादौ बलि लोपो यणः स्थानिवत्त्वेन धारितो “अचः परस्मिन्” इत्यत्र भाष्यकृता । क्रमेणान्वाख्याने तु उक्तोदाहरणे पूर्वप्रवृत्तिकत्वमप्यन्तरङ्गत्वं बहिरङ्गस्यासिद्धत्वमपि निमित्ताभावादप्राप्तिरूपं बोध्यम् ।

यत्तु एवं रीत्या पूर्वस्थानिकमप्यन्तरङ्गमिति तच्चिन्त्यम् । स्रजिष्ठ इत्यादौ विन्मतोर्लुकि ङिलोपस्यापवादविन्मतोर्लुक्प्रवृत्त्या जातिपक्षाश्रयणेन धारणप्रयासस्य “प्रकृत्यैकाच्” (६-४-१६३) इति सूत्रप्रयोजनलक्षणभावसरे भाष्यकृतकृतस्य नैष्कल्यापरोः । त्वदुक्तरीत्या विन्मतोर्लुको बहिरङ्गासि-

मेरवो ।

कृत्ये सन्वादिति चेत् । तादात्म्यस्याश्रयपशुकरणकयागकरणपशुनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकयोमयसम्बन्धेनैकत्वविशिष्टास्यैकत्वमेकवचनार्थ इत्यस्य स्वीकारात् । प्रतियोगिप्रसिद्धिश्चानेकपशुकरणकयागस्थले द्रष्टव्या । स्वमेकत्वम् । अत्र तादात्म्याभिप्रेते सर्वेषामेवैकत्वानामेकत्वाऽऽश्रयपशुकरणकयागकरणपशुनिष्ठभेदप्रतियोगितावच्छेदकत्वे बालनोत्पादेन अस्तीति एकत्वविशिष्टान्येकत्वाऽप्रसिद्धिः । तादात्म्यमात्रस्य संसर्गत्वे तादात्म्यसम्बन्धेनैकत्ववत्त्वं सर्वस्मिन्नेकत्वेऽस्तीत्येकत्वविशिष्टान्यस्यैकत्वाप्रसिद्धिरित्युभयसम्बन्धमभिप्रेक्ष्य । अनेनैव क्रमेण पदस्या मृद्वेत्यत्र लिङ्गबोधकस्योपत्ययस्य प्राक् प्रादुर्भावात् तत्प्रत्युक्त्यपवादः पूर्वप्रवर्तते, पूर्वपूर्वपणादेनाः परपणादेनापेक्षया पूर्वकालप्राप्तिकत्वेन भेदेन कल्पितत्वात् बोध्यः पूर्वपणादेनाः । *तदपीति* । पूर्वोक्तमन्तः कार्यत्वमपीत्यर्थः । *युगपत्प्राप्तौ* । पूर्वोपस्थितनिमित्तकस्य परोपस्थितनिमित्तकस्य च युगपत्प्राप्तौ । *पूर्वप्रवृत्तिनियामकमिति* । पूर्वोपस्थितनिमित्तकस्येत्यादिः । *तादृगे* । पूर्वोपस्थितनिमित्तके । नन्वतिष्ठितस्य च गुणस्य पूर्वोपस्थितनिमित्तकस्येत्येतादृशास्तःकार्यत्वमाश्रयेव जातस्येत्यन्यासिद्धत्वमस्त्वित्यत आह—*प्रागुक्तेति* । लोकन्यायस्य युगपदुपस्थितविषयत्वान् । *अतएव* । पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपान्तरङ्गत्वस्य जातबहिरङ्गासिद्धत्वनियामकत्वाभावादेव । वाच्योरित्यत्र पलोपस्यनिमित्तभूतो यकारो यद्यपि पूर्वमुपस्थितस्तथाप्यस्य जातबहिरङ्गासिद्धरविनियामकत्वाभावात्प्रकारणात् “अचः परस्मिन्” इतिस्थानियद्वायो आप्यट्ताभितः । अन्यथासिद्धत्वादेव कारणे आप्यामद्गति स्पष्टेव । न च यलोपविधिप्रति न स्थानियदिति निषेधः शक्यः । *स्वरदीर्घलोपेषु लोपाज्जेन एव न स्थानियत्* इति नियमात् । *उक्तोदाहरणे* । पट्व्येत्यादौ अनुद्वयदसुगुयदित्यत्र तु पूर्वोक्तरीतिरेवाऽऽश्रयणीया । *पृष्ठे प्रागुक्तिरनु* । अमन्दिपृष्ठपूर्वकालिकप्रवृत्तिर्यम् । अत्रान्तरङ्गत्वमपूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वमप्यप्रागुक्तपरिभाषिकपशुविधेऽन्तरङ्गत्वेण प्रयमोक्तं निरस्यति—*पत्यिति* । *तत्पितृत्वमिति* । प्राबोयोक्तं चिन्त्यमित्यर्थः । चिन्ताबोज्जमाह—*स्रजिष्ठ इत्यादाविति । शत्रुपयिभ्नादादिह* ।

अनु पूर्वनिमित्तकस्य हेतिरनेन लोपस्य प्रातिविनो लोपे स्वतन्त्रादप्येतिविषयभेदान् कर्त्तुं “विन्मतोर्लुक्” इत्यप्यापवादस्यमग आह—*प्राप्तौति* । नाप्राप्तौ स्थितवच्छिन्नस्य लोपे विन्मतोर्लुकारभ्येऽन्तो विन्मतोर्लुगिभ्ये छिदावच्छिन्नस्य लोपो न प्रवर्तते तदुदाहोददयाप

सिद्धत्वेन अनायासतस्तद्वारणात् । भाष्ये ईदृशरीत्या बहिरङ्गासिद्धत्वस्य काव्यनाश्रयणाच्च । परिभाषायामङ्गशब्दस्य निमित्तपरत्वाच्च ।

इयं चोत्तरपदाधिकारस्यबहिरङ्गस्य न असिद्धत्वबोधिकेतीच "एका-
नोऽम्" (६-३-६८) इति सूत्रे भाष्ये पूर्वपक्षयुक्तिरिति सा नादर्तव्या ।
परन्तप इत्यादावनुस्यारे नासिद्धत्वं मुमक्षिपाद्यामेतदप्रवृत्तेः ।

नव्यमतेऽपि यथोद्देशपक्षाश्रयणेनान्यथासिद्धोदाहरणदानेन तस्य तदु-
क्तित्वमाद्ययकमित्याहुः । आभीयेऽन्तरङ्गे आभीयस्य बहिरङ्गस्य समाना-

भैरवी ।

दधिदानमिषेति भावः । *तद्वारणात्* । पुनः प्रासस्य टिलोपस्य वारणात् । किञ्च उक्तान्तर-
ङ्गत्वे न भाष्यकारसम्मत्तमित्याह—*भाष्य इति* । *निमित्तपरत्वादिति* । स्थानिनो
निमित्तत्वाभावः सुप्रसिद्ध एवेति भावः ।

इयमिति । असिद्धमिति परिभाषेत्यर्थः । *पूर्वपक्षयुक्तिरिति* । एवंरूपाया उक्तिः सा
पूर्वपक्षिण इत्यतो मा ऽऽदर्तव्येत्यर्थः । तत्र हि—अपेक्ष कथं भवितव्यं श्रियमात्मानं मन्यते ब्राह्म-
णकुलं श्रियममन्यं श्रिमन्यमिति चेति श्रियममन्यमिति भवितव्यमिति सिद्धान्तनोक्तम् । ततः
पूर्वपक्षी आह, "स्वमोर्" इतिलुक्कुतो नेति । ततो बाध्यसामान्यविन्त्या सिद्धास्याह, आप्राप्ते
लुक्पक्ष्यारम्भात्सुपोधात्वितिक्त्वं स्वमोरित्यस्याप्यनेन बाध इति । ततो बाध्यविशेषविन्त्या
पूर्वपक्षी, "येन आप्राप्तिन्यायेन" "सुपोधातु" इति लुक् एवंविधानम्यायकम्, अथवा "मभ्योऽप-
रादाः पूर्वांस्त्वधीन्वाधन्ते" इति न्यायेन "सुपोधातु" इत्यस्यैवायं बाधक इति । ततः सिद्धान्तो
आह—'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्ग' इति परिभाषया भयोऽसिद्धत्वात्लुगभाव इति । एवंरीत्या स-
माधानेकृते न्या परिभाषा उत्तरपदाधिकारे शक्या विज्ञातुमिह हि दोषः स्यात् द्विपक्षतः
परन्तप इत्यत्र सयोगान्तलोपो न स्यात् तस्माच्छ्रिमन्यमित्येव भवितव्यमिति । न्या पूर्व-
पक्षयुक्तिरस्य उक्तेरन्यथा सिद्धोदाहरणदानेन पूर्वपक्षयुक्तिर्त्वं स्पष्टयति—*परन्तप इत्या-
दाविति* । अनुस्वार इत्युपलक्षणम् । संगोगान्तस्य लोपेऽपीति बोध्यम् । *त्रिपाद्यामेतद-
प्रवृत्तेरिति* । त्रिपादिकेऽन्तरङ्गबहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेर्विमर्शनीयमत्र भाष्ये सिद्धान्तित-
त्वात् । *तत्रमतेऽपि* । दीक्षितमतेऽपि । एतन्मते त्रिपाद्यामपिद्वपरिभाषाया यथोद्देशपक्षे
अप्रवृत्त्या तथोक्त्येदुदाहरणं तत्सिद्धमिति भावः । *तत्त्वम्* । उक्तभाष्यस्य । *तदुक्तित्वम्*
पूर्वपक्षयुक्तिरित्यम् । *आहुदिति* । भाष्यीयसिद्धान्तानुयायिन इति शेषः । एतत्परिभाषावृत्ति-
विषयेऽपि विनयेमाह—*आभीय इत्यादिना* । समानाश्रयस्येत्यनेनासिद्धवत्सूत्रस्य प्रवृ-

तत्त्वप्रकाशिका ।

माधतस्य सङ्गद्यविशिष्टत्वनियमेन सम्पूर्णतदाकाङ्क्षानिवर्तकतिष्ठासुत्पत्तैव तदाकाङ्क्षा-
निवृत्तिरितिपूर्वं तिष्ठयनिदिनिषेधसम्भवात् ॥ ॥

पूर्वपक्षयुक्तिरिति । वस्तुतस्तु परन्तप इत्यत्र त्रिपाद्यामन्तरङ्गपरिभाषायाऽप्रवृत्त्या
त्रिपाद्यामेतदपि महामाक्षगः त्रयोविंशतिः अष्टाकपालम् इत्यादौ आत्वत्रयसादेशादेरसिद्धत्वेन
सामग्रीदेशाद्यप्रवृत्त्या परस्मैर्द् सर्वेषां पुत्र इत्यादावनुक्तो बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वात्समापाद्यप्रवृ-
त्त्यापत्या आभीयबहिरङ्गस्यासिद्धत्वात् भवतीतिवक्तव्यत्वेन अस्य भाष्यस्य सिद्धान्तयुक्ति-
स्त्वमितिषन्द्रिकाकारः । श्रियममन्यमित्यत्र बाध्यसामान्यविन्त्याश्रयमस्त्विधिमामध्या-
दितिभावः ।

ननु एषुप इत्यादायनया परिभाषया सम्प्रसात्तम्य बहिरङ्गत्वेनासिद्धत्वादल्लोपादीनि
न स्युरित्यत्र आह—*आभीयेऽन्तरङ्ग इति* ।

अयस्य नानेनासिद्धत्वमसिद्धत्वादित्यसिद्धवत् सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । एवं
सिचिवृद्धयेन नाप्राप्तिन्यायेनान्तरङ्गयाधकत्वमूलकं न सिच्यन्तरङ्गमस्तीति
“इको गुण” (१-१-३) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ॥ ५० ॥

नन्वेधम्, अक्षयूरित्यादौ बहिरङ्गस्योऽसिद्धत्वावन्तरङ्गो यण् न स्यात्
इति ब्राह्—

नाजानन्तर्ये बहिष्प्रकलप्तिः ॥ ५१ ॥

अथ “यत्वतुको” (३-१-८३) इति सूत्रस्यतुंगग्रहणं क्षापकम् । अन्य-
थाधीत्य प्रेत्येत्यादौ समासोत्तरं रूपप्रवृत्त्या पूर्वं समासे जाते तत्र संहि-
भैरवी ।

सिच्योग्यता इति । *अनेन* । ‘असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गम्’ इतिवचनेन । *असिद्धत्वात्* । आ-
भीयासिद्धत्वात् । *भाष्य इति* । तत्र हि—“वसुसम्प्रसारणमज्विधौ सिद्धं पक्षव्यम्” अन्यथा
पुपुषः, तस्थुषः, चिच्युषः, लुलुबुषः इत्यादावलोपयणवङ्गमप्रवृत्त्यापत्तिरित्युक्त्वा अन्तरङ्गं
बहिरङ्गमिति प्रतिद्वन्द्वभाविनाविति “असिद्धवत्” सूत्रेण बहिरङ्गदृष्ट्या अन्तरङ्गस्यासिद्ध-
त्वात् “असिद्धं बहिरङ्गम्” इति परिभाषाया अप्रवृत्तिरित्युक्तम् ।

अयम्भावः—असिद्धपरिभाषाया उक्तग्रहणेन ज्ञापितत्वादाभीयतया यस्यासिद्धत्वं तन्नि-
मित्तनिमित्तकत्वं परस्परया भाष्यप्रामाण्यदाभित्य समानाश्रयत्वादसिद्धवत्सूत्रस्य प्राप्त्या
असिद्धमिति परिभाषाया अप्रवृत्तिरिति । अपरं विशेषमाह—*एवमिति* । *एवम्* । पूर्व-
वत् । “न सिच्यन्तरङ्गमस्ति” इति प्राधान्या वदन्ति तस्मात्पूर्ववचने किन्त्वर्थोऽसिद्धमिति भावः ।
अन्तरङ्गेति । गुणेत्यर्थः । ज्ञापकमप्यस्मिन्नर्थे, भाष्ये, उक्तम्—“अतो हलादेः” इति सूत्रे-
ऽग्रहणम् । “ह्ययन्त” इति सूत्रे णिषिग्रहणञ्च । अग्रहणव्यावर्त्यमकोपोदित्यादि तद्वन्-
यासिद्धमन्तरङ्गे गुणे कृतेऽलघुत्वात् । तथाचयोदित्यादौ गुणायादेशयोर्मान्तत्वात्तदभायसि-
द्धौ णिषिग्रहणस्य वैधर्म्यं दुर्भाषम् । “न सिच्यन्तरङ्गम्” इति स्वीकारफलत्वेनेनायोदित्यस्य
सिद्धिरन्यथा गुणायादेशयोर्मान्तत्वात्तद्विनिर्मुक्त्यादिति ॥ ५० ॥

एतावता प्रवच्येन बहिरङ्गपरिभाषां निरूप्येत्तदाधक्यपरिभाषां निरूपयितुमाशङ्कते—*न-
न्यमिति* । *एवम्* । बहिरङ्गपरिभाषास्वीकारे । *अक्षयूरिति* । अक्षराब्दे उपपदे दिरेः
ङिप् । *बहिरङ्गस्य ऊठ इति* । अन्तरङ्गपणादेशापेक्षेत्यादिः । यगादेशेऽङ्गमात्रं निमित्त-
मूढि नु बहिर्भूतः किञ्चिन्मूढबहिरङ्गः । अत्र परस्थितनिमित्तकत्वरूपमेव बहिरङ्गत्वं बोध्यम् ।
तत्त्वप्रकाशिका ।

अनु अपिरीयात् अत्रिरायोदित्यत्रान्तरङ्गत्वाद्गुणैः स्यादेवे यागत्वाद्बृद्धिदिशेषस्याद-
त्तत्वाद्वाजाय “क्षयन्त” इति सूत्रे निवग्रहणाच्च सिच्यन्तरङ्गमस्ति” इतिज्ञाप्यते तेनाधीपीदि-
त्यादौ न गुण इतिवदतामुक्तिः निराश्रयमाह—*एवमिति* । न चानधीपीदित्यत्र घृष्टेः पत्त्या-
कल्पप्रपणुनो दुर्वातः, नाप्राप्त्यसम्भवेन घृष्ट्या बाधायोगादितियाध्यम् बाध्यसामान्यधि-
गताधपणेनादोषात् ॥ ५० ॥

अक्षयूरित्यादौ आदिना इत्ये इत्यस्य सङ्ग्रहः । *अत्र* । परिभाषायाम् । भाष्ये
परं “यत्वतुको” इत्योर्युक्तं तथापि यदयमागपुष्टेऽनुग्रहणे एव तत्तात्पर्यमित्याह—*गु-
रग्रहणमिति* । *अपीत्येति* । वरयान्तेनाधीत्यस्य योमे धातुसमयोः सिद्धिताया नित्यत्वे-
रान्तरङ्गनिमित्तविनाशकस्यत्प्रयोऽवयवमात्रस्याग्निरङ्गपेक्षया बन्धत्वेऽपि प्रकृते तदभाषा-
रान्तरङ्गव्यापि पूर्वान्तवज्ञादेन गतिस्वाभावेनियन्त्रायेन कृदन्तरत्वात्तत्सामान्ये एवपि तुल-
पुरुषस्यन्धप्रवृत्तिप्रवचमात्रापेक्षेनान्तरङ्गत्वादीर्यस्यागिद्धत्वमित्येति भावः । नच शेषां-

ताया नित्यत्वात्त्यवुत्पत्तिपर्यन्तमप्यसंहितयावस्थानासम्भवेनैकादशे व्यपि
तुगपेक्षया पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षैकादेशस्य बहिरङ्गतया असिद्धत्वेन त-
द्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षैकादेशस्य बहिरङ्गत्वमिति
प्रेक्ष इत्यादौ गुणो बहिरङ्ग इति ग्रन्थेन “न धातुलोप” (१-१-४) इति
सूत्रे “संयोगान्तस्य लोपः” (८-२-२३) इति सूत्रे च भाष्ये स्पष्टम् ।

यत्तु पत्वग्रहणमपि ज्ञापकम् । अन्यथा कोऽसिचदित्यादौ पदद्वयसम्ब-
न्धिवर्णद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्गस्यैकादेशस्यासिद्धत्वेन पत्वाप्रवृत्तौ किं तेनेति
तत्र । इणः पूर्णपदसम्बन्धित्वेन पत्वस्यापि पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षत्वेन
वभयोः समत्वात् एकादेशस्य परादिवत्त्वेनौसिचदित्यस्य पदत्वेन तस्य
भैरवी ।

ननु पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयापेक्षे बहिरङ्गमित्यस्य, पूर्वमकथनाद्भाष्यकारानुक्तत्वाच्च कथे
बहिरङ्गत्वसाधकत्वमत आह—*पदद्वयेति* । प्रेक्ष इत्यादौ आदिपदेनोपेक्ष इत्यस्य संप्रहः ।
“न धातुलोप” इति सूत्रे । तत्र धातुधातुकनिमित्ते धातुश्लोपेयत्किञ्चिन्निमित्ते गुणवृद्धी
न भवत इत्यर्थे उपेक्ष इत्यादावपि निषेधः स्यादित्युक्त्वा, इत्थं समाहितम्—पदद्वयसम्ब-
न्धिवर्णद्वयापेक्षत्वेन बहिरङ्गत्वं वस्तुतस्तत्र सम्भाव्यते । परन्तु तत्र यदुपसर्गनिमित्तमित्याद्ये-
वोक्तमत आह—*संयोगान्तस्येति* । तत्र हि—द्वयत्रयेत्यत्र बहिर्गो यणादेश अन्तरगो लोप
इत्युक्तम् । पदद्वयसम्बन्धीत्यस्य विनोयगत्य तत्राऽनुपादानेऽपि वस्तुतस्तथात्वमस्तीत्यत्रैव
सात्पर्यम् । कैयटाद्युक्तिं खण्डयति—*यत्त्विति* । *एकादेशस्य* । पूर्वजातस्येति शेषः । *इ-
णः* । ओकारस्य । अच् तु तदन्तर्गत इत्यत्र सात्पर्यम् । *यत्त्वस्यापीति* । अत्रादिना ए-
कादेशसमुच्चयः । अत एवाह—*वभयोरिति* । ननु पत्वग्रहणं तत्र मास्तु कोऽसिचत्कोऽस्ये-
त्यत्र तु न पत्वस्यापत्तिः, एकादेशेनाकारस्यापहारे कृते एकादेशविहृतस्यायेन सिचदित्यस्य
स्येत्यस्य पदत्वात् । “सात्पर्याद्योः” इति निषेधः सिद्ध एवेत्यत आह—*एकादेशस्येति* ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

एवं पितृपत्न्याभावादुत्तरान्तु हस्वाभावादन्तरङ्गकर्तव्यताया अभावेन कथमसिद्धत्वमिति-
वाच्यम् । असिद्धत्वोत्तरे हस्वबुद्धान्तरङ्गप्राप्तेस्तद्विषयत्वात् ।

केचित्तु समाप्ते कृते संहिताया अविवक्षया तुकि ततो दीर्घं ज्ञापकज्ञानतौषिष्यमिति वद-
न्ति । तन्निरूपयति—*असंहितयेति* ।

ननु दीर्घाद्यं सूत्रप्रमित्यादौ पदान्तपदाद्योरेकादेशस्य मत्वेन दीर्घस्यासिद्धत्वाग्रित्यनु-
वृत्त्यादेनेन तुक्कारितार्थम् । अन्यथा “पदान्ताद्वा” इति विकल्पपत्तिः नात्र दीर्घस्य बहिर-
ङ्गत्वं पदद्वयनिमित्तकत्वेनोभयोः समत्वादिति चेन्न पत्वसाहचर्याग्रित्यनुगित्यधारेनैकादेशस्या-
सिद्धत्वविधानात् । अतएव ज्ञापकग्रन्थमपि सङ्गच्छते । नचैवं पत्वे कर्तव्ये पत्वदमन्धि-
सम्बन्ध पत्वन्तत्पदसम्बन्धिवर्णनेन सहैकादेशस्यैव ग्रहणं सङ्गुक्त्यप्यस्तु । एवञ्च यदि ये पक्षिण
नो तस्य छत्रम् यीच्छन्ति तस्यादौ तत्पदसम्बन्धिवर्णनेनैकादेशोऽस्तीति वाच्यम् अह्णुदेरिः
अह्णुतोः तस्य सङ्गोऽह्णुतोमङ्ग इत्यादौ पत्वेऽपि तथानियमाभावात् । *एकादेश इति* ।
धर्मिषाहकमानादन्तरङ्गमपि विधीन् बहिरङ्गो एवम्वाधत इति तु अन्तरङ्गनिमित्तविनाशक-
एवम् एव प्रापत्ययोधकमिति भावः । अत एव निरूप्यमत अभिवाद्यमान इत्यादौ निरादि-
प्रादिपिषणोर्गिधि रूपूषण्युने कथयि नेरयादेनाभावः सिध्यति ।

केचित्तु प्रत्येत्यत्र प्रादित्युदात्तत्वमिदं, तन्वयाऽन्तरङ्गमपि “निराता आनुदात्ता”
इति स्वरं वापित्याऽनया पृष्ठे कथयि ततः पूर्वपदप्रतिस्वर एव स्यादित्याहुस्तदप्यम्,

चस्थानिककार्यस्यैतस्यान्यानन्तर्यनिमित्तकत्वाभावात् । जातस्य बहिरङ्गस्येत्युक्त्यायजे इन्द्रं ध्रियतीत्यादौ बहिरङ्गदीर्घगुणादेरसिद्धत्वं सिद्धम् । अत एव “इण्डिशोनामाद्गुणः सवर्णदीर्घत्वाच्छब्दन्तस्यान्तरङ्गलक्षणत्वात्” इत्यादिः संगच्छते । अत एव “ओमाडोश्च” (६-१-२५) इत्याङ्गग्रहेण चरितार्थम् । तद्धि शिव आ इहोति स्थिते यस्मिन् सवर्णदीर्घवाधितो धातूपसर्गकार्यत्वेनान्तरङ्गत्वाद्गुणे वृद्धिवाधनार्थम् ।

न चाक्षरित्यत्र यणि कृते ऊडोऽसिद्धत्वाद्बलि लोपापत्तिरिति वाच्यम् ? अचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकेऽन्तरङ्गे कर्त्तव्ये कृते च तस्मिन् यदन्तरङ्गं प्राप्नोति तत्र च कर्त्तव्ये नासिद्धत्वमित्येदयात् । असिद्धपरिभाषायाः अनित्यत्वेन तद्वारणे स्वस्या वैयर्थ्यं तेनैव सिद्धेः । अत एव “नलोपः सुप्” (८-२-२) भैरवी ।

अन्यानन्तर्यनिमित्तक इत्युपादानेन । *अतएव* । जातस्येत्यस्य कल्पनादेव । आद्यम् विप्रतिषेधसूत्रस्यम् । अतदुदाहरणमयजे इन्द्रम्, प्राप्ते इह, सर्वे इत्थम् । अन्त्यम् “द्वि-तिच” इति सूत्रस्थम् । तदुदाहरणान्ध्रिपति, रियति, पियति, अदुदुवदित्यादि । इत्यादीत्यादिपदेन “अचः परस्मिन्” इति सूत्रस्थे पदव्या मुद्वयेत्येतत्साधनावसरे यदुक्तं बहिरङ्गेण सिध्यतीति भाष्ये तस्य सङ्ग्रहः । अत्रार्थे सूत्रकारस्यापि सम्मतिमाह—*अत एवेति* । जातस्येत्यस्य निवेद्यादेव । *तद्वीति* । पदस्य विभक्त्यान्वाख्याने इदम् । *धातूपसर्गेति* । यद्यपि सिद्धान्ते पूर्वं साधनयोगः स्वीकृतस्तथापि तद्विधेयप्रत्ययस्योत्पत्त्यनन्तर स्वार्थमात्र-घातकत्वेन साकाङ्क्षतया धातोरुपसर्गयोगे ततः समुदायार्थेन शिवशब्दार्थस्य योग इति गुणस्यान्तरङ्गत्वम् । अत्रार्थेऽक्षरित्यत्र वकारस्वोदादेशे यणि “लोपो व्योः” इति बलोपे कर्त्तव्य ऊडोऽसिद्धत्वं स्यादस्यात्र परिभाषाया असिद्धत्वाभावात्सम्पादिकाया न प्राप्तिरन्तर-ङ्गस्य बलिलोपस्याचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकत्वाभावादित्याशयेन हरदत्तकैयटसम्मत्परिभाषार्थपक्षेऽप्यस्या न प्राप्तिरित्याशयेन च शङ्कते—*य चेति* । समापत्ते—*अच इत्यादि* । तदयात्* । प्रकृतपरिभाषार्थात् । एतादृशार्थस्वीकारे स्वचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकोऽन्तरङ्गोपगदेवास्तस्मिन् कृतेऽन्तरङ्गे बलि लोपे कर्त्तव्येऽसिद्धत्वस्य निषेधो भवतीति भावः । “इह-द्विवरणकारेणाचोऽन्यानन्तर्यनिमित्तकेऽन्तरङ्गे कर्त्तव्य इत्येव प्रकृतपरिभाषार्थः स्वीकृतोऽक्षरित्यत्र बलिलोपस्यापत्तिस्त्वसिद्धमिति परिभाषाया अनित्यत्वात्प्रवृत्तिरित्युक्त्वा चरिता । तथाकथनमुचितमित्याशयेन आह—*असिद्धेत्यादि* । *तद्वारणेति* । तुता-ऽक्षविधौधिता । तद्वीजन्तु यदायं परिभाषा नाङ्गोक्तियते तदास्यां यज्ज्ञापरं तदसिद्धपरिभाषाया अनित्यत्व एव ज्ञापकमिति वक्तव्यन्तया च सति “इव्यस्य पिति” इति तुर्कि कर्त्तव्ये-सिद्धपरिभाषा न प्रवर्तत इति फलितम् । एवं सति ग्रामाणिपुत्रो ग्रामर्षितिरित्यत्र “तुम्प्रा-प्नोति ।

यदि सन्निपातपरिभाषया तत्र तुष्यार्थं, तदा सन्निपातपरिभाषयैव वक्ष्यमाणस्य तत्त्वप्रकाशिका ।

काहुत्वात्प्रत्यासात्पाजानन्तर्यनिरूपितस्यैव तस्य ग्रहेणान्तरङ्ग इत्यस्य लाभ इति पुनस्तुपदयामः । अभावादितिघातोर्दित्यनुवृत्तस्य विहितविशेषगन्धमित्याशयः । केषिण एवस्येदमित्याद्यवमादेतापत्याऽन्याऽनित्यत्वमगदय म्नीकार्ये स्यादन्तरङ्गपरिभाषाया एवानित्यत्वकल्पनेनेयं व्यर्थेत्याहुः । तत्र सकारमाहचर्चाकारात्परम्यानतिदिष्टा-कारस्य ग्रहेण दोषात् । *बलिलोपापत्तिरिति* । चिन्त्यमेतत् बलिजोषःन्तरङ्गपरिभाषाया-

इति सूत्रे भाष्ये । प्रतिविधानं च परिभाषाविषयेऽनित्यत्वाश्रयणमेवेति ध्व-
नितमित्यलम् ॥ ५१ ॥

नन्वेवं गोमतिप्रय इत्यादौ पदद्वयनिमित्तकसमासाश्रितत्वेन बहिरङ्ग-
लुक् बाधित्वान्तरङ्गत्वाद्बल्ल्वादिलोपे नुमादयः स्युरत आह—

अन्तरङ्गानपि विधिन्वहिरङ्गो लुग्बाधते ॥ ५२ ॥

अत्र च “प्रत्ययोत्तरपदयोश्च” (७-२-२९) इति सूत्रं ज्ञापकम् । त्वत्क-
भैरवी ।

असिद्धपरिभाषाया अनित्यत्वादेव । *इति ध्वनितमिति* । एकवचनान्तप्रतिविधेयमिति-
शब्दोच्चारणेनानित्यत्वमेव ध्वनितम् । अन्यथा यत्र यत्र दोषप्रसक्तित्वं तत्र तद्धारकोपायान्
प्रदर्शयंतानि प्रतिविधानानातिविधेदिति भावः । *अलमिति* । अलमर्थस्तु पूर्वोक्तरीत्या
यद्यपि नाजानन्तर्यपरिभाषायाः सत्वसुचितमिति लभ्यते, तथापि ध्वनोद्गीकारे गौरवस्य
स्पष्टत्वात्, नाजानन्तर्यपरिभाषाया अभाव एवोचितः । विप्रतिषेध सूत्रस्यमेतत्परिभाषासत्व-
परं भाष्यमेवैकदेश्युक्तिः । “हृत्स्वप्यपिति” इतिसूत्रस्यभाष्यस्य सम्प्रसारणाच्च” इति सूत्र
स्यभाष्यरीत्या सकलप्रयोजननिर्वाहेण सिद्धान्त्युक्तिरमेवोचितमिति । अतएव प्रतिविधेयं
दोषेष्वित्यत्रैकवचनम् । यन्नाजानन्तर्यपरिभाषायां ज्ञापकं तदसिद्धपरिभाषाया अनित्यत्व एव
ज्ञापकमिति बोध्यम् ।

यदि तु नाजानन्तर्यपरिभाषास्वीकारोऽपि भाष्यकृतः स्यात्तदा सापि तत्रोल्लिखितमु-
चिता, यत्र विप्रतिषेधसूत्रभाष्ये नाजानन्तर्यपरिभाषोल्लिखिता तस्यापि भाष्यस्यासिद्धपरि-
भाषाया अनित्यत्वतात्पर्यकत्वमेव । यतोऽनित्यत्वस्य स्वविषयतावच्छेदकसमासाधिकरणा-
भावप्रतियोगित्वरूपतया नाजानन्तर्यपरिभाषाया यो विषयस्तत्रापि स्वविषयतावच्छेदकस्य
सत्त्वेन तया निषेधेऽपि साहचान्त्यस्य लब्धमेवेति विप्रतिषेधसूत्रस्यभाष्यमपि वैकदेश्युक्ति-
रिति यत्र विभाव्यते तदा तथास्त्विति दिक् ॥ ५१ ॥

एवम् । असिद्धपरिभाषायाः सिद्धादाविव प्रागुक्तज्ञापकत्वेनावोऽन्यानन्तर्यं यत्र
तत्रानित्यत्वात्प्रवृत्तिस्वीकारे । *अन्तरङ्गत्वात्* । बहिरङ्गशास्त्रीयनिमित्तसमुदायघटकनि-
मित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वात् । *नुमादय इति* । प्रत्ययलक्षणेनेत्यादि, समासाश्रितत्वेनेत्यस्य
कथनं समुदायस्यापेक्षासूचनाय परम्परयापि यनिमित्तं तस्य क्वचिद्गीकारात् । *अन्तरङ्गा-
नयीति* । अत्रापिना परस्य नित्यस्य च सङ्ग्रहः । *इति सूत्रमिति* । तत्रादेशविधाय-
कमेतत्सूत्रमित्यर्थः । अस्य ज्ञापकत्वं विशदयति—*त्वत्कृतमित्यादिना* । आदिना स्वदीयो
तत्त्वप्रकाशिका ।

लोप इति । नच सतः परत्वादीर्धनुमादयः स्युरित्वाच्यम् ? अपरनिमित्तकत्वेन ह-
ल्ल्वादिदिलोपस्यान्तरङ्गत्वात् । नच तत्कन्यायेन दीर्घस्ते याधेत, हल्ल्वादिविषयेऽन्यायाप्रवृत्तेः ।
क्वचिद्गीकारादिति । नचोपदाग्रहणसामर्थ्यान्नुमः पूर्वं दीर्घ इति वाच्यम् ? उपपापहणस्य
प्रमात्रोपलक्षकत्वात् । परस्य नित्यस्य च सङ्ग्रह इति* । तेन तत्कृतमित्यत्र परादप्यत्वा-
पूर्वं लुक्, एतत् इत्यादौ परमपि हल्ल्वादिदिलोपे बाधित्वा “अव्ययादानुपः” इति लुक् च
सिध्यति ।

यस्तुतस्तु-अपिघटितः पाठो न युक्तः भाष्ये क्वापि तथाऽभावत् । “स्वमोर्नृपकात्”
इत्यत्रापिघटितः पाठः कैयटेन मतान्तरतयोपन्यस्तः । अत एव तद्व्राजसूत्रस्यभाष्ये स्वरस-
तस्तत्कृते । सामासिकलुको बहिरङ्गत्वेन तदाजलुको बाधकत्वात् । अत एव “त्यदादि-
भ्यश्च” इतिवाक्तिकं सङ्गच्छते । अत्रतदित्यत्र परत्वाचातङ्गिसङ्गतिन्यायेन हेतुर्न । एवं

न्तेभ्य आचारक्रियमावाच । एवमेवैकार्यकाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां प्रातिपदि-
कण्वोऽपि अनभिधानं बोध्यम् । एतेन तत्रादेशार्थं प्रत्ययग्रहणं चरितार्थ-
मित्यपास्तम् ।

ननु मपर्यन्तानुवृत्तिरपि सर्वादेशत्ववारणाय चरितार्था । न च 'उत्सर्ग-
समानदेशा अपवादा, इतिन्यायेनासिद्धवत्सुत्रस्थभाष्यसम्मतं मपर्यन्त-
स्यैवादेशे सिद्धे तदनुवृत्तिर्व्यर्थेति वाच्यम् ? तस्य श्रम्यहुजकजादौ व्यभि-
चारादिति चेन्न, श्रमि मित्येन यदुचि पुरस्ताद्ग्रहणेनाकचि प्राकृद्ग्रहणेन
तस्य बाधेऽपि अत्रोत्सर्गस्यत्यागे मानाभावात् । अत एव "तस्मिन्नपि च"
(४-३-२) इत्यनेन युष्माकाद्यादेशविधानं चरितार्थम् । अन्यथा आकङ्क्षा-
देशमेव विद्ध्यत् । आकङ्क्षित्वकाद्यादेशयोरेतदपवादयोक्तन्यायेनात्या-
देशस्यापत्तिः, अतस्तद्विधानमिदमेव च तज्ज्ञापकम् ।

यद्यपि विरोधे बाधकत्वमिति धार्तिकमतेऽयं न्यायो भाष्यकारस्तु
यिनापि विरोधं सत्यपि सम्भवे बाधकत्वमिच्छतीत्यनभिहितसुत्रस्यैवद-
रित्या नायं नियमस्तथापि युष्माकाद्यादेशविधानज्ञापित उत्सर्गः स्योक्रियत
भैरवी ।

चिज्ञापिकेति तत्र शङ्कते—*नन्विति* । *अनुवृत्तिरपीति* । अत्रापिशब्द 'सुत्रस्य समुच्चा-
यकः । *तस्य* । उत्सर्गेति न्यायस्य । *व्यभिचारादिति* । एतेन तस्या प्रामाणिकत्वं सूचि-
तम् । *उत्सर्गस्येति* । अत्रोत्सर्गपदोपादानेनोत्सर्गान्तरतौल्यं सूचितम् । उत्सर्गान्तरस्य
शये स्वभावो यत् सामान्यतः प्रवृत्तिर्यत्र तु बाधकस्य विषयता तत्राप्रवृत्तिरिति । प्रत्युत त-
स्य न्यायस्य स्वीकार एव मानमस्तीत्याशयेन आह—*अत एवेति* । तस्योत्सर्गस्य स्वी-
कारादेव । *भाकृत्मेवेति* । छायादिति शेषः । हित्यादल्यान्त्यादेशात्वेऽपि एतदपवादयो-
स्तवक्रममादेशयोरेकाल्पत्वारसर्गादेशात्वे भविष्यतीति भावः । न्यायस्य स्वीकारे तु यु-
ष्माकाकाकेतिसमुदायादेशविधानं युक्तमेवेत्याह—*भाकृतीति* । *इदमेव* । युष्माका-
स्माकेति समुदायादेशविधानमेव । उक्तमेव शङ्कासमाप्तिभ्यां द्रवयति—*यद्यपीत्यादिना* ।
*धार्तिकमत इति । यद्युत्सर्गापवादयोः समानदेशात्वे तदा विरोध इति भावः । *नायं नियम
इति* । एवञ्च तेनानिर्वाहान्मपर्यन्तानुवृत्तिश्चरितार्थेति ज्ञापनत्वासम्भय इति भावः ।

तत्त्वप्रकाशिका—

प्रातिपदिकण्वोऽनभिधानमिति । प्रत्ययोत्तरपदयोः "इत्यनेनैव सिद्धेः दृष्टम् "तस्मा
येक्यचन" इति सुत्रकरणसामर्थ्यात् । "प्रत्ययोत्तर" इति सूत्रेऽपि विभक्तिपदानुवृत्त्यान
भिधाने मानं चिन्त्यम्

भासिद्वत्सूत्रेति । तत्र हि-पूर्त्वे लोपपवादो विज्ञास्यते, नचकारस्य लोपः प्राप्नोती
युक्तम् । तदि सति न्याये पृथित्यत्रैत्वस्य लोपस्यान्वकारस्यानिकृत्येन सङ्गच्छते । *ज्ञाप-
कमिति । ज्ञापनकले त्वस्या ज्ञापकत्वोपपादनमिति बोध्यम्

ननु साकृच्छ्रयुष्मकशब्दे कश्चेदः, युष्माकाद्यादेशस्य साकृच्छ्रापहारकत्वेन निदिश्यमा-
नस्याभावादेशताप्राप्तेराकलि साकृच्छ्रानपहारकत्वेन निदिश्यमानत्वेनादेशताप्राप्तेः । यिद्वान्ते
ऽपि युष्मकशब्दस्य युष्माकादेशे यौष्माकीन्, आकृष्टशब्दे यौष्माकाकीन् इति कश्चेद इति
चेद एवन्तादाशमन्ताऽपि शयि वा पिबंतिने सुवन्तस्यैव देः प्रागङ्क्यप्रत्ययाऽरुणा क्यत्र
धानादेशास्यैवाप्राप्तेः ।

एवेति प्रकृते न दोषः । एतद्भाष्यमपि तत्स्वीकारे मानम् । एवं च मपर्य-
न्तानुवृत्तिरवतकृतमिथादौ मपर्यन्तस्यादेशविधानार्थः । तत्र चान्तरङ्गत्वात्
“रवमौ” (७-२-१७) इत्येव सिद्धे व्यर्थं सैतज्ज्ञापिका । ज्ञापिते त्वस्मिन्ने-
तद्विषये तद्यादीनामप्राप्त्या तदपवादत्वाभावेन मपर्यन्तस्यैवादेशार्थं सा-
चरितार्थेति तदाशयः ।

यत्तु हरदत्तेनान्तरङ्गप्रवृत्तौ प्रत्यय उत्तरपदे च मपर्यन्तासम्भवेन
भैरवी ।

प्रकृते । त्वादिविषये ।

ननु प्रकृतेऽनियम एवास्तु नोत्सर्गल्योकारोऽस्य आह—*एतदिति* । मपर्यन्तप-
हणस्य ज्ञापकत्वात् परोक्तभाष्यमपीत्यर्थः । एवञ्च युष्मकाद्यादेशविधानसहकृतोक्तभा-
ष्येण प्रकृते तथैवाङ्गीक्रियत इति भावः । *एवञ्च* । तन्म्यायसिद्धौ च । *विधानार्थेति* ।
इति वक्तव्यमिति शेषः । *तत्र च* । त्वत्कृतमित्यादौ च । *अन्तरङ्गत्वादिति* । लुगपेक्षया
अन्तरङ्गत्वादित्यर्थः । *अस्मिन्* । अन्तरङ्गानपीति न्याये । *एतद्विषये* । “प्रत्ययोत्तरपद-
योः” इति मूलविषये । *तद्यादीनामप्राप्तयेति* । वाचकस्य लुगो विषयतासत्तेन तद्विषये पू-
र्यं तयममाविति न प्रवर्तते त्रिमल्लेखि तु विभक्तिपरत्वाभावादप्राप्तिरिति भावः । *तदपवा-
दत्वाभावेन* । तदपवादत्वात्सम्भवेन । तथा “नोत्सर्गसमानदेशा अपवादा” इत्येतन्म्याया-
विषयतयाधिकृत्यादेशवारणायसा मपर्यन्तप्रहणानुवृत्तिश्चरितार्थेत्यर्थः । *तदाशयः* । भा-
ष्याशयः ।

पठित्यति । अस्य इत्युक्तमित्यत्रान्वयः । *अन्तरङ्गप्रवृत्ताविति* । अस्यान्त-
रङ्गानपीति न्यायाभावे प्रागित्यादिः । *असम्भवेनेति* । क्वचित्त्वमयोः व्यवहितत्वादेजात-
सत्त्वप्रकाशिका—

नचौसि “ओकारसकार” इत्यादिना युष्मदादेशेः प्रागकचि तत्सम्भव इति वाच्यम् ।
“अलुगुरार” इति सूत्रस्य भाष्यप्रामाण्यात्प्रमाणं विना द्वित्वादिभानस्य घृताद्यनभ्युपगमेन
द्विवचनात्तेन विप्रहासोभावात् । अत एव कुमाद्व्यौरगारमिति प्रतिषेधः कैपटेन “कथं द्विवचना-
त्तेन सनास इत्यादाहूय नैव दोषः यथा तावकीन इत्यादावादेशेन सङ्ख्याविशेषो व्यवह्यते
सङ्ख्यायि मत्स्यां प्रमुद्यतेऽज्ञावां प्रकृतिभानेन द्वित्वं व्यवह्यते इति दोषोपपन्नः” इत्युक्तमि-
ति केचित्तद्वैकपदे तत्रकममकादेशप्रवृत्त्याऽन्यत्र सङ्ख्याविशेषोपस्थाप्रतीत्या विप्रहृत्यैवाभा-
वेन युष्माकास्माकविषयत्वेष्वप्यपरोः ।

आन्येयु अकच्छिनिष्टे निर्दिश्यमानत्वस्यानङ्गीकारेणाकच्छिपये कलभेदाभावात् । अकह-
रस्य निर्दिश्यमानावयवत्वमुपलक्ष्यमिति “अनाप्यक” इत्यादीनोत्पत्तिः । अत एवेन अ-
हरस्य एकत्वे क इति करणादकञ्चहितस्य कादेशसाधने मनोरमोक्तं सङ्गच्छते ।

यथा मादक इत्येव सिद्धेः युष्माकाद्यादेशस्य ज्ञापकत्वात् । नचैवमपि अन्तरङ्गानपीति
परिभाषाप्रयोगे युष्मारादेशविधानार्थस्य तत्प्रयोज्यञ्च “उत्सर्गसमानदेशः” इति न्यायः
तत्प्रयोज्यं च मपर्यन्तानुवृत्तिविषयं तत्प्रयोज्या चान्तरङ्गानपीतिपरिभाषा तत्प्रयोगे
युष्माकादेशविधानार्थस्येति वाच्यम् “यदाहृतनेषु” इति ज्ञापकेन पण्डितसत्त्वोपोद्देश-
त्वात्पठेदकं यत्तु तदपवादच्छिदोद्देश्यमात्रे कार्यं कर्तव्यं तत्तद्विपर्ययसम्भावनायां युगा-
मरिचमानाङ्गाप्यव चक्रेनेन युगाद्यादेशाप्रामेयकशमाभावात् ।

नेचित्तु तत्रञ्च मगरञ्च इति न्यायेन शिफाशयामप्येत्यमरादेशमिदया ज्ञापितेऽपि
शालिगार्थाभावेनतपारि तदरञ्च मगरञ्च इत्यत्रनिराकरणमेव ज्ञापकं भविष्यतीति न
दोष इत्याहुः ।

तदनुवृत्तिर्व्यर्था सती तज्ज्ञापिकेत्युक्तं तत्र । अन्तरङ्गाणामप्यपवादवाध्यत्वेन तद्विषये तदप्रवृत्तेः ।

वस्तुत इदं ज्ञापकं वार्तिकरीत्यैव भाष्यरित्या तु वाचनिक एवायमर्थ इत्याहुः । इयं "सुपो घातु" (२-४-७१) इति लुग्विष-
यैवेति केचित् । "एङ्हस्वात्सम्बुद्धेः" (६-१-६९) "न यासयोः" (७-३-४५) इति सूत्रस्थाकरप्रामाण्येन लुङ्गात्रविषया । आद्ये हे व्रपु इत्यादावनेन न्यायेन लोपं बाधित्वा लुग्भवतांति भाष्ये उक्तम् । अन्त्ये-

भैरवी ।

स्वात् तदसम्भवेन । *तज्ज्ञापिका* । "अन्तरङ्गानपि" इति न्यायस्य ज्ञापिका । *अपवाद-
वाध्यत्वेनेति* । अपवादस्य "प्रत्ययोत्तरपदयोः" इत्यस्य विषये तवादेशप्रवृत्तेर्मपर्वन्तस्य
सम्भवेनाधिकव्यवच्छेदाय मपर्वन्तानुवृत्तिः कार्यति तद्वीत्या ज्ञापकत्वासम्भव इति भावः ।
ननु यथा "उत्सर्गसमानदेशा अपवादः" इति न्यायो वार्तिककारमते तथा पुष्पाकाद्यादे
शविधानमपि तद्वीत्यैवास्तु भाष्यकारमते तु-ज्ञापकत्वनिर्वाहः कथमत आह—*वस्तुत
इति । इदम्* । मपर्वन्तग्रहणानुवर्तनम् ।

तथाच—यत्तर्हि मपर्वन्तग्रहणमनुवर्तयतीति भाष्यमपि वार्तिकरीत्यैव यद्यपीत्यादिना-
सूचिताशयकमेतत् । *भाष्यरीत्यापि* । सत्यपि सम्भवे बाधनं भवतीति भाष्यरीत्येत्यर्थः ।
आहुरिति । एतेनारुचिर्बाधिता । यदि लुकोऽन्तरङ्गपरनित्यबाधकता सर्वमेव्यते तदास्त्व-
स्य वाचनिकत्वम् । अन्तरङ्गविषय एव चेदस्य न्यायस्य प्रवृत्तिस्तदा यचनाङ्गीकारो व्यर्थ
एव । अन्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वेनेष्टसिद्धेरिति । *इयम्* । अन्तरङ्गानपीति परिभाषा ।
केचिदित्यनेन सूचितामरुचिं प्रकटयति—एङित्यादिना* । *आ कोरति* । कैयटादिमतसंप्र-
दायाकरपदम् । *आद्ये* । "एङ्हस्वात् सम्बुद्धेः" इति सूत्रे । *अनेन न्यायेनेति* । अत्रा-
न्तरङ्गबहिरङ्गभाव इत्यमुपपादनीयः । प्रसक्तादर्शनमात्रस्य लोपसंज्ञा भवतीति लोपसंज्ञान्त-
रङ्गा लुक्संज्ञा तु प्रसक्तप्रत्ययादर्शनस्येति सा बहिरङ्गेति ।

परे तु तत्र भाष्येऽप्रकसम्बुद्धिलोपाभ्यां लुग्विप्रतिषेधेनेतिवार्तिकप्रत्याख्यानपरभाष्येऽ-
यं न्याय उपन्यस्तस्यायं भावः अन्तरङ्गानपि विधिन् बाधते लुक् । अपिनाद्वात् परनित्ययो-
रपि संप्रहः । एतेन लुकः सर्वबाधकतया तद्विषये विप्रतिषेधोयासो न युक्तोऽनुव्यवहत्वादि-
त्यत्र तस्य भाष्यस्य अतत्पर्यमिति लभ्यते । एवञ्चलुगलोपयोरन्तरङ्गबहिरङ्गभावचिन्तनमनु-
चितमित्याहुः । लुङ्मात्रेत्यत्र मात्रशब्दकास्तन्त्ये । *अन्त्ये* । "न यासयोः" इति सूत्रे ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

१३यथां सेति । मपर्वन्तानुवृत्तिरित्यर्थः ।

ननु "प्रत्ययोत्तर" इत्यस्य "तवममौ छति" इतिनोत्सर्गः । किन्तु बाध्यसामान्यचिन्तया
ऽस्त्वपवादयोऽपि तथाचानुवृत्त्यभावे कदाचिदन्त्यस्यापि त्वमौ स्थातां मपर्वन्तानुवृत्तौ न
नैति फलभेदः स्यादिति चेन्न मपर्वन्तानुवृत्तिज्ञापकपरभाष्यप्रामाण्येन "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च"
इति सूत्रविषये बाध्यविशेषचिन्ताया आश्रयणेन "प्रत्ययोत्तरपदयोः" इति तवममावित्य-
स्यैवापवादकं नत्वात्वयत्वयोरित्यभ्युपगमात् तत्रोत्सर्गसमानेति न्यायेन सिद्धेऽनुवृत्तिर्व्यर्था
सती ज्ञापिकेति बोध्यम् ।

वाचनिक एवेति । केचित्तु "तुभ्यममौ छति" अकृताविति सूत्रकरणेन "तवममौ-
छति" इत्यत्रावृत्तावित्यनुवृत्त्या सिद्धेः "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" इति सूत्रमेव ज्ञापकम् नचा-
तितोत्त्यत्र दोषः, अनुवृत्तिरितिन्यासेन वृत्त्यवयवमे लसादावित्यर्थेनादोषादित्याहुः ।

ऽन्तरङ्गाच्च विधीन् सर्वोऽपि लुग्याद्यते न तु सुबलुगेव । अत एव “सनी-
 र्सस” इत्यादौ नलोपो न भवति । पञ्चभिः खट्वाभिः क्रीतः पञ्चखट्व
 इत्यादावेकादेशात् प्रागेव टापो लुक् । अन्यथा कृतैकादेशस्य लुक्प्रकार-
 श्रवणं न स्यादिति कैयट उक्तम् । एतद्विरोधाद्यत् “तद्राजस्य”
 (२-४-६२) इति सूत्रे कैयटेनोक्तमङ्गानतिक्रान्तो ऽत्यङ्ग इत्यत्र सुपो लुकि
 बहुवचनपरत्वाभावात् “तद्राजस्य” इति लुक् न स्यादिति शङ्कापरभाष्य-
 द्यव्यापसरेऽन्तरङ्गानपीति न्यायेनायं लुक् सुबलुको बाधकः स्यादित्या-
 शङ्क्य सुबलुक् पदानेन बलवत्त्वं बोध्यत इति तत् प्रौढयेति द्रष्टव्यम् ।
 लुगपेक्षया लुको बलवत्त्वस्य वक्तुंभशक्यत्वादिति तदाशङ्कासमाधानं वक्तुं
 भैरवी ।

मयोऽपीति । एतन् “योऽचिच्च” इत्यस्यापि संप्रदः । *टापो लुक् । “लुक्छितलुकि” इति
 टापो लुक् । *एकादेशस्य लुक्* । परादिवद्भावाकारस्य स्त्रीप्रत्ययत्वादि । *एतद्विरोधादिति*
 उक्तसूत्रद्वयस्याकारविरोधादित्यर्थः । अथ विरोध एव “तद्राजस्य” इति सूत्रस्थोपपादने प्रौढ-
 येत्यत्र हेतुः । “तद्राजस्य” इति सूत्रभाष्ये बहुवचने परतो यः तद्राजस्तस्य लुगित्यर्थेऽयदुक्ते
 लुग्वचनम् । अयदुक्ते लुग्वचनस्यः । अतिक्रान्तोऽङ्गानत्यङ्ग इत्यत्रान्यथा लुक् न स्यादिति
 वृणुमुक्तत्वा ततो भाष्ये शङ्कितम् । न च पृथक्चन इत्येव सिद्धम् । बहुवचन इत्युच्यते, न चात्र
 बहुवचनं पदयामः । प्रत्ययलक्षणेन भविष्यति । असुमता तस्मिन्निति प्रत्ययलक्षणस्य प्रति-
 रोध इति । अत्र अत्र अम् इत्यस्यातिसु इत्यनेन समासे कृतेऽपि बहुवचन इत्येव सिद्ध-
 मिति प्रतीकमुपादाय कैयटेन दासमेवाभित्यान्तरङ्गत्वात्पूर्वं तद्राजस्य लुकरिष्यते
 न चात्रेति । अन्तरङ्गानपि विधीन् “सुपो धातुप्रातिपदिकयोः” इत्यर्थे लुक् “प्रत्ययोत्तरपद-
 योश्च” इतिज्ञापकादस्यैवात्र सम्भवाद्भाष्ये इति भाव इत्युक्तम् । *तदाशङ्केति ।
 सचासावशङ्केति समासः । यद्यपि भाष्यकैव्यश्रीत्याशयकस्य सामान्यापेक्षत्वं, तथापि ज्ञा-
 पकमाज्ञास्यान्तु लुगिभक्तकार्यनिमित्तादिनाशरुलुको लुगिभक्तकार्यपेक्षया बलवत्त्वबोधकोऽयं
 तत्त्वप्रकाशिका ।

“प्रत्ययोत्तर” इति सूत्रस्य भाष्यस्यायम्भावः—एतत्सुप्रलापयानुरूपरुपाधनार्थं “त्यमौ”
 इतिविहितपौरुषादयं “पनोरच” इतिउत् इति तैवेव अपपर्वन्तत्पादने सिद्धे तदनुवृत्तिर्वर्था
 मनीं प्रापिक्रति । अथ अपपर्वन्तानुवृत्तिरनुवादत्वायाऽन्यथा सर्वोदाशार्थतया विधायकत्वा-
 दितिरिति वाच्यम् ? “द्विगुरेकाचनम्” इत्यस्यापि तद्विधार्थदिगी विधायकत्वापत्तेः ।

अन्येण “प्रत्ययोः” इति सूत्रमेव ज्ञापकम् । न च स्वद्वितमित्यादौ सवादिधाधनापेक्षतदिति
 वाच्यम् पृथक्चनपरे विभक्त्यित्यर्थकावृत्तिरितिन्यासेन सिद्धेः । न च सुप्स्यमुन्दरपुत्र इत्यत्र
 यथाग्याते प्रवृत्त्यभाव उक्तन्यासो प्रवृत्तिरिति कल्पेद इति वाच्यम् इदानीमन्तरङ्गेतिन्याया-
 भावेनान्तरङ्गत्वात्प्राप्त्याविरमस्य प्रवृत्तेरित्याहुः । *इत्युक्तमिति* । यस्तुनोऽपिघटितरादा-
 भावेनान्तरङ्गपेक्षया बहिरङ्गलुक् एव प्रावत्ययोधनेन कैयटोक्तं युक्तमेव । त च हे प्रउ इत्यत्र
 लुक् परस्यानुगुणः स्यात्, निम्नत्वेन लुरुः पूर्वं प्रवृत्त्या बोधाभावात् ।

केचित्तु अपिपठित एव पाठः स्यनिमित्तविनाशस्तुदमात्रस्य घानया प्रावत्यर्थं बोध्यते,
 शनएव मष्टिष्टः इति निम्नति, अन्यथा लुङ् बाधितया परत्वादिभ्योऽं तस्यामीपदेनानिद-
 त्पारुनरित्योपप्राप्त्या नमिद्विः स्वष्टे । उपरतननिन्तमाणन्यायेन पूर्वं लुङोऽप्राप्त्या-
 तत्त्वं “रपदादिभ्यश्च” इति वार्तिकमाश्रयम् । “अङिङ्गे युष्मद्भ्यश्च” इत्युक्तया एवशङ्क-
 मित्यादौ न दोषः । “सुपो” इतिविधयस्तस्याप्यनेन तैरेव तातदिति भवतादित्यादीन

युक्तम् । अनेन न्यायेनान्तरङ्गनिमित्तविनाशकलुकस्तत्प्रयोजकसमाप्तौ दीनां च प्राबल्यं बोध्यत इति अन्यत्र विस्तरः ॥ ५२ ॥

नन्वेवं सौमिन्द्रेऽन्तरङ्गत्वात् “आहुगुणे” पूर्वपदात् परेन्द्रशब्दाभावेन “नेन्द्रस्यपरस्य (७-३-२२) इति वृद्धिनिषेधो व्यर्थः, अन्तादिवद्भाव-
भैरवी ।

न्याय इति भावः । शापकसाक्षात्प्रमेव दर्शयति—अनेनेति* । अनेन, अन्तरङ्गानपीत्यनेन । *लुकः* । लुङ्मात्रस्य । यथा पञ्चभिः खट्वाभिः क्रीतः पञ्चखट्व इत्यत्रान्तरङ्गैकादेशस्य यन्निमित्तं तद्विनाशः । अन्तरङ्गनिमित्तविनाशकेऽप्ययं प्रमाणन्तु भाष्यमेव । तथाहि—“इया-
प्रातिपदिकात्” इति सुत्रे प्रातिपदिकग्रहणे किमर्थमिति प्रष्टव्यं “अनुदात्तादेशेच” इत्यस्य प्रातिपदिकविशेषणत्वं यथा स्यात् समर्थविशेषणत्वं माभूत् “अनुदात्तादेशम्” भवति इह प्रसज्येत “वाचो विकारस्त्वचो विकार” इति एतद्वि समर्थमनुदात्तादि । “सायेकाच” इति विभक्तैस्तत्वात् । इह न स्यात् सर्वेषां विकार इति ।

यद्यप्युच्छादिषु पाठान् सर्वशब्दोऽन्तोदात्तस्तथापि “सर्वस्य सुपि” इत्याहुदात्तमेतत् पदम् । “नौष्यचष्टन्” इहैव स्यात्-वाचा तरति त्वचा तरति इह न स्यात् घटेन तरति पटेन तरती-
ति । यद्यनेन न्यायेनान्तरङ्गनिमित्तविनाशकलुको बलवत्त्वं बोध्यते, तदा सर्व इत्यत्र सत्यपि लुकि सौवर्च्यः ससम्पत्तदन्तससम्प इति सिद्धांताद्विशिष्टस्य कार्त्तिक्यतया “न लुमता” इति निषेधाप्राप्त्या प्रत्ययलक्षणेन तस्य सौलभ्यादन्तरङ्गनिमित्तविषयकत्वेनैतद्विषये लुको बलव-
त्त्वाभावेन लुक्प्रवृत्तेः प्रागन्तरङ्गत्वादाहुदात्तत्वं “सर्वस्य सुपि” इत्यनेन स्यात्तथा च सम-
र्थविशेषणत्वेऽनुदात्तादित्वं समर्थस्य नास्तीत्यथ न स्यादिति सङ्गच्छते । यदि त्वन्तरङ्गनि-
मित्तविनाशकेति विशेषणमनुपादाय “सर्वविधिभ्यो लुग्विभ्यो बलवत्त्वं” तदा लुग्विषये पूर्वमा-
हुदात्ताप्राप्त्या समर्थस्यानुदात्तादित्वाद्भाष्यासङ्गतिः स्पष्टैरेति ।

ननु पूर्वमपि गोमत्प्रिय इत्यादी समासात् प्राहुनुमादयः स्युर्न । हि तदा लुगु प्राप्तिरत आह—*तत्प्रयोजनेति* । तस्य लुकः प्रयोजकं यत्समासादि तेषामित्यर्थः । आदिना त-
द्वितपरिग्रहः । एवञ्च समासस्य बलवत्त्वात् समासविषये पूर्वमपि नुमादिर्न भवति अस्मि-
न्नर्थेऽप्युक्तं पदन्तरङ्गानपीति न्याये शापकं तदेवं शापकमन्यथोक्तस्यायाङ्गीकारो व्यर्थ एव
स्यात् । नद्येकेनैकमेव ज्ञाप्यते किन्तु यावता विना अनुपपत्तिस्तस्य सर्वस्य ज्ञाप्यत्वमिति
स्वीकारात् ॥ ५२ ॥

एव । पूर्वोक्तशापकेन पूर्वोक्तस्थले दोषपरिहारेऽपि । *सोमेन्द्र इति* । इत्यादिलक्ष्ये
इत्यर्थः । *इयर्थ इति* । बोध्यायामावेन लक्ष्यासाधकत्वादिति शेषः । नन्वन्तादिज्ञानेन
सस्य ततः परत्वमस्त्वित्यत आह—*अन्तादीति । विरुद्धाभ्यां पूर्वपरशब्दाभ्यामन्तादि-
शब्दाभ्याञ्च विरोधस्य पुरःस्फूर्तिकत्वाद्विरुद्धातिदेशद्वयस्य चैकत्रैकदातिदेशासम्भवेन “उभय-
त आश्रयगेनान्तादिवत्” इत्यस्य सिद्धिः । यथा लोके यत्सुखबलयोरैकः प्रेम्णस्तुभौ युग-
पत्प्रेमयतो गानादिभ्यो च कार्त्तिक्योः प्रसक्तिस्तदा स यद्यविरोधार्थी तदोभयोः कार्त्तिक्यं न करो-
तत्त्वप्रकाशिका ।

दोष इत्याहुः । *स्पष्टैरेति* । एतत्फलम् अयं हि राजपुत्रोति । आये “उतश्च प्रत्ययात्” इति
लुकः गुणनिमित्तविनाशकत्वाभावेनान्तरङ्गत्वाद्गुणे संयोगपूर्वकत्वेन लुङ् न भवति, अन्त्ये
“जिनस्यादेर्नित्यम्” इत्याहुदात्तस्य ङीगः निमित्तविनाशकत्वस्य लुङ्प्रभावेनान्तरङ्गत्वा-
न्ङीन्याहुदात्तयोः पश्चात्समासस्वरूपान्तोदात्तत्वं सिध्यतीति ॥ ५२ ॥

अन्तरङ्गत्वादिति । न च समर्थग्रहणेन कृतसन्धिकार्यात्प्रत्ययोत्पत्त्याऽन्तरङ्गकथनम-
युक्तम्, तस्यान्तरङ्गपरिभाषानुवादकत्वेनादोषात् ।

स्तुभयत आश्रयणे निषिद्धः ।

किञ्च वृद्धिरप्यत्र न प्राप्नोत्यन्तादिवस्वोभयाभावेऽपि पूर्वान्तवत्त्वे-
नैकादेशविशिष्टं पूर्वपदत्वेन न्द्रशब्दस्यैकदेशविकृतन्यायेन उभयत आश्रयणे
नान्तादिवदित्यस्याभावेन तदाश्रयणे चोत्तरपदत्वेऽपि तस्यानवकत्वादेक-
स्यैकादेशेन परस्य नित्येन "यस्य" (६-४-१४६) इति लोपेनापहारात् ।

न च परादवज्ञावेनैकादेशशिष्टस्योत्तरपदत्वमेवास्त्विति तत्सम्भवं
इति याच्यते ? उत्तर पदाद्यवस्थापनिकत्वात् वृद्धेस्तदभावेन अप्राप्तेस्तादृ-
प्यामतिदेशात् । अन्यथा खट्वाभिरित्यादावपि पूर्वान्तवत्त्वेनादन्तत्वे
भैरवी ।

तीति इत्यते तद्वत् ।

ननु उभयत आश्रयणमिह नाङ्गीक्रियते किन्तु पूर्वान्तवत्त्वावेन कारविशिष्टे पूर्वपदत्वमस्तु
एकदेशविकृतमनन्यवदितिन्यायेनोत्तरपदत्वं न्द्रशब्दस्यास्त्विति "नेन्द्रस्य" इति निषेधप्र-
तिषाधे इत्यत आह—*किञ्चेति* । *अत्र* । सोमेन्द्र इत्यत्र । "देवताद्वन्द्वे च" इत्यनेन
प्रमोभयोर्देवतावाचकयोरेकलब्धित्तत्रैव निषेधस्य प्रवृत्तेः । *एकदेशविकृतन्यायेनेति* । अ-
स्योत्तरपदत्वेऽपीत्यप्रान्वयः । एवं च उभयत आश्रयणाभाव एवेति भावः । प्रकारान्तरमाह—
उभयत इत्यादि । अयं भावः—अयं निषेधो निर्मूलः वृत्तिवदित्यातिदेशस्याहाप्यारोप-
पत्त्येन तस्य विरुद्धव्यविषयेऽपि सम्भवात् । न चैवमपीवादित्यत्र "एतेर्लिङ्गि" इति द्वस्त्वत्वापत्ति-
रिति वाच्यम् ? उभयत आश्रयणेऽपि पौर्वापर्यरूपव्यपवर्गाभावेन इत्यवस्थाप्राप्तेः । "उप-
गन्त्यायतौ" । "अन्तादिवच" इत्यादिप्रमाणे तस्य निषेधस्योच्छेदस्तु एकदेशिन इति धो-
ध्यम् । *तदाश्रयणे वा* । अन्तादिवत्त्वोभयाश्रयणे वा । *तस्य* । न्द्रशब्दस्य । अनव-
कत्वमुपपादयति—*एकस्येति* । इकारस्येत्यर्थः । *परस्य* । अकारस्य । *तत्सम्भयः* ।
वृद्धिप्राप्तिसम्भयः । *उत्तरपदाद्यनिति* । प्रत्यासत्त्याश्रयणादयमर्थो लभ्यते । "प्राधानं प्रा-
मनगराणाम्" इत्यस्य प्राग्भावनगराद्यकाद्यावयवस्याचो वृद्धिरित्येवार्थः । एवं "देवता-
द्वन्द्वे च" इत्यस्यापि समासात् प्राग्मे देवतावाचकास्तेषां द्वन्द्वे पूर्वोत्तरपदाद्यावयवाचो वृद्धि-
रित्यर्थ इति भावः । *तदभावेन* । आदित्वाभावेन । नन्वादित्यस्याप्यतिदेशोऽस्त्वित्यत
आह—*तादृप्येति* । *तादृप्यम्* । वर्गमात्रवृत्तिपर्यन्तस्यानतिदेशादित्यर्थः । पृथगाव-
स्थिताभ्यामाद्यन्तर्गतित्वाभ्यां ये व्यपहाराः प्रातिपदिकरूपप्रत्ययपरत्वमुक्तस्तत्त्वादयस्ते कृतेका-
देशस्यापि भवन्तीत्यर्थं भाष्यस्य तात्पर्यात् । तदुक्तं भाष्ये—वर्गाश्रये विधावन्तादिवद्-
भावप्रतिषेधो यकस्य । वा अतादृप्यातिदेशादिति । *अयमर्थः* । तादृप्यस्याप्यतिदेशे ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

अनतिदेशादिति । अयं शीतलेनेत्यत्र "पृष्ठानुत्तरपदत्वस्यातिदेशाद्यस्यवृत्तिर्यस्यवृत्ति-
वर्गस्यप्याप्यस्य स्वस्यानिकादेशावृत्तिरत्र श्रुतवत्सम्बन्धेनानन्तादिगंविशिष्टधर्मंपरितधर्मान-
तिदेश इत्यर्थस्यावयवस्यैकदेशत्वेन सीमन्त्रे उत्तरपदाद्यवयवत्वात् तस्य स्वस्यानिकादेशावृत्ति-
पृथिव्यस्य सत्त्वात्तादृप्याभाव इति वाच्यम् स्वस्यानिकादेशावृत्तियस्य स्वनिष्ठाभेदस्यन्याव-
च्छिन्नप्रकारतावच्छेदकत्वावच्छेदकत्वेतदुभयमन्यावच्छिन्नप्रतिपत्तिगोवितावस्थाभावयवस्य स्व-
पृथिव्यस्य स्ववृत्तिवर्गत्वस्याप्यस्य त्रिनयनस्यन्येन स्वविशिष्ट धर्मंपरितधर्मानतिदेशात् । शीर-
पेनेत्यत्र पृथक्पदस्य स्वस्यानिकादेशावृत्तियस्य उत्तरपदनिष्ठविशेष्यमानिरूपितारिण्यभेद-
सम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतावच्छेदकत्वावच्छेदकत्वस्य च सत्त्वात् तादृप्यम् । प्रत्ये धीकारे
स्वस्यानिकादेशावृत्तियस्य तस्यैकविंशोपमन्त्रस्याभावेन पृथक्पदस्यैव द्वये नास्तीतिप्रतीत्यया

भित्ति पेस्त्वापत्तिरिति भाष्ये स्पष्टम् ।

अत एव पूर्वेषुकामशम इत्यादावतरङ्गत्वादादुगुणे वृद्धिर्न स्यादित्याशङ्कितम् । तदैकदेशमात्रस्य विकाराभावाच्च । तदुक्तं भाष्ये इन्द्रे द्वावचावेको यस्येति लोपेनापहतोऽपर एकादेशेन ततोऽनन्तक इन्द्रशब्दः सम्पन्नस्तत्र कः प्रसङ्गो वृद्धेरिति । मरुदादिभिरिन्द्रस्य दृष्टे इन्द्रस्यैव पूर्वनिपातोऽत आह—

पूर्वोत्तर पदनिमित्तकार्पात्पूर्वमन्तर-

ज्ञोऽप्येकादेशो न ॥ ५३ ॥

अत्र च "नेन्द्रस्य" (७-३-२२) इति निषेध एव शापक इति "अन्ताद्यच्च" (६-१-८५) "विप्रतिषेधे परम्" (१-४-२) इति सूत्रयोर्भाष्ये स्पष्टम् ॥ ५३ ॥

भैरवी ।

भित्ति पेस्त्वापत्तिरिति । विषयाभिरित्यादिग्वानुत्पत्त्यर्थम् तत्परत्वेमिति भावः । अत्रापि भाष्यमपि साधयित्याह—*अतएवेति* । *पूर्वेषुकामशम इत्यादाविति* । पूर्वा चासाविपुकामशमी च तस्यां भव इत्यर्थेऽपि पूर्वा इपुकामशमी अ इति लियेने इपुकामशमीशब्दस्य प्राग्गमवाचित्वेन "प्राचां भामनगराणाम्" इति योत्तरपदवृद्धिस्तस्यास्तद्धितनिमित्तकत्वेन चद्विरक्ततया अन्तरङ्गत्वादादुगुणे वृद्धिर्न स्यादुत्तरपदाद्येवोऽभावादित्यर्थः । *आशङ्कितमिति* । आशङ्काभिप्रायस्तूष्ण एव, समाधानम् । वक्ष्यमाणपरिभाषायाः प्रवृत्त्या सूत्रस्य प्रवृत्तिरिति ।

ननु सौमन्त्रे यथैकदेशविकृतन्यायेन मान्तस्य पूर्वपदत्वं तथैकादेशविशिष्टस्योत्तरपदत्वमपि स्यादत आह—*तदैकदेशमात्रस्येति* । गुणरूपविकारस्योभयन्यानिरूप्येनोत्तरपदैकदेशमात्रविकाराभावादित्यर्थः । अस्याः परिभाषाया लोकन्यायसिद्धतया लोके यस्यावयविन एवावयवो विस्तो भवति यदा तदा तदवयवविवाचकशब्दस्य प्रवृत्तिर्द्वयेन तथैव कल्पयमिति भावः । तदैकदेशेनैवग्रन्थतत्पदेनोत्तरपद परावृत्त्यते । एतत् एकादेशविशिष्टे उत्तरपदत्वमेकदेशविकृतन्यायेनातिदिष्टमनङ्गमिति भावः । *तदुक्तमिति* । तदेतत् सर्वमभिप्रेत्योक्तमित्यर्थः । *भाष्ये* । "अन्तादिवच" इति सूत्रभाष्ये ।

ननु मरुच्छब्देन्द्रशब्दयोरेव समासस्तथैकादेशाभावेन तस्मात् तद्धिते उत्तरपदस्य वृद्धिनिषेधविधायकतया सूत्र सार्थकमत आह—*मरुदादिभिरिति* । *इन्द्रस्येवेति* । न च सौमन्त्रेऽप्यजाग्रन्तत्वमितीन्द्रशब्दस्यैव पूर्वनिपातापत्तिरिति वाच्यम् । अत्र सौमन्त्रेऽप्यमदेधरवाचकत्वेनाभ्यहितत्वात् । *भाष्ये इति* । इन्द्रे द्वावचावित्युक्त्वा एको यस्येति लोपेनापहतः पर एकादेशेनातोऽनन्तक इन्द्रशब्दः सम्पन्नस्तत्र कः प्रसङ्गो वृद्धेरित्यनन्तरं पश्यति त्वाचार्यः पूर्वोत्तरपदयोः तावत्कार्यममरुति नैकादेश इति ततो "नेन्द्रस्य" इति निषेधे शास्तोत्युक्तम् ॥ ५३ ॥

तत्त्वप्रकाशिका ।

उभयमभ्यन्धावच्छिन्नप्रतियोगितकामांशमन्त्राद्य दोषः ।

यदा स्ववृत्तित्वं स्वगुत्तिर्गतवशोभ्यत् स्वविषयकताद्वयोधजनकशक्तिज्ञानीयविनेष्यतावच्छेदकश्च यो धर्मस्तद्धितधर्मानतिदेश इत्यर्थेन "परावृत्तरपदे" एकाधीभावसमेनाप्यश्वपदाद्य इतिनाम्निज्ञानन्याय्यामिन्द्रेन शब्दबोधजनकत्वादप्युक्ते शब्दबोधजनकशक्तिज्ञानीयविनेष्यतावच्छेदकत्वाभावात् । शस्वार्थबोधमन्तरा लक्ष्यार्थबोधामन्त्रेन "म-

ध्वनिमित्तकत्वादहिरङ्गौ ।

न चेयडादिरपवादो "येन नाप्राप्ति"न्यायेनेयतीत्यादिसकललक्ष्यप्राप्तय-
शपवादत्वस्यैव निर्णयादिति प्राञ्च ।

भैरवी ।

तबहिरङ्गत्वानङ्गाकारादिदमयुक्तमिति वाच्यम् । अभ्याससंज्ञाकृतबहिरङ्गत्वेऽप्य न तात्प-
र्यम्, किन्तु अभ्यासावयवस्यादेशविधानादभ्याससंज्ञाप्रवृत्त्युत्तरमस्य प्रवृत्ति सर्व-
दोषस्य तु पूर्वमेवेति पूर्वकालिकप्रवृत्तकत्वेऽस्य तात्पर्यात् । अत एवोक्तम्—*सम्बन्धेति* ।
अभ्यासपदमभ्याससंज्ञापरम् । सम्बन्ध प्रवृत्ति ।

तत्त्वप्रकाशिका—

किति "इत्यनेनामयकाशत्वादीर्घं उत्तरखण्डे "इणो यण्" इति 'यणि स्यानिवृत्त्येन तत्रेयद्वयार-
णार्धमसर्वगणहणेभावदधकमितिचेन्न "ओ पुपण्जि" इतिपुत्रारम्भसामर्थ्येनाभ्यासस्य कार्य
कृतये "अथ परस्मिन्" इत्यस्याप्रवृत्तिरिति सामान्येन ज्ञापनात् ।

किञ्च ईषहुरित्यप्र स्यानिवृत्त्येनेयप्रवृत्तौ "दीर्घं इण किति" इत्यप्र युगिति-यासेना
भीष्टरूपसिद्ध्या दीर्घग्रहणस्य धैर्यर्थेन इयडाऽप्रवृत्तिरितिकल्पनात् । न च "अत आदे" इ-
त्युत्तराय दीर्घग्रहणमिति वाच्यम् ? व्याख्यानादा आदेरितिछित्वाऽभ्याससंज्ञादेरत आकार
विधानेनोत्तरत्र प्रयोजनाभावात् । यद्वा अभ्यासइवर्णस्येयद्वचि नत्विणयातावित्यर्थेनाभ्यास
स्यानिगातिम्यासेन पूर्वोक्तदोषनिवृत्तेरसर्वगणहणवैयर्थ्यस्य तादृक्स्थितिस्त्वाशयादिति दिक् ।

अस्य तात्पर्यादिति । केचित्तु अभ्यासकार्वाणामभ्याससंज्ञाप्रयोजकीभूतप्रत्ययनिमित्त
कृत्वस्याङ्गीकारेणाशेषात् । अत एव "ह सम्प्रसारणम्" "अभ्यस्तस्य च" इति योगवि-
भाग सार्थक । अभ्यथा अङ्गुहवरित्यादौ "अभ्यस्तस्य च" इत्येव सिद्धे "ह सम्प्रसार-
णम्" इतियोगविभागवैयर्थ्यं स्पष्टमेव । अत एव प्रजिह्वायिकविपतीत्यादौ "अभ्यस्तस्य
च" इति सम्प्रसारणञ्च ।

यद्य निरुक्तज्ञापनेनाभ्यस्तकार्वाणामेव तत्संज्ञाप्रयोजकप्रत्ययनिमित्तकत्वमेवकल्पयत
इति पुनरपि प्रकृतप्रत्यासङ्गतिरितिवाच्यम् ? "असति यथाङ्गे प्रमाणानां सामान्ये पक्षपातः"
इति न्यायेन पाठद्वित्वप्रकरणावसंज्ञाकार्वाणं तत्संज्ञाप्रयोजकप्रत्ययनिमित्तकत्वकल्पनेना-
दोषात् । अत एव प्रदुर्घातकीयिपति प्रमुखापयिपति प्रजिह्वनायिपतीत्यादौ "धुतिल्ला-
प्यो" इतिसम्प्रसारणम् "अभ्यासाच्च" इतिकुत्वञ्च न भवति स्पष्टे चेदम् "अभ्यासाच्च"
इति सूत्रे काशिकायामित्याहुः ।

अन्ये तु यद्यपि संज्ञाकृतस्य बह्वपक्षत्वरूपस्य वा बहिरङ्गत्वस्यानाशयग्रन्थयापि अङ्गप-
दस्य प्रत्यये परतो विधानावध्यादित्वे वास्तव्या प्रत्ययनिमित्तकत्वात्तत्र बोधः । अभ्यासे
युगिति प्राधानवासनयेति यदीन्तः *यणपवादत्वादिति* । ननु कः कः सीतित्वायामित्येन
यण सार्णदीर्घयोस्तत्रन्यायेन बाधादित्वप्रवृत्त्युत्तरं न यणविपयनेति कथं यणपवादत्वमिति
चेन्न, कतीतिस्थिते शब्दगुणयो प्राप्तौ नित्यत्वस्योभयोस्तुल्यत्वेन परत्वादगुणे पश्चाच्छ्रुति
सूत्रे "अन्" शब्दस्य द्वित्वे "अतिपित्तयोश्च" इतीत्ये ततो यण प्राप्तावित्वयोगोऽयमपत्रा-
त्यभावेनोक्तन्यायाविययत्वेनेयदो यणपवादत्वस्य धीव्यात् । एतेनाभ्यासविकारेषु बाध्याना
पूर्वम्प्रवृत्त्या उरदत्ते पश्चादित्वे यणस्तत्कल्पस्यप्राप्तत्वेऽपि चक्रापक्षेदुर्वात्त्वम् । तथाहि—
न तातित्वाया यणसर्वगणार्धेत्वात्वाना प्राप्तौ यणम्याधित्वाऽपवादत्वात्सर्वगणोप प्राप्तेन
प्रतिपदविधित्वादित्वम्याधित्वा प्राप्ते तद्वाधित्वाभ्यासविकारेषु बाध्यस्य पूर्वम्प्रवृत्त्याऽ
त्वम् प्राप्ते तद्वाधित्वा इत्य तम्याधित्वा पूर्वोपस्थितिनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वात्सार्वाङ्गानु-
तिगुण तै रप्युपगुणस्तं चान्तरङ्गत्वाद्यनित्यतास्तम् ।

परं त्वेतत्परिभाषामावे "अभ्यासस्य" इति सूत्रमेव व्यर्थम् । न चेये-
यायेत्यादौ चरितार्थम् । तयोरपि पूर्वप्रवृत्तगुणस्य पूर्वप्रवृत्तवृद्धेश्च "द्विर्वच-
नेचि" (१-१-५६) इति रूपातिदेशेनापहारे द्वित्वे कृते पुनः प्राप्ते गुणवृद्धौ
याधित्वान्तरङ्गत्वात्सवर्णदीर्घापत्तेः । न चेयर्तात्यादौ तच्चरितार्थम् । ताव-
न्मात्रप्रयोजनकत्वे उरित्येव ब्रूयात् । खोरित्यनुवर्त्तते । "इणो यण्" इति-
साहचर्याद्विधाख्यानाच्च श्रुधातोरेव ग्रहणम् । अर्त्तेरिवर्णस्येयङ्ङि-
भैत्वी ।

कैयटहरदत्ताष्टुक्तिं खण्डयति—*परेत्वत्यादिना* । इयतीत्यादाविति* । अत्र हि ऋ
 ऋतीति स्थिते न प्रामित्तिकाराभावात् किन्तु "अतिपितृयोश्च" इतीत्ये कृते सतीयङः प्राप्ति-
 स्तत्र न सबर्णदीर्घस्य प्रामित्त्याशयः । *उरित्येवेति* । अखर्णस्येयङित्यर्थः । नन्वेवमग्ने-
 त्यत्रापि ह्यादौ आह—*प्योरित्येवेति* ।

ननु एतावतापि फञ्चर्णान्तं यद्भङ्गं तदवयवस्येवर्णस्येत्यर्थापत्तौ क्व अकरोदित्यत्र च्यन्ते
रीडादेशे दोषापत्तिरत आह—*इणोयणीति* । सुत्रान्तरसाहचर्यं न व्यवस्थापकमत आह—
व्याख्यानादिति । धातावेवैतत्सुत्रप्रवृत्तिसम्पादकशिष्टकृतव्याख्यानादित्यर्थः । *धातोरे-
वेति* । धातुप्रहणानुवृत्त्या धातारेवेत्यर्थः ।

अन्ये तु ध्वोरित्यस्यानुपुत्तावपि ऋवर्णान्ते धातावित्येष किं न स्यात् । इष्टापत्तिरिति चेद्भानुक्तोपि नृशब्दादाचार्यविन्ताहृदि भानुक्तोपितत्सोत्यप्रातिप्रसङ्ग इत्यत आह—
*ऋपातोरेपेत्पाद्भुः । तथासति पाद्भुः सूत्रार्थस्तमाह—*अतैरिवर्णंति* । अन्योक्तं खण्ड-
तत्त्वप्रकाशिका।

ननु इयदंशे षण्णपयादत्येऽप्युक्त्वा सवर्णदीर्घस्यैवापवादः “उपसंज्ञनिष्पन्नान्यायात्” न चो-
 योलेत्पादावन्तरुत्थात्सवर्णदीर्घेण लृशृपधगुणस्य बाधाश्लेषद्वेऽनुसृष्टिरित्याच्यम् “अदि-
 दनु” इति सूत्रे प्रत्येकं स्वरितत्त्वप्रतिज्ञाया वैयर्थ्यापत्तेः । यद्यश्लेषतुरित्याद्यर्थमसवर्णमप्याव-
 न्यर्कमतिक्रमे ज्ञापकत्वमिति चेन्न अनावृत्तिन्यासेनोक्ततुरित्यादेः सिद्ध्याऽसवर्णवहणस्य
 वैयर्थ्यं ध्रौव्यात् ।

किञ्च शब्दमये विनिष्टे ध्वं स्वरितत्वस्यीकरेणोवोलेत्यादायन्तरङ्गत्वेन कधूपधगुणस्य
सङ्गोदीर्घेण बाधादुपहोऽनुवृत्तेरदोषात् । प्राञ्छति* । इयतीत्यादौ ह्यनुना प्रत्ययापहारेणा-
धेवासम्भवादङ्गाभ्यातोऽस्येतदुभयमेतानिमित्तकप्रत्यय इत्यर्थाभावेनेषुनिरित्यादायुभयोस्तुल्य-
निमित्तत्वेन परत्वात्प्राप्तेष्वपरगणयासवर्णप्रहणमाचदयकमिति च राज्ञाशकमित्यस्यारसः ॥

अनु वार्धमिति चैकस्य प्रयुक्तोपदेशाप्रवृत्तिस्तन्निमित्तमप्युपपत्तये सर्वप्रातिदेशस्य स्वोच्चारणाप्र-
पत्ते इत्यादाविव सत्स्यपि गुणादिषु द्वित्वनिमित्तैकाग्र्यविधाताभावेनातिदेशाप्रवृत्तेरित्यप्येव-
चेत्यादौ सूत्रे परितार्थमित्याह—नपेयेवेति । रूपातिदेशेनेति* । धातुर्मन्त्राया (१) अक्षरमा-
ननिष्ठया गुणरूपोन्नततरे धातुत्वातिदेशमन्तरा द्वित्वाप्राप्त्याद्वित्वनिमित्तैकस्येन रूपा-
तिदेशस्यापि प्रवृत्तिरिति भावः । पुनः प्राप्त इति* । अतिद्विरूपस्य नियतक्यचनान्तरानु-
पलम्भेन तद्वृत्तस्य तादवस्थास्तुनः प्राप्तिरिति भावः । नप द्विषे कर्त्तव्ये इति कालावधारणं
व्यर्थमिति वाच्यम् । गुणादीनां पुनः प्रवृत्तस्यनुज्ञानार्थनया तथारिताध्यां । अन्यथा रूपाति-
देशे गुणादीनां नाप एव रूपात्, नच लक्ष्यभेदाभावात्तद्वै पुनः प्राप्तिः, द्विवचन इत्यस्यावृत्त्या
द्विषे कर्त्तव्ये इत्यर्थोपपन्नमात्मव्यभिचयैव तदप्रवृत्तेः । *धातुपदजानुवृत्तेति । “अवि

(१) अक्षपरिमाणस्येति । संख्यापरिमाणतन्म्याप्यपरेऽपि जातिः ।
 अक्षपरिमाणस्येति । संख्यापरिमाणतन्म्याप्यपरेऽपि जातिः ।

स्वर्थः । अभ्यासस्यार्त्तावित्यभ्यासस्यात्तरिति वा गुरुत्वात् यत्कम् । न च ए ऐ ओ औ शब्देभ्य आचारविधयन्नेभ्यो लिटोयिडाचर्थं तत्सुत्रमावश्यकं तथा ओरधातोर्बुलन्तादिच्छाक्यजन्तान्सन्धुबोणकीयिपतीत्याद्यर्थमावश्यकमिति वाच्यम् । पाष्ठप्रथमाह्निकान्तस्थभाष्यप्रामाण्येन तेषामनभिधानात् । अन्ये द्वितीयद्विवचनस्यैव सत्त्वेन त्वदुक्तप्रयोगस्यैव दुर्लभत्वात् । एष च सम्पूर्णसूत्रस्यैव ज्ञापकता युक्ता ।

यद्यपि भाष्ये “यदयमभ्यासस्यासवर्ण इत्यसर्गग्रहण करोति” इति ग्रन्थेन असर्गग्रहणस्यैव ज्ञापकता लभ्यते तथापि न ह्यन्तरेण गुणवृद्धी असवर्णपराभ्यासो भवतीति तदुपपादनग्रन्थे न सम्पूर्णसूत्रस्यैव ज्ञापकता लभ्यते । अग्रेऽपि नैतदस्ति ज्ञापकमर्थ्यमेतत् स्यादित्यनेन सूत्रसार्थक्यमेव दर्शितमसर्गग्रहणस्यैव ज्ञापकत्वे तु तद्व्याघस्यप्रभैरवी ।

यति—*अभ्यासस्येति* । “अभ्यासस्यासवर्ण” इति सम्पूर्णसूत्रस्य चरितार्थत्वात् न ज्ञापकत्वं किन्तु असवर्णग्रहणमेवेत्याशङ्कं निराकरो—*न चेत्यादिना* । अत्र मूल एकारादेरसन्दिग्धोपलब्धिस्तत्त्वप्रदर्शनाय सन्धिर्नैव इति । *तथा* । उक्तस्यल इव आदिपदेन इयेज्जकीयिपतीत्यस्य सङ्ग्रहः । *प्राप्तेति* । दाधान्साहानिति सूत्रमप्येत्यर्थः ।

अत्र हि—“द्विवचनाद्गुणवृद्धी भवतीति विप्रतिपेयेन” इत्येग्निरूपणावसरे द्विवचनावकाशो भविष्यदिति विप्रतिपेयम् । गुणवृद्धयोर्बकाश चेतागौ इहोभये प्राप्नोति । इयोव इययिपेत्युक्तम् । ततोऽन्यत्र द्विवचने परस्य गुणवृद्धी भविष्यति इति परेण शङ्कितेऽन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घं स्यात् । अस्याद्वाणां दाङ्क बलीयो भवताति गुणवृद्धयो प्रवृत्तिरित्युक्त्वा नस्या परिभाषाया मूलोक्तस्याभ्यासस्येत्वस्य ज्ञापकत्वोपपादनावसरे अर्थ्यमेतत् स्यादित्यनेन कथातानेव चारितार्थ्यमुक्तं नत्वे शब्दादिविषये तेन तेषामनभिधानमित्यर्थः । *अन्ये* । ओणधातोर्दित्यादिनोक्ते । *द्वितीयद्विवचनेति* । न च यद्येष्ट नामधातुषु इत्यनेन प्रथमैकाचोऽपि स्यादिति वाच्यम् । नामधातुपदस्य सुबन्तप्रकृतिकधातुसंज्ञाप्रयोजकप्रत्ययान्तधातुपरतया तस्याजादेरित्येवावयवतया प्रकृतद्वितीयतृतीयैकाचो द्विवचिधायातयोक्तप्रयोगस्य सत्त्वात् । *यद्यपि भाष्येति* । दाधान् साहानिति सूत्रस्योक्तभाष्येत्वं । लभ्यते इति । विशिष्योपादानादिति शेषः । *अर्थ्यमेतदिति* । अनेन प्रागुक्तमनभिधानं लभ्यते ।

अनु कथातानेव तस्य सूत्रस्य चारितार्थ्यप्रदर्शनमयुक्तम् । इणधातोर्दिक्कटकीत्यत्र वीगतीत्यत्र वा प्रसिद्धादिकारात्मकधातोर्वा ये “कृतो भारद्वाजस्य” इति सूत्रेणेद्विकल्प इययि इयेपेति रूपद्वयम्भवति तत्रेदमावपक्षे द्विवचनात् परत्वाद्गुणे एषादस्यैव द्विवचनं न तु तत्त्वप्रकाशिका ।

अनुधातो ” इत्यत इतिशेषः । तत्सुत्रमावश्यकमिति* । नच “इजादे” इत्याम् स्यात्, निश्च इति पर्युदासेनौपदेशिजेजादिधातानेव तत्प्रवृत्ते । परत्वाद्गुणे इति* । नच

नन्वावच्छिन्ना वाच्यः । यथा—सत्यात्वाव्याप्या जाति पञ्चत्वत्वात् स्वाध्यायाधवत्वसम्बन्धन तदधिकरण पराशरावयवक समुदायस्तन्निष्ठमात्रे जरात्वामात्राभावे नस्यादपि तु प्रतत्वाय भाव तदीयप्रतियोगितावच्छेदक घटत्वत्वम्, अनवच्छेदकं जरात्वामावयव तद्वत्त्वस्यावयवत्व जरात्वामावयव तत्प्रतियोगित्व जरात्वमेति लक्षणसमन्वय इति दिक् ।

दर्शनेन तत्सार्थक्यमेव दर्शितं स्यात् ।

न चाकृतव्यूहपरिभाषयेयेपेत्यादौ सवर्णदीर्घाप्रसिर्द्यदि दीर्घा न स्यात्तद्वि-
गुणः स्यादिति सम्भावनायाः सत्वेन परिभाषाप्रवृत्तेः सुपपादत्वादिति
कथं सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकतेति वाच्यम् । तस्या असत्त्वात् । सत्वे
वैतन्नाध्यप्राप्तायेन यत्रान्तरङ्गकार्यप्रवृत्तियोग्यकालोत्तरमेव तन्निमि-
त्तविनाशकयहिरङ्गविधेः प्राप्तिस्तत्रैव तत्परिभाषाप्रवृत्तिस्वीकाराच्च ।

न चान्तरङ्गत्वादीर्घोऽपीयायेत्यादौ पूर्वान्तवत्त्वेनाभ्यासत्वादिवर्णत्वाच्च
शाल्यसवर्ण इत्यङ्गविधानेन सूत्रं चरितार्थम् । न च “अचि श्रु” (६-४-७७)
इत्यनेन सिद्धिः, वृद्धिवाधनार्थत्वादिति वाच्यम् । प्रत्यासत्त्यासवर्णपदेना-

भैरवी

तत्र “द्विवचनेऽचि” इत्यस्य प्राप्तिः द्विवचननिमित्तात्परत्वाभावात्तोऽभ्यासस्य द्वस्वत्वेऽ-
सवर्णपरिभाषासम्भव इति कथं सम्पूर्णसूत्रस्य ज्ञापकत्वम् । एतेन उरितीण उपलक्षणमित्य-
पास्तम् ।

किञ्च उक्तोदाहरणान्तरस्यापि सम्प्रवादार्थमेतत् स्यादिति शङ्कोर नैकमुदाहरणं योगा-
रम्भं प्रयोजयतीत्युत्तरितं तद्विरुध्यत इति चेन्न, एतद्वाच्यप्रामाण्यादेव प्रागुक्तानामिव इये-
षेत्यस्याप्यनभिधानं कल्पणीयमित्याशयात् । न च भारद्वाजनिघमबलाद्यः पक्षे इहभावस्तस्य
योग्यतासत्त्वात्तादृशी रूपे दुर्वारमिति वाच्यम्, एतद्वाच्यबलादेव भारद्वाजमुचितविकल्पस्य
व्यवस्थितविभाषात्वकल्पनेन प्रकृते इहभावस्याप्रवृत्तिकल्पनादित्याहुः ।

कौस्तुभोक्तरीत्या दाहते—*न चेति* । गुणेत्युपलक्षणम्, वृद्धेरपि प्राप्तेः । तेनादिपदभाष्यस्य
इषायेत्यस्य संप्रहः । अकृतव्यूहपरिभाषाप्रवृत्तिमुपपादयति—*यदीति* । *तस्याः* ।
अकृतव्यूहपरिभाषायाः । एतत्तत्वे तन्निरूपणावसरे स्फुटीभविष्यति । अभ्युपेत्याह—*मत्ये-
येति* । एतन्नाप्येति* । न ह्यन्तरेणेत्येतन्नाप्ये इत्यर्थः । वाकारोऽनास्थायाम् । *कालोत्तर-
मेयः* इत्येककारः प्रसिद्धत्वद्योतकः । *तन्निमित्तविनाशकेति* । अन्तरङ्गनिमित्तविनाशकेत्य-
र्थः । तथा सेतुष इत्यग्रान्तरङ्गेऽगमप्रवृत्त्युक्तं सम्प्रसारणस्यान्तरङ्गेऽगमनिमित्तजलादि-
त्वविनाशकस्य प्राप्तिः । न चेपायेत्यग्रान्तरङ्गदीर्घोत्तरमप्यन्तरङ्गनिमित्तविनाशकस्य “अघो-
ञ्जिति” इत्यस्य प्राप्तिरस्तीति वाच्यम् । अग्राप्यन्तरङ्गे सवर्णदीर्घे कृते नान्तरङ्गनिमित्त-
विनाशकत्वं पृष्टेः । सवर्णदीर्घे हि सवर्णात्परकत्वावच्छिद्य निमित्तं तच्च तदा नास्तेपेत्याश-
यात् । *न चान्तरङ्गत्वादिति* । अग्रान्तरङ्गत्वं पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वरूपम् । *सिद्धि-
रिति* । इयत् इति धोषः । वृद्धिवाधनार्थत्वात् “अचिश्रु” इत्येवद्व्याच्यकवृद्धिवाधनार्थम्

तत्त्वप्रकाशिका ।

“इ लिट्” इत्यवस्थायां मिथान्तरात्त्वादित्वेऽन्तरङ्गत्वात्सर्वगदीर्घो दुर्वार एव, न च
तत्रारि परत्वात् गुणः, “अग्रेयोगात्” इति कित्येन तदप्राप्तेः, अपिदिति निषेधस्तु स्यादिय-
त्वेन प्राप्तवित्यस्य निषेधेन चरितार्थ इति वाच्यम् । अपिदिति पर्युदागेन पितृयोगपादश्रुत-
स्यैव लिटो वदनेन लाट्प्राप्तेः । अन्ययोगावेत्यादौ सम्प्रसारणं दुर्वारम् । भानभि-
धानमिति* । इत्यापेक्षयाऽन्तरङ्गत्वादपादने इयेयेत्यस्य दुर्लभत्वात् । दीर्घो न स्यादिति* ।
न च यदि गुणो न स्यात्तद्वि दीर्घः स्यादिति सम्भावनाया गुणव्याप्यप्रवृत्त्या न दीर्घ इति
वाच्यम् । गुणव्याप्यन्तरङ्गत्वाभावेन तत्रैतदप्युक्तं । अनवाऽन्तरङ्गकार्यस्य प्रतिषेधमानतयाऽ-
न्तरङ्गपृष्ठेः अनवाऽन्तरङ्गकार्यस्य प्रतिषेधमानतयाऽन्तरङ्गप्रकृतेः प्रागन्तरङ्गनिमित्तस्य चहि-
रङ्गेन यत्र विनाशसम्भावना तत्रैतत्प्रवृत्तेः ।

भ्यासोत्तरखण्डसम्यन्ध्यसधर्णाच्च एव ग्रहणाच्छास्त्रबाधकल्पनापेक्षया
परिभाषाज्ञापकत्वस्यैवौचित्याच्चेत्याहुः ॥

सा चेयं धर्मिग्राहकमानादाङ्गवार्णयोः समानकार्यित्व एव ।

भैरवी ।

अभ्यासस्यासवर्णः इत्यस्य सत्वादिति भावः । *अभ्यासोत्तरखण्डेति । न च शङ्कोकरीत्या
दीर्घस्याभ्यासत्वात् णलसद्वृत्तत्वादेवमपि दोषतादवस्थ्यमिति वाच्यम् । यदपेक्षया पूर्व-
स्वभावाभ्याससंज्ञा प्रवर्तते तत्सम्बन्धो योऽयं तस्मिन्चित्त्वार्थः ।

ननु न "अभ्यासस्य" इति शास्त्रेण परिभाषा ज्ञाप्यत इति वदामः । किन्तु बहिरङ्गगुणादि-
मान्तरङ्गस्य सवर्णदीर्घस्य बाधं कल्पयाम इति चेन्न । साक्षाच्छास्त्रस्य बाधकल्पनापेक्षया
अङ्गलक्ष्यसंस्कारानुरोधेन परिभाषाज्ञापनस्यौचित्यात् ।

ननु प्रत्यासत्त्या "अभ्यासस्य" इति सूत्रस्य 'विलक्षणार्थकत्वमाश्रित्य परिभाषाज्ञा-
पकतया चारितार्थ्यकल्पनापेक्षया "अचिन्तु" इति सूत्रबाधक "अचोऽञ्जिति" इति सूत्रबाध-
कतया सार्थकत्वमस्त्वित्यत आह—*शास्त्रेति* । वृद्धिशास्त्रेति ।

किञ्च प्रत्यासत्तिन्यायापेक्षया व्यापिन्यायस्य प्राबल्यात् परिभाषाज्ञापनमेवोचितमि-
ति भावः ।

किञ्चेवाप्येत्यादिकतिपयलक्ष्यलभेऽपीयेपेक्ष्यादिलक्ष्यासंग्रहः परिभाषां विना त्वादित्यपि
योध्यम् । *सा चेयमिति* । या सम्पूर्णसूत्रज्ञाप्यत्वेनोक्ता सेयं परिभाषेत्यर्थः । *धर्मिग्रा-
हकमानेति* । धर्मः वार्णकाधर्मापेक्षयाङ्गस्य बलवत्त्वबोधकत्वम् तदाभ्यप्राहकं ज्ञापकं
धर्मानाम् "अभ्यासस्य" इति सूत्रं तस्मादित्यर्थः । *समानकार्यित्वेनेति* । वार्णकाधर्मास्य
यत्काराप्य तत्काराप्यकत्वं यद्वाङ्गस्य सन्नेयेयं प्रवर्तते तेदित्यर्थः । अत एव व्यवन्ते प्लवन्ते इत्यादौ
नित्यत्वाद्गुणमात्रापेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वाच्च "अतो गुणे" इत्येकादेशे कृते पिदपितोरेकादेशस्य परा-
दिवद्भावेनापित्वाद्गुणाभावापादनपरं भाष्यं सङ्गच्छते । अत्र हि समानकार्यित्वाभावः
स्फुट एव । यदि एतादृशानियमो न स्यात् तदाङ्गत्वात्पररूपात् पूर्वं गुणस्य प्रवृत्त्या रूपस्य
सिद्धौ निर्वाधार्थं "सर्वधातुकमपित्" इति सूत्रे पच्युदात्तपक्षे यद्गुणाभावापादनं तद्विरु-
ध्यते । "अचः परस्मिन्" इत्यनेन तस्य सिद्धिरिति त्वन्यत् ।

ननु समानकार्यित्व एवेति नियमस्य भाष्यसङ्गमनरूपफलमत्वेऽपि लक्ष्यसिद्धिरूपं
फलं किमिति चेत्, गाते गाये गाताम् गायामिति गृहाण । एष हि गा अ गातामित्यादि-
स्थितौ सवर्णदीर्घस्य "अतो हित" इतीयादेशस्य च प्राप्तवन्तरङ्गो दीर्घ एव भरति न त्व-
न्तरङ्ग इयादेशः । सामान्यत एतत्परिभाषाप्रवृत्तौ तु आङ्गत्वादियादेशस्य प्रवृत्तौ रूपसिद्धिः
तत्त्वप्रकाशिका ।

यत्कार्यः । यः स्थानी । तत्रैव* । ननु समाननिमित्तकस्य समानोद्देश्यकस्येति भावः ।
श्रुत्वञ्च वार्णशास्त्रीयस्यानितावच्छेदकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नानुयोगिताक-
पर्याप्तिकस्थानिताकत्वम् । वार्णशास्त्रीयस्यानितावच्छेदकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदको यो
धर्मस्स एवाङ्गशास्त्रीयस्याप्यपेक्षित इति भावः । यथा—इयायेत्यादौ वार्णशास्त्रम् "अकस्मत्पङ्क्तिः"
इति तच्छास्त्रीयस्यानितावच्छेदकः पूर्वत्वं परत्वञ्च तत्र परत्वस्य पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदको
धर्मः उत्तरेकारवृत्ति तद्व्यतिवृत्त्यस्य धर्मस्स एवाङ्गशास्त्रस्य "अचोऽञ्जिति" इत्य-
स्येति समन्वयः । अत एव चच्छावित्यादावन्तरङ्गत्वाच्च किं अजन्तत्वाभावात् इत्यो न
इयादित्यादावप्येयधिकरणान्वयेन समाधानपरभाष्यं सङ्गच्छते । अन्यथा समानोद्देश्य-
कस्येनाङ्गत्वात्पूर्वं इत्ये तदसङ्गते स्यात् । निरुक्तानुगमे तु नृक आगमत्वेन वार्णशास्त्रीयस्या-
नितैव नास्तीति न दोषः । अत एव युच्छतीत्यादौ गुणेन । *स्यामिद्धिः स्फुटैव* । अत एव

यत्तु समाननिमित्तकत्वरूपसमानाश्रयत्वं एवैवेति तत्र । ज्ञापितेऽपीया-
येयेपेत्याद्यसिद्धेः सूत्रवैयर्थ्यस्य तदवस्थत्वाच्च । स्योन इत्यत्र तु वक्ष्यमाणरी-
त्यास्या अनित्यत्वादप्रवृत्तौ गुणादन्तरङ्गत्वाद्यणादेशः ।

न चैवमपीयायेत्यादावियङ् दुर्लभस्तत्र कर्त्तव्ये वृद्ध्यादेः स्थानिवत्त्वेन अ-
भैरवी

स्फुटैव । नियमव्यवच्छेदं प्राचीनमस्ति निरसितुमाह—*यत्त्विति* । *समाननिमित्तकत्वे* ।
आह्वयार्णयोरेकनिमित्तकत्वे, एतदुदाहरणमियाय कुम्भकार इत्यादि । अत्रान्तरङ्गोऽपि यणादे-
शो बहिरङ्गवृद्धेः पूर्वं न प्रवर्तते । समवायिकारणातिरिक्तस्य निमित्तकारणत्वेन प्रसिद्धत्वात्
यत्र तादृशं समानं तत्रैवेतत्प्रवृत्तौ भवत्सम्मतस्य इयायेत्यस्यैवासिद्धिरितिरीत्या दूषयति—
तद्वेत्त्यादिना । अत्र वार्णसर्वणदीर्घस्याङ्गुद्विगुणयोः समाननिमित्तकत्वाभावः स्पष्ट एव ।

किञ्च समाननिमित्तकत्वं इति नियमस्वीकारे कपतुरुचे इत्याद्यसिद्धिः । अत्र हि इस्व-
त्वस्यभ्यासोद्देश्यकत्वेनोरद्वयवत्प्रत्ययो निमित्तम् । सर्वणदीर्घस्य तु न तथेति समाननिमि-
त्तकत्वाभावादागपरिभाषाया अप्रवृत्तौ सर्वणदीर्घं इस्वत्वापत्तेः । समानकार्त्तित्व एवेति
नियमस्वीकारे तु आह्वयमुभयत्र कार्त्तयौति पूर्वं इस्वत्वे आह्वे कृते ततः सर्वणदीर्घं विकारकृत-
भेदाभावेन "लघ्वे लक्षणे सङ्गदेव" इतिन्यायेन इस्वत्वाप्रवृत्तौ रूपसिद्धिः ।

न च सि ऊ न इति स्थितेऽन्तरङ्गस्य यणादेशस्य प्रवृत्तिरिष्यते सा च समानकार्त्तित्व-
याङ्गुणेन बाधाय प्राप्नोतीति वाच्यम् । वक्ष्यमाणज्ञापनेनास्या अनित्यत्वात् । न चैतन्मत-
एवानित्यत्वाप्रपणमिति भ्रमितव्यम् । एषा समाननिमित्तकत्वे प्रवर्तते इति वादिमतेऽपि
गात इत्यादिरूपाणां शपमादाप शीर्षादेशयोः समाननिमित्तकत्वसत्त्वादसिद्ध्यापत्तेरन्यथानु-
पपत्त्यनित्यत्वाप्रपणस्यावश्यकत्वात् ।

इयांस्तु विशेषः—समाननिमित्तकत्वे प्रवर्तत इति वादिमतेऽनित्यस्यापि बहुषु अप्रवृत्ति-
कल्पना, समानकार्त्तित्ववादिमते तु कथिदेनेति लाघवमिति । *पूर्वमपि* । वार्णपरिभाषया
एकादेशात् प्रागुक्तवृद्धिप्रवृत्तावपि । *तत्र* । इयपि । *स्थानिवत्त्वेनेति* । "अचः परस्मि-
त्तत्त्वप्रकाशिका ।

गान इत्यादौ "गानेमुक्" इतिमुम् । अन्यथा गा अ गान इतिस्थिते आह्वत्वाभ्युक्ति-
गामान इति स्यात् । अत एवादादिकोऽयमितिहरदत्तादयः । फरेतु न भेद इति प्रत्यय-
सङ्गच्छते ।

इन्वत्याप्रवृत्तीरुगसिद्धिरिति* । केचित् वार्णशास्त्रपटवस्तस्म्यन्तपञ्चम्यन्तान्यतरपदप्रयो-
ज्यविषयतापर्यायन्युपयोगितावच्छेदकभूतो यो धर्मस्तद्वर्मावच्छिन्नानुयोगिताकृषीसिकाङ्ग-
पदविनिष्टविशेष्यताश्च समाननिमित्तकत्वम् ये० स्वप्रयोज्यत्व स्वप्रयोज्यविशेष्यतानिरु-
पितप्रकारत्वासामानाधिकरण्यावयवमन्वयेन । इयायेत्यादौ वार्णम् "अकः सर्वणं" इतिशास्त्रे
तदूपपत्तं तस्म्यन्तमवीतिरप्रयोज्यविषयतापर्यायन्युपयोगितावच्छेदकभूतो धर्म उच्यतेकारे,
तन्मन्त्रित्वम् तद्वर्मावच्छिन्नानुयोगिताकृषीसिकाङ्गपदविनिष्टविशेष्यता निर्दिश्यमानत्वाच्च,
च्छिन्ना विशेष्यतातरश्चरम् "अधोऽग्निं" इत्यस्येति न दोषः । विशेष्यतायामाह्वपदवैरि-
हारात्नेन गाने गान इत्यादौ न दोषः । अन्यथा "भातो दितः" इतिशास्त्रपटकात्पदप्रयोज्य-
विषयतायाम् "गाने मुक्" इत्येतदूपपत्तकारपदप्रयोज्यविषयतायाश्च "अकः सर्वणं"
इत्येतदूपपत्तकारपदप्रयोज्यविषयतापर्यायन्युपयोगितावच्छेदकधर्मोवच्छिन्नानुयोगिताकृषीसि-
कत्व सत्त्वादोपो दुर्वारम्व्याप्तम् । एवं चरुती मुच्छतीत्यत्राप्युक्तम् । अत एव "स्योन"
इत्यादावन्तरङ्गत्वापत्तिरितिमात्रे सङ्गच्छते । अन्यथाऽऽह्वत्वाङ्गुणे दुर्वारम्व्याप्तिरिति यद्विहितं ।
तत्र कारक इत्यादौ निरुद्धसमाननिमित्तकत्वाभावेनागतराह्वत्वापत्तापत्तेः ।

सवर्ण इति प्रतिषेधादिति वाच्यम् । सूत्रारम्भसामर्थ्यादेव स्थानिवत्त्वप्रवृत्तेः ।
भैरवी ।

नृ" इत्यनेनेत्यादिः । *सूत्रारम्भेति* । "अभ्यासस्यासवर्ण" इति सूत्रारम्भेत्यर्थः । अभ्या-
सस्येयद्वुवडादेशो कर्चये तदुत्तरखण्डादेशस्य स्थानिवत्त्वं न इत्येतत्परित्यज्याधिरुद्धाणां

तत्त्वप्रकाशिका-

इतिलाघवमिति* । केचित्तु-अनित्यत्वज्ञापनं न युक्तमननुगमात् । "पुगन्त" इत्यत्र
पुगन्तसाहचर्येण लघूपधांशे इलन्ताङ्गे एव प्रवृत्तिस्वीकारेण "स्योन" इत्यत्र गुणाप्राप्तेश्च ।
भाष्ये 'यणगुणयोरन्तरङ्गत्वादिविचारस्त्वेकदेशिनः उणादिष्वव्युत्पत्तिपक्षस्यैवाङ्गीकारात् ।
नच वारिणीत्यादावन्तरङ्गत्वात्तुम्बाधित्वा सवर्णदीर्घापत्तिः, "इकोऽचि" इत्यस्यानवकाश-
त्वेन सन्धिकार्यापवादत्वात् । चञ्छम्बत इत्यन्तान्तरङ्गत्वात्तुम्बाधित्वा यद्वागमपरिभाषयाऽ
चञ्छम्बस्य "नुगत" इत्यग्रस्यात्पदेन ग्रहणान्नुक्तसिद्धिः । एवञ्च नञ्यमतोऽनित्यत्वाकल्पन-
मिति महत्लाघवमिति वदन्ति ।

असवर्ण इति प्रतिषेधादिति* । नच आच् इत्यत्र सवर्णाच्चत्वबुद्धावपि तद्वृत्तकाकारे अस-
वर्णाच्चत्वस्य सत्येन इयङ्गः सुलभश्चम् । नच स्थानिनि सति यन्न भवति तद्देशेऽपि न
भवति स्थानिनि सति यन्नवति तद्देशेऽपि भवतीत्यर्थकरणेन इयङ्गं दुर्लभं प्रेतित्वाच्यम् ।
देवयतेः द्विपि दयूरित्यादौ अयादेशानापत्तेः । स्थानिनि नौ सत्यभवतो यादेशस्य आदेशेऽपि
दुर्लभश्चात् । तस्मादादेशे स्थानिनिवृत्तिर्धर्मसम्भावनायां यन्नवति तन्नवति यन्न भवति तन्न
भवतीत्यर्थस्यावश्यकत्वेन इयायेत्यादौ सवर्णाच्चत्वसम्भावनायामपि तद्वृत्तकाकारमादायेव
भवत्येव । अतएव "अचः परस्मिन्" इति भाष्यस्थे परस्मिन्नित्ति किं पुत्रजानिः नैतद्वस्ति
प्रयोजनं स्थानिवद्भावेऽपि आदेशघटकरुमकारमादाय लोपो भविष्यतीति संगच्छत इति
वाच्यम् । स्थानी न निवृत्तः आदेशो न जातः इतिसम्भावनायां यन्नवति तन्नवति यन्न भवति
तन्न भवतीत्यर्थकरणेन शङ्कायाः सङ्गतेः । अतएव पपो गमयतीत्यादौ "एतत्तत्रो" इति
सुलोपो न ।

सूत्रारम्भसामर्थ्यादिति । नन्विषयेत्यत्र पूर्वं गुणे सतो द्वित्वे इत्ये च तस्य स्थानि-
भूतादचः पूर्वत्वेन दृष्टत्वाभावात्स्थानिन्नवाप्राप्तेः चारितार्थ्यमिति चेन्नाभ्यासस्यानङ्गीत्येव
सिद्धे असवर्णग्रहणस्य वैयर्थ्यात् । नापि ते त्विथर्तात्यत्रोत्तरखण्डस्य स्थानिवद्भावाप्राप्त्याऽ
कारोऽनङ्गीतिनिषेधपक्षेस्तथाग्न्यासो द्रष्टः । न चेयायेत्यत्र "इ ये अ" इत्यत्र स्थानिवद्भावेना-
सवर्ण इति प्रतिषेधादियदोऽप्राप्तावपि पूर्वायादेशे तस्मिन्निष्कारनिष्ठसङ्गत्यातिदेशेऽपि तद्-
वयवाकारेऽसवर्णत्वस्य सत्त्वादनङ्गीतित्यासेऽपि न सिद्धिरिति वाच्यम् । "युन" इति "रित"
इति वान्यासेन इयातोर्ध्वातोऽवयवीभूतो य इकारस्तस्येयङ्गद्वित्यर्थकनोक्तफलसिद्ध्या
सूत्रवैयर्थ्यप्राप्त्या न ।

नच सूत्रवैयर्थ्यादित्यस्य "ओः पुण्यजि" इतिसूत्रवैयर्थ्यादित्यर्थः । अन्यथा अयोभ-
रित्यादौ णावय आदेशो न स्याद्वित्त्वेकत्वस्य इति भूतादचस्य द्वित्वे वृद्धौ आवादेशे इत्ये
स्थानिवद्भावेन अवर्णपरकपञ्चमांशभावेन तद्वैयर्थ्यस्य स्पष्टत्वादिति वाच्यम् । प्रतिपद्विधि-
त्वात्पूर्वं "णौ चलि" इति इत्ये पञ्चाद् "इन्व" इत्यनेन इत्ये स्थानिभूतादचः पूर्वत्वेन दृष्ट-
त्वस्याभावेन स्थानिन्नवाप्राप्त्या सूत्रवैयर्थ्यस्याभावात् ।

नच स्थानिन्नवाप्राप्तेन लघुपरकाम्यासामावेन सन्वद्भावाप्राप्त्या सूत्रवैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति
वाच्यम् । भूधातोः द्विपि भूयस्वद्वये तस्माग्निचि चि द्वित्वे वृद्ध्यादिषु तेषां स्थानिवद्भावा-
लघुपरकाम्यासत्वेन सन्वद्भावे "दीर्घोल्लयोः" इति दीर्घे तत्रस्थानिभूतादचः पूर्वत्वाभावेन

तच्च सामान्यापेक्षमभ्यासकार्यं तदुत्तरखण्डादेशस्य . तत्कार्यप्रतिबन्धकी-
भूतं स्थानिवत्त्वं नेति । अत एवारतीत्यादौ यणादेशस्य स्थानिवत्त्वादभ्या-
सस्य "द्वलोप" इति दीर्घोऽदुर्लभ इत्यपास्तम् । दीर्घविधौ तन्निषेधाच्च ।
अरिष्ट्यादित्यत्र स्थानिवत्त्वेनेयञ् भवत्येव । तस्य स्थानिवत्त्वस्याभ्यास-
मैरवी ।

संप्रदायाह—*तच्चेति । *तच्च* । "अभ्यासस्य" इति सूत्रम् । *सामान्यापेक्षमिति* ।
अस्य शापकमिति शेषः । एवं सति यथा वचनस्य निष्पत्तिस्तथाह—*अभ्यासेत्यादिना* ।
एवं वचननिष्पत्तौ प्रकृते अभ्यासस्य कार्यमित्यदुवचनेतत्सूत्रविधेयौ तत्र कर्तव्ये "अचः
परस्मिन्" इत्यस्याप्रवृत्त्या असवर्णपरस्वसत्त्वाद्भवति सूत्रस्य प्रवृत्तिः । *तदुत्तरखण्डेति* ।
अभ्यासोत्तरखण्डेत्यर्थः । *तत्कार्येति* । अभ्यासकार्येत्यर्थः । *अत एव* । सामान्यापेक्ष-
शापकाध्रयणादेश । *भारतीति* । यदुलुगन्तस्येदं रूपम् । अत्र हि—कथातोः "सूची"
इत्यादिना यत्ति तस्यानैमित्तिके लुकि लटि उरदादेशे प्रत्ययकक्षणेन यद्वन्तत्वात् द्विवचने-
अभ्यासस्योरदस्ये रगागम उत्तरखण्डस्य यणादेशे "रोरि" इतिलोपे "द्वलोप" इति दीर्घ-
इति योध्यम् । अत्र दीर्घे कर्तव्ये स्थानिवत्त्वं न भवति । क्वचिदत्र दीर्घविधौ तन्निषेधादिति
पाठस्य तु न पुनः । लोपरुपाजादेशस्य सिद्धान्ते स्थानिवत्त्वनिषेधस्य येषु कर्तव्येषु स्वीकारात्
यथाश्रुतसुप्रतीत्या योपपत्तीनाम् ॥

प्रतिबन्धकोभूतेति विशेषणस्य फलमाह—*अरिष्ट्यादिति* । तत्त्वैव लिटि रिगागमे
क इत्यस्योत्तरखण्डस्य रितादेशेऽपि तस्य स्थानिवत्त्वादिवच्छादेशः सिध्यति । तस्य स्थानि-
यन्नावभ्यासकार्यमाधकत्वात् । इदमत्र योध्यम् । यदि स्वत्रान्तरकृत्वादिच्छादेशात् पूर्व-
मेवेयदित्युच्यते तदा प्रतिबन्धकोभूतेति विशेषणस्य वैयर्थ्यम् ।

किञ्चेतद्विशेषणशानेऽपि "काण्यादीनांवा" इति इत्यत्वाभावे अधकाण्डित्यत्रोत्तरखण्डस्य
स्थानिरन्तायात् सन्वन्ताये इत्यापत्तिरत अभ्यासस्य कार्यस्यत्राभ्यासपदमभ्यासत्वपदव्याप्त्य-
धिकरणपरम् उत्तरखण्डपदञ्च उत्तरखण्डाद्यवशाच्चपरम् । एवञ्चाभ्यासत्वपदव्याप्त्यधिकरणोद्-
देश्यकार्यं तदुद्देश्यद्वितोत्तरखण्डादेशस्य स्थानिरत्त्वधेति फलितम् । एवञ्च सन्वन्तायस्याभ्या-
सत्वपदव्याप्त्यधिकरणोद्देश्यरत्वात्, तत्र कर्तव्ये स्थानिरत्त्वनिषेधो भवत्येव । पदव्याप्त्य-
धिकरणत्वनिर्नादेवार्थित्वात् अरिष्ट्यादित्यत्र यलोपे कर्तव्ये यत्तिरङोः स्थानिवत्त्वं भवत्येव ।
यलोपात्तमरुकाध्यम्याभ्यासत्वपदव्याप्त्यधिकरणोद्देश्यरत्वाभावात् । येष्वेव प्रतिबन्धकी-
भूतेति विशेषणस्य वैयर्थ्यमेव । अरिष्ट्यादित्यत्रेयच्छादेशस्याभ्यासत्वपदव्याप्त्यधिकरणोद्दे-
श्यकत्वाभावेन तस्मिन् कर्तव्ये स्थानिवत्त्वनिषेधाप्रवृत्तेः ।

तत्त्वप्रकाशनाय ।

स्थानिरन्तायाप्राप्त्या सूत्रमार्थस्य स्पष्टत्वादितिदिक् । अभ्यासकार्येति* । तेन निम्नतुरि-
त्यादौ मन्त्रे कर्तव्ये "अचः परस्मिन्" इतिस्थानिरन्तायनिषेधो न, "अनिदिताम्" इतिप्रोपस्या-
भ्यामन्तादेशाभावात् । उत्तरखण्डादेशस्येति* । तेन यद्वन्तत्वादी "न सम्प्रसारणे" इति निषेधे
कर्तव्ये उरदस्य स्थानिरत्त्वप्रतिषेधो न तस्योत्तरखण्डादेशात्वाभावात् । *विशेषणस्य
वैयर्थ्यमिति । तस्मिन्नेव ईपगुह्यादी यगापत्तिः । स्थानिरन्तायस्य यगस्यापद्येन प्रतिबन्ध-
व्याभावात् । नच "अकस्मर्ज" इत्यनेन "इको यगबि" इत्यत्र सवर्णाग्निमन्त्येन मर्जः
पाठः प्रातिरेव नेतिवाच्यम् । स्पष्टवृत्तिधोऽयस्योद्देश्यतायच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेन
मर्जायैव प्रकृते सवर्णादीर्घप्रवृत्तियोग्यत्वाभावेन यगो दुर्वास्त्वान् । पूर्वव्येव विधौ स्थानिरन्तायेन
मर्जादीये कर्तव्ये स्थानिरत्त्वव्याभावात् । यथाभ्यासकार्ये इत्यस्य अभ्यासत्वावच्छिन्ना-
देशाभावात् इत्यर्थः । अत एव जहाविरपादी "अत उपयाया" इति वृद्धिः, नच यन अ-

कार्यप्रतिबन्धकत्वाभावात् । इयं चाङ्गसम्यन्धिन्याङ्ग एवेति "स्वरितो वा" (८-२-६) इति सूत्रे भाष्ये ।

भैरवी ।

एतेन "नपदान्त" सूत्रव्याख्यानावसरे मनोरमायां यातिरित्यत्र यच्चयवाकारलोपस्य स्थानिवद्भावात्पुनरालोपो न शङ्क्यः चिणोलुङ् (१)न्यायेनालोपस्यासिद्धत्वात् स्थानिवद्भावाच्चेत्युक्तन्तत्र युज्यते । तत्रालोपस्य यः स्थानिवद्भावस्तस्याभ्यासकार्थप्रतिबन्धसम्पादकतयानेन वचनेन निषेधो भविष्यतीति स्थानिवद्भावादित्यसङ्गतमित्यपास्तम् । प्रतिबन्धकीभूतेतिविशेषणं परित्यज्य पर्याप्त्यधिकरणत्वस्य निवेशेनालोपात्मककार्यस्य अभ्यासत्वेप्यवधोपधिरणोद्देशकत्वाभावेन अनेन वचनेन स्थानिवद्भावाविषेधाप्रसक्तेः ।

अत्र केचित्—समाननिमित्तकत्वं एवैषा प्रवर्तत इति न नियमः नहो छित्वाज्ज्ञापकात्, तद्धि विद्वन् इत्यत्र गुणाभावार्थम् । यदि समाननिमित्तकत्वं एवेति नियमस्तदा तुकि छकारो गुणे तु प्रत्ययो निमित्तमिति ध्याश्रयस्यादरूपाः परिभाषाया अप्रसक्तयान्तरङ्गे तुकि कृते गुणाप्रसक्तेः, नहो छित्त्वं वच्यं स्यात् । व्याश्रये असमाननिमित्तकत्वेऽपि परिभाषा प्रवृत्तौ तु वार्णतुकिः पूर्वमाहो गुणः स्यादिति तच्छास्त्रार्थम् । व्याश्रये प्रवृत्तिफलञ्च च्यवन्ते प्लवन्त इति । अत्र शेषकादेशमन्तरङ्ग बाधित्वा पूर्वं गुणस्य सिद्धिः । न च यदीयं व्याश्रयेऽपि तदा प्रश्न इत्यत्र दुर्गागमम्बाधित्वा सम्प्रसारणापत्तिरितिवाच्यम् । "प्रश्ने चासन्नकाल" इति निपातनेन सम्प्रसारणाभावस्य कल्पनादिस्थाहुः ।

चस्तुतस्तु "स्वरितो वा" इतिसूत्रस्यभाष्यप्रमाण्येन यत्र प्रवर्तते तदाह—इयञ्च अङ्गे-
स्यादिना* । तत्र सुदात्तानुदात्तयोरैकादेश आन्तरतभ्यात् स्वरितस्य स्थाने "एकादेश उ-
दात्तेनोदात्त" इत्यनेनोदात्त आदेशः क्रियते इति मते एकादेशस्वरोऽन्तरङ्गः । एकादेशस्व-
रोऽन्तरङ्गः सिद्धो वक्तव्यः, किं प्रयोजनम् अयत्रायानेकादेशशतस्वरैकानुदात्तसर्वानुदात्तार्थ-
मित्येतन्निरूपणावसरे आय्,कुमार्या इदम् किशोर्या इदम् । अत्र कुमारी ए इति स्थिते आह-
गमे कृते उदात्तनिरुत्तस्वरेणान्तोदात्तकुमार्योऽङ्गस्य यथादेशो "उदात्तयणो ह्रस्वपूर्वात्" इत्याह
उदात्तत्वे कृते आहिकारयोऽनुदात्तानुदात्तयोर्द्विरेकादेश उदात्तस्तस्योदात्त आयादेशो यथा
स्यादित्युक्तम् । यद्येकादेशस्वरोऽसिद्धः स्यात्तदा "उदात्तयण" इत्युदात्तस्याह सुप्त्वेनानु-
दात्तस्यैकारस्यान्तरतभ्यात् स्वरित आय् स्यादिति तद्भावः । "नैतदस्ति प्रयोजनम् ।
एकादेशे कृते "उदात्तयणो ह्रस्वपूर्वात्" इत्युदात्तो भविष्यति । आहिकारयोरनुदात्तयो प्रागे-
कादेशः पश्चाद्विभक्त्युदात्तत्वमिति । इदमिह सम्प्रवादम् । उदात्तत्वं क्रियतामेकादेश इति
किमत्र कर्तव्यम् । परत्याहुदात्तत्वम् । नित्य एकादेशः कृते उदात्तत्वे प्राप्नोत्यकृतेऽपि ।
अनित्य एकादेशः, अन्यथा स्वरस्यकृते उदात्तत्वे प्राप्नोत्यन्यथा स्वरस्याकृते, "स्वराभ-
न्नस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्योभवति" । अन्तरङ्गस्तर्ह्येकादेशः । कान्तरङ्गता । वर्णावाश्रित्ये-
कादेशः पदस्योदात्तत्वम् । विभक्त्येदात्तविधानादिति कैयटः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

स्यासत्त्वावच्छिन्नोद्देशकत्वाभावेन प्रतिबन्धकामूतेतिनिशेधाभावेऽपि ईयतुरित्यादौ यन्
दुवोर एवेतिवाच्यम् । सन्निपातपरिभाषयैव वृद्धिवारणेनाभ्यासत्त्वावच्छिन्नेतिनिशे फला-
भावात् । आदन्तमङ्ग निमित्रीहृत्य आतस्योकारदेशस्य तद्विधातकत्वात् । *आह एवेति* ।

(१) चिणोलुङ् न्यायेनेति । यथाऽपार्धितरामित्यत्र चिणः परस्य तदन्तस्य
लुकि पुनस्तत्परस्य लुङ् न भवति प्रथमलुकोऽसिद्धत्वेन व्यवधानादित्यर्थः । १७

तत्र हि—कुमार्यै इत्यादौ यणुत्तरमाहुकः । इयं चानित्या “छन्दोः”
(६-४-१९) इति सतुगन्निर्देशात् । अन्यथाहुत्वात् पूर्वं तुकः शादेशे
तुकोऽप्राप्त्या तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ५५ ॥

नन्वेवं सेदुप इत्यादौ कसोरन्तरङ्गत्वादिदि ततः सम्प्रसारणेऽपीदः श्व-
णापत्तिरिति चेत् । अत्र केचित्—

अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः ॥ ५६ ॥

भैरवी ।

पदत्वसम्पादकवद्भिर्भूतविभक्तिसम्बन्धित्वेन बहिरङ्गत्वमिति भावः । इदमिह सम्प्रसार-
माद् क्रियतामुक्तत्वमिति । परत्वादाहागमः नित्यमुदात्तत्वम् । कृतेऽप्यादि प्राप्नोति अकृ-
तेऽपि, अनित्य आदु अन्वयात् स्वरस्य कृते उदात्तत्वे प्राप्नोत्यन्वयात् स्वरस्यादृते “स्वर-
निग्रस्य प्राप्नुवन् विधिरनित्यः” । “शब्दान्तरस्य प्राप्नुवन्विधिरनित्यः” इति उदात्तत्वमपि
अनित्यम् आदिश्रुतेऽन्तरङ्ग एकादेशः पूर्ववत् । तस्मात् नार्थः सिद्धत्ववचनेन । एतेन प्र-
वृत्तेन यणुत्तरमाद्यः प्रवृत्तिरिति वक्तव्यम् । सा च वार्णपरिभाषाया आप्राप्तायेव सम्भवति ।
मामान्यतः परिभाषाप्रवृत्तौ तु द्वयोरपि समुन्वाद्यपदसिन्धत्वेन परिभाषाप्रवृत्तिः स्यादिति
यगादेशस्य परिभाषायाः पूर्वमप्रवृत्तिः स्यादेति । तदेवोक्तम्—*इयञ्चेति* । *आहुक इति* ।
“उदात्तपण” इत्युदात्तेन सह सम्प्रसारणे कृत्वा परत्वादाहुक इत्यर्थः । एवं कथं पूर्वं यणा-
देशे सत्येव सा न भवतीति भावः । एवञ्च धर्मिमाहकमानाहापरादङ्गसम्बन्धित्वाद् एव-
पा प्रवर्तते इत्येव कल्पते न तु समानकारित्य एवेति समाननिमित्तकत्व एवेति वा अनिट्-
रूपे प्रवृत्तित्वनित्यत्वादेव सम्पाद्या इत्याशयेनाह—*इयञ्च अनित्येति* । *पूर्वन्तुकः* ।
छनिमित्तकतुकः पूर्वम् । यत् तु सतुकनिर्देशेन ज्ञापकेन समानाश्रयस्य एवैषा प्रवर्तते इति
कल्पते न त्वस्याऽनित्यत्वमिति तत्र । ‘स्वीकृतः’ इत्यत्र गुणपणादेशयोः समानाश्रयत्वस-
त्यादुरागात् पूर्वमन्तरङ्गस्य यगादेशस्य प्रवृत्त्यभावापत्तेः ।

किञ्च समानाश्रयत्वसत्य एवेति नियमस्वीकारे कथ्यन्ते प्लयन्त इत्यत्र गुणस्य द्रष्टृका-
देशस्य च समानाश्रयत्वविरहादस्याः परिभाषाया अप्रवृत्तवान्तरङ्गदेशः पूर्व-प्रवर्तते ततश्च
गुणो न स्यात् अङ्गसम्बन्धित्वाद् इति स्वीकारे तु गुणस्याङ्गसम्बन्धित्वाद् भवति प्रवृत्ति-
रिति रिक् ।

अन्वयमपि अक्षेपातामिष्यस्यामिद्विर्लावम्पायामहागम इति पशस्य भावता
कथनेन सदासीमहागमे इयदो निमित्ताभावादप्राप्ता वार्णपरिभाषायास्त्याङ्गवार्णयो-
रुपपरान्नयभावेनाप्राप्त्या पृष्टपापत्तेरिति चेन्न । लावम्पायामहागमप्रवृत्तिस्वीकार-
परमाप्यप्रामाण्येन “अन्तरङ्गानि विधोन् बहिरङ्गे लुम् वाप्येते” इति परिभाषा-
घटञ्जुरादस्य लुप्प्रयोगस्यापि मीमाहृत्यवत्प्रवृत्तेऽप्याङ्गपदमाङ्गप्रवृत्तिप्रयोजकादेश-
स्यापि बाधम् । एवञ्च लावस्यायामहागमेऽपि बृदिस्तदानीं न प्रवृत्तिः । किन्तु
लादेशस्य दृढेः प्राक् प्रवृत्तिस्ततोऽङ्गसम्बन्धिन आङ्गस्येवप्रादेशस्य प्रवृत्तिस्ततो वृदेरिति
स्वीकारात् ॥ ५६ ॥

नन्वेवेति । उक्तस्येवैवान्तरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तिस्वीकारे । *अन्तरङ्गस्यात्* ।
पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वात् । सम्प्रसारणस्य तु विभक्त्युत्तरत्ववन्तरे प्राप्तिरित्या-
पायः । *अत्र* । उक्तपूर्वपक्षे । *केचित्* । दक्षितप्रवृत्तयः । आदुरिति परेणान्वयः । *अ-
तएवप्रकाशिका* ।

विश्ववसिष्ठम् । ज्ञाने इत्यन्वादिष्यापत्तेः । इयादेशस्याङ्गसम्बन्धित्वमाशेषात्प्राप्तादृष्टदो
ततः इयादेशे संसर्गमिच्छे ॥ ५७ ॥

न कृतो विशिष्ट ऊहो निश्चयः शास्त्रप्रवृत्तिविषयो यैरित्यर्थः । भाविनि-
मित्तविनाश इत्यध्याहारः । बहिरङ्गेणान्तरङ्गस्य निमित्तविनाशे पश्चात्स-
म्भावितेऽन्तरङ्गं नेति यावत् । अत्र च ज्ञापकं “समर्थानां प्रथमात्” (४-
१-८२) इति सूत्रे समर्थानामिति । तद्धि सुस्थितादिभ्यः कृतदीर्घाभ्यः प्रत्ययो-
त्पत्यर्थम् ।

अन्यथान्तरङ्गत्वादीर्घे कृत एव प्रत्ययप्राप्त्या तदुच्ययता स्पष्टैव । तत्र हि
भाविन्यादिवृद्ध्या सवर्णाच्चत्वविनाशः स्पष्ट एव । न चात्रैकादेशप्रवृत्तिस-
मये वृद्धयप्राप्त्यैकादेशे कृते आदेशे वृद्धेः प्राप्तावर्षा तन्निमित्तविनाशाभाव
इति वाच्यम् । तद्द्वारैव तन्निमित्तविनाशसत्त्वेनासत्तेः । न च सौस्थितौ
बहिरङ्गतया वृद्धेरसिद्धत्वाच्च तन्निमित्तविनाश इति वाच्यम् । समर्थग्रहणे-
नैतद्विषये तस्या अप्रवृत्तेरपि ज्ञापनात् ।

यत्तु समर्थग्रहणेन अन्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वमेव ज्ञाप्यत इति तत्र ।
असिद्धपरिभाषया समकालप्राप्तबहिरङ्गस्य पूर्वजातबहिरङ्गस्य च अन्तरङ्गो
कर्त्तव्येऽसिद्धत्वं बोध्यते न तु जातेऽन्तरङ्गे तस्य तत्त्वं बोध्यते मानाभावात्
भैरवी ।

तव्युदा इति । ऊहपदार्थं व्याचष्टे—निश्चय इति* । *विशिष्टः* । अन्तरङ्गशास्त्रस्य पूर्व-
ज्ञातिकाप्रवृत्तिनिरूपितविषयिताविशिष्टः । एतदेवाह—शास्त्रप्रवृत्तिविषय इति । वै* ।
पाणिनिप्रोक्तशास्त्राच्येतृभिः । निमित्तं विनाशोन्मुखे दृष्टा इत्यस्य काभावाह—भाविनी-
त्यादि* । *अत्र* । उक्तपरिभाषायाम् । ज्ञापिते चारितार्थ्यमाह—तत्र ङीति* । अस्या
ज्ञापित्येहीत्यर्थः । *सवर्णाच्चत्वविनाशः* । सवर्णाच्चत्व एको विनाशः । स्वविषये चारिता-
र्थं विघटपति—न चेति* । *अत्र* । सुस्थितादिशब्दे । *वृद्धयप्राप्त्येति* । निमित्तभावा-
दित्यादिः । *आदेशो* । दीर्घे कृते सतीति शेषः । *तन्निमित्तेति* । दीर्घनिमित्तभूतस्य इत्य-
सवर्णाच्चो, विनाशाभाव इत्यर्थः । *तद्द्वारा* । आदेशविनाशद्वारा पुनरपि समर्थग्रहणस्य परि-
भाषाज्ञापकत्वविधानशङ्कयामाह—नचेति* । पदस्य विभज्यान्वाक्यामिति पक्षे तु उचित
इति स्थितेऽकृतव्युहपरिभाषाया यदन्तरङ्गस्य सवर्णदीर्घस्य निमित्ते तदेव निमित्तमित्येतद्
दृष्ट्या बहिरङ्गवृद्धेरसिद्धत्वाग्रिमित्तस्य विनाशोन्मुखत्वं बुद्धयभावात् स्वविषये प्रवृत्त्यभावेन
अचारितार्थ्यात् समर्थग्रहणस्य ज्ञापकत्वासम्भवं इति भावः । *एतद्विषये* । अकृतव्युहपरि-
भाषाविषये । *तस्या* । अन्तरङ्गपरिभाषायाः । अविना अकृतव्युहपरिभाषायाः समुच्च-
यस्तथा च चावता विनेतिन्यायेन उच्यते ज्ञाप्यत इति सिद्धम् ।

समर्थग्रहणमन्तरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्व एव ज्ञापकं न स्वकृतव्युहपरिभाषायामिति
मतं निरस्यति—यत्त्विति* । *तस्य* । बहिरङ्गस्य । *तत्त्वम्* । असिद्धत्वम् । *माना-
भावादिति* । असिद्धपरिभाषायां यज्ञापकं प्रागुक्तद्वये तेन मानेन तथैव कल्पने न तु

तत्त्वप्रकाशिका ।

विनाशाभाव इत्यर्थः । सवर्णदीर्घेणैव तस्य कृतत्वादिति भावः । *आदेशविनाशद्वारेति* ।
तथाचार्ये परिभाषार्थः निष्पन्नः बहिरङ्गेणान्तरङ्गनिमित्तविशिष्टविनाशो सम्भाविते पूर्वमन्त-
रङ्गे न भवतीति भावः । वै० स्वप्रतियोगकस्य स्वस्थानिकादेशप्रतियोगिकस्य एतदन्वय-
रसम्बन्धेन । तेदुप इत्यादौ निमित्तविनाशो स्वप्रति योगिकस्य सौस्थितिरित्यादौ स्वस्थानि-
कादेश प्रतियोगिकत्वमिति विवेकः । *एतद्दृष्ट्या* । अकृतेतिपरिभाषादृष्ट्या । *स्वविष-
येति*

फलाभावाच्च। एवं च सूत्र्यितादावेकादेशस्य परिभाषासाध्यत्वाभावेन तद-
नित्यत्वज्ञापनासम्भवात् । “अन्तरङ्गानपि विधीन” इत्यादेरप्यस्यामेवान्त-
र्भावः । एतत्प्रवृत्तौ च निमित्तविनाशसम्भावनापि निमित्तम् । अत एव
गोमद्व्यङ्गीत्यादौ “हल्ङ्घादि” लोपो न । अन्यथा हल्ङ्घादिलोपकाले
सामासिकलुकोऽप्राप्त्या तदुत्तरं चापहर्त्याभावादप्राप्त्या लोपस्यैवापत्तेः ।
अस्ति चात्रापि यदि लोपो न स्यात्तर्हि लुक् स्यादिति सम्भावना । “अङ्गो-
पोऽनः” (६-४-१३४) इति सूत्रस्य तत्परंकरणं तु परिभाषानित्यत्वज्ञापनेन
चरितार्थम् । तद्व्यान इत्यादौ लोपवारणाय । अन्यथा दीर्घाभावे लोपस-
म्भावनेत्येतत्परिभाषावलादीर्घाभावात् तद्व्यर्थं स्पष्टमेवेत्याहुः ।

“समर्थानाम्” इति सूत्रे कैयटस्तु समर्थवचनेनेयं परिभाषा ज्ञाप्यते “अकृ-
तव्यूहाः पाणिनीयाः” इति, तेन पपुष इत्यादायन्तरङ्गस्यात्पूर्वं कृतोऽपीडागमो
निवर्तत इति वदन् न कृतो व्यूहो विशिष्टस्तर्को निमित्तकारणविनाशेऽपि
कार्यस्थितिरूपो यैरित्यर्थमभिप्रेति । “निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः”
इति यावत् । सूत्र्यितादिभि वृद्धौ दीर्घनिवृत्तौ साधुरिधितिर्माभूदिति सम-
र्थत्वा ।

अन्तरङ्गे कृते पश्चात् प्राप्ते बहिरङ्गे नेति परिभाषार्थो मानाभावात् । *फलाभावादिति* ।
अतन्वयासिद्धलक्ष्यसिद्धिरूपफलाभावादिति भावः । *एवञ्च* । अन्तरङ्गे कृतं ज्ञेयं जातं तद-
ल्लालप्राप्तिके बहिरङ्गमसिद्धमित्येव बहिरङ्गपरिभाषार्थस्थितौ च । *साध्यत्वामात्रेण* ।
यदा दायेत्य प्राप्तिस्तदा वृद्धेरप्राप्तेर्निमित्ताभावादिति भावः । अकृतव्यूहपरिभाषास्वीकारे
लापवमपीत्याह—*अन्तरङ्गानपीति* । *अन्तर्भाव इति* । यत् तस्याः फले गोमत्प्रिय इत्या-
दि तद्वनयेव सिध्यति । जुमादिनिमित्तस्य विनाशोऽमुल्लेखात् तेषां पूर्वमप्रवृत्तिरिति भावः ।
अनु सेदुष इत्यादौ साक्षाद्विनिमित्तविनाशस्थलेऽस्याधारिताध्यैव सूत्र्यितादौ साक्षाद्वि-
निमित्तविनाशाभावेन अस्या अप्रवृत्तौ स्वविषये चारिताध्यैवाभावान् समर्थप्रवृत्तस्य ज्ञापकत्वा-
सम्भव इत्यादाह्वयामाह—*एतन्प्रवृत्ताविति* । एवञ्च सूत्र्यितादौ निमित्तविनाश-
सम्भावनास्त्विति यदि पूर्वमणं दीर्घो न स्यात्तदावृद्ध्या तन्निमित्तविनाशाः स्या-
दिति । अत्र सम्भावनापीत्यनेन अत्र साक्षाद्विनिमित्तविनाशास्तत्र सुतरां प्रवृत्तिरिति सूचि-
कम् । *अत एव* । अन्तरङ्गनिमित्तविनाशसम्भावनाया अप्येतद्विनिमित्तत्वाङ्गीकारादेव ।
भाष्येति । तथा सति प्रत्ययलक्षणेन नुम् स्यादिति भावः ।

अनु ‘अकृत’ इति परिभाषाङ्गीकारे “अल्लोपीऽनः” इति सूत्रे तत्परकलं व्यर्थमत आह—
‘अल्लोपीऽनः’ इति । आन इति* । अनघातोः स्विप् । न आनुनासिकस्येति दीर्घे
कृतेऽनघाभावात् कथं तत्रस्याभावे आकाशलोपस्य प्राप्तिरिति याच्यम् । स्थानिवद्भावेमा-
शुद्धिममभवात् । *अमप्या* । एतद्वनित्यत्रामात्रे । “अकृतव्यूहा” इति परिभाषायाः कैयट-
दिमम्मत्रापर्यन्तामाह—*ममर्थेत्यादिना* । कैयट इत्याम्नाभिप्रेतोत्पन्नान्वयः । एतत्पक्षे सम-
र्थद्वयं चारिताध्यैवाह—*सूत्र्यितादिनीति* । *दीर्घनिवृत्ताविति* । एतादृशे परम्पर-
तत्परप्रकारिका ।

दे* । परिभाषया विषयभूते लक्ष्ये । *विनाशसम्भावनेति* । अन्तरङ्गनाशप्रवृत्तसमाय-
सम्भावनाप्रयोजनं वा बहिरङ्गनाशप्रवृत्तिमम्भावना । तत्प्रयोज्यान्तरङ्गनिमित्तविनाशस-
म्भावनायामत्राङ्गी न प्रयोज्य इत्यर्थः । तदुत्तरादयनि—*अस्त्विति* । *अनित्यत्वज्ञाप-*

र्थानामिति । लोकन्यायसिद्धिश्चायमर्थः । तथा हि-लोके निमित्तं द्विविधं दृष्टम् । कार्यस्थितौ नियामकं तदनियामकं च । आद्यं यथा न्यायनयेऽपेक्षाबुद्धिस्तन्नाशे द्वित्वनाशाभ्युपगमात् । वेदान्तिनये प्रारब्धस्य विक्षेपस्थितिनियामकत्वं च प्रसिद्धमेव । द्वितीयं यथा दण्डादि, तन्नाशेऽपि घटनाशादर्शनात् । शास्त्रे लक्ष्यानुरोधाद्व्यवस्था । भाविनिमित्तविनाशे पूर्वमनुत्पत्तौ तु न कश्चिन्न्यायो नापि सप्रतिपक्षो दृष्टान्तः । समर्थानामित्यस्यापि लोकसिद्धार्थज्ञापनेन चारितार्थसम्भवे लोकासिद्धापूर्वतादृशार्थज्ञापकत्वे मानाभावा इति तदाशय इति बोध्यम् ।

परे तु सेदुप इत्यादौ पञ्चावधिकेऽन्वारयाने सेद्वत् अत् इति स्थिते इदूस्मप्रसारणयोः प्राप्तयोः प्रतिपदविधित्वात्पूर्वं संप्रसारणे बलाद्विधाभाभैरवी ।

या तन्निमित्तविनाशत्वेनेतत्प्रवृत्तौ एकादेशो न स्यादत आह—*साविति* । न च "समर्थानाम्" इत्यल्लोपादानेऽपि पूर्वोक्तरीत्या कैयटसम्मताथकपरिभाषाया, प्रवृत्तौ कथं सौत्थितोक्तिरूपस्य सिद्धिरिति वाच्यम् । समर्थवचनसामर्थ्यादेतद्विषये आतस्थानिगृह्यङ्गीकारादिति भावः । कैयटसम्मत्परिभाषार्थस्य ज्ञापनापेक्षत्वेन लाघवमपीत्याह—*लोकन्यायेति । अपेक्षाबुद्धिरिति* । नानैकत्वावगाहिनी बुद्धिरपेक्षाबुद्धिः सा द्वित्वादिसेषां प्रति हेतुः सा यावदस्ति तावद्द्वित्वाद्विस्थितिः अपेक्षाबुद्धिविनाशे द्वित्वादिविनाश इति हि नैयायिकसंज्ञिः । *वेदान्तेति* । तथेत्यादिः । *विक्षेपः* । सवारः ।

अनु लोकेऽस्तु तथात्र शास्त्रे वैपरीत्यं कुतो नेत्यत आह—*शास्त्र इति* । तथा च-लक्ष्यानुरोधात् क्वचित्कारणनिवृत्तौ कार्यनिवृत्तिः क्वचित्कार्यानिवृत्तिश्च । क्वचित्कारणनिवृत्तौ कार्यनिवृत्तिश्च सेदुप इत्यादौ प्रसिद्धैव । कारणनिवृत्तावपि कार्योनिवृत्तिश्च पद्व्या मृद्व्येत्यादौ द्रष्टव्यम् । *न कश्चित् न्याय इति* । न च प्रक्षालनादिपुरुषस्य वृत्तद्विषयत्वेन धर्म इति न्यायो लोके दृश्यत इति वाच्यम् । अनेन न्यायेन निमित्तविमर्श भाविनि कार्यकारणस्यालामात् । किन्तु अनेन न्यायेन कार्यं कृत्वा पश्चात्तस्य निवर्तनापेक्षया कार्याकरणे लाघवमित्येव प्रतिपादयते । *सम्प्रतिपक्ष इति* । युक्त इत्यर्थः । अनु ज्ञापकवशात्, सोऽर्थः कल्प्यते इत्यत आह—*समर्थानामिति* । *तदाशयः* । कैयटाशयः । स्वसिद्धान्तमाह—*परे स्थित्यादिना* । *पञ्चावधिकेति* । तथा च लक्ष्यानुरोधात् परिभाषाविषये पञ्चावधिकमन्वाख्यानमेव कल्प्यते न ॥ ब्रमेणेति भावः । पञ्चावधिकेत्यस्य पदस्य विभागपूर्वकं स्थापनं कृत्वेत्यर्थः । *प्रतिपदविधित्वादिति । एकाजाद्यपि कृत्वेन "वत्त्वेक" इति सूत्रार्थोपस्थितत्त्वप्रकाशिका ।

तेनेति* । दानुशानुभ्यां किंपि तु न चानितार्थम्, अर्थविक्षेपे सन्नो विधानेनायान्तरे नित्यप्यन्तत्वेन तत्र गिलोपस्य स्थानिवत्त्वेनाल्लोपाप्राप्तेः । *इत्येव प्रतिपादन इति* । वस्तुतस्तु इयमाग्येन निमित्तविनाशस्य कार्यं शनियामकत्वे मानाभावादृष्टान्तासिद्धेः । दीक्षितोक्तमेतदपेक्षया सम्यगिति भावः ।

अनु विधिमुखेन नियमशास्त्राणाम्प्रवृत्तिरितिरूपे "वत्त्वेकाजात्" इत्यस्यैव विधायकत्वेन प्रतिपदविधित्वमुभयत्र गुल्यमत आह—*एकाजाद्यार्थापत्त्येनेति* । अयमभाव—*वत्त्वेकाच्" इत्यत्र कृतद्विवचनैकाचोऽपेक्षितत्वेन द्वित्वादित एषं नास्य प्रवृत्तिरिति विलम्बोपस्थितिकरवम्, सम्प्रसारणस्य तु द्वित्वादिनिर्लेपत्वेन शीघ्रोपस्थितिकरवम् ।

वादिदः प्राप्तिरेव नेति तत्सिद्धिरिति "समर्थानाम्" इति सूत्रे कैयटे "असिद्धवत्" सूत्रे च कैयटे स्पष्टमेतत् ।

यद्यपि प्रतिपदविधित्वमनवकाशत्वे सत्येव बाधकत्वे बीजम्, तथापि पूर्वप्रवृत्तौ सावकाशत्वेऽपि नियामकं भवत्येवेति तदाशयः । निरूपितं चैतद्ब्रह्मशः शब्देन्दुशेखरे । "समर्थानाम्" इति सूत्रस्य समर्थग्रहणं तु विपुण इत्यादावकृतसन्ध्येः प्रत्ययदर्शनेन सर्वत्र तथा भ्रमवारणाय न्यायसिद्धार्थानुवाद एव । ध्वनितं चेदं "विप्रतिषेध" सूत्रे भाष्ये । तत्र हि-वैज्ञमाणिरिभैरवा ।

त्यपेक्षया "वसोः सम्प्रसारणम्" इत्यस्यार्थस्य शीघ्रोपस्थितिकत्वादित्यर्थः । न च प्रतिपदविधित्वस्य बलवत्त्वप्रयोजकत्वे इयायेत्यत्र वृद्धेः प्राक् "इणो यण्" इति स्यादिति वाच्यम् । प्रतिपदित्वेन पदशब्दोच्चारणेन पदसंज्ञाप्रयोजकसुप्प्रकृतियोजकशब्दविशेषमुच्चार्य सद्बुद्धेरेव विहितत्वरूपस्य प्रतिपदविधित्वस्य विवक्षितत्वात् । अस्ति ह्येतादृशं प्रतिपदविधित्वं "वसोः सम्प्रसारणम्" इत्यस्य वसुपदस्य तदन्तपरतया भाधिकारेण च तादृशस्य तत्र सम्भवात् । पदसंज्ञा च तत्तद्विधिलक्ष्याधिकारिका प्राज्ञा । एवञ्च "इणो यण्" इत्यस्य अन्तधात्वादोप-इत्याशयः ।

न च पपुपस्तत्पुप इत्यादौ सम्प्रसारणविधिलक्ष्याधिकरणकपदसंज्ञाया भसंज्ञया बाधात् प्रवृत्तसिद्धिरिति वाच्यम् । पदसंज्ञाप्रयोजकत्वयोऽप्यताया विवक्षितत्वात् । न च पूर्वं सम्प्रसारणेऽपि अन्तरङ्गपरिभाषया जातसम्प्रसारणस्यासिद्धत्वादित्त्वादिदं स्यादिति वाच्यम् । तस्याः अनित्यत्वात् । प्रतिपदविधित्वस्यापवादसमकक्षत्वेनान्तरङ्गादपि प्राबल्यकल्पनाच्च । अत एव "प्रत्ययोत्तरपदयोः" इति सूत्रस्यैवैतदन्त्ये परान्तिस्थान्तरङ्गप्रतिपदविधयोर्विरोधित्वमिहाते तेषां मित्यः प्रसङ्गे परपलीयत्वमिति पाठो हृदयते ।

अपवादस्य समकक्षत्वमेव ध्वनयति—यद्यपीत्यादिना* । सत्येवेति* "तेषां द्विभाषा" इति सूत्रभाष्यसम्वादात् । *तद्वाच्यः* । कैयटाशयः । यदि तु प्रतिपदविधित्वं शीघ्रोपस्थितिकत्वमेव यथायुतमस्तु । इयायेत्यत्र "इणो यण्" इत्यस्य तु न प्राप्तिः, अस्य सूत्रस्य "इको यण्" इत्येतद्वाधकस्य बाधनायारम्भान् । यथा यन्तीत्यत्र "इको यण्" इत्येतद्वाधकस्येव वादे-देशस्य तेन बाधः । एवञ्च उत्सर्गसमकक्षत्वेनेयायेत्यत्र "इको यण्" इत्येतद्वाधकेयवादेशा-धकस्य "पुरनेकाय" इत्यस्य बाधकं यद् "अचोऽप्यिति" इति सूत्रे तदेव "पूर्वं ह्यपवादा अ-भिनिविशन्ति" इति प्रकल्प्येति वा न्यायेन भवतीत्यनेकाग्रियपक्षकत्वञ्च तस्य "इणो यण्" इत्यस्य, किन्त्वेकाग्रविषयकत्वमेवेति विभाव्यते तदा इयायेत्यत्र नाम्न्य प्राप्तिरिति स्पष्टमेव । ईयगुरित्यत्रेणुधातोः उत्तरसङ्गस्यानेकाच इति यण् इयायेति रूपसिद्धिस्तु पूर्वोक्तरीत्या "इको यण्" इत्येतद्वाधकस्य वादेदेशक्यगदेनावाधक्यदिनाश्रम्येव प्रवृत्तिस्ततो "अभ्यासस्या-मयगो" इतीपवादेना इति रीत्या ।

मन्वेति ममर्षेण हजानर्षेण वापुचित्तं बाह—ममर्षोनामिति* । अमृतसन्ध्येः प्रत्ययदर्शनेनेत्यनेन मृत्पदार्थस्य अन्वये कथमुपपत्त्ये ध्वनितम् । तथा भ्रमशरणाय* । अहृतसन्ध्येऽपि प्रत्ययः इत्येतद्भ्रमशरणाय । अत एव पदस्य विमर्शान्वाप्तयाने कृतमन्वेरेषि प्रत्ययः स्यादिति कैयटः ।

यानु यदि विमर्शान्वाप्तयाने स्वीक्रियते तदा "मौलियतिः" इत्यत्र अन्तरङ्गपरिभाषा-विषयवाक्यान् तादृशस्यैव ज्ञापकमेव ममर्षेण हजानमप्यु न तु तस्यानुवाद इत्यत बाह-अप्यनित्यमिति । इदम्* । समर्षेण हजानस्य प्रत्याप्तयानम् । अत एवाप्युक्तम्—मिदार्थानुवाद

ति अन्तरङ्गपरिभाषोदाहरणमुक्तम् ।

किञ्च विभज्यान्वाख्याने सु उल्लिख्य अस् इ इति स्थिते “वार्णादाङ्गं व-
लीय” इति प्राप्तवृद्धिवारणाय समर्थग्रहणमित्यत्रैव सूत्रे कैयटे स्पष्टम् ।
अत एव असिद्धवत्सूत्रे-‘वसोः सम्प्रसारणमज्जिधौ सिद्धं वक्तव्यं वपुष-
इत्यादौ वसोः सम्प्रसारणे कृते आतो लोपो यथा स्यात्’ इति भाष्ये
उक्तम् । पदस्य विभज्यान्वाख्याने पूर्वोक्तकैयटरीत्या पूर्वं सम्प्रसारणे इटो-
ऽप्राप्त्या उस्निमित्तक एव अतो लोप इति तदशयः । अन्यथा अन्तरङ्गत्वा-
दिष्टि तन्निमित्तक एव अतो लोप इति तदसङ्गतिः । अत एव चो प्रत्यङ्गस्य
प्रतिषेध इति वचनं वार्तिककृतारब्धं भाष्यकृता च न प्रत्याख्यातम् ।
प्रत्यङ्गमन्तरङ्गम् । अस्यां परिभाषायां सत्यां तु तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । अत एव
“वृद्धोः” (६-४-१९) इति सूत्रेऽवश्यमत्र तुगभावार्यो यत्नः काव्योऽन्तर-
भैरवी

इति* । ‘बहिरङ्गान्तरङ्गयोरन्तरङ्गं वलीय’ इत्येतत्सिद्धानुवाद इत्यर्थः । तथाच-समर्थग्रहणस्य
प्रत्याख्यान एव विप्रतिषेधसुप्रसङ्गभाष्यतात्पर्यम् । तदेतदाह-‘तत्र हीति* । *वैश्वमागिरिति* -
अत्र हि वि ईक्षमाण इति स्थितेऽन्तरङ्गत्ववर्णद्वयत्वन्तावन्नवति । वार्णपरिभाषात्वमित्य-
स्वान्न प्रवर्तत इति तद्भाष्याशयः । समर्थग्रहणप्रत्याख्याने तद्भाष्यतात्पर्यस्य यदि कृत-
सन्धेरेव प्रत्ययोत्पत्तिस्तदा दीर्घप्रवृत्तिसमये वृद्ध्याप्राप्तेरसङ्गतिः स्पष्टैव ।

वार्णपरिभाषाप्रवृत्तिमभ्युपेत्याप्याह-‘किञ्चेति । अत्रैव* । “समर्थानाम्” इति सूत्र एव ।
एवञ्च वार्णपरिभाषाया अनित्यत्वादप्रवृत्तौ समर्थग्रहणस्य प्रत्याख्याने यदि तु तत्प्रवृत्तिस्तदा
वृद्धेर्वारणाय समर्थग्रहणमस्तु न तु अहृतव्यूहपरिभाषाज्ञापनायेति भावः । *अत्र एव* ।
अहृतव्यूहपरिभाषाया असत्त्वादेव । *पूर्वोक्तेति* । प्रतिषेधविषयेऽलङ्कारादिति कैयटरीत्ये-
त्यर्थः । *उस्निमित्तक एवेति* । एवञ्च समानाध्यत्यमस्तीत्यसिद्धवत्सुप्रसङ्गं विषयतास्तीति
सुचितम् । *अन्यथा* । पूर्वोक्तकैयटरीत्यनङ्गीकारे । *तन्निमित्तक इति* । इहनिमित्तक
इत्यर्थः । एवञ्च उस्निमित्तकत्वमाकारलोपस्य नास्तीति “वसोः सम्प्रसारणमज्जिधौ” इति
वार्तिकस्य तद्भाष्यस्य चासङ्गतिः स्यादिति भावः ।

अथ केचित्-पुपुषः तस्युप इत्यादाविहनिमित्तकोपधाकारलोपः स्यात्तदा जातोकार-
लोपो वसोः सम्प्रसारणे वलो निवृत्तेरियोनिवृत्तौ निमित्तविनाशान्निरुद्धेत् । पुनराकारलोपस्तु-
लक्ष्ये लक्षणमिति न्यायेन अनुपपन्न इतोऽरूपासिद्ध्या इहनिमित्तकाकारलोपोऽङ्गीकारो नोचित
इति तत्र । अस्य ग्रन्थस्य इहनिमित्तकलोपप्रवृत्त्या रूपसिद्धिर्मेविष्यतीत्येतत्तात्पर्य-
कत्वाभावात् ।

किन्तु इहनिमित्तको लोपो यदि स्यात्तदा भवदुष्करीत्या रूपासिद्धिः स्यादेवेति यदिष्ट-
पसाधकस्य वसोः सम्प्रसारणनिमित्तकस्य लोपस्य सिध्यर्थं “वसोः सम्प्रसारणमज्जिधौ सिद्धं
वक्तव्यम्” इति वार्तिके तदसङ्गतमेव स्यादित्यत्र तात्पर्यम् । *अत एव* । अहृतव्यूह-
परिभाषाया असत्त्वादेव । *चोऽप्रत्यङ्गस्येति* । चोऽनुसाकारानुकारेऽभवती प्रत्यङ्गस्य ।
अन्तरङ्गस्य । यथा प्रतीच प्रतीचेत्यत्र ग्राहस्यापि अन्तरङ्ग्यवादेशस्य भाविसम्प्रसारण-
विषये प्रतिषेधमाहुरिति वचनेन बोधितः । *न प्रत्याख्यातमिति* । एनामाध्यत्य न प्रत्या-
ख्यातमित्यर्थः । नैप दोषः एतदेव ज्ञापयत्याध्याप्यो न चोऽप्रत्यङ्ग भवतीति । यद्वै चोदीयेत्-
नास्तीति पुत्रया यत्प्रत्याख्याने तत्त्वन्वयः । *तद्वैयर्थ्यमिति* । अनया परिभाषया तद्भा-
स्येय अभावादिति भावः । अत एव उक्तोऽर्थः । *यतन* । सनुकनिर्देशरूपः । अहृतव्यूहपरि-

इत्यादि तुक् प्राप्नोतीति भाष्ये उक्तम् । एतत्सत्त्वे तु तुकोऽप्राप्त्या यत्ता-
यशकत्वकथनमसङ्गमिति स्पष्टमेव । न चैतदनित्यत्वज्ञापनार्थमेव तदिति
तदाशयः, अत्रश्रमत्रेत्यन्तरस्वारस्य भङ्गापत्तेः ।

किञ्च अन्यैव “प्रत्ययान्तरपदयोश्च” (७-२-२८) “अदो जग्धिर्ल्यसि
किति” (२-४-३६) इत्यनयश्चारितार्थ्येन तज्ज्ञापकवशाल्लुप्तपोरन्तर-
ङ्गाधकता भाष्योक्ता भज्येत ।

किञ्चैवा भाष्ये न दृश्यते । तदुक्तमसिद्धवत्सूत्रे कैयटेन । “निमित्ता-
भाषे नैमित्तिकस्याप्यथा” इति परिभाषाया भाष्यकृतानाश्रयणादिति ।
पदसंस्कारपक्षे हरिरित्यादौ विसर्गे कृते ततो गच्छतीत्यादिसम्बन्धे हरिः
गच्छतीत्याद्येव साधु । तद्विषये पदसंस्कारपक्षानाश्रयणं वेति दिक् ॥ ५६ ॥
अैत्वी ।

भाषासर्गे दोषान्तरमप्यस्तीत्याह—*किञ्चेति । अन्यैव* । अहूनेत्यनयैव । यद्यपि तयो-
रत्रैव अन्तर्भावसम्भवः सम्भवति । तथापि विशिष्यज्ञापकप्रदर्शनपूर्वकं तयोर्भुत्वादनवैयर्थ्यं
दुर्वारमित्यत्र तात्पर्यम् ।

ननु अकृतव्युहपरिभाषाया अभावे तस्यावित्यादौ पूर्वप्रवृत्तेः पटुत्वस्यानिवृत्तौ रूपासिद्धिः ।
न घेतदर्थमकृतस्यस्याः स्वीकारे प्राप्तजीविक इत्यादिबहुमीदौ “गोक्षिपोः” इति इत्यत्रे
इत्यस्य अत्रणानापत्तिरिति वाच्यम् । “अघः परस्मिन्” इति सूत्रभाष्ये पेनेय इत्यत्र पुनोश-
ब्दादुक्तं “यन्व” इत्यनेनेकारलोपे सन्निधयोगादिष्टम्भायेन नकारस्यापि निवृत्तिमाहादक्य वि-
धित्वात्स्य भावसाधनत्वमाश्रित्य पूर्वस्य विधौ भाव इत्यर्थाश्रयणात् स्थानिवद्भावाश्रयणेन
सन्निधोममत्याग्नकारासिद्धिसूत्रकभाष्येणोभयोरमित्यवस्थैव चजननात् । एवं च प्राप्तजीविक
इत्यादाविकारस्य ध्वजे सुलभमेवेति चेन्न । “स्तौति स्तोभति” इतिनिर्देशेन सपादसत्ताध्या-
यीस्यकार्यप्रवृत्तियोग्ये विषये त्रैपादिकस्य पूर्वमप्रवृत्तेः सूचनेन अदोपात् ।

दोषान्तरमाह—*किञ्चेति* । न दृश्यते* । कल्तोऽपि न दृश्यते । तदाह—*तदुक्तमिति*
ननु परिभाषाया अन्वयीकारे वपुः इत्यादिमिद्धिः पदसंस्कारपक्षमाश्रित्योक्तरीत्या माप्यते
चेदितिष्टमाध्यावरितरत आह—*पदसंस्कारेति* । तथा प्रयोगादर्शनात् पक्षान्तरमाह—
तद्विषये इति । अत्र वाक्यसंस्कारपक्षस्यैव आश्रयणमिति भावः ।

यन्मुनः वपुः इत्यादौ जानम्यापीठः सम्प्रसारणोक्तः यणि सम्प्रसारणस्य पद्विरुद्धत्वेना-
सिद्धत्वाद्धलि लोप इष्टस्यस्य सिद्धिरित्यपि बोध्यम् । *दिगिति* । दिगर्थन्तु “कक्ष्योः”
सत्यप्रकाशिका ।

केचिन् यथादेरित्यनुसृत्य तत्प्रमाणमप्यादिदोऽप्रवृत्तिरित्याहुः ।

अन्येदु निषमताक्षणां निषममुनेन प्रवृत्तिमन्तुपेत्येदम् । विधिमुनेन प्रवृत्तौ तु सत्यपि
इति ततः सम्प्रसारणे यणि सम्प्रसारणस्याप्यसिद्धत्वाद्दीप्तेति यन्लोपे रूपमिद्धिः । किञ्च सम्प्र-
सारणस्य इत्यादौविधिर्नैव नित्यस्यात्पूर्णं प्रवृत्तौ ततो यथादिप्रमाणादिर्नैवाहुः ।

तथापयोगादर्शमादिति । “विमर्जनीयस्य म” इतिमुपस्यभाष्यवितोषाच्छेषापि बो-
ध्यम् । तत्रहि भाष्ये—“स्तौति” नातुवर्तते कलाभावात् नभोभयत्र सत्प्रमाणः विमर्जये-
वेत्यर्थः । अथावगतने एव सत्त्वापत्तिः “नयरे विमर्जनीयः” इति ज्ञापकेन अर्थेन तस्य
प्रवृत्तिरित्युक्तम् । स्वमने इति गच्छतीत्यत्र त्रिष्टुभ्योपशरणात् कुप्पोरित्यत्र वरित्यनुवृत्ते-
रावस्थानेन तदपहृतं स्यात् । *अत्रस्यैवाश्रयणमिति* । अदिरिद्विषयस्येत्यादौ “प्रा-
गिहोपमादि” इत्यादिनिष्ठाश्रयणं इति एव यथाह्यनेनेतिमिद्धिः । स्याता स्नातेत्यादौ तु

अन्तरङ्गादप्यपवादो बलीयान् ॥ ५७ ॥

तत्रापवादपदार्थमाह—

येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति ॥५८॥

प्राप्त इति भावे कः । येन नाप्राप्त इत्यस्य यत्कर्तृकावश्यप्राप्तावित्यर्थो नञ्द्वयस्य प्रकृतार्थदाढ्यबाधकत्वात् । एवं च विशेषशास्त्रोद्देश्यविशेषधर्मावच्छिन्नवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नोद्देश्यकशास्त्रस्य विशेषशास्त्रेण बाधः । भैरवी ।

इति सूत्रे न होई वचने नापि न्याय इति हरदत्तोक्तस्य संप्रहः । एवं स्थिते एनां परिभाषां स्वीकृत्य अस्या अनिष्टविषये प्रवृत्त्यर्थेन नित्यत्वे स्वीकुर्वन्तो गौरवपराहता इति ॥ ५६ ॥

अन्तरङ्गादपीति । अत्र अपि नापरादिसमुच्चयः । तत्र* । पूर्वोक्तसंप्राहकवाक्ये । घटकत्वं सप्तम्यर्थः । परिभाषाघटकप्राप्तपदे कर्माध्यक्षस्य अनुपयोगादाह—*प्राप्त इतीति । येनेति कर्तरि कृतीया । सतीत्यस्य अध्याहारः । प्राप्तिरित्येव वा वृत्तिस्थाः । अवश्येत्यस्य एताभायाह—*नञ्द्वयस्येति* । अत एव येन प्राप्त इत्येव शोचम् । येनेत्यत्र यच्छब्दार्थश्चोत्तरगं एव । तत्कर्तृकप्राप्तेश्च इत्येव क्त्वञ्च—अपवादविषये उत्तरगंप्राप्तेरपि सम्बन्धित्वम्, लोकप्येव दृश्यते, सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तर्कं कौण्डिन्यायेत्यत्रापवादतत्त्वदानविषयेऽपि दधिदानस्य प्रसक्तः । *एवञ्च* । तादृशस्य शब्दार्थस्य व्यवस्थितौ च । विशेषेत्प्यादिकलितात्मकम्, विशेषशस्त्रोद्देश्यभूतं यद्विशेषधर्मावच्छिन्नं तद्वृत्तिर्यः सामान्यधर्मस्तदवच्छिन्नोद्देश्य-

तत्त्वप्रकाशिका ।

स्यादिव्यभ्यासेन इत्यादिनिर्देशेन त्रैपादिककार्यप्रतिबन्धकसपादसप्ताध्यायीत्यकार्यप्रवृत्तिायोपयतायाम् त्रैपादिकत्वाप्रवृत्त्या न त्वर्गादिश्रवणम् ।

वस्तुतस्तु “अवृत्त” इति परिभाषाश्रयणमेव लघु, अनेकवचनकल्पनापेक्षयाऽनुगतैकवचनकल्पनाया लोघवात् । अत एव वैभाषिणम् इति सिध्यति । अन्यथाऽन्तरङ्गत्वाद्यादेशे पश्चाद्विभाजयितुरिति णिलोपेऽपि अन्त्यस्य शकारस्य लोपे तदसिद्धिः स्पष्टैव । नच विभाजयितुर्लोकपे इति वक्तव्ये णिलोपप्रकथने सर्वलोपाधेमिति वाच्यम् । एवमपि घटसेदुपोरित्यसिद्ध्यापत्तिः । पदावधिकेऽन्वाख्यानं प्रथमान्ताद् दृष्ट इति सिद्धान्तेन घटसु सदवस्तु ओसितस्थितेऽन्तरङ्गत्वात्समासात्प्रागेव पृथग्वाच्यसलोपयोरिति च तस्य श्रवणे दुर्घारमेव । अत एव “यमुत्सम्पत्सारणमज्जियधौ सिद्धं वक्तव्यम्” इति वार्तिके सङ्गच्छते । एतत्परिभाषाया अभावे अन्तरङ्गत्वादिति तन्निमित्तक एव पपुष इत्याद्यालोपसिद्धेस्तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । न च “अवृत्त” इति परिभाषास्वीकारे “ऊढवो” इति सूत्रे सतुक्कनिर्देशस्यानित्यत्वज्ञापकत्वेन चारितार्थ्यं वाच्यं तच्चावश्यमत्र तुल्यभावार्थः यत्नः कर्तव्य इति आप्यादिहृदमिति वाच्यम् । भवन्मतेऽपि धाणपरिभाषास्वीकारेऽन्यमित्यक्षरत्वारस्य भङ्गस्य तुल्यत्वात् । अतस्तन्पेरित्युक्त्या विपुल इत्यप्राकृतमन्थेः प्रत्ययोत्पत्त्यावपि अन्यत्र तयोत्पत्तौ प्रमाणमात्रेण समर्थग्रहणस्य वैयर्थ्यापेक्षे ॥ ५६ ॥

बलीयानिति । अपवादत्वादिति शेषः । *नाप्राप्त इति* । नञ्द्वयस्याप्राप्त इत्यनेन “सुप्सुपा” इति समासः । *अवश्यप्राप्ताविति* । मान्तसमानार्थकावश्यप्राप्तेनात्र समासः । अत एव “अवश्यप्राप्तमर्थयो” इति निर्देशः सङ्गच्छते । अन्यथा मान्तस्य योपपत्त्याभावाद्बुद्धोपप्राप्त्या निर्देशासङ्गतिः स्यात् ।

एतेन “सुप्सुपादवश्यम्” इत्यस्याप्राप्त्या अवश्यप्राप्ताविति चिन्त्यमित्यवास्तम् । *विशेषशस्त्रेण बाध इत्यर्थः इति* । ननु सामान्यधर्मे विशेषशस्त्रोद्देश्यविशेषधर्मावच्छिन्नविशेषध-

भैरवी ।

दीर्घ" इत्येतन्निरूपितं बाध्यत्वम् "इको यणचि" "आद्गुण" इत्येतयोर्न स्यात् अक्षपदप्रयो-
ज्यविषयताव्यापकत्वस्य "आद्गुण" इत्येतद्घटकात्पदप्रयोज्यविषयतायाम् "इको यणचि"
इत्येतद्वटकेक्षपदप्रयोज्यविषयतायाच्चा(१)भावात् । न चेक्षपदप्रयोज्यविषयतायामात्पदप्रयो-
ज्यविषयतायां चान्यतरत्वेन अक्षपदप्रयोज्यविषयताव्यापकत्वस्य सत्त्वाच्च दोष इति वाच्यम्
"आमिसर्वनाम्नः सुद्" इत्येतद्बाध्यत्वस्य "ह्रस्वनद्यापो सुद्" "बहुवचनेऽलयेत्" इत्यनयो-

तत्त्वप्रकाशिका ।

रण्यापत्तेः "ह्रस्वनद्यापो सुद्" इत्येतद्घटकह्रस्वपदप्रयोज्यविषयतायां "बहुवचनेऽलयेत्" इ-
इत्येतद्घटकात्पदप्रयोज्यविषयतायां च अन्यतरत्वेन "आमि सर्वनाम्नः" इत्येतद्घटकात्पदप्र-
योज्यविषयताव्यापकत्वस्य सत्त्वात् इति चेन्मैवम् बाधकत्वेन जिघृक्षितशास्त्रोद्योददेश्यदली-
यविषयताविशिष्टान्यतमत्ववद्विषयताप्रयोजकपदघटितत्वं बाध्यत्वे बीजमितिस्वीकारेणादो-
षात् । वैशिष्ट्यञ्च स्वनिष्ठव्याप्यतामिरूपितव्यापकतावच्छेदकत्वं स्वनिष्ठव्याप्यतानिरूपित-
व्यापकतावच्छेदकविशिष्टाभावात् एतदुभयसम्बन्धेन । व्यापकतावच्छेदकविशिष्टञ्च स्वाभाव-
चवृत्तित्वस्वाधिकरणवृत्त्यन्यताभावाप्रतियोगित्व एतदुभयसम्बन्धेन "ह्रस्वनद्यापो" इति ह-
्रस्वपदप्रयोज्य "बहुवचनेऽलयेत्" इत्येतद्घटकात्पदप्रयोज्यविषयताद्वयवृत्त्यन्यतमत्वे "आमि-
सर्वनाम्नः सुद्" इत्येतद्वटकात्पदप्रयोज्यविषयताव्यापकतावच्छेदकत्वस्य सत्त्वेऽपि आत्पदप्रयो-
ज्यविषयताव्यापकतावच्छेदकं यत् ह्रस्वपदप्रयोज्यविषयतामात्रवृत्त्यन्यतमत्वं निरुक्तोभयस-
म्बन्धेन तद्वैशिष्ट्यस्यैव सत्त्वाच्च दोषः, ह्रस्वपदप्रयोज्यविषयतामात्रवृत्त्यन्यतमत्वाभावावति-
विषयतयोः ह्रस्वपदप्रयोज्ययोः यदन्यतमत्वं तत्रास्यासत्त्वात् ह्रस्वपदप्रयोज्यविषयतामात्र-
वृत्त्यन्यतमत्वाधिकरणवृत्त्यन्यताभावाप्रतियोगिकत्वाच्च निरुक्तविषयताद्वयवृत्त्यन्यतमत्व-
स्य । अत एव येन नाप्राप्तिन्यायेन "विसर्जनीयस्य सः" इत्यस्यापवादोऽयम् ननु "शर्परे नि-
सर्जनीयः" इत्यस्येति कौमुदीग्रन्थः सङ्गच्छते । "कुण्डोऽऽकऽऽपौ च" इतिशास्त्रघटककुपुषपदप्रयो-
ज्यविषयताव्यापकतावच्छेदक "विसर्जनीयस्य सः" इत्येतद्घटकखर्षपदप्रयोज्यविषयतामात्रवृ-
त्त्यन्यतमत्वस्य निरुक्तोभयसम्बन्धेन "शर्परे विसर्जनीयः" इत्येतद्घटकखर्षपदप्रयोज्य "विसर्ज-
नीयस्य" इत्येतद्घटकखर्षपदप्रयोज्यविषयताद्वयवृत्त्यन्यतमत्वे वैशिष्ट्यस्यैव सत्त्वेन तदभावस्या-
भावात् । नच "उर्ऋत्" इतरारामपवाद इति न सङ्गच्छते । "ऋतइच्छातोः" इत्येतद्घटकऋत्पद-
प्रयोज्य "ऋमेर्गृद्धि" रित्येतद्घटकऋत्पदप्रयोज्य "पुगन्तलघूपधस्यच" इत्यप्रत्ययइत्पदप्रयोज्यवि-
षयमात्रवृत्त्यन्यतमत्वे "ऋत इच्छातो" रित्यप्रत्ययऋत्पदप्रयोज्यपुगन्तलघूपधस्येत्यप्रत्यय-
इत्पदप्रयोज्यविषयताद्वयवृत्त्यन्यतमत्वस्य निरुक्तोभयसम्बन्धेन वैशिष्ट्यस्यैव सत्त्वादिति
वाच्यम्, व्यापकतावच्छेदकविशिष्टञ्च स्वाध्यय्यधिकरणविषयतावृत्तित्वस्यापि सम्बन्धस्य
दानेनादोषात् । निरुक्तविषयताद्वयवृत्त्यन्यतमत्वाध्यय्यग्रन्तेत्यत्र इक्षपदप्रयोज्यविषयतास-
मानाधिकरणविषयतावत्त्वस्यैव निरुक्तविषयताव्रितयवृत्त्यन्यतमत्वे सत्त्वेन स्वाध्यय्यधि-
रणविषयतावृत्तित्वस्याभावात् । नचैवं येन नाप्राप्तिन्यायेत्यादिकौमुदीविरोधः, "विसर्जनी-
यस्य" इत्येतद्घटनखर्षपदप्रयोज्यविषयतामात्रव्याप्यविषयतावृत्तित्वस्य
"शर्परे" इत्येतद्घटकखर्षपदप्रयोज्य "विसर्जनीयस्य सः" इत्येतद्घटकखर्षपदप्रयोज्यविषयताद्वयवृ-

(१) स्वसमानाधिकरणात्यन्ताभावाप्रतियोगित्वव्यापकत्वं सामानाधिकरण्यमात्र
विषयतासम्बन्धेन । एवमाकः विषयतायाऽधिकरणं यद्व्यापारिरिति, तत्र "इको यणचि" इतीक्ष-
दीयविषयताया अमावास्याप्रतियोगित्वविक्रपदे इत्यव्यापकत्वम् "इको यणचि" इत्यस्य ।
एवं "आद्गुण" इत्यस्य श्रौत इत्यादौ विषयता नास्तीति तत्त्वम् ।

तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यं ह्येतस्य बाधकत्वे योजम् ।

मैत्री ।

इति । नच “उक्तं इति क्रमात् हररारामपवाद इति सर्वसम्मतं तत्र विज्ञेयशास्त्रोद्देशप्रवृत्तिसामान्यधर्मावच्छिन्नोद्देशकत्वे न कस्यापीरादिविधायकस्येति सूत्रत्रयापवादत्वव्यवहारानुपत्तिरिति वाच्यम् । तत्रापि द्विचिन्नातुविहितप्रत्ययपरकाङ्क्षावत्त्वविशिष्टोपधाभिन्नकृत्वस्य तादृशधर्मस्य सम्भवात् । एवमेव अन्यत्रापि बाध्यसामान्यचिन्तायामूहनीयम् । अपवादशास्त्रस्य उत्सर्गशास्त्रबाधतायां योजमाह—*तदप्राप्तीति* । सामान्यशास्त्राप्रप्तियोग्ये विषये इत्यर्थः । एतेन उत्सर्गस्य प्रवृत्त्युत्तरमपवादत्वेनाभिमतस्य प्रवृत्तिसम्भवतत्त्वप्रकाशिका ।

एतन्मते अभावादिति वाच्यम्, इष्टत्वात् ।

नच “शर्परे विसर्जनीयः” इत्येतद्विषयेऽपिऽऽकऽऽपौ स्यातामिति वाच्यम् ? “कुप्योऽऽकऽऽपौ च” इत्यस्यासिद्धत्वेन “शर्परे विसर्जनीयः” इत्यस्यैव प्रवृत्तेः । “विसर्जनीयस्य स” इत्येतद्दृष्ट्या असिद्धत्वबाधमन्तरा “कुप्योऽऽकऽऽपौ च” इत्यस्य चारितार्थ्यं सम्भवेन तद्दृष्ट्याऽसिद्धत्वबाधेनैवोपपत्तौ “शर्परे विसर्जनीयः” इत्येतद्दृष्ट्या अभिद्धत्वबाधे मानाभावादिति दिक् । *तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यमिति* । बाधकत्वे पञ्चबीजानि, तथाहि—तदप्राप्तियोग्ये अचारितार्थ्यं, तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यविशिष्टे कृते चारितार्थ्यम् । तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यविशिष्टे कृते चारितार्थ्यभाक्, तदप्राप्तियोग्येऽचारितार्थ्यविशिष्टे कृते चारितार्थ्यभाष्यविशिष्टोत्सर्गशास्त्रप्रवृत्तिसम्भावनाप्रयोज्यपवादशास्त्रवैयर्थ्यम् । उत्सर्गशास्त्रप्रवृत्त्यभावसम्भावनाप्रयोज्यपवादशास्त्रप्रवृत्तिसम्भावना चेति । नच द्वितीययोजनमुपपन्नम्, यदि कृते चारितार्थ्यं तर्हि न तदप्राप्तियोग्यं अचारितार्थ्यं, यदि यदप्राप्तियोग्यं अचारितार्थ्यं तर्हि न कृते चारितार्थ्यमिति विप्रतिषिद्धत्वादिति वाच्यम् स्वविषेयाऽपठिते यत्स्यात्प्राप्तियोग्ये तत्राचारितार्थ्यविशिष्टे कृते चारितार्थ्यबीजमिति स्वीकारेणादोषात् । तत्र प्रथमभावे यत्र तत्र स्वप्रवृत्तियोग्यातिरिक्तत्वेन सङ्कोचः । यथा—हे रमे इत्यादौ रमासु इति स्थिते “हृल्ल्याम्” इत्यप्रवृत्तियोग्ये चारितार्थ्यभाष्यस्य “समुद्धौ च” इत्यस्य सत्येन “सुद्धौ च” इत्येतत्प्रवृत्तियोग्ये यत्सम्प्रवृत्त्यवहितपूर्वविशिष्टं भाष्यतमम् तदतिरिक्तत्वेन सङ्कोचः ।

एतत् द्वितीयं भावे तत्र स्वप्रतिषेधव्यतिरिक्तत्वेन स्वविषेयपरितातिरिक्तत्वेन च सङ्कोचः तदप्राप्तियोग्ये अचारितार्थ्यस्य कृते चारितार्थ्यस्य चेति बीजद्वयस्य सरवात् । यथा सुदुर्दृष्ट्या, सुदुर्प्रवृत्तियोग्यं यत् अद्वैतसर्वनामाध्यवहितोत्तरत्वविशिष्टं आम् तदतिरिक्तत्वेन सुदुर्दृष्ट्यातिरिक्तत्वेन च सुदुर्विधायकं सङ्कोच इति सुतः पूर्वं न सुद ।

यत्र तृतीयं बीजं तत्र स्वप्रवृत्तियोग्यो यः स्वीयोद्देशप्रतावच्छेदकावच्छिन्नः तदतिरिक्तत्वेन सङ्कोचः, तदप्राप्तियोग्ये अचारितार्थ्यरूपबीजेन स्वप्रवृत्तियोग्येऽस्य कृते चारितार्थ्यभाष्य इति बीजेन स्वीयोद्देशप्रतावच्छेदकावच्छिन्नातिरिक्तत्वेऽस्य च शाभेन मियोगिनेऽप्यभिगमनाभावे कृत्वा विशिष्टातिरिक्तत्वेन सङ्कोचात् । यथा वाङ्मन्थेऽत्र प्रवृत्तियोग्यो यः स्वीयोद्देशप्रतावच्छेदकावच्छिन्नः आधस्ताङ्गाध्यवहितोत्तरत्वविशिष्टद्विस्वावच्छिन्नः आम् प्रवृत्तियोग्यस्य तदतिरिक्तत्वेन “वाङ्मन्थः” इत्यत्र सङ्कोचः आम्प्रवृत्त्युत्तरे आम्प्रवृत्तियोग्यताया आमा वाचाचारमिदः तदेतत्पञ्चने “हृदिपद्याद्विषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविष्टाने” इति शब्देन इ इन्द्रमियादौ मर्यादाप्रेतप्रवृत्तियोग्यताया सत्येऽपि सवर्गाऽध्यवहितोत्तरत्वविशिष्टमर्यादास्वस्याभावात्सवर्गाध्यवहितोत्तरत्वविशिष्टमर्यादातिरिक्तत्वात्सत्यमप्येतेति अन्तःप्राप्तादनुगो मर्यादेऽस्य “अपवादो यत्तन्मत्र चरितार्थ्यस्तर्हि अन्तराङ्गे वाध्यते” इति ।

चतुर्थं बीजं यत्र तत्र द्वितीयबीजसङ्कोचः । यथा—आम्प्रवृत्त्युत्तरे तुमप्राप्तियोग्ये अचा-

अत एव "आयादयः" (३-१-३१) इति सूत्रे गोपायिष्यतीत्यादावाया-
दीन् याधित्वा परत्वात् स्यादयः प्राप्नुवन्तीत्याशङ्क्यानवकाशा आयादयः ।
गोपायतीत्यादावपि शृप्स्यादिः प्राप्नोति । न च सति शप्यसति वा न विशेष-
पः, अन्यदिदानोमिदमुच्यते नास्ति विशेष इति । यदुक्तमायादीनां स्यादि-
भिरव्याप्तोऽवकाश इति स नास्त्यवकाश इति भाष्ये उक्तम् । एवमत्र तत्प्र-
वृत्त्युत्तरं चारितार्थ्येऽपि तदव्याप्तोऽवकाशो नास्तीति सममेव ।

किञ्चानेन न्यायेन तत्प्रवृत्त्युत्तरमपि चारितार्थ्येऽपि तद्वाधयोधनम् ।
अन्यथानवकाशत्वेनैव याधे सिद्धे एतत्कथनस्यैव वैयर्थ्यापत्तेस्तत्कौडिभ्य-
भैरवी ।

एव बाध इति ध्वनितम् । *अत एव* । सामान्यशास्त्राप्रामियोग्ये विषये चारितार्थ्यस्य
बाधकत्वबोजत्वादेव । *आयादय इतीति* । "तस्मिन्" खुरे आर्द्धधातुक इत्यस्य परसप्तमी-
त्वपक्षे कथमिदं विज्ञायते आयादिभ्यो यदार्द्धधातुकं तस्मिन्नवस्थिते वा आयादीनां निवृत्ति-
र्भवतीति आहोस्विदायादिप्रकृतेर्यदार्द्धधातुकं तस्मिन्नवस्थिते वा आयादीनामुत्पत्तिर्भव-
तीति विचारितम् । निवृत्तिशब्द उत्पत्तिशब्दो वा अध्याहृत्यः "गुप्धूप" इत्यारभ्य यत्सु-
अत्रयं तस्य अर्थ योगः शेषस्तदा सर्वत्रानैमित्तिकत्वेन पूर्वमुत्पन्नस्यायादेः अवगमम् । यत्र
स्वार्द्धधातुकस्य ध्वने तत्र वा आयादीनां निवृत्तिरिति प्रथमः पक्षः ।

यदा त्वेकवाक्यता आर्द्धधातुक इत्यस्यायादय इत्यस्य च तदा द्वितीयः पक्षः । तत्र
प्रथमपक्षे गुप्तिर्गुणेति न सिध्यति, पूर्ववाक्यप्राप्तायप्रत्ययान्तादप्रत्ययादित्यकारेण क्तिनो-
वाधनात् । गोपा गोपायाञ्कारेति प्राप्नोति । द्वितीयपक्षे यद्यपि गुप्तिर्गुणेति सिध्यति त-
थापि गोपायाञ्कार गोपाया इत्येतत् न सिध्यति । पूर्वमायप्रत्ययाभावेन प्रत्ययान्तत्ववि-
रहादम् अकारप्रत्ययश्च न स्यादिति भावः । एवम्प्रकारेण पक्षद्वयेऽपि दूषणमभिधाय अवि-
शेषेणायादीनां वा विधिमुक्त्वा सार्वधातुके नित्यमिति वक्ष्यामि इत्युक्तम् । एतत्पक्षे स्यादि-
बलोपस्त्व विप्रतिषेधेन स्यादीनामवकाशः करिष्यति हरिष्यति, आयादीनामवकाशः गोपा-
यति धूपायति । गोपायिष्यतीत्यत्र परत्वात् स्यादयः प्राप्नुवन्ति । न चैष दोषः आयादि-
विधानस्य अनवकाशत्वात् ।

ननु चेदानीमवकाशः प्रकल्पः गोपायति धूपायति, अत्रापि शप्स्यादिर्भवति नास्ति
विशेषः सति वा शप्सति वा, अन्यदिशानोमुच्यते नास्ति विशेष इति ।

यत्तु तदुक्तमायादीनां स्यादिभिरव्याप्तोऽवकाशः स नास्त्यवकाशः । पर्जन्यबललक्षणे
प्रवर्तते इति न्यायात् । एवं रीत्या आयादीनामपवादत्वाद्विप्रतिषेधात् स्यादोनां बलवत्त्वे
प्राप्नोति दूषणे परिहृतम् अन्यदिदानोमित्यनेन बाध्यसामान्यचिन्तया बाध्यप्रवृत्त्युत्तरा-
रितार्थ्येऽपि बाधकत्वमिति स्पष्टमेव लभ्यते । इदञ्च अपवादत्वे न्यायभेदेन विकारणवन्नित्यं
विहितानामायादीनामुक्तम् । एतेन लिट्यायादीनां चारितार्थ्येन अनवकाशा आयादय इत्य-
सङ्गतमित्यपास्तम् । "आर्द्धधातुक" इत्यस्य विषयसप्तमोत्वेन सर्वदोषोद्धार इति त्वन्यत् ।

ननु विशेषशास्त्रस्य अचारितार्थ्य इत्येव सिद्धे तदप्राप्तीत्यादिष्यममत् आह—*किञ्चे-
ति* । अनेन न्यायेन इत्यादिना । *तत्प्रवृत्त्युत्तरम्* । सामान्यशास्त्रप्रवृत्त्युत्तरम् । *चारिता-
र्थ्येऽपि* । अपवादत्वाभिमतस्य चारितार्थ्येऽपि । अत्रापिभिन्नक्रमः । तेन तत्प्रवृत्त्युत्तरमपि
चारितार्थ्यमित्यस्य लामः । एवञ्च सामान्यशास्त्रप्रवृत्त्युत्तरं पूर्वं वा यस्य स्वार्थमिदं प्राप्ति-
स्तस्यापवादत्वेन सामान्यशास्त्रबाधकत्वमित्युक्तं भवति । *अन्यथा* । उत्सर्गप्रवृत्त्युत्तर-
मपि चारितार्थ्यमात्रे । *एतत्कथनम्* । भाष्येऽपवादत्वेन बाधकत्वकथनम् ।

ननु अनेन सर्वथा अनवकाशत्वेनैव बाधः प्रकाशयत इत्येव किं न स्यादत आह—*तत्र-

ध्यायप्रदर्शनस्यापि वैयर्थ्यापत्तेश्च । यथा प्रथमद्विर्वचनस्य तदुत्तरं साव-
काशेनापि द्वितीयद्विर्वचनेन बाधः । यथा चादेरपि प्रवृत्त्या चरितार्थेन “आदेः
परस्य” (१-१-५४) इत्यनेन “अलोऽन्त्यस्य” (१-१-५२) इत्यस्य बाधः ।
तदुक्तं “मिदचोऽन्त्यात्” (१-१-४७) इति सूत्रे भाष्ये-सत्यपि सम्भवे
बाधनं भवतीति । अन्यथा ब्राह्मण्येभ्यो दधि दीयतां । तर्कं कौण्डिन्यायेत्यत्र
तददानेन दधिदानस्य बाधो न स्यात् । तद्दानोत्तरं तत्पूर्वं वा तद्दानस्य
चारितार्थ्यसम्भवात् ।

अत एव विषयभेदेऽप्यपवादत्वम् । अत एवाचिरादेशेन नुतोऽपि अप-
वादत्वाद्वाधमाशङ्क्य “न तिसृ” (६-४-४) इति शापकेन समाहितं वृज्य-
भैरवी ।

कौण्डिन्येति* । अत्र यथा तददानस्य दधिदानोत्तराचारितार्थ्येऽपि बाधकत्वम् दृश्यते । अ-
स्यैव अर्थस्य दृष्टान्तद्वयमाह—*यथाप्रथमेति च* । *आदेरपीति* । अत्रापिशब्दो भिन्न-
क्रमः । चरितार्थ्येनेत्यनन्तरं द्रष्टव्यः । उक्तार्थे भाष्यसम्भतिमाह—*तदुक्तमिति* । *अत-
एव* । सत्यपि सम्भवे बाधाङ्गीकारादेव ।

अत्रार्थं मानं दर्शयति—*अत एवेति* । विषयभेदेऽपि बाधाङ्गीकारादेव । एतच्च यथा
प्रथमेत्यादिना दृष्टान्तद्वयेन प्रदर्शितं यथा वा रूपातोर्विहितेन इनमा विषयभेदेऽपि दानप्रवृ-
त्त्युत्तरं चरितार्थ्येन बाधो बाधनम् । *अत एव* । विषयभेदेऽप्यपवादत्वादेव । *बाधमाशङ्-
क्येति* । बाध्यतामान्यविस्तृत्या गुणद्वितीयत्वाबाधकत्ववत् नुदबाधकत्वमपि स्यादिति वा नानु-
स्ता तस्य निरयकादास्येमापवादादत्यपक्षे, न तु येन बाधमाशङ्क्यायेन नुदप्रवृत्त्युत्तरं रादेशाप्राप्तेः ।
विषयभेदेऽपि अपवादस्य भवतीत्यत्र ॥ दृष्टान्तता बोध्या । उक्तार्थसाधने विपरीतार्थरूपनेन
तत्त्वप्रकाशिका—

रितार्थस्य लुकि कृते चारितार्थ्यमावस्य अमि कृते यदि लुक् स्यात्तदा “अतोऽम्” इत्यस्य
वैयर्थ्यस्य च सत्त्वेन “अतोऽम्” इत्येतत्प्रवृत्तियोगातिरिक्तत्वेन “अतोऽम्” इत्येतद्विषय-
वृत्तातिरिक्तत्वेन ॥ “स्वमोर्ननुमकात्” इत्यत्र सङ्क्षेपेन सोः पूर्वं अमनन्तरम् ॥ लुक् ।

यत्र पञ्चमर्थाजन्तत्र अपवादविषयातिरिक्तत्वेन सङ्कोचः । यथा—दधतीत्यादी “क्षोऽन्त”
इत्येतत्प्रवृत्त्यपवादसम्भावनायां “अदभ्यस्तात्” इत्येतत्प्रवृत्तिमन्भावनायाः सत्त्वेन “अद-
भ्यस्तात्” परत्वेन सम्भावितो यो यः तदतिरिक्तत्वेन “क्षोऽन्त” इत्यत्र सङ्कोचः । अत्रेदं बोध्यम्
प्रथमबोधजस्य रमेत्यादी प्रतिपदोक्तत्वादेत्ये पञ्चाक्षरत्वादिलोप इति शेषरादिलापनमन्त-
रेण मान्यप्रयोजनम् । रमेत्यत्र पूर्वं ह्रस्वत्वादिभ्योपे पञ्चाक्षरेऽपि क्षतिविरहादिति दिक् ।

आदेः परस्य इत्यनेनेति*—विन्यसिदम् । अप्रधानानुरोधेन प्रधानात्पूरोरन्याप्यत्वेन “उ-
दभ्यान्तम्भो” रित्यादी “अलोऽन्त्यस्य” इत्येतत्प्रवृत्त्या आकाङ्क्षायाः शास्त्रत्वेन च “आदे
परस्य” इत्यनेन निरवकाशत्वेनैकलोऽन्त्यस्येत्यस्य बाधत्वात् । *अत एव* इति* । कृते
चारितार्थ्यसम्भवेऽपीत्यर्थः । *अत एवेति* । तदप्राप्तिप्राप्तये बाधारितार्थ्यस्य बाधनीजस्य स्त्री-
भारादेशेत्यर्थः । परत्वात्स्वादयः प्राप्नुवन्ति इदम् “आवादयो वा” “सार्वधातुकेनित्यम्” इति
स्यामररगवा प्रवृत्तमाप्यम् । नच सैकान्तिकस्यासौ गोपाविन्यति गोदित्यति गोप्यतीति
रूपप्रथममिति, इदानीं तत्र स्थाने सार्वधातुके निन्यमिति अवशादवाधिरत्यमेवा-
पारिः स्यादिति बाधयम् “आवादयो वा आर्यधातुके” अत्रार्थधातुक इति विषयगतगो,
इदं च बाधत्वाधमाधेयतः सार्वधातुके निन्यमिति व्यासशतना भाष्यपोजनेनाशेषात् ।

सूत्रे भाष्ये । तेन विषयभेदेऽपचाङ्गत्वाभाव एव बोध्यत इति कश्चित् तत्र ।
विन्मतोलुका टिलोपमात्रस्य बाधानापत्तेः ।

यत्तु "दयतेर्दिग्" (७-४-६) इति सूत्रे द्वित्वोत्तरं दिग्यादेशस्य
चारितार्थ्यं कैयटेनोक्तं तत्प्रौढया । ध्वनितं च तेनापि तस्य तथात्वं तदुत्त-
रप्रन्थेन । 'असम्भव एव बाधकत्वं विरोधस्य तद्विजत्वात्' इति वार्तिकमतं
तु भाष्यकृता दूषितत्वाच्च लक्ष्यसिद्ध्युपयोगि ।

तत्प्रकौण्डिन्यायोऽपि तदप्राप्तियोग्येऽचरितार्थविषयो विधेयविषय
भैरवी ।

कश्चित् खण्डितवास्तवमते निरसितुमाह—*तेनेति* । *टिलोपमात्रस्य* । "नस्तद्विस्त" इति
"दिः" इति वा सूत्रेण प्राप्तस्य टिलोपस्य । तेन खनयतीत्यग्नोभयोरपि अप्रवृत्तिः ।

सोक्तार्थं कैयटविरोधशानुत्थानायाह—*यत्स्विति* । *कैयटेनोक्तमिति* । पूर्वं हि
तत्र सूत्रे भाष्यम् दिग्ने दिग्पाते इत्यादौ दिग्पादे कृते द्विवचनं प्राप्नोति अतस्तत्र सा-
ध्यासस्येति वाच्यम् । ननु द्विवचने कृते साध्यासस्य दिग्पादेशो भविष्यति । एवञ्च पूर्वं
साध्यासस्येति न वाच्यमिति भावः । न सिध्यति । किं कारणम् । दिग्पादेशस्य परत्वात् ।
तस्मात् साध्यासस्येति वक्तव्यमेवेति । अत्र यत्परत्वादित्येतदुपपादनावसरे द्विवचनस्याव-
काशः पपाचेति । कृते द्विवचने द्यतिसङ्ख्यावादिग्पादेशस्य ।

एवञ्च अनवकाशत्वाभावेन अकृते द्विवचने उभयप्रसङ्गे परत्वादित्येव दिग्पादेशः । अत्र भाष्ये
परत्वादित्येव दिग्पादेश इत्यस्य वक्ष्यमाणत्वात् सावकाशत्वेऽपि अपचाङ्गत्वात् एकदेश्युक्तिरनेनैत-
दुक्तिभाववर्णनपरस्य कृते द्विवचने दिग्पादेशस्य चारितार्थ्यकथनस्य प्रौढिवादत्वमेव युक्तं
तदाह—*तत्प्रौढ्येति* । सत्यपि सम्भवे बाधनं भवतीति भाष्यविरोधादिति भावः । *ध्य-
नितमिति* । विप्रतिपेक्षस्यायुक्तत्वाभिप्रायेण, विप्रतिपेक्ष इत्योः सावकाशयोर्भवति । इह
पुनरनवकाशो दिग्पादेशो द्विवचनं बाधिन्यते इति भाष्ये उक्तम् । पूर्वं सामान्यविशेषभाव-
मनाश्रितयोभयोः सावकाशत्वमुक्तम् । इदानीन्तु सामान्यविशेषाश्रयणेन आप्राप्ते द्विवचने
व्यतिरिक्तमात्रस्य दिग्पादेशस्य अपचाङ्गत्वमुच्यते इति प्रन्थेन ध्वनितमित्यर्थः । पूर्वंभाष्यं
स्वेकदेश्युक्तिरिति तात्पर्यम् ।

नन्येव वार्तिकमते लक्ष्यासिद्धिरत आह—*असम्भव एवेति* । प्रागुक्तमेव ब्रूयितुमुप-
संहरति—*तत्प्रकौण्डिन्येति* । *न्यायोऽपीत्यपिना येन नाप्राप्तस्यायसमुच्चयः । एतेन उभयो-
न्याययोरैकविषयत्वलाभः । *तदुपपत्तीति* । उत्सर्गप्राप्तियोग्ये विषये चारितार्थ्यमित्यर्थः ।
विधेयविषय इति । विधेयत्वाख्यालक्षणजन्मशाब्दबोधोया विषयता ययोः सामान्यविशे-

तत्त्वप्रकाशिका ।

तत्प्रौढ्येति वस्तुतस्तु लिङ्निमित्तादेशो तत्कन्यायस्यानित्यत्वेनेत्ये प्रौढ्युक्तिः, अत एव
पिष्ये शुशावेत्यादौ प्यादेशसंप्रसारणाद्युत्तरं द्वित्वं सिध्यतीति दिक् ।

विधेयविषयश्चेति । विभिन्नविभिन्नविधेयतानिरूपितोद्देश्यद्वितीयविषयतयोर्ध्वं व्या-
प्यन्यापकभावस्तद्विषय इत्यर्थः । अथवा विधेययोर्ध्वं व्यापकभावस्तद्विषय इत्यर्थः । अत एव
अपचाङ्गो नुक्तीत्येतस्यादिव्यवहारस्सङ्गच्छते, अन्यायानुश्लाघीयविषयतापवाद इति वक्तव्यं
स्यात् । उद्देश्यस्य उद्देश्यतावच्छेदकस्य उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदकत्वादिना विधेयेन साकं यः
सम्बन्धः तत्तुल्यविनिर्देशो यः संबन्धः स एव व्याप्यतावच्छेदकन्यापकतावच्छेदकसंबन्धः यथा
सुदनुदस्थले सुटा हि कामः संबन्धः । एवं सुत्रापि तत्तुल्यविनिर्देशश्च सम्बन्धः स्वनिर्वाचयव-
तानिरूपकत्वम् । तथाच यत्र यत्र स्वनिर्वाचयवतानिरूपकत्वसम्बन्धेन सुट तत्र तत्र स्व-

न्यायप्रदर्शनस्यापि वैयर्थ्यापत्तेश्च । यथा प्रथमद्विर्वचनस्य तदुत्तरं साध-
काशेनापि द्वितीयद्विर्वचनेन बाधः । यथा चादेरपि प्रवृत्त्या चरितार्थेन “आदेः
परस्य” (१-१-५४) इत्यनेन “अलोऽन्त्यस्य” (१-१-५२) इत्यस्य बाधः ।
तदुक्तं “मिदचोऽन्त्यात्” (१-१-४७) इति सूत्रे भाष्ये-सत्यपि सम्भवे
बाधनं भवतीति । अन्यथा ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां । तर्कं कौण्डिन्यायेत्यत्र
तददानेन दधिदानस्य बाधो न स्यात् । तद्दानोत्तरं तत्पूर्वं वा तद्दानस्य
चारितार्थ्यसम्भवात् ।

अत एव विषयभेदेऽप्यपवादत्वम् । अत एवाचिरादेशेन नुतोऽपि अप-
वादत्वाद्वाधमाशङ्क्य “न तिष्ठ” (६-४-४) इति आपकेन समाहितं तृष्ण-
भैरवी ।

कौण्डिन्येति* । अत्र यथा तददानस्य दधिदानोत्तरादितार्थ्येऽपि बाधकत्वम् दृश्यते । अ-
स्यैव अर्थस्य दृष्टान्तद्वयमाह—*यथाप्रथमेति च* । *आदेरपत्ति* । अत्रापि तदो भिन्न-
क्रमः । चरितार्थ्येनेत्यनन्तरं द्रष्टव्यः । उक्तार्थे भाष्यसम्मतिमाह—*तदुक्तमिति* । *अत-
एव* । सत्यपि सम्भवे बाधाङ्गीकारादेव ।

अत्रार्थं मानं दर्शयति—*अत एवेति* । विषयभेदेऽपि बाधाङ्गीकारादेव । एतच्च यथा
प्रथमेत्यादिना दृष्टान्तद्वयेन प्रदर्शितं यथा वा रुषपातोर्विहितेन वनमा विषयभेदेऽपि शान्प्रवृ-
त्त्युत्तरं चरितार्थेन शपो बाधनम् । *अत एव* । विषयभेदेऽप्यपवादत्वादेव । *बाधमाशङ्-
क्येति* । बाध्यसामान्यविन्त्येत्यादि । अत्रेदं बोध्यम्—तिसृणाञ्चतसृणामित्यत्र अचिरा-
देशस्य बाध्यसामान्यविन्त्या गुणद्विधौत्वबाधकत्ववत् नुद्विधाधकत्वमपि स्यादिति वा शङ्का
सा तस्य निरवकाशत्वेनापवादस्वरूपे, न तु येन आपातन्यायेन नुरप्रवृत्त्युत्तरं रादेशाप्राप्तेः ।
विषयभेदेऽपि अपवादश्च भवतीत्यत्र तु दृष्टान्तता बोध्या । उक्तार्थसाधने विपरीतार्थरूपनेन
तस्यप्रकाशिका-

रितार्थस्य लुकि कृते चारितार्थ्याभावस्य भमि कृते यदि लुक् स्यात्तदा “अतोऽम्” इत्यस्य
विषयस्य च सार्वेन “अतोऽम्” इत्येतत्प्रवृत्तिधोरवातिरिक्तत्वेन “अतोऽम्” इत्येतद्विषय-
रितातिरिक्तत्वेन च “स्यमोर्ननुमकात्” इत्यत्र सटोचेन सोः पूर्वं अमनन्तरम् न लुक् ।

यत्र पञ्चमर्थागतत्र अपवादविषयतिरिक्तत्वेन सटोचः । यथा—दधतीत्यादौ “शोऽन्त”
इत्येतत्प्रवृत्त्यभयसम्भावनायां “अदभ्यस्तात्” इत्येतत्प्रवृत्तिसम्भावनायाः सत्येन “अद-
भ्यस्तात्” परत्येन सम्भावितो यो यः तदतिरिक्तत्वेन “शोऽन्त” इत्यत्र सटोचः । अत्रेदं बोध्यम्
प्रथमवोजस्य रमेत्यादौ प्रतिपदोक्तत्वादित्ये पञ्चादृष्टयादिलोप इति भेदरादिलापनमन्त-
रेण नान्यत्प्रयोजनम् । रमेत्यत्र पूर्वं दृष्टयादिलोपे पञ्चादृष्ट्येऽपि क्षतिविरहादिति दिक् ।

*“आदेः परस्य” इत्यनेनेति—पितृस्यमिदम् । अप्रधानानुरोधेन प्रधानावृत्तेरन्याप्यत्वेन “उ-
द-स्थ्यास्तम्भो” रित्यादौ “अलोऽन्त्यस्य” इत्येतत्प्रवृत्त्या आकाङ्क्षायाः शागतत्वेन च “आदे
परस्य” इत्यनेन निरवकाशत्वेनेत्यलोऽन्त्यस्येत्यस्य बाधात् । *मत्यपि सम्भवे इति* । कृदे
चारित्रार्थ्यसम्भवेऽप्यपत्तेः । *अत एवेति* । तदुपासिधौ गे अचारितार्थ्यस्य बाधवोजस्य म्नी-
कादेशेपरपत्तेः । पात्यास्त्यादयः प्राप्नुवन्ति इदम् “आवाद्यो वा” “सावंपातुकेनित्यम्” इति
व्याप्यरतया प्रवृत्तिसम्भावम् । नच सैदाग्निकन्यास गोपाविष्यति गोविष्यति गोप्यतीति
रूपप्रथमवति, इदानीं तत्र व्याप्ते सार्वंपातुके निष्यमिति अपवादत्वाप्रत्ययमेवा-
पादिः स्यादिति बाध्यम् “आवाद्यो वा सावंपातुके” अत्रार्थपातुक् इति विषयगतमो,
इदं च बाधकत्वापनापन्तः सार्वंपातुके निष्यमिति व्याप्यरतया भाष्ययोगेनाशेषात् ।

त्सुने भाष्ये । तेन विषयभेदेऽपवादत्वाभाव एव बोध्यत इति कश्चित् तत्र ।
विन्मतोलुका दिलोपमात्रस्य बाधानापत्तेः ।

यत्तु "दयतेर्दिग्" (७-४-६) इति सूत्रे द्वित्वोत्तरं दिग्यादेशस्य
चारितार्थ्यं कैयटेनोक्तं तत्प्रौढया । धनितं च तेनापि तस्य तथात्वं तदुक्त-
प्रमत्त्येन । 'असम्भव एव बाधकत्वं विरोधस्य तद्विजत्यात्' इति वार्तिकमतं
तु भाष्यकृता दूषितत्वाच्च लक्ष्यसिद्ध्युपयोगि ।

तत्प्रकाशिकोऽपि तदप्राप्तिरूपेण चरितार्थविषयो विधेयविषय
मैरवी ।

कश्चित् खण्डितवांस्तन्मते निरसितुमाह—*तेनेति* । *दिलोपमात्रस्य* । "नस्तद्वित्त" इति
"दिः" इति वा सूत्रेण प्राप्तस्य दिलोपस्य । तेन स्रजपतीत्यत्रोभयोरपि अप्रवृत्तिः ।

स्वोक्तार्थं कैयदविरोधशङ्कानुत्थानायाह—*यत्तिवति* । *कैयटेनोक्तमिति* । एवं हि
सत्र सूत्रे भाष्यम् दिव्ये दिग्याते इत्यादौ दिग्यादेशे कृते द्विवचनं प्राप्नोति अतस्तत्र सा-
म्भ्यासस्येति वाच्यम् । ननु द्विवचने कृते साम्भ्यासस्य दिग्यादेशो भविष्यति । एवञ्च पूर्वं
साम्भ्यासस्येति न वाच्यमिति भावः । न सिध्यति । किं कारणम् । दिग्यादेशस्य परत्वात् ।
तस्मात् साम्भ्यासस्येति वक्तव्यमेवेति । अत्र यत्परत्वादित्येतदुपपादनावसरे द्विवचनस्याव-
काशः पपाचेति । कृते द्विवचने दयतिसङ्ख्यावादिग्यादेशस्य ।

एवञ्च अनवकाशत्वाभावेन अकृते द्विवचने उभयप्रसङ्गे परत्वादिग्यादेशः । अत्र भाष्ये
परत्वादिरूपदेश इत्यस्य वक्ष्यमाणरीत्या सावकाशत्वेऽपि अपवादतया एकदेशयुक्तिरनेनैत-
द्वक्तृभाववर्णनपरस्य कृते द्विवचने दिग्यादेशस्य चारितार्थ्यरूपनस्य प्रौढिवादत्वमेव युक्तं
सदाह—*तत्प्रौढ्येति* । सत्यपि सम्भवे बाधनं भवतीति भाष्यविरोधादिति भावः । *ध-
नितमिति* । विप्रतिपेक्षयायुक्तत्वाभिप्रायेण, विप्रतिपेक्ष द्वयोः सावकाशयोर्भवति । इह
पुनरनवकाशो दिग्यादेशो द्विवचने बाधियते इति भाष्ये उक्तम् । पूर्वं सामान्यविशेषभाष-
ननाभित्योभयोः सावकाशत्वमुक्तम् । इदानीन्तु सामान्यविशेषाश्रयणेन नाप्राप्ते द्विवचने
आश्रयमाणस्य दिग्यादेशस्य अपवादत्वमुच्यते इति प्रमत्त्येन ध्वनितमित्यर्थः । पूर्वंभाष्यं
स्यैकदेशयुक्तिरिति तात्पर्यम् ।

नन्वेवं वार्तिकमते लक्ष्यासिद्धिरत आह—*असम्भव एवेति* । प्रागुक्तमेव वृद्धयितुमुप-
संहरति—*तत्प्रकाशिकोऽपि* । न्यायोऽपीत्यपिना येन नाप्राप्तस्यावसमुच्चयः । एतेन उभयो-
न्याययोरेकविषयत्वलाभः । *तत्प्रकाशिकेति* । उत्सर्गप्राप्तिरूपेण विषये चारितार्थ्यमित्यर्थः ।
विधेयविषय इति । विधेयत्वाख्यालक्षणजान्यशाब्दबोधोपा विषयता ययोः सामान्यविशे-

तत्त्वप्रकाशिका ।

तत्प्रौढ्येति वस्तुतस्तु लिङ्निमित्तादेशो तत्क्रियापल्यान्वित्वेनेयं प्रौढयुक्तिः, अत एव
पिप्पे शुशातेत्यादौ व्यादेशसंप्रसारणाद्युत्तरं द्वित्वं सिध्यतीति दिक् ।

विधेयविषयश्चेति । विभिन्नविभिन्नविधेयतानिरूपितोद्देश्यद्वयोर्विषयतयोर्ध्व व्या-
प्यव्यापकभावस्तद्विषय इत्यर्थः । अथवा विधेययोर्ध्व व्यापकभावस्तद्विषय इत्यर्थः । अत एव
अपवादो नुक्तीत्येतस्यादिव्यवहारस्सङ्गच्छते, अन्यथा नुक्तास्त्रीयविषयतापवाद इति वक्तव्यं
स्यात् । उद्देश्यस्य उद्देश्यतावच्छेदकस्य उद्देश्यतावच्छेदकतावच्छेदकादेर्वा विधेयेन साकं यः
सम्बन्धः तत्तुल्यविनिधेयो यः संबन्धः स एव व्याप्यतावच्छेदकव्यापकतावच्छेदकसंबन्धः यथा
सुदुर्लभ्येते सुरा हि आमः संबन्धः । एवं नृपि तत्तुल्यविनिधेयस्य संबन्धः स्वनिष्ठावयव-
नानिरूपकत्वम् । तथाच यत्र यत्र स्वनिष्ठावयवतानिरूपकत्वसम्बन्धेन सुदु तत्र तत्र स्व-

तत्त्वप्रकाशिका ।

निष्ठाद्यवयवतानिरूपकत्वसम्बन्धेन नुद्धितव्याप्यव्यापकभावः स्पष्ट एव । एवं "नेमौ रहौ कार्पिणौ" इत्यत्रापि रेफस्य स्वाव्यवहितोत्तरकर्मकत्वं विधेयेन सम्बन्धः एवम् "अनचि च" इत्यत्रापि स्वकर्मकत्वं यो विधेयेन साकं सम्बन्धः । तत्तुल्यविनिवेशौ ॥ स्वनिरूपितकर्मता-
वधव्यवहितपूर्वत्व—स्वनिरूपितकर्मतावत्वसम्बन्धौ । तथाच यत्र यत्र स्वनिरूपितकर्मता-
वधव्यवहितपूर्वत्वसम्बन्धेन "अचोरहाम्याम्" इति द्वित्वम्, तत्र तत्र स्वनिरूपितकर्मता-
वत्वसम्बन्धेन "अनचिच" इति द्वित्वमिति व्याप्तिः स्पष्टा । एवं प्रथमद्विवचनस्य लेऽपि
अजादेः विधेयेन सहाव्यवहितोत्तरैकाचकर्मकत्वं सम्बन्धः, एकाच इत्यादेश स्वनिरूपितकर्म-
तावत्वं सम्बन्धः, तत्तुल्यविनिवेशौ च स्वनिरूपितकर्मतावदेकाजव्यवहितपूर्वत्वस्वनिरूपित-
कर्मतावत्वसम्बन्धौ । अजादेरित्यत्र यदुद्योहिः तथाच यत्र यत्र स्वनिरूपितकर्मतावदेकाजव्य-
वहितपूर्वत्वसम्बन्धेन द्वितीयद्विवचनं तत्र तत्र स्वनिरूपितकर्मतावत्वसम्बन्धेन । प्रथमद्वि-
वचनमिति व्याप्यव्यापकभावस्फुल्लभः । आदेशविधये च सर्वत्र स्वनिष्ठादेशतानिरूपितस्यो-
पनितायत्यमेव व्याप्यतावच्छेदको व्यापकतावच्छेदकश्च सम्बन्ध इति दिक् ।

परंतु तदप्रामिष्योऽप्यारिताध्यविशिष्टं कृते चारिताध्यरूपबाधयोजनमपि न कल्प्यते तद्वा-
जभूततत्त्वान्योऽपि न स्वीक्रियते । नच द्वितीयद्विवचनेन प्रथमद्विवचनबाधो न स्यात्, एवं
राजपक्षोत्पादौ "विन्मसोलुका" टिलोपमाश्रय्य बाधो न स्यादिति वाच्यम् । परस्तेन द्वितीयद्विव-
चनद्विधादेशाभ्यां बाधे सहजगतिभ्यायेन पुनः पूर्वशास्त्राप्रवृत्त्या, प्रतिपक्षोक्तत्वात् परत्वाद्यं
पूर्वं टिलोपे परचाष्टिमसोलुकि असिद्धयद्वेष्टनेन पुनः टिलोपामाप्त्वा योपाभावात् ।
नचैवमपि अजेत्यादौ ङाया ङीपा बाधो न स्यादिति वाच्यम् अत इत्यस्यावृत्त्या अजादेरपि
विधेयपणत्यस्योपाकरणे ङीपि हृते छिद्रविशिष्टपरिभाषया अजादित्वेऽपि अद्वन्तत्वाभावेन
निरवकाशात्येनैव बाधाय ।

यद्यु "रहाम्याम्" इति साक्षाच्छब्देन निमित्तत्वेन कार्यित्ववाधस्तत्त्वान्यायेनेति तदसत्,
तत्त्वान्यायेन व्याप्यविषयताश्रयातिरिक्तत्वेन व्यापकविषयताश्रये सद्भावेन प्रकृते अजव्यवहि-
तोत्तरव्यविशिष्टो परव्यवहितपूर्वत्वविशिष्टश्च यो यत्र तस्यैव व्याप्यविषयताश्रयत्वमिति तदति-
रिक्तत्वेन परंपदायं सद्भावेऽपि मद्रहद मद्रहद इत्यादौ द्वित्वस्य दुर्वारत्वेन भाग्येनासङ्गतेः, मा-
कृणाः भोऽप्यतां मादरकौगिन्द्रौ परित्येविषयतामिति २षाण्णायप्रदर्शनासङ्गतेः, तस्माद्यत्र
विषयतयोर्व्याप्यव्यापकभावस्तत्र तत्त्वान्यायः यत्र धर्मयोर्व्याप्यव्यापकभावस्तत्र मादरपरि-
षेवणन्यायः । अत एव "इको यगचि" इत्यादौ "तस्मादित्युत्तरस्य" इति निर्देशेन मादरन्या-
यस्यानिरव्ययेन स्यान्नित्येन ॥ निमित्तत्वबाध इति वैयर्थ्यं सङ्गच्छते ।

तथाच-पुनर्विनिर्वाणोद्देशेन प्रयुक्तवाक्यकृदम्बपटकवाक्यधर्मावच्छिन्नयोधकपदार्थताव-
च्छेदकावच्छिद्ये तद्वाक्यकृदम्बपटकवाक्यधर्मावच्छिन्नयोधकपदार्थतावच्छेदकावच्छिद्यतिरि-
कत्वेन सद्भावेः । प्रकृते च द्विर्यं विनिर्वाणानि इत्युद्देशेन प्रयुक्ते "अनचि च" यगो मयो द्वे"
"अचोरहाम्याम्" इति वाक्यकृदम्बपटकवाक्यधर्मावच्छिन्नयोधकपदार्थतावच्छेदकावच्छि-
द्यतिरिक्तत्वेन सद्भावे इति मद्रहद इत्यादौ रेफस्य "यगो मय" इति च द्वित्वम् तत्रैव रेफस्य,
"अचोरहाम्याम्" इति च द्वित्वम्, एवंनुमय इत्यादौ रेफस्य "अनचि च" इति च द्वित्वमिति
मरुतेऽपि विदिः ।

अथैवमपि मुदा मुदो बाधो न स्यादिति वाच्यम्, "आमि मर्दनाम्न" इत्यत्र शास्त्र-
प्रदेशेन आकारादेशायाम् मुदविधानेन अर्थाधिकाराश्रयत्वेन तादृशस्यैवामो मुदविधानेन
च पुनः प्राक् मुदः, मुदः प्राक् मुदो वा अग्रपक्षः । अत एव स इत्यादौ सन्नेन रयदाद्यत्वस्य
अनद्वान्न अनद्वन् इत्यादौ अभावाभ्यामग्रतश्च मुदा च इत्यमित्यादौ वादेनामादेशाभ्याम्

एव चेति "तद्धितेष्वचामादेः" (७-२-११७) "धातोरेकाचः" (३-१-२२) इत्यादिस्वेषु भाष्ये स्पष्टम् । क्वचित्तु सर्वधानयकाशत्वादेव बाधकत्वं, यथा-डेरामो याडादिबाधकत्वम् । न हि याडादिपुरुतेषु "डेराम्" प्राप्नोति निर्दिश्यमानस्य व्ययधानात् । तत्र स्वस्य पूर्वं प्रवृत्तिरित्येव तेषां बाधः । तत्र बाधके प्रवृत्ते यद्युत्सर्गप्राप्तिर्भवति तदा भवत्येव यथा तत्रैव याडादयः ।

भैरवी

ययोरैव अनया परिभाषया बाध्यबाधकभावस्य कल्पना भवति न स्वनुवाद्ययोः । अत एव विशेषविहितेन सामान्यविहिते बाध्यत इत्युद्घोषः । *तद्धितेष्वचामादेरिति* । 'क्रोष्टो जागत्' इत्याद्यावन्त्योपधावृद्धयोर्निर्देशम् । कन्यायेन तयोरादिवृद्धा बाधमाशङ्क्य सौधुत इत्यादौ तयोरप्राप्त्या आदिपुरुषेर्नानवकाशत्वमित्यभिप्रायेण भाष्यकृता इह तदभाव इत्युक्तम् । सामान्यविशेषभावो बाधेहेतुः स चेह नास्ति इति कैपटः । अपवादत्वाभावे च पूर्वोक्तदोषनिरासायानुशक्तिकादिगणे पुष्करमच्छब्दपाठस्य तयोर्बाधे शङ्ककत्वमुक्तम् । ***"धातोरेकाच"** इति* । यद्यपि एतत्सूत्रभाष्ये विशिष्य किञ्चिन्नोक्तं तथाप्यस्य सामान्यशास्त्रत्वात् सामान्यस्य न विशेषेण बाधदर्शनादस्यापि **"अजादेर्द्वितीयस्य"** इति सूत्रापवादसदृशत्वादेतदुक्तिः, अत एवादपदम्, तेन **"नित्ये कौटिल्य"** इति सूत्रस्य लाभः । तत्र हि—**"अभ्येतेभ्यः क्रियासमभिहारे यडा भवितव्यमिति प्रश्न, उत्तरयोर्विप्रेक्षेण विशेषासम्प्रत्ययादित्यग्रहणानर्थक्यम् क्रियासमभिहारे च भैतेभ्यो यडा भवितव्यमिति"** भाष्यकृतोक्तम् द्वितीयवार्तिके चकारेण विशेषासम्प्रत्ययादित्यल्लानुर्कर्णाय चकारः कृतः क्रियासमभिहारे

यत्र यद् तत्र तद्वत्ताद्विशेषस्य भूतं जयन्तीत्याद्यर्थविशेषस्य अप्रतीतिः स न भवति ।

यद्यनुवादेऽपि एतत्तन्वायसञ्चारः स्यात्तदा न्यायेनैव प्रथमसूत्रस्य बाधे सिद्धे विशेषासम्प्रत्ययादित्यनुर्कर्षककारोपोदानत्रैवर्थापत्तिरिति प्रतिपत्तव्यम् । अत एव **"निद्वौऽन्त्यात्परः"** इति सूत्रभाष्ये विषेयविषय एव विशेषस्य बाधकत्वप्रदर्शनाय सर्वेभ्यो ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतामित्युपन्यासः कृत इति द्रष्टव्यम् । विशेषविहितेन सामान्यविहितस्य बाधेन न्यायद्वयम् ।

"येन नाप्राप्त" इत्यादि **"निरवकाशो विधिरपवाद"** इति च तथास्य न्यायस्य यत्र प्रवृत्तिर्भवति तद्वर्गितं द्वितीयस्य तस्य विषयमाह—***कविरिविति*** । अत्र न शब्दः पूर्वोक्तन्यायाद्वैकल्यपसूचनाय सर्वथा तदप्राप्तिर्योग्ये विषये तत्प्रवृत्त्युत्तरमपि च । अत एव एवकार उक्तः । तत्र दृष्टान्तमाह—***यथेति*** । ***डेराम इति*** । डेरस्थाने विहितस्यामादेशस्य याडाद्यागमबाधकतया द्वितीय एव न्यायः । चदेतदुपपादयति—***न ह्येत्यादिना*** । ***निर्दिश्येति*** । हेरित्यर्थः व्यवधानादिनेति शेषः । द्वितीयन्यायस्यले पूर्वस्माद्विशेषमाह—***तत्रेति स्वस्य*** । आमादेः पूर्वम् । याडादिभ्य इत्यादिः । ***तत्र*** । द्वितीयन्यायसञ्चारस्यले । अत्रैव

तत्त्वप्रकाशिका—

"हलङ्यादि" लोपस्य बाधो न भवति । नच **"इदमो मः"** इति ज्ञापकेन तत्कन्यायानित्यत्वकल्पनान्न दोष इति वाच्यम् । अननुगतामित्यत्वकल्पनापेक्षया फलामायेन अस्मिन् शास्त्रे स न्यायो नाश्रीयत इति कल्पनाया एव न्याय्यत्वात् । अत एव पिप्ये शुश्रापेत्यादौ न्यायेन सप्तम्प्रसारणाभ्यां द्वित्वस्य बाधो नेति दिगित्याहुः ।

विरोधस्य तद्वीजत्वादिति । वस्तुतस्तु विरोधाभावे तत्कन्यायेनापि न बाधः, ***विरोधे हि बलीयसा दुर्बले बाध्यत*** इति न्यायात् । अत एव संज्ञासु परस्परं न बाध्यबाधकभावः । अत एव **"आकडाद्देका संज्ञा"** इति सूत्रं सद्बुद्धते । ***भवत्येवेति*** । स्वप्रवृत्तियोग्ये यः

अप्राप्तौ तु न यथा पञ्चेयुरित्यादौ दीर्घबाधके निरवकाश इत्यादेशे दीर्घा-
भावः ॥ ५८ ॥

तदेतपठ्यते—

क्वचिदपवादविषयेऽप्युत्सर्गोऽभिनिविशत इति ॥ ५९ ॥

अपवादशब्दोऽत्र बाधकपरः । तदुक्तं “गुणो यद्बलुकोः” (७-४-८२) इत्यत्र भाष्ये । अभ्यासधिकारेषु अपवादा उत्सर्गान्न बाधन्ते । अजोग-
णत् । अत्र गणेरौत्वमपवादत्वाद्धलादिः शेषं बाधते । न गणेरित्वं
अपवादत्वाद्धलादिशेषं बाधते । किं तर्हि । अनवकाशत्वादिति
ग्रन्थेन । गणरूपाभ्यासान्त्यणस्येत्यमित्यर्थे हलादिःशेषेण तन्निवृत्तौ तद-
नवकाशमौत्वे तु कृते न तस्य प्राप्तिरन्त्यहलोऽभावात् । अभ्यासविका-
रेषु बाध्यबाधकभावाभावेन च साधितम् । तस्मिन् सति लोपे कृते साम-
र्थ्याच्छिष्टस्यान्त्यस्येत्यमिति न दोषः । न च येन नाप्राप्तिन्यायेन अपवाद-
भैरवी ।

दृष्टान्तद्वयमाह—*यपेत्यादिना* । *दीर्घाभावः* । “अतो दीर्घो यञि” इति दीर्घाभावः ॥ ५८ ॥

तदेतदिति । बाधकप्रवृत्त्युत्तरकालिकोत्सर्गकर्तृकं भवनमेव । *पठ्यते* । शब्देनाभि-
धीयते । लौकिकैरिति शेषः । *अत्र* । उक्तवाक्ये । *बाधकपरः* । सर्वथा निरवकाशपरः ।
मदिति निर्दोशोऽत्र साधकः । अत्र हि-वृद्धिबाधकस्य पूर्वसर्गदीर्घस्य “नादिवि” इत्यनेन
निषेधे पुनर्वृद्धिर्भवति । पूर्वसर्गदीर्घो हि बाध्यसामान्यचिन्तया वृद्धिषुसर्गदीर्घाणां नि-
रवकाशत्वाद्बाधकः, यद्यत्र पूर्वस्यायसञ्चारः स्यात्तदा वृद्धिर्न स्यादिति । अस्मिन्नर्थे भाष्य-
मपि उपष्टम्भकमित्याह—*तदुक्तमिति* । “अभ्यास” इत्यादि परिभाषाया उदाहरणम-
जोगणद्विधादि प्रथमतो दर्शितम्, ततो येन नाप्राप्तन्यायेन गणेरित्वं हलादिः शेष इति विहि-
तस्य बाधकमिति कश्चिद्भ्राम्येतास्तस्तद्विरासायाह—*न गणेरौत्वमित्यादिना* । अनेन
ग्रन्थेन उभयोर्भेदः स्पष्टतः प्रतीयते, “अभ्यासविकारे” इति परिभाषा तु “ढोढौक्यत” इत्या-
द्यर्थमवश्यं स्वीकाव्या ।

अत्र हि—इत्यदीर्घोरन्त्यत्र चरितार्थयोः परत्वादीर्घे औकारस्थौकारे एव ततो इत्यस्ये
कृते ततो “गुणो यद्बलुकोः” इति गुणैतत्स्य सिद्धिः । अन्यथा “येन नाप्राप्तन्यायेन” दीर्घस्य
इत्यबाधकतया दीर्घे कृते इत्यानापत्तायुक्तरूपासिद्धिः स्यात् । न च “अभ्यासविकार” इति
परिभाषास्थौकारं परत्वादित्येतद्विरुद्धमिति बाध्यम् । अभ्यासविकारादन्यत्र परस्य एव
प्रवृत्तिर्ह्येता तस्मादपवादस्यापि छद्धानुमारात् पूर्वं प्रवृत्तिर्न तु बाधकस्याभिप्रायेणैतादृशो
विषये तथामिधानस्य सर्वसम्मतत्वादिति । “इष गण” इत्यस्यानवकाशत्वेन “हलादिः शेष”
बाधकतोच्चा, तानुरादावपि—*गणरूपेत्यादिना* । “इषगणः” इत्यस्य “अलोऽन्त्यस्य” इत्य-
नेनैकवाक्यतयेतादृशाप्यष्टासः ।

मन्योत्वे कृतेऽपि तस्य स्यान्नित्येन इत्यवाद्धलादिः शेषेण तन्निवृत्तौ पुनर्गकाराकार-
स्तेनैव रूपमिति स्यादन्त आह—*इत्ये कृते इति* । *अन्यथाह इति* । न ह्यत्र स्यान्निर-
वकाशविपरिवात् । इदं वस्तुगतमनुरूप्य । न ह्यत्रानन्त्यस्य हलो निवृत्तिः साक्षादुक्ता ।

तस्यप्रकाशिका ।

*स्वोपोद्देशेनभावपट्टेकवर्षिष्ठमन्तदतिरिच्यतेन मण्डोपादिति भावः ॥ ६० ॥

इति ग्रन्थेनेति । तथाचापवादसदस्य तदभ्यासमूलकबाधकवति स्वरिति भावः ।

त्वमप्यस्य सुवचं, तस्य चरितार्थविषयताया उक्तत्वात् । “इको भल”
(१-२-९) इत्यत्र भाष्येऽपि ध्वनितमेतत् । तत्र हि “अज्भन” (६-४-१६)
इति दीर्घेण गुणोत्तरं फलाभावेन अनवकाशत्वाद् गुणे बाधिते दीर्घोत्तरं
गुणः स्याद्दीर्घविधानं तु भिनोतेर्दीर्घे कृते “सनि मोमा” (७-४-५४)
इत्यत्र मोग्रहणेनग्रहणेऽर्थवत्तत्र पश्चात्प्राप्तगुणबाधनार्थम् “इको भल” इति
किञ्चमित्युक्तम् । अन्यथापवादत्वेन बाधे तद्विषये उत्सर्गाप्रवृत्तेर्भाष्यस्य
सूत्रस्य चासङ्गतिरिति स्पष्टमेव ।

यत्तु काञ्चनीत्यादायपषादमयद्विषयेऽप्यण् भवति कश्चिदपषादविष-
येऽपीति न्यायादिति तत्र । “अण् कर्मणि च” (३-३-१२) इति सूत्रस्य-
भाष्यविरोधात् । तत्र ह्यणः पुनर्वचनमपषादविषयेऽनिवृत्त्यर्थं गोदायो
वज्रतीत्याद्युक्तम् । काञ्चनीत्यादौ काञ्चनेन निर्मितेत्यर्थे शैपिकोऽण् बोध्यः ।
भैरवी ।

अस्य । ईदृश्य* । *तस्य* । येन आप्राप्तस्यायस्य । *उक्तत्वादिति* । प्रकृते तु गण-
पत्यासान्त्यस्य गत्येत्यर्थे हलादिः शेषे सति नेत्यस्य चरितार्थत्वमिति भावः । *एतदिति*
उक्तस्यायस्य चरितार्थविषयकत्वमित्यर्थः । *तत्र* होति* । अस्य सूत्रामात्रे विधीयतीत्यादा-
विति शेषः । *अनवकाशत्वादिति* । यदि दीर्घात्ते गुणः स्यात्तहि दीर्घविधानमनर्थकं स्या-
दित्यतोऽनवकाशत्वमिति भावः । *गुणे बाधित इति* । पूर्वमप्रवृत्ते इत्यर्थः । एतस्य अग्रे
उक्तमिति शेषः । एतेन निरवकाशत्वेन बाधके प्रवृत्ते बाध्यस्य सति सम्भवे प्रवृत्तिर्वनिता ।
अन्यथा । सर्वथा अभवकाशस्यलेऽपि येन आप्राप्तस्यायस्वीकारे । *तद्विषय इति* । अपवाद-
त्वेन बाधविषय इत्यर्थः । *उत्सर्गाप्रवृत्तेरिति* । सिद्धान्तित्वेनेति शेषः । प्राचीनोक्तं खण्ड-
यति—*यत्स्विति* । काञ्चनीत्यादावित्यादिपदेन “प्रदीयतां दाशरथाय मेधिली” इत्यस्य
रामायणप्रयोगस्य उपसंग्रहः । *अपवादमयदिति* । “नित्यं ब्रह्म” इतिसूत्रविहित इत्यर्थः ।

यसु “अत इय” इति सूत्रे विकल्पानुवृत्तेरिशोऽप्रवृत्तोऽपत्यार्थोऽणप्रत्यय इति तत्र,
यत्रोत्सर्गापषादयोर्वैकल्पिकत्वं तत्रापरादाभावे यत्ने विना उत्सर्गस्याप्रवृत्तेः सिद्धान्त-
सम्मतत्वात् ।

यसु काञ्चनशब्दादनुदात्तादिश्रेष्ठप्रत्यय इति तत्र, काञ्चनशब्दस्य स्युङ्गन्तत्वेन लिङ्स्वरेण
“नञिप्रत्ययस्य” इति वा आद्युदात्तत्वात् । *अपवादविषये* । अपवादस्य “अतोऽनुरमगो” इति
कप्रत्ययस्य विषये । तर्हि काञ्चनीत्यस्यासिद्धिरेत्यत आह—*काञ्चनीत्यादाविति* । *शैपि-
क इति* । “शेषे” इतिसूत्रस्य दार्ढ्यः सख्य इत्यादिलिङ्यर्थे विधित्वस्यापि स्वीकारात् । न
च “शेष” इतिसूत्रं बाधित्वा “ब्रह्मत्वाच्छ” स्यादिति वाच्यम् । “राष्ट्रादार” इति यो वि-
हितो घस्तदारम्य ये प्रत्यया विशिष्य तेषु तेषु अणेषु विहितास्तेषां स्वस्वविषये प्राप्तानां
शैपिकाण्यबाधकत्वात् । यथायौ जाताषण्यो विशिष्यानुसारुन्तस्मिन्प्रथं “शेष” इतिसूत्रेण
प्राप्तस्याणो बाधे मानामावात् । “ब्रह्माच्छ” इति छप्रत्ययोऽपि बाधन्तर्गतः । अत एव नि-

तत्त्वप्रकाशिका ।

मोग्रहणेन ग्रहणेऽर्थवदिति । नच मोग्रहणेन ग्रहणभावेऽपि “भिनोतिभिनोति” इत्यात्ये
“सनिमोमा” इत्यत्र मोग्रहणेन ग्रहणमभिव्यक्तीति पुनरपि भाष्यामङ्गतिरिति वाच्यम् । पुनरिति
तत्वे निमित्तोद्भूत्य जायमानस्य आत्मेत्यस्य पुनर्मितत्वविधातकं “इलन्ताच्च” इति क्लियम-
स्पादक इत्यादेशो प्रत्यनिमित्तत्वात् । *शैपिकोऽंगिति* । “शेषः” इति आवृत्तिविधायकता-
त्वेनेत्यर्थः । अग्रेऽपि बोध्यम्—“येन आप्राप्त” न्यायघटकत्वमेत्यस्य यदि स्वेतरस्येत्यर्थः,

अत्रेदं बोध्यम् “येन नाप्राप्त” इत्यत्र येनेत्यस्य यदि स्वेतरेणेत्यर्थस्तदा स्वविषये स्वेतरर्थाद्यत् प्राप्नोति तद्धाध्यवैच्यन्तराप्राप्तविषयाभावात् । इयमेव बाध्यसामान्यचिन्तेति व्ययहियते । अनवकाशत्वेन बाधेऽप्येवा वक्तुं शक्या यद्युदाहरणमस्ति विनिगमनाविरहात् ।

यदि तु येनेत्यस्य येन लक्षणेनेत्यर्थो येन कार्येणेत्यर्थो वा तदा बाध्य-
विशेषचिन्ता । अनवकाशत्वेन बाधेऽप्येतद्बाधेन सार्थक्यमुत तद्बाधेनेत्येवं
विशेषचिन्ता सम्भवति यद्युदाहरणमस्तीति ॥ ५९ ॥

तत्र कार्येणेत्यर्थे पररूपत्वावच्छिन्ने कार्ये आरभ्यमाणाया वृद्धेस्तद्बाध-
भैरवी ।

मित इत्यस्यार्थस्य विशिष्योपादानम् ।

यदा तु काश्चनत्येवमित्यर्थविषया तदा छप्रत्ययो भवत्येव । एवं दाशरथायेत्यपि दशर-
थेन पुनः पुनः स्मृताय इत्यर्थे साधुः । यदि तु दशरथापत्यायेत्यर्थविवक्षा तदात्वापत्त्वादिति-
बोध्यम् । बाधकताद्ये विनेषे वक्तुमादौ व्यवस्थामाह—अत्रेदमित्यादिना* । स्वमपवादः,
पुनश्च अपवादेतरस्यान्वयितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नकर्तृकावश्यकप्राप्तिलाभः । तद्बाध्यमित्यत्र
विहितस्य तच्छब्देन परामर्शविवक्षया तच्छब्दे धीःसाभावः । *इयमेव* । स्वेतरसकलशा-
स्त्रबाधरूपेण, *एवा* । बाध्यसामान्यचिन्ता, यदीत्यनेन तदलाभो ध्वनितः । *विनिगम-
नाविरहादिति* । “येन नाप्राप्तित्यायेन” यत्र बाधकत्वं तत्रैव बाध्यसामान्यचिन्ता यत्र
स्वेतरकाशत्वेन तत्र विनिगमरूपक्यभावादित्यर्थः ।

अत एव बाधकत्वम् लक्षणेन दाश्रविशेषेण कार्यस्य विधीयमानस्येन प्राधान्यादाह-
कार्येणेति । *यद्युदाहरणेति* । अत्रापि यदिशब्दोपादानेन उदाहरणासम्भवो बोधितः ।
न च अनवकाशत्वेन बाधकत्वम् “अयिर कृत” इत्यस्यास्ति तत्र बाध्यसामान्यचिन्ताप्य
स्तीति पूर्वोक्तं यदीत्यनुपपत्तिरिति बाध्यम् । तत्र स्वेतरशास्त्रसामान्यस्य न प्रहणम् । नुवि-
धायकताश्रयाद्यवस्थादूर्तनात् । किन्तु कृत इत्युपादानमामर्शोत् सत्रैवाधकत्वमित्याशयात् ।
यदि तु “कृत” इत्युपादानेनानवकाशत्वेन बाधकत्वेऽपि बाध्यसामान्यचिन्तास्तीत्येवं कल्प-
ते तदा तत्रापि स्यात्सु । यदीत्येतदुपटितममन्दिस्थे सन्दिग्धवचनन्तु प्रतिपाद्यस्यार्थस्य दा-
श्रयो वा दाश्राणि येन प्रमाणानोक्तियन् अस्तीत्यत्रेतिशब्दस्तद्विषयकविचारसमाप्तिबोधकः ॥ ५९ ॥

तत्र । पूर्वोक्तार्थप्रवचने । *युद्धेः* । “एत्येवयुद्धम्” इति युद्धेः । *तद्बाधकत्वे* । पररूप-

तत्त्वप्रकाशिका ।

तदा बाध्यसामान्यचिन्ता तत्रत्यावविषयेऽपि द्वयं वक्तुं युक्तम् । *यद्युदाहरणमस्ति* । इय-
मेव बाध्यसामान्यचिन्तेत्युच्यते । यदि येननाप्राप्तमत्रावच्छेदकत्वस्येत्यस्य लक्षणस्य कार्यस्ये-
ति बाधे, तदा बाध्यविशेषचिन्ता, तत्रत्यावविषयेऽप्यौ वक्तुं युक्तं यद्युदाहरणमस्ति इयमे-
व बाध्यविशेषचिन्तेत्युच्यते । मन्त्रेण तु न युक्तम् बाध्यविशेषचिन्तारिषये येनेत्यस्य लक्षणेन
कारेण वेत्तव्येः । “एत्येवयुद्धम्” इति विषये “एति पररूपम्” इत्यस्य “भोमाहोश्च” इत्यस्य
वा नाप्राप्तेरभावेन पररूपबाधकत्वस्यैवानापरत्वा बाध्यसामान्यचिन्तार्थो वा बाध्यविशेषचि-
न्तार्थो वा येनेत्यस्य स्वेतरेणेत्यर्थोवाचदर्थं वक्तव्यस्यात् । निरवकाशत्वेन बाधेऽप्येवा वक्तुं
शक्या यद्युदाहरणमस्तीत्यपि चिन्त्यमेव । तत्रत्यावच्छेदोदाहरणस्यैव दुर्गमस्येन विशेषता
सामान्यचिन्तयोऽमुनसामुदाहरणस्य दुर्गमस्येन ॥ ५९ ॥

तत्र तस्यैवस्य लक्षणस्य बाधबाधेऽव वेत्तव्ये पररूपत्वावच्छिन्नविधायकताश्र-
यावच्छिन्ने पररूपत्वावच्छिन्ने कार्ये वा नाप्राप्ते आरभ्यमाणाया वृद्धेस्तद्विषयक-

कत्वे निर्णयति किंशास्त्रविहितस्येत्येवं तद्विशेषचिन्तायामाह—

पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥ ६० ॥

अवश्यं स्वपरस्मिन् बाधनीये प्रथमोपस्थितानन्तरबाधेन चारितार्थ्यं
पश्चादुपस्थितस्य ततः परस्य बाधे मानाभावः । आकाङ्क्षायां निवृत्तेर्विप्र-
तिपेक्षशास्त्रबाधे मानाभावाच्चेति तस्य योजम् ॥ ६० ॥

“नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्त” (४-१-५५) इत्यस्यौष्ठाद्यंशे डीप्निपेक्ष-
त्वावाच्छ्रजबाधकत्वे निर्णयति किंविहितस्येत्याकाङ्क्षायामाह—

मध्येऽपवादाः पूर्वान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान् ॥ ६१ ॥

तेनौष्ठादिषु पञ्चसु “असंयोगोपधात्” इति प्रतिपेक्ष एव बाध्यते, न तु
“सहनञ्” विद्यमान” लक्षण इति “नासिकोदर” (४-१-५५) इत्यत्र भाष्ये
स्पष्टम् । पूर्वोपस्थितबाधेन नैराकाङ्क्षयमस्या योजम् ॥ ६१ ॥

ननु “वा छन्दसि” (३-४-८८) इत्यनेन “सैर्ह्यपिच” (३-४-८७)

भैरवी ।

त्वावच्छिन्नबाधकत्वे । *विहितस्येति* । पररूपस्येतिशेषः । अत्र चैवा पूजाद्योत्प्रेक्षयोर्ग्रहि-
स्तस्याः पररूपत्वावच्छिन्नाप्राप्तियोग्ये विषये चरितार्थ्यभावो अस्ति यद्यपि, तथापि पररूपे
कृते चरितार्थ्यं नास्तीति न येन नाप्राप्तिसंवायमन्तर इत्याशयेनाह—*वस्तुतः इति* । “पु-
रस्तात्” इति न्यायो युक्तिसिद्ध इत्याशयेन आह—*अवश्यं स्वपरस्मिन्निमित्तं* । परशब्दोऽ-
प्राप्त्यवाची । प्रथमोपस्थितानन्तरस्यप्रधानन्तर्यमुपस्थितिभूतमेव विवक्षितं न त्वाष्टाध्यायी
पाठेन । “एषि पररूपम्” इत्यस्याष्टाध्यायीपाठवृत्ततयास्त्वविरहात् । *ततः परस्य* । “ओमा-
लोक्ष” इत्यस्य । *आकाङ्क्षेति* । बाध्यस्येत्यादिः । किं बाध्ये किं न बाध्यमित्याकाङ्क्षायां
एकबाधकत्वज्ञानेनापि निवृत्तेरिति भावः । यदि व्यवहितस्यापि बाध्यत्येवाकाङ्क्षा कल्प्यते
तदा विप्रतिपेक्षशास्त्रस्य बाधकत्वनाया आपत्तिरपि भवतीत्याह—*विप्रेति* । *तस्य* । एत-
स्य न्यायस्य ॥ ६० ॥

मध्येऽपवादस्यायं वक्तुमाह—*नासिकेति* । नासिकोदरयोः संयोगोपधत्वं नास्तीत्यत
‘आह—*ओष्ठाद्यंश इति* । येन कार्यणेति प्रागुक्तार्थमादाय आह—*डीप्निपेक्षत्वावच्छि-
न्नेति* । *तेन* । मध्येऽपवादस्यायस्वीकारेण । अत्र न्याये साधकमाह—*पूर्वोपेति ॥ ६१ ॥

विकल्पः स्यादिति । “वाछन्दसि” इत्यनेन पक्षे भावो बाध्यते अभावज्ञाने च प्रति-
बोधितस्तत्रास्त्वत्वात् तन्पूर्वस्य “सैर्ह्यपिच” इत्यास्त्वोपास्त्वित्तेनेत्यपवादोपास्त्वित्तेनेत्यपि

तत्त्वप्रकाशिका—

निर्णयति कस्य शास्त्रस्य कस्य वा पररूपस्य इति विशेषजिज्ञासायामाह—*पुरस्तादपवादा-
इति* । तत्र कार्यणेत्यर्थे इति चिन्त्यमिदम् । उक्तयुक्तः ॥ ६० ॥

डीप्निपेक्षत्वावच्छिन्नबाधकत्वं इति । नच “हुण्डोऽकल्पौच” इत्यस्य सकललक्ष्य-
प्राप्त “विसर्जनीयस्य स” इत्येवाधकत्ववत्प्रकृते सकललक्ष्यप्राप्त “असंयोगपूर्वात्” इत्येवा-
धकत्वमेवोद्घाटने स्यान्नतु “सहनञ्” लक्षणस्येत्यस्येतिवाच्यम् । हुण्डको नामाप्तयोरार-
भ्यमाणस्य कल्पणः कस्य प्रत्ययस्य बाधकत्वमित्यवतरणस्य दातुं दास्यत्वात् । ननु “सहन-
ञ्” विद्यमान” लक्षण इति—इदमुपलक्षणम् । आश्रेय इत्यादौ परत्वादयोऽव ननु अपवादो कल्प्यम् ।
इत्यस्य ॥ ६१ ॥

इत्यनन्तरस्यापित्वस्येव हेरति विकल्पः स्यात् । तथा "नेटि" (७-२-४) इति निषेधोऽनन्तरहलन्तलक्षणाया इव सिचिवृद्धिमृजिवृद्धयोरपि स्यात् । अत उक्तन्यायमूलकमेवाह ।

अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वेति ॥ ६२ ॥

अत एव "संख्याव्ययादेः" (४-१-२६) इति डीप्रहणं चरितार्थम् । तद्व्ययनन्तरस्य डीपो विध्यभावाय । "नक्तिचि" (६-५-३७) इति सूत्रे दीर्घप्रहणञ्च चरितार्थम् । तद्व्ययनन्तरस्य "अनुदात्तोपदेश" (६-४-३७) इत्यस्यैव निषेधाभावाय । मध्येऽपवादन्यायाद्यपेक्षयानन्तरस्येति न्यायः प्रयत्न इति "अष्टाभ्य" (७-१-२१) इति सूत्रे कैयटः । प्रत्यासत्तिमूलको भैरवी ।

विकल्पः स्यादिति भावः । *तथा* । पूर्ववत् । *उक्तन्यायेति* । अनन्तरे प्रथमोपस्थित-
स्येति न्याये इत्यर्थः । तेन पश्चादुपस्थितस्य न निषेध इति कलितम् । व्यवहितस्य अनन्त-
रस्येति न्यायस्योक्तारादेयेत्यर्थः । विध्यंशोदाहरणमाह—*संख्येति* । निषेधांशमाह—*न
क्तिचोति* । *अनन्तरस्येति* । अनेमानुनासिकस्येत्यस्य प्रहणं न स्यादिति सूचितम् ।
तथा च "अनन्तरस्य" इति श्वायान्नीकारे अनन्तरस्य "अनुदात्तोपदेश" इत्यस्य निषेध-
व्यवहितस्य दीर्घस्यापि निषेधः सिद्धः । श्वायान्नीकारे स्वनुनासिकलोपरूपेण निषेधः स्यादिति
दीर्घप्रहणे सफलमिति । एवञ्च तत्सूत्रस्य दीर्घप्रहणमेवास्यां परिभाषायां शापकमिति सि-
द्धम् । *अष्टाभ्य इतीति* । तत्र सूत्रे—*औशद्याविति यक्वप्यम् । किमिदमद्याविति, अनु-
त्तरपद इति । किं प्रयोजनम् । इह भाव्यम् । अष्टुप्रः अष्टमाच्येः । एवं शाङ्खायामस्तु लुक्
तत्र । अस्त्यग्रौत्वं लुग् भविष्यति । पदभ्योऽप्येव प्रसज्यते । इहापि तर्हि प्राप्नोति अष्टौ
तिष्ठन्ति अष्टौ पश्येति । अपवादः । अपवादत्वाद् अष्टौ लुक् वाधिष्यते । इहापि तर्हि
वाधते, अष्टुप्रः अष्टमाच्येः यस्य विषये । यस्य लुको विषये औशत्यन्तस्यापवादः । यो वा
तस्मादनन्तरः । स य वा अनन्तरस्य लुको वाधक भविष्यति । कुत एतत् । अनन्तरस्य वि-
धिर्भवति प्रतिषेधो वेति भाष्ये उक्तम् । अवश्यं लुकि प्राप्ते औशादेशविधानादुवाच्यमामा-
न्यविन्तया औशादेशः "सुरो धातु" इति लुकमपि बाधेनेत्यभिप्रायेण "औशपी" इति पार्ति-
कारम्भः । ततोऽस्तु लुगिरस्य प्राप्नोत्यग्रौत्वं लुग् भविष्यतीत्यस्य लुग्वाधको भवि-
ष्यतीत्यत्र तात्पर्यम् । पदभ्य इति । यथा यत्र लुक् तथा "पदभ्य" इति लुगप्यौशादेशं
बाधेनेत्यर्थः । पुनरपि बाध्यसामान्यविन्तयेन आह—अपवाद इति । बाध्यविशेषविन्त-
याह—यस्य विषय इति । यत्नेन येन काच्येणवदये प्राप्त इति न्यायेन "पदभ्य" इति लुक्
प्रापवाद् । "सुरो धातु" इति लुक् तु स्यादेवेति भावः । यो वा तस्मादनन्तर इति ।
"अनन्तरस्य" इति श्वायेन "पदभ्यो लुक्" इत्यस्यैव लुक् औशादेशो बाधक इत्युक्तम् ।
तत्र मध्ये अपवादवायेन द्वितीयाध्यायविहितस्य लुको बाधा प्राप्नोतीत्यातङ्गुन सैव दोषः
यत्र शायपि व्यतिरेको पूर्वोच्यते तत्र पूर्वानुमयादिततमस्कारोपक्रमिनस्त्युपास्तस्य पूर्वस्य
पुनरी बाधः । इह त्वनेकाध्यायव्यवहितो द्वितीयाध्यायविहितो लुग् महता यत्नेन स्मृतं-
व्यः । अनन्तरस्यनुमयनीय इति न पदं बाधने । यत्नेन "अनन्तरस्य" इति श्वायस्य प्रा-

तस्यप्रशान्तिरा ।

दीपो विध्यभावावेति । न च दीपोऽनुपूर्वी सूत्रपर्यवर्त्या व्यवहितदीप प्रयानुत्ति-
भेर्गोतिगतिरिति स्वादे पारितोष्ये भेर्गोतिवाच्यम् । दीपोऽनुपूर्वायपि ऊप्यन्तश्चात्यपि-

उयम् । लक्ष्यानुरोधाच्च व्यवस्थेत्यपि पक्षान्तरम् । तत्र तत्र कचित् स्वरितत्वप्रतिज्ञासामर्थ्येन बाध्यतेऽयं न्यायः । यथा “दिङ्ढा” (२-१-१५) इति सूत्रेण डापा व्यवहितस्यापि छेपो विधिः । “नयट्” (४-१-१०) इत्यादिना द्वयोरपि टावूढोपोः प्रतिषेधः । इयञ्च “शि सर्वनामस्थानम्”

भैरवी

बलयमर्थावुक्तम् । यस्तु तत्तत्तस्य स्मरणं न सम्भवति अनुभवाभावेन संस्काराभावादिति मध्येऽपवादस्यायत्नाभः । अत्र कैयटेन न्यायद्वयमध्ये “अनन्तरस्य” इति न्यायस्य प्रवृत्तौ युक्तिः प्रदर्शिता तेन प्राबल्यमनन्तरस्येति न्यायस्य तेनोक्तमित्याशयेन मध्येऽपवादस्यापेक्षयानन्तरस्येति न्यायः प्रथम इति कैयट इत्युक्तम् ।

केचित्तु सामान्यतः प्राबल्यं तस्य न्यायस्य तदभिमतम् । मध्येऽपवादस्यायस्य युक्ति मूलकत्वादनन्तरस्येति न्यायस्य तु ज्ञापकताव्यत्वादित्येवं कैयटाशयं कल्पयित्वा कैयट इति कथनेनार्हः सूचिता । द्वयोरपि न्याययोर्ज्ञापकताव्यत्वेनार्हजरतीयस्यानौचित्यरूपा । मध्येऽपवादस्याय ज्ञापकं “परिमाणाख्यायो सर्वेभ्यः” इति सूत्रे सर्वग्रहणं तत्र हि परिमाणाख्यायामित्यंश एकस्तण्डुलनिषाय इत्यत्र “ग्रहवृह” इत्यपो निषाय इत्यत्र “परच्” इत्यपो बाधनार्थः । “ग्रहवृह” इति सूत्रम् “परिमाणाख्यायामेरच्” इति निश्चय इत्यत्र चरितार्थम् । तत्रादावकर्तरीत्यस्य प्राप्तिस्तयोराभ्यां सूत्राभ्यां बाधस्य प्रसक्तिस्तामपि परिमाणाख्यायामिति बाधत इति “परिमाणाख्यायाम्” इति सूत्रस्य स्वविषयप्राप्तसर्वबाधकत्वात्सर्वापवादत्वेनाकर्तरीत्येतदपवादत्वमपि ।

यद्यपि विषयस्यैकत्वमस्ति तथापि “परिमाणाख्यायाम्” इति सूत्रविषये तत्प्रवृत्त्या तदपवादत्वव्यवहारः । तत्र सर्वग्रहणी तस्य सर्वधातुभ्यो यञ्प्रविधायकत्वात्प्रत्ययक्रमः । तच्च “परिमाणाख्यायाम्” इत्यस्य सर्वबाधकत्वाभावशून्यायाम् “परच्” इत्यस्यैव बाधो न किन्तु “ऋदोरप्” इत्यस्य “ग्रहवृहनिश्चि” इत्यस्यापोत्येवमर्थं कृते, तेन द्वौ कारौ द्वौ पावाविति सिद्धम् । एतच्च मध्येऽपवादस्यायसद्भावे सति उपपद्यत इति वदन्ति । पक्षान्तरमाह—*प्रत्यासत्तीति* । “यो वा अनन्तर” इति भाष्यस्य प्रत्यासत्तायेव तात्पर्यमिति भावः ।

नन्वेवमुभयोरपि न्याययोः समर्थेन व्यवस्था कथमत आह—*लक्ष्यानुरोधेनेति* । अत्रेदं बोध्यम्—यद्यपि कैयटस्य यो वेति भाष्यस्य द्विविधस्याख्यानमभिमतं तथापि प्रत्यासत्तिमूलक इति व्याख्यानेन निर्भरः । एतच्च लुक् समकक्षत्वमभ्युपगम्योक्तं भिन्नकक्षौ त्वेतां लुकां एकस्य सर्वत्र प्राप्त्या परस्य सर्वत्र अप्राप्तयेति तेन कथनात् । *एकस्य* । “ग्रहभ्यः” इत्यस्य, अपरस्य “सुपो धातु” इत्यस्य, सर्वत्रेत्यभिधानेन येन नाप्राप्तन्यायेन तदपवादत्वमेवौशादेस्तस्य, “सुपो धातु” इति यो लुक् स तु “अन्तरङ्गावपि” इति न्यायेनौशादेस्तस्य बाधक इत्यत्र तात्पर्यमिति । तत्र । तत्सुवस्यकैयटे । तत्र—पूर्वोक्तव्यवस्थानिर्द्धारः । स्वरितत्वप्रतिज्ञानात्—स्वरितेनाधिकं कार्यमित्यर्थेकाव स्वरितत्वात् । तत्र दृष्टान्तमाह—यथेति । यद्यपि ङीवितिपदे स्वरितत्वमुत्तरसूत्रेषु सम्बन्धार्थं तथाप्येतादृशस्यापि तत्सूत्रार्थस्य अन्यत्र दर्शनादिह तथा आश्रीयत इति भावः । सामर्थ्येनेत्यस्य उदाहरणमाह—*न पठित्यादिनेति* । पठसंज्ञकेभ्यः स्वसादिभ्यश्च यत्प्राप्तं तत्रेति व्याख्यानसामर्थ्यादित्यर्थः । *इयम्* । “अनन्तरस्य” इति परिभाषा । अत्रेदं तत्त्वम्—अनन्तरस्यानन्तरोपस्थिति विषयस्य इत्यर्थः । तत्र “सङ्ख्याव्यवादे” इति सूत्रवदकङीपपदसङ्ख्यावपदमात्रनिष्ठमेवानन्तरोपस्थिति विषयत्वमभिप्रेतमिति न आपद्यते, किन्तु पदसमुदापनिष्टमपि

तत्त्वप्रकाशिका-

छन्दोकादेशेस्तस्युदादेशेव असत्त्ववाचकादेशेनित्यनदुष्टादेशेद्व्यवादेनेतिसूत्रस्य नियामकत्वेन

(१-१-४१) इत्यादौ भाष्ये स्पष्टेत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ६२ ॥

ननु दधतीत्यादावन्तरङ्गत्वादन्तादेशोऽलिवधौ स्यानिवत्त्वाभावाददादेशो न स्यादिति तद्वैयर्थ्यापत्तिरत आह—

पूर्वं ह्यपवादा अभिनिविशन्ते पश्चादुत्-

सर्गाः ॥ ६३ ॥

लक्षणैकचक्षुष्को ह्यपवादविषयं पर्यालोच्य तद्विषयत्वाभावनिश्रये उत्सर्गेण तत्तल्लक्ष्यं संस्कारोति । अन्यथा विकल्पापत्तिरित्यर्थः । अभिनि-
मैत्वी ।

“नक्तिचि” इति सूत्रस्यदीर्घग्रहणस्य “अनुदाघोपदेश” इतिसम्पूर्णसूत्रस्यैव निषेधाभावज्ञा-
पकत्वात् । तेनापिदित्यस्य पदसमुदायस्याप्यनन्तरपदेन संग्रह इति “अनन्तरस्य” इति
न्यायापेक्षया “येन नाप्राप्त” इति न्यायः प्रबलः । “अनन्तरस्य” इति न्यायस्याद्याद्यापी-
पादलक्ष्यदर्शनाभयसापेक्षत्वात् । “येन न” इत्यस्य पाठापेक्षत्वादित्याशयेनाह—*अ-
न्यथेति* ॥ ६१ ॥

अपवादप्रसङ्गादाह—*नक्तिचि* । *अन्तरङ्गत्वात्* । द्विवचनानपेक्षत्वेनान्तरङ्गत्वात् ।
न चैतादृशान्तादायां “पूर्वं ह्यपवादा” इत्यस्यावतारणमयुक्तम् । यद्यपि दधतीत्यत्र द्वित्वोत्तर-
महभावस्य प्राप्तिस्तथापि जक्षसीत्यत्र द्वित्वानपेक्षत्वेन समत्वमेवेति अहभावस्य तत्र येन
नाप्राप्तन्यायेनान्तादेशापवादस्य चरितार्थतया अपवादोऽपि यद्यन्यत्र चरितार्थ इति न्यायेना-
न्तरङ्गान्तादेशायाथ पुन स्यादिति याच्यम् । अन्तरङ्गत्वादित्यस्य विकरणापेक्षयापरनिमित्त-
कत्वेन अन्तरङ्गत्वादित्यस्यात् । एवञ्च अपवादा यदीयस्याविषयोऽयमिति बोध्यम् । विक-
रणे तस्य भौ द्विवचनेज्ज्ञास्यस्य प्राप्तिरन्तादेशस्य तु पूर्वमेव प्राप्तिरित्याशयः । *तद्वैयर्थ्य-
ति* । “अद्वयस्तात्” इति सूत्रस्य वैयर्थ्यमित्यर्थः । न । जक्षसीत्याद्यर्थम् “अद्वयस्ता-
त्” इत्यापदपकमिति याच्यम् । तेष्वपि पूर्वोपस्थितनिमित्तकत्वेन पूर्वस्थितनिमित्तकत्वेन
आन्तरङ्गत्वादन्तादेशः प्रथमतः स्यात्तथा च तत्र इत्याभावेनाज्ञायो न स्यादिति तस्य सूत्र-
स्य वैयर्थ्यमित्याशयात् । न चाद्वयग्रहणमात्मनेपदेषु अतत इत्यर्थेभाववचकमिति याच्यम् ।
तावतापि सम्पूर्णसूत्रस्य वैयर्थ्यमेवेत्यस्यात् । “पूर्वं ह्यपवादा” इत्यत्र हिदाश्वो निश्चितस्य-
मूषकः । द्वौ न्यावौ भाष्ये तत्र तत्रोपनिबद्धौ तत्र व्ययस्यामाह—*लक्षणैकत्वादिना* ।
अन्यथा । अपवादाज्ञाप्स्य यो विषयस्तद्विषयकत्वाप्युत्तरसर्गाशाये स्वीकारे । *विक-
रत्पप्रकाशिका ।

आदकोमी आधेयगोमीत्यादौ लीपभाषाय सूत्रस्य सार्थकत्वात् ॥ ६२ ॥

तद्वैयर्थ्यार्थपत्तिरिति । मय जक्षतांरवादी अदादेशस्य चरितार्थमितियाच्यम् । आयप्रा-
दिपूवदेशिवद्वचनमिति सूत्रे उपदेशिवद्वचनमात्राणि पूर्वमेवान्तादेशप्रवृत्त्या तद्वैयर्थ्यस्य स्पष्ट-
त्वात् । मयैवमपि अत्रापि उपदेशिवद्वचनमस्तीतिसूत्र एव अन्तादेशं बाधित्वा अदादेशो
भरतात्पयतरागासङ्गतिरिति याच्यम् । आयप्रादिपूवदेशिवद्वचनं स्वरसिध्यर्थमितियाचिने
स्वरमिदिरूपप्रयोजनोपपत्त्यामेव अभ्यस्तत्रिषये अभ्यस्तानामादिरितिस्वरप्रवृत्त्या आशु-
तस्वरप्रयोजनमावेन तद्वैयर्थ्याप्रवृत्तेः । *विकल्पापत्तिरिति* । अहभावः असति बाधके
उद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदेन विषेयान्वय इतिगिद्वान्तः । अवच्छेदकावच्छेदेन विषेयान्वय
इत्यस्य उद्देश्यतावच्छेदकत्वापत्त्यर्थं विषेये विषेयतावच्छेदकभंगमंगरदिरयानिवयमो भासत
इतीत्यर्थः । तत्रापि-अपवादज्ञातयोरोद्देश्यतावच्छेदकावच्छेदकत्वातिरिक्तत्वेन उत्सर्गज्ञातयोरोद्देश-
तावच्छेदकावच्छेदे सङ्गोभाभावे अववादोत्सर्गयोरोद्देश्यतापि उद्देश्यतावच्छेदकत्वस्य विषेये

विशन्त इत्यस्य बुद्ध्यारूढा भवन्तीत्यर्थः । “अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थः”
(प० ६६) इति न्यायस्य तु नात्र प्राप्तिरन्तादेशाप्राप्तिविषये चारितार्थ्या-
भावात् ॥ ६३ ॥

लक्ष्यैकचक्षुष्कस्तु तच्छास्त्रपर्यालोचनं विनापि अपवादविषयं परित्य-
ज्योत्सर्गेण लक्ष्यं संस्कारोति तस्यापि शास्त्रप्रक्रियास्मरणपूर्वकप्रयोग एव
धर्मोत्पत्तेः तदाह—

प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते ॥ ६४ ॥

तत इत्यस्यापवादशास्त्रपर्यालोचनात् प्रागपीत्यर्थः । प्रकल्प्येत्यस्य
परित्यज्येत्यर्थः ।

अत एव प्रातिपदिकार्थसूत्रे भाष्ये इदं द्वयमप्युक्ता न कदाचित्तावदु-
त्सर्गो भवत्यपवादं तावत् प्रतीकृत इत्यर्थकमुक्तम् ।

एतन्मूलकमेव नवीनाः पठन्ति—

भैरवी ।

लपापत्तिरिति* । अस्य तस्मिन् विषये इत्यादिः । शास्त्रे उद्देश्यतावच्छेदकस्यापक्रमप्रवृत्ति-
कत्वं न्याय्यमिति भावः । *बुद्ध्यारूढा इति* । एवञ्च अपवादस्य प्राथमिकबुद्धिविषयत्वेऽ-
प्युत्सर्गस्य विषयेऽपवादविषयभिन्नत्वनिश्चये सत्युत्सर्गशास्त्रोद्देश्यतावच्छेदकस्य विलक्षणस्य
व्यापिका पुनस्तत्प्रवृत्तिरिति न विहृलपापत्तिरिति । एवञ्चोत्सर्गप्रवृत्तौ अपवादशानं कारणमिति
भावः । एवञ्च अपवादोऽपीति न्यायस्याविषयोऽयमित्याह—*अपवादोऽपीति । यथाकथ-
ञ्चिदपवादविषयत्वं ज्ञात्वा तत उत्सर्गबुद्धिनिर्बन्तं अन्यत्र तु सा कर्तव्येऽपि फलति । *भ-
प्र* । दधतीत्यत्र न ॥ ६३ ॥

द्वितीयमवतारयति—*लक्ष्यैकैति* । *तच्छास्त्रेति* । अपवादशास्त्रेत्यर्थः । ननु यदि लक्ष्यैक-
चक्षुष्कस्य लक्षणापेक्षेयं न, ततोत्सर्गेण संस्कारकरण किमर्थमत आह—*तत्प्रापीति* । अपि
शब्देन लक्षणेऽवच्छिन्नचक्षुष्कसङ्ग्रहः । “एकः शब्दः सम्प्रगृहातः शास्त्रान्वितः स्वर्गं लोके च का-
मधुग् भवतीति शास्त्रान्वितत्वेन भाष्यकृता प्रतिपादनादिति भावः । उक्तरीत्या न्यायद्वयस्य
विषयभेदात् यत्कश्चिदपवादेनोत्सर्गस्य बाधाविशेषादेकेनैव सिद्धे पक्षद्वयोपन्यासोऽनुचित
इत्याह—तन्निवस्तमिति बोध्यम् । “प्रकल्प्य” इति वचने लपपउच्चारणेनैवानन्तर्गम्यस्य लाभे तत
इत्यस्य वैयर्थ्यमत आह—*तत इत्यस्येति । तच्छास्त्रस्य प्रशान्तरामर्शकत्वादेतादृशाद्यर्थलाभः ॥
अभिनिविशते । प्रवर्तते । एवञ्च चैत्रादिः कर्त्ता अपवादविषयं स्वयमेव स्वकस्योत्सर्गेण
लक्ष्यं संस्कारोति । एवञ्च पुनान्वयविशेषः । लक्षणैकचक्षुष्केण पूर्वन्यायविषये सर्वत्र प्राप्त-
स्योत्सर्गस्यापवादेन बुद्ध्यारूढेन विषयविशेषात् निवृत्तिः सम्पाद्यतेऽत्र ॥ प्रागेव तादृशो
बुद्धिरिति ॥ ६३ ॥

अतपुत्र । न्यायद्वयम्योक्तरीत्या विशेषार्थबोधकत्वेऽपि फलतो विलक्षणार्थतात्पर्यक
रूपादेव । *तावत् । अगदी । इत्यर्थकमिति* । वाक्यान्तरमिति शेषः यथा न तावदत्र ति-
र्यदेशो भवति अपवादी तावच्छास्त्रज्ञानवौ प्रतीक्षेते इति । यदि द्वयोर्न्याययोर्भिन्नार्थत्वं स्या-
त्ततोपसंहारद्वयं कुर्ष्यादिति भावः । *एतन्मूलकमेव* । फलितमूलकमेव । कल्पसम्मतत्वध्व-
ननाथ—नवीना इति* । दीक्षितादथ इत्यर्थः, दधतीत्यस्य साधनायेति शेषः । द्वितीयचक्रस्य
तत्त्वप्रकाशिका ।

नियमनो भानेन अन्यतरत्वादिना व्यापकतावच्छेदितिविहृलपोपत्तिरिति । *चारिताभ्यां-
भावादिति* । अत्रापि दाहसमाधानादिकं पूर्वब्रह्मोच्यम् ॥ ६३ ॥

उपसंजनिष्यमाणनिमित्तोऽप्ययवाद् उपसंजातनिमि-
त्तमप्युत्सर्गं बाधत इति ॥ ६५ ॥

यत्तु अभ्यस्तसंज्ञासूत्रे कैयटेन प्रकल्प्य चेति प्रतीकमुपादाय यथा "न सम्प्रसारणम्" (६-१-३७) इति परस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणं पूर्वस्य तु तन्निमित्तः प्रतिषेध इत्युक्तं तत्तु तत् उत्सर्ग इत्याद्यक्षराननुगुणम् ।

यत्तु अपवादवाक्यार्थं विना नोत्सर्गवाक्यार्थ इति तदर्थ इति तत्र । अभिनिविशतेऽपवादविषयमित्यादिपदस्वारस्य भङ्गापत्तेः । पदजन्यपदार्थो-
पस्थितौ वाक्यार्थबोधभावे कारणाभावाच्च । यत्र त्वपवादो निषिद्धस्त-
त्रापवादविषयेऽप्युत्सर्गः प्रवर्तत एव । यथा वृत्तादित्यत्र "नादिवि"
(९-१-१०४) इति पूर्वसवर्णक्षोर्धनिषेधनात् प्रवर्तमानस्य वृद्धिबाधकत्वाभा-
वाद् वृद्धिः प्रवर्तते । अतएव "तौ सत् (३-२-१२७) इत्यादि सङ्गच्छते ।
अत एव निर्देशाद् अष्टावसरस्यायस्याश्च शालेऽनाध्वयणम् । ध्वनितं चेद-
"इको गुण" (१-१-३) इति सूत्रे भाष्ये इति भाष्यप्रदीपोद्घोते निरु-
पितम् । अत्र देवदत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य उन्मज्जनं नेति न्यायस्य
भैरवी ।

अन्यरूपितमर्थं निरस्यति-***यस्त्विति*** । एतन्मते प्रकल्प्येत्यस्यापवादविषयकत्वनां हृत्वा-
स्योत्सर्गनाम्नः प्रवर्तते यथापवादस्य प्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः । ***इतीति*** । इति बुद्धिरूपे स-
तीत्यर्थः । ***सम्प्रसारणमिति*** । प्रवर्तते इति शेषः । पूर्वञ्च विद्वा इत्यादायन्त्यस्य यणः पूर्वं
सम्प्रसारणं भवतीति सिद्धम् । ***तत्तु*** । कैयटोक्तम् । ***अननुगुणमिति*** । एतच्च स्पष्टमेव ।
आदिना येत्यस्य प्रकल्प्येत्यस्य च परिग्रहः । किञ्च भगवता "न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्"
इति शापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणं भवतीत्ययमर्थो बोधितो न तु न्यायेनेत्यस्य ता-
दृशार्थकत्वं न युक्तमिति भावः । द्वितीयवचनस्य अन्यकृतमार्गान्तरे निरस्यति-***यत्र त्वप-
वादिति*** । एतादृशस्यार्थस्य सम्भव एव नेत्याह-***पदजन्येत्यादिना*** । पूर्वञ्च उपात्ताक्षरा-
र्थान्तरं विदुस्तदास्पर्शार्थोऽपि नेति कलितम् । उक्तस्यायद्वयस्यैव अपवाद विषयता फलोपहि-
ता विवक्षितेति यत्तुमाह-***यत्रेति*** । ***अतएव*** । कत्रोपहितापवादविषयताया आध्वयणा-
देव । ***अत एव निर्देशात्*** । "तौ सत्" इत्यादिनिर्देशात् । एतेन उक्तार्थे सूत्रकारस्य सम्म-
तिर्निश्चिता । भाष्यकारस्यापि सम्मतिं दर्शयति-***ध्वनितमिति*** । तत्र हि वृद्धिप्रद्विषयाभाव
आगत्सीदित्यत्र दलन्तलक्षणवृद्धेर्बाधकत्वेऽकोर्धदित्यादौ प्रथमप्राप्तगुणस्य स्वबाधकवृद्धिवि-
षयेऽपि प्रवृत्तिः । "तौ सत्" इति निर्देशोपपादनेन हृत्वा वृद्धेस्तु बाध्यमामान्यचिन्तापथं
"मिषि वृद्धिः" इति सूत्रविहिताया बाधकदलन्तलक्षणाया नेतीति प्रतिषेध इत्युक्तम् । देव-
दत्तस्य हन्तरि हते देवदत्तस्य न उन्मज्जनमित्यस्य तु विषय एव भास्तोत्याह-***अत्र देवदत्त-
स्येति*** । प्रतिशोक्तस्य बाधकत्वं मामान्येन कश्चिदाह तत्र युक्तं किन्तु स्थलविशेष एवेति
तत्त्वप्रकाशिका ।

उपसंजनिष्यमाणनिमित्त इति । उपात्तानामुत्पत्त्यभावमभावात्तत्रोपात्तानामु-
त्पत्तिगभावनाबाधकत्वे बोधम् । अनेन च भविष्यत्पराद्विषयान्तिरिक्त्वेन सङ्कोचो
भवति । तथाच-अभ्यन्तरात्परत्वेन संभावितां यो यः सदतिरिक्तस्यैव आन्य आगतादौ
इति द्वापरापरादौ न शेषः । ***अत्राप्रवणमिति*** । तन्मुन्यु अष्टावसरस्यायस्य आप्रविष्य
इति शेषोपपत्तिः । तादृशस्यापरादौ नाम तदोपादेयत्वावच्छेदकप्रामाण्यः । तथाच-यदा श्री

विषय एव नास्ति । हते देवदत्त उन्मज्जनं न । देवदत्तहननोद्यतस्य तु हनने भवत्येधोन्मज्जनम् । प्रकृतेऽपि न पूर्वसवर्णादीद्येण वृद्धेर्हननं किन्तु हननोद्य-
मसजातीयं प्रसक्तिमात्रं प्रसक्तस्यैव निषेधात् । प्रतिपदोक्तत्वमपि निरवका-
शत्वे सत्येव बाधप्रयोजकम् । स्पष्टं चेदं "शेषाद्विमाणा" (५-४-१९४)
इति सूत्रे भाष्ये । तत्र हि-शेषग्रहणमनर्थकं ये प्रतिपदं विधीयन्ते ते बाधका
भविष्यन्तीत्याशङ्क्यतन्वकाशा हि विधयो बाधका भवन्ति समासान्ताश्च
कथभावे सावकाशा इत्युक्तम् । कचिदनवकाशत्वाभावेऽपि परनित्यादिसम-
वधाने शीघ्रोपस्थितिकत्वेन पूर्वप्रवृत्तिप्रयोजकं यलवत्त्वं प्रतिपदविधित्वे-
नापि । परनित्यान्तरङ्गप्रतिपदविधयो विरोधिसन्निपाते तेषां मिथ्याप्रसङ्गे
परवलीयस्त्वमिति "प्रत्ययोत्तरपदयोश्च" (७-२-९८) इति सूत्रे कैपटेन
भैरवी ।

सिद्धान्तस्तैर्दर्शयति-प्रतिपदोक्तत्वमपीति* । अत्र प्रतिपदोक्तत्वं पदविशेषमुच्चार्य विहि-
तत्वमात्रे न तु प्रागुक्तम् । यथा ऋग्भिन्ने रुद्रयर्थे चरितार्थस्य "पादोऽन्यतरस्याम्" इत्यस्य
ऋक्भिन्नेष्वपि प्राप्तस्य "दाबुचि" इत्येतेन बाध इति । एवञ्च सूत्ररीत्या ऋग्भिन्ने रुद्रयर्थे
द्विपदी द्विपादित्वेन, भाष्यकृता तु "दाबुचि" इत्यस्य प्रत्याख्यानं ध्वनितम् ।

तथाहि-कथाग्रहणं किमर्थमिति प्रचट्टके कृत्वा देवविशेषे कथाग्रहणस्य प्रयोजन-
मुक्त्वा अत्रापि आकारान्तादेव टाप् तत्रापि पूर्वान्तवद्भागेन सिद्धमित्यनेन तत्त्वज्ञेने कृते
"पादोऽन्यतरस्याम्" "दाबुचि" इति प्रयोजनमुक्त्वा पादशब्दसमानार्थकाकारान्तपदशब्द-
भाषित्य तत्प्रत्याख्यातम् । न चैवं द्विपदेत्यस्य सिद्धावपि द्विपदी द्विपादित्वमपि प्राप्नो-
तीति बाध्यम् । फलभेदे प्रत्याख्यानसम्भवेन "दाबुचि" इत्यस्यारम्भेऽपि तत्र अन्यतरस्या-
मित्यनुवर्त्य रूपत्रयं बोध्यमिति । स्पष्टञ्चेति* । निरवकाशत्वम् एव बाधकत्वप्रयोजकं
सदिति ह्युक्तमित्यर्थः । यत्नेन प्रतिपदोक्तत्वस्य भवदुक्तीत्या बाधप्रयोजकत्वस्वोकारे प्रागु-
क्तेषु अस्या पाठान्मूलतेति निरस्तम् । अपवाद एवान्तर्भावत् । *शेषग्रहणमिति* । समा-
सान्तापेक्षया शेषत्वस्य ग्रहणमित्यर्थः । शेषग्रहणमित्यर्थः । *सावकाशा इति* । ननु तत्र
चारितार्थेऽपि येन नाप्राप्तस्यास्य यद्गोत्रे तदप्राप्तिर्योग्ये विषये चारितार्थे तत्त्वस्त्वयेति
भाष्यासङ्गतिरिति चेन्न । अस्मादेव भाष्यात् प्रतिपदोक्तत्वस्य येन नाप्राप्तस्यायमूलकापवा-
दत्वे नान्तर्भावः, किन्तु निरवकाशत्वं ऐवेति कल्पनात् ।

ननु प्रतिपदोक्तस्य नित्यस्य बाधकत्वमस्तु वैकल्पिकस्य तस्य तु बाधकत्वाभाव एव
प्राप्नोति, स्वाभावे प्राप्तस्य कपस्तेनाधारणादत आह-कचिदनरेति* । एवञ्च प्रतिपदविधि-
त्वेन शीघ्रोपस्थितिकत्वं तेन तस्य पूर्व प्रवृत्तिरित्येव कल्प्यते । अत्र मानमोह-परनि-
त्येति । विरोधिसन्निपात इति* । विरोधिनोऽन्वयोः सन्निपात एकत्र लक्ष्ये युगपत्प्राप्तौ
परादिक्रमेण ते भवन्तीति शेषः । *तेषाम्* । पदादीनाम् । संप्रसङ्गवाक्यपठितानामेव युग-
पत्प्राप्तावित्यर्थः । *परवलीयस्त्वमिति* । सङ्ग्राहकवाक्यपाठेन येषां परत्वं तेषां वलीय-
स्त्वमित्यर्थः ।

ननु कैपटेन तथा पाठेऽपि भाष्यात् प्रतिपदविधित्वस्य पूर्वप्रवृत्तिनियामकत्वं न कल्प-

तत्त्वप्रकाशिका ।

इत्यस्यां दशायां "वृद्धिरेचि" इत्येतदुद्देश्यतावच्छेदकाक्रान्तेः सत्त्वेन अवसरभ्रंशमावात् ।
कैपटेन पाठादिति । वस्तुतस्तु अपवादस्थाने प्रतिपदविधिपाठेन नार्थ कैपदोऽर्थसाधकः ।

पाठात् । अत एव रमे इत्यादौ प्रतिपदोक्तत्वात् पूर्वमेव आकारप्रश्लेषादल-
ङ्यादिलोपो न प्राप्नोतीत्याशङ्क्य “एङ्ङस्वात्” (६-१-६९) इति लोपेन
समाहितम् ॥ ६५ ॥

नन्वयजे इन्द्रमित्यादावन्तरङ्गस्यापि गुणस्यापवादेन सवर्णदीर्घेण बाधः
स्यादत आह—

अपवादो यद्यन्यत्र चरितार्थस्तर्ह्यन्तरङ्गेण

बाध्यते ॥ ६६ ॥

निरयकाशत्वरूपस्य बाधकत्वबीजस्याभावात् । एवं च प्रकृतेऽन्तरङ्गेण
गुणेन सवर्णदीर्घः समानाश्रये चरितार्थो यणगुणयोरेवपादोऽपि बाध्यते ।
पूर्वोपस्थितनिमित्ताकत्वरूपान्तरङ्गत्वविषय इदम् ।

यत्तु आगमादेशयोर्न बाध्यबाधकमाचो भिन्नफलत्वादत एव ब्राह्मणेभ्यो
वधि दीयतां कम्यलः कौण्डिन्यायेत्यादौ कम्यलेन न वधिदानबाध इति
“ङ्ङोः” (६-४-१९) इति सूत्रे कैयटस्तत्र । अपवादो नुगदीर्घत्वस्येति
भेदो ।

मिति आप्त्वाप्तनुपह एवेत्यत आह—अतएवेति । प्रतिपदोक्तत्वस्य पूर्वप्रवृत्तिनियामकत्वा-
देव । प्रतिपदोक्तत्वादिति । सम्प्रुदिपदोपादानेन अस्य सत्त्वम् ॥ ६५ ॥

अन्तरङ्गस्य । पूर्वोपस्थितनिमित्ताकत्वेनान्तरङ्गस्य । एतेन पूर्वसङ्कतिलाभः । *अप-
वादेन* । बाध्यतामान्येधित्वापवादेन अनयकाशत्वरूपापवादत्वविशिष्टेनेत्यर्थः । *समाना-
श्रये* । वृण्वाप्तम्, वधीत्मित्यादौ ।

अयं भावः—अत्र समाने स्थानिनि निमित्ते च सर्वथा अनयकाशत्वेन यणगुणौ बाधितवा
सवर्णदीर्घे तपोरसापि भिन्नस्थानिनिमित्तकेऽप्यत्र इ इन्द्रमित्यादौ कृतेऽपि यणादेशे स्थानि-
पत्त्येन दीर्घस्य प्राप्त्या न सर्वथा अनयकाशत्वमिति तदप्राप्तिसंयोगे विषयेऽप्यारिताध्वरूपा-
पवादत्वमेव यस्य बीजं तस्य येन नाप्राप्तन्यायस्य यद्यपि सम्भवस्तथापि अन्तरङ्गेण बाध्यते
“विप्रतिषेध”सूत्रे आप्त्वाप्तता तुल्यस्थानिनिमित्तकयोरेव परस्परबाध्यबाधभावस्याद्वीका-
रात् । *पुनश्च* । तादृशबीजाभावे च । *प्रकृते* । अयत्र इ इन्द्रमित्यादौ । *पूर्वोपस्थिते-
ति* । एतेन यत्रान्तरङ्गत्वमपवादं तत्रापवादेनेन बाध इति भावः ।

कैयटमते निरसितमाह—*उपस्थिति* । *भिन्नप्रकृत्यादिति* । कलमत्र यदर्थेताच्छप्रवृ-
त्तिस्तद्वत् पाठो, तद्य मितपोः आदेशो हि स्थानिनिराकः, आगमस्तु नागमिनिराकः ।
यण इत्यन्ते वधिदानमपीदमस्माकः पठे कम्यलदानस्य तु द्योतनियोगमिति भिन्नप्रकृत्यै
तत्त्वप्रकाशिका ।

पूर्वमेव इति । तदप्राप्तिसंयोगे अचारितार्थरूपबाधयोगस्य “सम्प्रुदौ च” इत्यत्र सत्त्वा-
दिति भावः ॥ ६५ ॥

गुणस्यापवादेनेति । अचारितित्यादौ यत्र कर्तव्ये मित्रश्लोपस्यामिश्रणेन यणोऽप्रा-
प्यता तत्र सवर्णदीर्घे चारितार्थमिति बाध्यम् । “मिश्रश्लोप एकादेश” इति धातुिके एकादेशाद-
यणोऽप्युपसर्गमिति स्थानाकारेणानयकाशस्य मुक्तत्वात्, “इट इति” इत्येव मित्रे “आकः सवर्ण-
इतिनामान्यगुणवृत्तयेन यणगुणापवादत्वस्य निर्वर्तुं शक्यत्वात् । *बाध्यत्वस्य बीजस्याभावा-
दिति* । चित्तविशिष्टम्—विराजमान्यवकृतापवाधबीजाभावे स्वस्यैव अद्वैतपक्षेः । अत्रेदं ग्राह्यम् ।

“दीर्घोऽकितः” (७-४-८३) इति सूत्रस्थभाष्यविरोधात् ॥ ६६ ॥

ननु अजीगणदित्यादौ गणेरौत्वं निरवकाशत्वाद्धलादिः शेषं बाधते तत्राह—

अभ्यासविकारेषु बाध्यबाधकभावो नास्ति ॥ ६७ ॥

“दीर्घोऽकितः” (७-४-८३) इत्यकिद्ग्रहणमस्यां शापकम् । अन्यथा यंयम्यत इत्यत्र नुकि कृतेऽनजन्तत्वादीर्घाप्राप्तौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । इयं परान्तरङ्गादिबोधकानामप्यबाधकत्वबोधिका । तेन अचोकरत्, मीमांसत इत्यादिसिद्धम् । आद्ये सन्वद्बाधस्य परत्यादीर्घेण बाधः प्राप्नोति । अन्ये भैरवी ।

प्रसिद्धम् । आगमादेशयोः प्रयोगसिद्धिरूपैकफलमादाय समानफलत्वज्ञेयं दृष्टान्तेऽपि दा-
रीरक्षणरूपैकफलमादाय समानफलत्वोद्दृष्टान्तासङ्गतिः स्यात् । * “च्छवोः” इति सूत्र-
इति* । तत्र हि—भाष्ये, ऊदृष्टिवाभिप्रायेण अय ऊदादि कस्मात् न भवति । आदिष्टि-
यतीति प्राप्नोति कस्य पुनरादिविकारस्य, अस्तु वकारस्यादिः । का प्रतिपत्तिः “लोपोव्यो-
लि” इति लोपो भविष्यति । नैव शङ्क्यम् । “चरत्त्वर” इति द्वौ ऊदौ स्यातामित्युक्तम् ।
एतन्नाप्योक्तस्य वर्णनसमये यथादेशागमयोरेपि बाध्यबाधकभावः स्यात्तदा भाषाते वलो लोपे
आरभ्यमाण ऊदागमस्तत्त्व बाधको भविष्यतीत्युक्तम् । यथागमस्यापवादात्तेन वलोपवा-
धकता स्यात्तदा वलोपो भविष्यतीति ग्रन्थस्यासङ्गतिः स्यादत आगमादेशयोर्न बाध्यबाध-
कभाव इति । आगमादेशयोरेपि “दीर्घोऽकितः” इति सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्येन तत्त्वं स्वीक्रि-
यत पृथ । “च्छवोः” इति सूत्रस्थभाष्यन्तु पूर्वपत्त्युक्तत्वात् न लक्ष्यसंस्कारकमिति सिद्धान्तो-
दायेनाह—*तत्रैति* ॥ ६६ ॥

अपवादप्रसङ्गादाह—ननु अजीगणदित्यादि* । *निरवकाशत्वादिति* । अलोऽन्त्यप-
रिभाषैकवाक्यतया गणरूपाभ्यासान्त्यगणस्येत्वमित्यर्थकस्य च “गण” इति, सूत्रस्य निरव-
काशत्वादित्यर्थः । *अभ्यासविकार इत्यादि* । न च दीर्घस्य नुक्क श्रुगपत्प्रवृत्तेः सम्भवो-
ऽस्त्येनेत्यकिद्ग्रहणञ्चरितार्थमिति बाध्यम् । एवमपि दीर्घाप्रसिद्धयोरे विषयेऽचारितार्थम-
स्त्येनेति सत्यं शापकत्वसम्भवात् । *अनजन्तत्वादिति* । “अवञ्च” इति परिभाषयाऽज-
न्तस्यैव दीर्घविधानादिति भावः । अस्यां परिभाषायां बाध्यबाधकभावपदं न प्रक्रान्तापवा-
दवप्रयुक्तबाध्यबाधकभावपरं किन्तु अन्यपरमपीत्याशयेन आह—*इयं चेति* । *परान्तर-
ङ्गादीति* । अत एवाभ्यासविकारेषु अपवादा उत्सर्गान् न बाधन्त इति नोक्तम् । *भाष्ये* ।
अचोकरदित्यत्र । *सन्वद्बाधेत्यादि* । सन्वद्भावावकाशः, अचिक्षणन् सन्वद्धारविषये विधीय-
मानस्य दीर्घस्य तु अदीर्घदित्यत्र चारितार्थ्यम् । *बाध इति* । यदि पूर्वं दीर्घं स्यात्तदा
सङ्गतिन्यायेन सन्वद्भावबाधेन निमित्ताभावादित्वं न स्यात् । न च पुनः प्रवृत्तिविज्ञानेन
सन्वद्भावो भविष्यतीति बाध्यम् । एवमपि “सन्वत” इति तपस्त्वेनेत्वं न स्यादिति भावः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

अन्तरङ्गपरिभाषादिबाधमङ्गत्वा केवलोत्सर्गबाधेन यत्रापवादाशङ्कस्य चारितार्थ्यं सम्भवति
तत्रान्तरङ्गपरिभाषाबाधे मानामावोऽस्यां बीजम् । अथवा तदुप्राप्तियोग्ये अचारितार्थ्य-
कृते अचारितार्थ्यमिति बीजद्वयसत्त्वेन स्वप्रवृत्तियोग्यो यः स्वीयोदेश्यतावच्छेदकावच्छिन्नः
तदतिरिक्तत्वेन सङ्गोचे मिथमाणेऽपि यद्युत्सर्गप्राप्तिरस्ति तर्हि सम्भवत्येनेत्येतत्परिभा-
षायां बीजम् ॥ ६६ ॥

अकिद्ग्रहणमस्यां शापकमिति* । न च यंयम्यत इत्यादौ अकिद्ग्रहणाभावे दीर्घं बाधित्वा

“मान्यघ” (३-१-६) इति दीर्घेणान्तरङ्गत्वादित्वस्य बाधः प्राप्तः ।

यत्तु यत्रैकैकप्रवृत्त्युत्तरमपि सर्वेषां प्रवृत्तिस्तत्रैवैतत्प्रवृत्तिरिति “अत एक” (६-४-१२०) इति सूत्रे कैयटस्तत्र । नुकि कृते दीर्घाप्राप्त्या धर्मिग्राहकमानविशेषान्मान्यघादीनां दीर्घे कृते इत्वाप्राप्त्या “गुणो यङ्लुकोः” (७-४-८२) इति सूत्रस्यभाष्योक्ततदुदाहरणासङ्गतेति अन्यत्र विस्तरः ॥ ६७ ॥

ननु तच्छ्रीलादितृनविषये एवुलंपि स्यात् । न च तृजपवाधोऽसरूपा-

मैखी ।

दीर्घेणान्तरङ्गत्वादिति । सन्प्रत्ययसन्निधौने विधानादीर्घस्यान्तरङ्गत्वम् । न च एकस्त्रेण समयोविधानेऽप्यभ्यासाभावेन दीर्घाप्राप्त्या कथमन्तर्ङ्गत्वमिति वाच्यम् । अभ्याससंज्ञाप्रवृत्तिपर्यन्तं तदप्राप्तावपि दीर्घस्यापरनिमित्तकत्वेनान्तरङ्गत्वम्, इत्यन्तु सति परतो विधानाद्वहिरङ्गम् । *पूर्वैकेति* । उत्सर्गस्यापवादस्य वा । यथा ननतीत्यप्रोरदत्वल्गादीनाम् । रगादिषु चौरदत्वस्य । *एतत्प्रवृत्तिः* । अभ्यासविकार इति वचनस्य प्रवृत्तिः । आपकसिद्धत्वेनासावर्गिकत्वादेतत्परिभाषाया अप्रवृत्तौ परत्वादुदाहरेत्याह रुकोऽबाध इति स्वयम् । *‘अत एक’ इति सूत्र इति* । तत्सूत्रभाष्ये णकारपकारादेरेत्येति वक्तव्यम् । नेमदुः नेमुः । सेहे सेहाते । किं पुनः कारणं न सिध्यति । अनादेशादेरिति प्रतिषेधः प्राप्नोति, तव तर्हि वक्तव्यम् । न वक्तव्यम् लिटा अत्र आदेशादि विशेषयिष्यामः । लिटि य आदेशादिः सदादेर्नेति । अस्त्यन्यलिङ्गहणस्य प्रयोजनं पक्ता पस्तुम् । नैतदस्ति । कृत्सीति वर्त्तते । एवमपि पक्षः पक्षवानित्यत्र प्राप्नोति । अभ्यासलोपसन्निधौने एवमुच्यते, न चात्राभ्यासलोपं पश्यामः, एवमपि पापच्यतेऽत्र प्राप्नोति । दीर्घत्वमत्र बाधकं भविष्यति । नाप्राप्तेऽभ्यासविकारे एवमारभ्यते । तथा—अन्यानभ्यासविकारान् बाधते एवं दीर्घत्वमपि बाधते । अभ्यासविकारेषु अपि ज्येष्ठमध्यमकनीचांसः प्रकारा भवन्ति । इत्यहलादिः शेषानुत्सर्गः । तयोर्दीर्घत्वमपवाद एवमेत्याहुक्तम् । *दीर्घत्वमात्रेति* । ‘अभ्यासविकारेषु बाधका, न बाधते’ इत्येतत्तु यत्र सर्वेषां प्रवृत्तिस्तत्राधीयत इति कैयटः । पर्याभ्यासलोपयोः कृतयोर्दीर्घत्वाप्रमद इति विद्वत्त्वादबाधकत्वाभावा इति । *धर्मिग्राहकत्वानेति* । बाध्यबाधकभावाभावबोधकरत्वं धर्मः सोऽस्ति यस्मिन् वचने तदग्राहकम् यस्मिन्, तद्विरोधादित्यर्थः । एवमेवान्यत्र व्याख्येयम् । ननु पूर्वोक्तभाष्यान्वयानुपपत्त्या तथार्थः कल्प्यते इति चेत् आपकसिद्धत्वासावर्गिकत्वाभिप्रायेण भाष्ये तथोक्तिसम्भवादिति ॥ ६७ ॥

अपवादप्रसङ्गादाह—ननु ताच्छ्रीलादीति* । नृजपवाद इति* । अर्धविशेषे विधानेन

तत्त्वप्रकाशिका ।

सुख्यपि पञ्चादीर्घाणावादिदृष्टहेन चरितार्थमिति वाच्यम्, तदप्राप्तियोगेऽचारितार्थ्यमिति । एतेन चरितार्थ्यस्य नुकि मत्वेन तद्वक्तृविद्वन्व्यापेन दीर्घबाधे पुनर्दीर्घाप्रवृत्त्या गतिदृष्टहेन, वैधर्म्यात् । नच दीर्घे हेन अत इति तत्परकरणेन नुकोऽप्राप्त्या हेने चरितार्थ्यं नास्तीति वाच्यम्, अभ्यासो रस्यं द्रव्ये तत्परकरणेनैवधर्म्येन तस्य औपदेशिकदीर्घे ध्यातृसेव्य चामाभ्यत इत्यादी पक्षस्येन नृने चरितार्थ्यस्य सारयाम् ।

यत्तु अनेनादिदृष्टहेन अभ्यासविकारेषु वैधर्मिकत्वान्वयोऽपि ज्ञाप्यत इति, तत्र, परिभाषाज्ञापनेन चरितार्थ्येन वैधर्मिकत्वान्वयज्ञापनात्मभवात् । न च परिभाषाज्ञापने वैधर्मिकत्वान्वयो वैधर्म्य विनिगमनादिहरदुष्प्रमाणे ज्ञाप्यत इति वाच्यम्, वैधर्मिकत्वान्वयज्ञापनेऽपि तद्व्याप्येन सुख दीर्घबाधेऽदिदृष्टहेनैवधर्म्येन तद्व्याप्यत इति । नच

पवादस्य विकल्पेन बाधकत्वात् । अत आह—

ताच्छीलिकेषु वासरूपविधिर्नास्ति ॥ ६८ ॥

एतुलि सिद्धे "निन्दहिंसादि" सूत्रेणैकाग्रभ्यो बुद्धिप्रधानमत्र ज्ञापकं सत्र एतुलुभो स्वरे विशेषाभावात् । ताच्छीलिकेष्विति विषयसप्तमी । तेन ताच्छीलिकैस्ताच्छीलिकैश्च वासरूपविधिर्नैति बोध्यम् ॥

नन्वेव कम्पा कमनेत्याद्यसिद्धि "नमिकम्पि" (२-१-६७) इति रेण "अनुदात्तेतश्च हलादे" (३-२-२४९) इति युचो बाधादिति चेत् न । "सुद्वंद्वोपदीप्तिश्च" (३-२-१५३) इत्यनेन दीपयुग्मिपेधेनोकार्थस्यानि त्यत्वात् ॥ ६८ ॥

नन्वेव हसितं छात्रस्य हसनमित्यादौ घञिच्छति भोक्तुमित्यत्र लिङ्-लोटायीपत्पान सोमो भवतेत्यत्र खलू प्राप्नोतीत्यत आह—

कल्पयुद्धमुनुखलर्थेषु वासरूपविधिर्नास्ति ॥ ६९ ॥

भैरवी ।

अस्य अपवादत्वे प्रष्टव्यम् । *एतुलि सिद्धे इति* । करणस्याधिकरणत्वविवक्षया सप्तमी । ननु ताच्छीलिकेषु इत्यधिकरणसम्युपादानादुत्सर्गापवादयोर्भयोस्ताच्छीलिकत्वे एतस्य रिभाप्राप्तवृत्तित्वात् अपवादस्यैव । आद्ये उक्तज्ञापकसङ्गति उत्सर्गस्य अताच्छीलिकत्वात् स्वविषये चारितार्थासम्भवात् ।

किञ्च "पदेरनुदात्तेतश्च" इत्यनेन युचि सिद्धे "शुचिक्कम्प" इति सूत्रेण ताच्छीलिकेषु परस्परं वासरूपविध्यभावस्योक्तसाधनार्थं पदधातोर्विहितेन युचा ज्ञापनान्तर्नैव सिद्धावस्य वैयर्थ्यापत्तिश्च ।

किञ्चाऽलङ्कारिण्युरिति वदलङ्कारक इत्यपि स्यादन्त्ये "शुचिक्कम्प" इति सूत्रे पदिप्रहणवै यस्यापत्तिरुभयोस्ताच्छीलिकत्वादत आह—*ताच्छीलिक इत्यादिना* । ताच्छीलिकप्रत्ययविषयता च द्वयोर्नैव स्वेकस्यैव । एवञ्च प्रकृते उत्सर्गापवादयोरेवस्य कस्यापि ताच्छीलिकत्वे वासरूपविध्यभाव इति सिद्धम् । *एवम्* । उभयोस्तत्वेऽपि वासरूपविध्यभावस्वीकारे । *इत्याद्यसिद्धिरिति* । एकस्य कम्प्रेत्यस्य सिद्धावपि उभयोरसिद्धिरित्यर्थे । आदिपदेन गन्ता गामुक इत्यस्य विकल्पी विकल्थन इत्यस्य च सङ्ग्रह । आद्य तुल्युक्तौ । अन्त्ये चि तुल्युक्तौ च स्याताम् । *शेषेति* । सर्वेषां नञ्कारणेनेत्यादि ॥ ६८ ॥

एवम् । ताच्छीलिकेष्वेव अक्रियवासरूपविधिनिषेधाङ्गीकारे । *छात्रस्येति* । म ध्वमणिन्यायेनोभयत्र अस्यान्वय । हसितमित्यादौ "नपुसके मारे क" । "न्युद्ध" अनयो प्रवृत्ति । *भोक्तुमिति* । समानकालेषु तुमुन् । *लिङिति* । इच्छार्थेषु इति विहितौ । *ईपत्पान इति* । "आतो युच्" इति युच् । *कल्पयुद्ध्यादि* । एतेषु धनादीनामपवाद

तत्त्वप्रकाशिका—

परिभाषाज्ञापनेऽप्यकिदूप्रहणं व्यर्थम् । मुख्यजन्तत्वाभावादीर्घांप्राप्तेरिति वाच्यम्, वैयधिकरणस्यान्वयपरिभाषयोरस्तत्वेऽपि लुक् प्राक् दीर्घवाणयाकिदूप्रहणसामर्थ्येन किदाविभि प्रत्येत्यर्थस्यावश्यं स्वीकृतव्यतया लुक् प्राग्दीर्घांप्राप्तये अकिदूप्रहणस्य साधकत्वात् । नच दीर्घो लुक् इत्येव सिद्धेऽकिदूप्रहणन वैयधिकरणस्यान्वयो ज्ञाप्यत इति वाच्यम्, वनी वच्यते समीक्षेस्यत इत्यादौ नीक प्राग्दीर्घन्यावृत्तयेऽकिदूप्रहणसामर्थ्यत्वात् ।

परिभाषार्थस्तु—अभ्यासत्वावच्छिन्नोद्देश्यताककार्येषु बाध्य पूर्व प्रवर्तत इति अभ्या-

इदं च वासरूपविधेरनित्यत्वात् सिद्धम् । तदनित्यत्वे ज्ञापकं च “अहं कृत्यतृचञ्च” (३-२-१६६) इति ।

तत्र हि चकारसमुचितलिङा कृत्यतृचोर्वाधा मा भूदिति कृत्यतृग्रहणं क्रियते इति अन्यत्र विस्तरः । वासरूपसूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥ ६९ ॥

ननु भवः पक्षेत्यत्र वासरूपविधिना लृङपि प्राप्नोति कृते आदेशे वैरूप्यादत आह—

लादेशेषु वासरूपविधिर्नास्ति ॥ ७० ॥

आदेशकृतवैरूप्यस्यासु लकारेषु स नास्तीत्यर्थः । अत्र च “हृशश्चतोलङ् च” (३-२-११६) इति लङ्विधानं ज्ञापकम् । अन्यथा “परोक्षेलिङ्” (३-२-१५) इति लिङा लङः समावेशोऽसारूप्यात्सिद्ध इति किं लङ्विधानेन शशादिभिस्तिङां समावेशार्थं शतृविधायके विभाषाप्रहरणानुवृत्तिः “लिङा कानञ्चा” (३-२-१०६) इति या ग्रहणं च कृतम् । सज्ज्ञापयति वासरूपसूत्रेऽपवाद आदेशत्वानामान्तः प्रत्यय एव गृह्यत इति कैयटादौ ध्वनितम् ।

भैरवी ।

भूतेषु सत्सु तद्विषये वासरूपविधिर्नास्तीत्यर्थः । एवञ्चैतद्विषयेऽपवादस्योत्सर्गवाधकत्वमेवाङ्गीक्रीयत इति कलितम् । *इहम्* । केति वचनम् । *ज्ञापकमेति* । चत्सर्वं । *तत्र हि* । तस्मिन् सूत्रे हि कृत्यतृग्रहणमिति । एतेन लिङ्विधानार्थं सूत्रस्यावश्यकत्वं ध्वनितम् । यदि वासरूपविधेरनित्यत्वं न स्यात्तदा वासरूपविधिर्न एषो कृत्यतृचोः सिद्धौ तयोर्ग्रहणं न दुष्यत् । *अन्यत्र विस्तर इति* । एतदनित्यत्वेनेत्येकं यक्षमाणञ्च सर्वं संगृहीतं भवतीति तद्वचनं न काव्यम् ।

यदि तु “शकि लिङ्च” इति चकारेण कृत्यग्रहणानुपूर्व्यार्थं कृतेन वासरूपविधेरनित्यत्वं ज्ञाप्यते इति वक्ष्यते तदा कृत्यतृग्रहणं “प्रेषातिसर्ग” इति सूत्रे च ॥ काव्यमिति सूचितम् ॥ ६९ ॥

वासरूपविधिप्रमङ्गादाह—*नित्यमिति* । *वासरूपविधिनेति* । “ननु अनुबन्धकनममा-रूप्य” गृह्यत इति कथमेतदत आह—*नृत्न इति* । एवञ्च आदेशनिवृत्त्यैरूप्यस्य स्थानिन्या-शेषाद्रासरूपविधेः प्राप्तिरिति भावः । *लादेशेनित्यत्वादि* । लघासत्वादेशेति कर्मधारयः । आदेशपक्षे च आदेशानुपूर्व्यस्याल्लङ्गिकम्, विशेषणयोधकस्यापि आदेशपक्षस्य पूर्वनिर्गतप्रकरणस्य अनित्यत्वात्कारादिन्यात्वा परनिर्गतः । एवञ्च यत्कलितं तदाह—*आदेशानृत्न इति* । *लटः* । “अनपठने लट्” इतिविहितस्य लटः ।

ननु लघ्यादेशेनित्यमिति पठ्यतेपुण्य एवाम्यु लक्षणायां शोभाभावात् पञ्चमावाच इत्यत्र आह—*अत्रादिभिरिति* । आदिर्देन कानचः परिषदः । *सत्तृत्रिषावके* । “लटः सप्तता-मणौ” इति विमलसूत्रे । *विमलसप्तग्रहणानुवृत्तिः* । “नञोर्विभाषा” इत्यतो विभाषाप्रद-लानुवृत्तिः । *नृत्नमिति* । भाष्यकृतेति शेषः । “सदादिभ्यो बहुल्यमिच्छातोः” इति या-तिङप्रत्यासप्तानाथ हि भाष्यकृता विभाषाग्रहणानुवृत्तिः कृता । अत्रार्थं सूत्रकारस्यापि म-म्मदिमाह—*लिट् इति* । *प्रत्यय एवेति* । आदेशान्त्वानामान्त एवेति । एवकारस्य नि-

तत्त्वप्रकाशिका ।

सप्तशतिकादिप्रोक्तवन्त्युक्ता ऋणानुस्तिषादौ इत्यादिप्राप्तिं न तत्रार्थार्थः, अन्यथा बाध्यस्य गतनेदीपस्य त्वं प्रवृत्तौ पञ्चादस्ये तद्विनिर्दिष्ट इत्येव ।

तत्फलं तु सदादिभ्यो भूतसामान्ये लिटः कसुरेव न तु पक्षे तिङ् इति बोध्यम् ॥ ७० ॥

ननु “डमो ह्रस्वात्” (८-३-३२) इत्यादौ डमः परस्याचोऽचि परतो डमः इति चेति सन्देहः स्यादत आह—

उभयनिर्देशो पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् ॥ ७१ ॥

अथीति सप्तमीनिर्देशस्य “अय उजः” (८-३-३३) इत्युत्तरत्र चारि-
भैरवी ।

पञ्चमत्वकल्पनेन । *न तु पक्षे तिङ् इति* । अन्यथा वासरूपविधिना पक्षे तेऽपि स्युरिति शेषः । एवं च अनेनैव प्रकारेण लादेशविषये वासरूपविध्यभावः सिद्ध इति पूर्वोक्तवचने पक्षी-
तत्पुरुषाश्रयणमनर्थकमिति पूर्वोक्तकर्मधारयलभ्यार्थकमेव लादेशेषु इति वचनमिति भावः ।
कवसुरेवैत्येवकारेण कानचः परिग्रहः तस्याः स्वरितत्वेन तत्रासम्बन्धात् ॥ ७० ॥

अपदादस्य बलवत्त्वेन तत्प्रसङ्गादभ्यस्यापि बलवती निरूपणार्थमाक्षिपति—*अनु डम
ह्रस्वादि* । उभयनिर्देश इत्यादि । *बलीयानिति* । तस्य बलवत्त्वं च स्वार्थपरत्वमेव । ए-
वं च उभयोः सप्तमीपञ्चम्योरेकत्र निर्देशे पञ्चमी निर्दिश्यमाना सप्तम्याः पक्षीकल्पने समर्था, न
तु सप्तमीनिर्देश एव पञ्चम्यन्तस्य पष्ठपन्तस्वरूपकः, यथा “आमि सार्वनाम्नः सुद” इत्यत्र ।
“आजसेः” इत्यत्रादिति पञ्चमी “त्रेस्त्रय” इत्यत्रामीति सप्तमीचरितार्था । एवमुभयोश्चरिता-
र्थत्वात् “तस्मिन्” इति सूत्रात् “तस्मादि” इत्यस्य सूत्रस्य परत्याज्यवस्था, यत्र तु उभ-
योरचारितार्थ्यं तत्रापि पञ्चमीनिर्देशस्यैव बलवत्त्वम् । यथा “इसि शुद्” इत्यत्र ।

एवञ्च नैदं वचनमपूर्वं, किन्तु परत्वानत्रकाशत्वप्रयुक्तबलवत्त्वानुवादकमेव । अनुवादमा-
म्यार्थैव उभयोरचरितार्थ्येऽपि पञ्चम्याः बलवत्त्वम् । यत्र ॥ सप्तम्येवाचरितार्था तत्र सप्तमी-
निर्देशस्यैव बलवत्त्वम् “आने मुग्” इत्यत्र यथा, अत्र “अतो येय” इत्यत्र अत इति पञ्चमी
चरितार्था, क्वचिच्च सप्तमीनिर्देशचरितार्थ्येऽप्यचरितार्थपञ्चमीनिर्देशापेक्षया बलवत्त्वम् “दीर्घा-
त्पदान्ताद्वा” इत्यत्र यथा अत्र हि पञ्चम्या अचरितार्थत्वेऽपि “सेनासुराच्छाया” इति शा-

तत्त्वप्रकाशिका—

यसु अभ्यासविकारेषु वाध्यवाक्यकयोर्यथा समानेशः स्यात्तथा कर्तव्यमिति परिभाषार्थ
इति तत्र, बोध्यते इत्यादौ पूर्वं ह्रस्वे पश्चाद्गुणप्रवृत्त्या पूर्वं गुणेऽपि पश्चाद्भूतप्रवृत्त्या च
कदाचिद्गुणोत्तरं ह्रस्वप्रवृत्तेर्द्वारत्वाद् ॥ ६७ ॥

संदेहः स्यादिति* । नच “डमो ह्रस्वात्” इत्यादौ परिभाषाद्वयोपस्थितावपि अजादि
पदाभ्यवहितपूर्वत्वविशिष्टः ह्रस्वाभ्यवहितोत्तरत्वविशिष्टो यो ह्म तदन्ते यत्पदं तदभ्यवहि-
तोत्तरत्वविशिष्टो यः कश्चनोदासीनस्तस्य ह्मुडितिसूत्रार्थः सम्पत्त्यत इतिसंदेह एव तावन्ना-
वतरोत्तीवाच्यम्, “तस्मिन्” इति “तस्मात्” इतिपरिभाषाद्वयेऽपि अभ्यवहितत्वं पूर्वत्वं
पष्ठपञ्चः अभ्यवहितत्त्वमुत्तरत्वं पष्ठपञ्चोत्तिप्रत्येकमशत्रयस्य सत्त्वेन तत्र योऽंशः सिद्धो वा
तृपितो वा भवति तदंशरहितयोरेवानयोऽप्यस्थितिरितिसंदेहस्य सुस्यत्वात् । तथाहि यदि
“तस्मिन्” इतिपरिभाषा अशत्रयवर्ती उपतिष्ठेत् तदा पष्ठपञ्चविकला तस्मादित्युपतिष्ठेत्
पष्ठपञ्चस्य सिद्धत्वात् । तथाच—“तस्मात्” इतिपरिभाषोपस्थापितरूपवहितोत्तरत्वस्य
श्रुतानुमितपरिभाषया श्रुतेऽप्येवान्वयो नत्त्रनुमिताभ्यवहितपूर्वत्वविशिष्टे, एव च अभ्य-
वहितोत्तरत्वविशिष्टो योऽप्येववहितपूर्वत्वविशिष्टस्य ह्मुडिति ह्मो ह्मुदप्राप्तः ।

यदितु “तस्मादित्युत्तरस्य” इतिपरिभाषांशत्रयवत्युपतिष्ठेत्, तदा “तस्मिन्” इतिपरिभाषा
पष्ठपञ्चविकला उपतिष्ठेत् तदा पूर्वोक्तदिशा अजभ्यवहितपूर्वो यो ह्म तदभ्यवहितोत्तरस्य ह्मु-

तादृश्यात् । पञ्चमीनिर्देशोऽनवकाश इति “तस्मादित्युत्तरस्य” (१-१-६७) इत्यस्यैव प्रवृत्तिः ।

यत्र तु “हः सि धुम्” (८-३-१०) इत्यादावुभयोरप्यचारितार्थं तत्र “तस्मिन्” (१-१-६६) सूत्रापेक्षया “तस्मादित्युत्तरस्य” (१-१-६७) इत्यस्य परत्वात्तेनैव व्यवस्था । एवमुभयोश्चारितार्थेऽपि, यथा “आमि सर्वनाम्नः” (७-३-५२) इत्यादौ तत्रामीति सप्तमी “त्रेह्यम्” इत्यत्र चरितार्था । आदिति पञ्चमी “आजसेरसुक्” (७-१-५०) इत्यत्र चरितार्थेति स्पष्टं “तस्मिन्” इति सूत्रे भाष्ये कैयटे च ॥ ७१ ॥

ननु “अतः कृकमि” (८-३-४६) इति सत्रमयस्कुम्भीत्यत्र न ह्यात् कुम्भशब्दस्यैवोपादानादत आह—

प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम् ॥ ७२ ॥

सामान्यरूपेण विशेषरूपेण वा प्रातिपदिकबोधकशब्दग्रहणे सति लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टस्यापि तेन ग्रहणं बोध्यम् । अपिना केवलस्यापीत्यर्थः ।
भैरवी ।

यद्वलाद् दुर्बलत्वम् । एवमुभयोश्चारितार्थेऽपि सप्तमीनिर्देशस्यैव क्वचिद् बलत्वम् । यथा “बहुजितुम्प्रतिपेध” इत्यस्य प्रत्याख्यानार्थं “नष्टसकल्प शलवः” इति सूत्रेऽच इत्यस्य पञ्चम्यन्तत्वे कल्पवित्त्वा भाषः परो यो शल् सदन्तस्येति व्याख्यानोऽच इति पञ्चम्याचरितार्थाया अपि “इकोऽचि” इतिसूत्रे सर्वनामत्वान्ने इत्यस्य “उनिदधाम्” इति सूत्रे चरितार्थसप्तम्यपीकत्वानुसृत्या कुण्डानि धनानीत्याद्यर्थराक्षभभेदेन व्यवख्यानपक्षे पण्डितत्वकल्पनम् ।

यद्यपि अत्रोभयोश्चारितार्थे तथापि पञ्चम्या इह इति पण्डितपाहचर्याद् दुर्बलत्वम् कल्पितमेव परतत्त्वमेतस्य यच्चनस्यापूर्वत्वाभावे एव सङ्गच्छते । न च भवदुक्तस्य सर्वस्वार्थस्य “तस्मिन्” इति सूत्रभाष्येऽनुक्तत्वात् स्पष्टं “तस्मिन्” इति सूत्रे भाष्ये इत्यमङ्गतमिति बाध्यम् । पञ्चमीनिर्देशस्य बलवत्त्वबोधकमेतद्ग्रहणम् स्पष्टमित्यर्थात् । एवञ्च परत्वादनवकाशत्वप्रमुक्त्यापद्रव्यानुवादकमेतद्ग्रहणमिति दिक् ॥ ७१ ॥

इति बाधघोषप्रकरणम् ।

उभयनिर्देशप्रसङ्गादाह—अन्यत इति* । प्रातिपदिकेत्यादि* । *सामान्यरूपेणैत्यादौ सत्त्वप्रकाशिका ।

इति अथोऽगुर् प्राप्त इति, नचानयोः परिभाषयोरेकांशविकल्पोर्न कुत्राप्युपस्थितिर्येतिनाशम्, प्रत्ययविधौ पर्यवसानस्य बाधितत्वेन उत्तरत्वांशस्य मिद्वयेन च केयलादप्यदिनत्वांशोपस्थितेः, “उद्ः स्यास्तम्भे” इत्यादौ पर्याप्तस्य मिद्वयेनांशद्वयोपस्थितेः, “इकोऽचि” इत्यादौ अंशद्वयोपस्थितेः, एव इत्यादौ सकलांशोपस्थितेश्च दृष्टम् । *यद्येवाऽनिगि* । यत्र पञ्चमीनिर्देशप्रसङ्गोऽपि तत्रास्मादिति अंशप्रपञ्चो परत्यानुपस्थिते यत्र पञ्चमीनिर्देशः सावकाशः सप्तमीनिर्देशश्च निरवकाशः तत्र तस्मिन्निति परिभाषात्रयवती तस्मादिति षष्ठीनिविष्टया उपस्थिते । परिभाषायाम्नु पञ्चमीनिर्देश इतिमात्रमादिवद्भूयसा व्यवहृतेः । “हः सि धुम्” “आमि सर्वनाम्नः सुद्” “हमो हस्याम्” “सि धुम्” इत्यादाहरणानि ॥ ७१ ॥ इति बाधघोषप्रकरणम् ।

अथ तत्रमेवप्रकरणम् । *लिङ्गबोधकप्रत्ययविशिष्टत्वेति* । यैः स्वपठितस्य स्वनिष्ठ-

अस्याश्च ज्ञापकं सामानाधिकरण्याधिकारस्ये "कुमारः श्रमणादिभिः" (२-१-७०) इति सूत्रे स्त्रीलिङ्गश्रमणादिशब्दपाठः । स्त्रीप्रत्ययविशिष्टश्रमणादिभिश्च कुमारीशब्दस्यैव सामानाधिकरण्यं न तु कुमारशब्दस्येति तदेतज्ज्ञापकम् । इयं च "द्विपत्परयोः" (३-२-३९) इत्याद्युपपदविधौ समासान्तविधौ, महदात्वे, जित्स्वरविधौ, राजस्वरे ब्राह्मणकुमारयोः, "बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूमि" (३-२-१७५) इत्यादौ समाससङ्घातप्रहणेणु भैरवी ।

दि* । प्रातिपदिकत्वात्मकसामान्यधर्मप्रकारकोपस्थितिजनकशब्दोच्चारण इत्यर्थः । अत एव व्याप्त्यनुभाष्ये प्रातिपादकप्रहणेनेव सिद्धिमाधित्व व्याप्यहणत्रैयर्थ्यमाशङ्कितम् । विशेषरूपेणेत्यस्य प्रातिपादिकत्वव्याप्यधर्मविशिष्टबोधकशब्दोच्चारण इत्यर्थः । अत एव वक्ष्यमाण-ज्ञापकसङ्कतिः । एवं च भाग्यप्रामाण्यादुभयत्र एतत्परिभाषाप्रवृत्तिः । एतेन ज्ञापकसाक्षात्प्राद्विशेषरूपेणेत्येव उचितमित्यवास्तम् ।

• लिङ्गविशिष्टस्य इत्यत्र लिङ्गपदस्य धावकयोः तादात्म्याह्निङ्ग बोधकशब्दादिप्रत्ययपरत्वम् । तेन प्रातिपदिकत्वव्याप्यान्यतरविशिष्टबोधकशब्देन प्रहणं बोधनमित्यर्थः । *स्त्रीलिङ्गश्रमणादिशब्दपाठः* । स्त्रीत्वबोधकप्रत्ययविशिष्टस्य पाठः । *सामानाधिकरण्यमिति* । एकार्थप्रतिपादादकत्वमित्यर्थः ।

यद्यपि भाष्ये "पुवा ललति", इति सूत्रे जरतीप्रहणस्य एतत्परिभाषाज्ञापकतोक्ता तथापि परिभाषाज्ञापनेऽपि पुवतीशब्दस्य जरतीशब्दसामानाधिकरण्यानुपपत्तिस्तद्वत्त्वेति पुवत्वा जरतीधर्मदर्शनमूलकजरतीत्वारोपस्य आवश्यकत्वेन परिभाषामात्रेऽपि युनि जरतीत्वारोपेण सामानाधिकरण्योपपत्तिर्भवति प्रहणे तु परिभाषाज्ञापनेन आरोपस्य अपेक्षेति श्रमणाशब्दस्यैव ज्ञापकत्वमुक्तम् ।

न चात्रापि कुमारे श्रमणत्वारोपेण सामानाधिकरण्यात् समासस्य उपपत्तिः सम्भवतीति कथमेतज्ज्ञापकमिति धार्यम् । मित्रलिङ्गानामत्रहलिङ्गातिरिक्तानामौषधारिकमपि समानाधिकरण्ये च प्रतीयते शब्दशक्तिस्वभावादित्याशयात् । अतिप्रसङ्गभङ्गाय घटघटीप्रहणेन एतस्या अनित्यत्वं कल्पनीयं, तेन न सर्वत्र प्रवृत्तिरित्याह—इत्येतेति* । *द्विपत्परयोरिति* । तेन "द्विपत्परयोः" इत्यनेन द्विपन्तष इत्यत्रैव द्विपतीताप इत्यत्र खण्डम् । *समासान्तविधाविति* । तेन मन्त्रराज इत्यत्रैव मन्त्रराजीत्यादौ "राजाह" इति टच् न । *महदात्वं इति* । तेन महाप्रिय इत्यत्रैव महतीप्रिय इत्यत्र "आनूमहत" इति च, एवं महती ब्राह्मणीति स्थिते परत्वात् पुवद्भावं धापित्वा स न । *जित्स्वरविधाविति* । तेन दाक्षिरित्यत्रैव दाक्षीत्यत्राहिसुम्बकायनिरित्यत्रैवाहिसुम्बकायनी इत्यत्र च "जित्त्वादिनित्यम्" इति स्वरो न । *राजस्वरे ब्राह्मणकुमारयोरिति* । ब्राह्मणकुमारयोः परयोर् "राजा च" इति सूत्रेण विधीयमानः पूर्वपदप्रवृत्तिस्वरस्तस्मिन्नित्यर्थः । स स्वरो यथा राजब्राह्मणो राजकुमार इत्यत्र च भवति तथा राजब्राह्मणी राजकुमारीत्यत्र न भवति । *बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूमिन्त्यादाविति* । "बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूमि" इत्यनेनोत्तरपदार्थबहुत्वे वर्तमानात् पूर्वपदभूतबहुशब्दात्परं षदुत्तरपदं तदन्ते बहुव्रीहौ नञ्वत्स्वरो भवतीत्यर्थेन योऽतिदेशः स यथा बहवो गोमन्तोऽस्मिन् बहुगोमानित्यत्र भवति नञ्वत्स्वरश्च नञ्सूत्राभ्यामित्यन्तोदात्तत्वम् तथा बहवो गोमन्तोऽस्यां सा बहुगोमती इत्यत्र न भवति । *समाससङ्घातप्रहण इति* । इदं पूर्वान्वयि, न तु पृथक्, तत्त्वप्रकाशिका—

विवेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयपटितत्वं स्वविशिष्टाघटितत्वं एतज्जितयसम्बन्धेन, स्वयै० स्वघटकत्वं स्वनिष्ठविवेयतानिरूपितोद्देश्यताश्रयाघटकत्वं एतदुभयसम्बन्धेन । *समास-

नन्वेवं यूतः पश्येत्यत्रैव युवतीः पश्येत्यत्रापि “युव” (६-४-१३३)
इति सम्प्रसारणं स्यादत आह—

विभक्तौ लिङ्गविशिष्टाग्रहणम् ॥ ७३ ॥

भैरवी ।

तस्य समुदायस्य प्रातिपदिकसम्प्रसारणविधानादिति पूर्वोक्तार्थे शङ्कते—*नन्वेवमिति* ।
स्त्रीप्रत्ययसमभिव्याहारे विशिष्टे प्रातिपदिकत्वव्याप्यवर्मातिदेशे । प्रातिपदिकत्वव्याप्ययुव-
नृशब्दत्वस्य विशिष्टेऽतिदेशः स्यादिति भावः ।

ननु मयस्तेत्यत्र सम्प्रसारणवारणाय आदीनां सम्प्रसारणे नकारान्तग्रहणमनकारान्तप्र-
तिपेधार्थमिति चार्त्तिकस्य “अवलोपोऽन” इत्यतोऽन इत्यस्यानुवृत्तिं प्रदर्श्य प्रत्याख्यानं
कृतमित्यन्नन्त एव सम्प्रसारणयोग्यता । अग्रन्तत्वस्यापि स्त्रीप्रत्ययसमभिव्याहारेऽतिदेशस्तु
वक्तुमशक्यः । अग्रन्तत्वस्य प्रातिपदिकत्वव्याप्यत्वादिति चेन्न । ग्रन्थमाणाया विभक्ता-
विति परिभाषाया गोमती यवमती नदीत्यत्र नुस्माराणावावश्यकर्तव्यतयैव युवतीः पश्येत्यत्र
सम्प्रसारणवारणे अत इत्यस्य “युव” इत्यत्र सम्बन्ध एतदर्थमनावश्यक इत्याक्षेपात् । वि-
भक्तानित्यादिकार्ष्यं कर्त्तव्य इत्यस्य अन्वयाहारः । एवञ्च विभक्तिनिमित्तकार्ष्यं कर्त्तव्ये लि-
ङ्गयोषकप्रत्ययविशिष्टस्य ग्रहणं नेत्यर्थः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

विधातरपि सत्त्वेन कुमारस्य प्रातिपदिकत्वव्याप्यत्वाभावेन ज्ञापकासङ्गतिः, नच समर्थकुमा-
रत्वं प्रातिपदिकत्वव्याप्यमिति न ज्ञापकासङ्गतिसिद्धिरित्याच्यम्, अग्रन्तप्रातिपदिकत्वस्यापि
प्रातिपदिकत्वव्याप्यत्वेन रमाशब्दे तदतिदेशे इजापचेरिति चेन्मैवम्, प्रातिपदिकमग्रतुति
विषयताप्रयोजकपदप्रतिपाद्यतावच्छेदकप्रमाणामतिदेशो भवति, विषयतायां प्रातिपदिक-
माग्रतुतित्वं च प्रातिपदिकतुतित्वे मति प्रातिपदिकेतराग्रतुतित्वम् तत्र प्रातिपदिकेतरतुति
त्वाभावाच्च अमेदाशब्दाऽप्रयोज्यो विवक्षित इति स्मृत्यादौ अग्रन्तत्वस्य नातिदेशः । अल्प-
प्रयोज्यविषयतायां प्रातिपदिकेतरतुतित्वाभावस्य अमेदान्वयप्रयोज्यत्वात् कुमारपदं च
समर्थकुमारप्रकृतिके लाक्षणिकमिति निरूपप्रातिपदिकमाग्रतुतिविषयताप्रयोजकं जातमि-
त्यदोषात् ।

यद्वा, अनया परिभाषया पदप्रतिपाद्यानां प्रातिपदिकत्वव्याप्यवर्माणामतिदेशो भवति ।
एवञ्चाग्रन्तप्रातिपदिकं पदप्रतिपाद्यं न भवतीति रमे इत्यादौ न दोषः । कुमारपदं न सम-
र्थकुमारप्रकृतिके लाक्षणिकमिति समर्थकुमारत्वं पदप्रतिपाद्यं प्रातिपदिकत्वव्याप्यञ्च भवती-
तिनस्यातिदेशो भवतीति सर्वसामञ्जस्याच्च ।

केचित्तु इयं परिभाषा न कर्त्तव्या प्रातिपदिकविशेषग्रहणेपु सर्वत्र “गुमान् त्विया” इत्ये-
कशेषायास्कुम्भीत्यादौ दोषाभावात् । न च प्रातिपदिकसामान्य ग्रहणे दोष इति वाच्यम् ?
“अथैवद्यातुरस्य प्रातिपदिद्रुम्” इतिमन्यासेनादोषात्, सवितिगुसिङ्गिकद्रुम्यः सविति सशब्द-
दारभ्य सुप् परारेण प्रत्याहारः । एवञ्च “कुत्तद्वित” इतिसूत्रे तद्वितग्रहणं “कृताप् सूत्रे” कृताप्
ग्रहणं च न कर्त्तव्यं भवति । न च काशकृत्स्नेन प्रोक्तां मीमांसामर्थोक्तेकाशकृत्स्नेना ब्राह्मणोत्यादौ
प्रोक्तादग्रेप्रयं जाते प्रोक्तप्रत्ययमाग्रतुतित्वादित्वानयनाय परिभाषा आवश्यकी, एवं त्रौव्याः
अपत्यं त्रौवायनिरित्यादौ “अणोऽयच” इति कर्त्तव्यं च आवश्यकीति वाच्यम् “कृताप्” इतिसूत्रे
कृताप्ग्रहणञ्च क्रीयते तथा च प्रोक्तप्रत्ययान्तप्रकृतिकृताप्प्रत्ययान्तप्रोक्तप्रत्ययान्तप्रातिपदिकाच्च
परस्याभ्येत्वेदित्प्रत्ययस्य लुक् । एवमण्यन्तप्रकृतिकौ यौ कृतापौ तदन्तादन्ताच्च प्रातिप-
दितात् “अथो किन्” इति “प्रोक्ताल्लुक्” “अणोऽयच” इत्यादेरर्थकरणेनादोषादित्याहुः ॥७२॥

सम्प्रसारणं स्यादिति* । न चात्र सत्त्वे प्रातिपदिकत्वव्याप्यत्वस्य निरूपप्रातिपदिकमा-

स्पष्टा चेयं “युवोरनाकौ” (७-१-१) इत्यत्र भाष्ये । घटघटीप्रहणेन लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वात्तन्मूलैवेत्यन्ये ॥ ७३ ॥

ननु “तस्यापत्यम्” (४-१-२२) इत्येकवचननपुंसकाभ्यां निर्देशाद्वाग्यो गार्ग्यावित्याद्युक्तमत आह—

सूत्रे लिङ्गवचनमतन्त्रम् ॥ ७४ ॥

भैरवी ।

अस्यां परिभाषायां मानमाह—*स्पष्टा चेयमिति* । एवञ्च भाष्यप्रामाण्यादेवा कल्पते न त्वत्र शापकापेक्षा । मतान्तरमाह—*घटघटीप्रहणेनेति* । घटघटीत्यत्र घटीप्रहणेनेत्यर्थः । “युव” इति सूत्रे मध्यतेत्यत्र सम्प्रसारणवारणायान इत्यस्य सम्बन्धो यद्ब्रूयते सतप्रधान-फलमन्वया न सिध्यतीत्यभिप्रायेण । युवतोः पश्येति तु न प्रधानमन्वयासिद्धत्वादिति ध्वनयितुम् । अन्य इत्यनेन अरुचिर्बोधिता । “युवोरनाकौ” इति सूत्रभाष्येऽवश्यमेवा कर्त्तव्येति परिभाषास्यैव व्यवहारादस्य अतिरिक्तत्वमेवोचितमिति । कयाप्यसूत्रस्य भाष्यं स्येतल्लुब्धाधक-धनपरमेय । अतएव विभक्तौ धोक्तं विभुक्तम् विभक्तौ लिङ्गविशिष्टादहणादित्येव तत्रोक्तम् । *अत्र* । विभक्ताविति सप्तम्यप्यतदोपादानाद्विभक्तिनिमित्तकं यत्कार्त्तव्यं तत्रैवाख्याः प्रवृत्तिरिति तु विभक्तावित्यस्य विषयसप्तमीत्वात् । तेन शुना शुने इत्यत्रैव सूत्र्यै इत्यत्रापि गौरादिघीपस्तशुनीशब्दस्यान्तोदात्तस्य यणादेने “उदात्तयणो ह्रस्वपूर्वात्” इति प्राप्तस्य स्वरस्य “नतोद्यन्” इति प्रतिषेधेन न भवति ।

न च यदि विभक्तिस्थानिकार्ष्येऽपि चेत्परिभाषा प्रवृत्तिस्तदा विभ्रगधीनामित्यत्र कयर्ग-यद्ब्रूयत्तपदकसमासत्वं लीयन्तेऽभावात् गत्वं न स्यादिति याच्यम् ? “युवोरनाकौ” इति सूत्रस्य भाष्यप्रामाण्यादेन विभक्तः प्राधान्येन यत्कार्त्तव्यं तत्रापि प्रवृत्तिरित्यर्थस्यैव वक्ष्यतात्, गत्वन्तु न प्राधान्येन विभक्तिस्थानिकम्, नकारस्यैव तत्र प्राधान्यात् । यदि त्यागान्नामागमिधर्मैरितिष्यमपि “यदागमा” इति न्यायेनेति कल्प्यत इति पक्षस्य आश्रयणेन नकारस्य विभिन्नत्वं प्राधान्यं च अस्तीति गत्वस्य प्रधान्येन विभक्तिस्थानिकत्वमप्यस्तीति लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया निषेधः स्यादित्युच्यते तदा विभक्तिस्थानिकत्वात्कार्त्तव्यविषये प्राधान्येन आश्रीयमाणस्य कार्त्तव्यगो विभक्तित्वेन यत्र आश्रयणं तत्रैव विभक्तावित्यस्य निषेधस्य प्रवृत्तिरिति स्वीकार्त्तव्यम् । गत्ये तु प्रधानतया आश्रितस्य नस्य गत्येन कार्त्तव्यता न तु विभक्तित्वेनेति क्षर्यभाव इति बोध्यम् ।

पुनरभिप्रायः एवाप्यसूत्रस्य वृत्तवहणेन लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया अनित्यत्वं ज्ञाप्यते तेनैवा सिद्धेति तत्र । तत्रत्यववापूवहणस्य अन्वयार्थकताया अन्यत्रोक्तत्वात् ॥ ७३ ॥

तत्त्वप्रशस्तिका ।

प्रवृत्तिविषयताप्रयोजकवदप्रतिपाद्यतावच्छेदकत्वस्य चाभावेन तस्यातिदेशो न भवतीत्य-ववागमागमनिरिति याच्यम् ? “युव” इति सूत्रे यादेस्तदन्ते व्याखणिकतया तदेकदेशभूते “नन” इत्येकस्य विशेषणत्वात्तद्वचनेन “गर्भोराणां नर्त्तं धोप” इतिपद-यादिपदस्य अत्र-नन्वाद्यन्ते स्वरगावा “अन” इत्यस्य तात्पर्यं यादृक्त्वस्य च स्वीकृतव्यत्येनादोषात् ॥ ७३ ॥

इत्याद्यपुनर्मिति । न च स्तोत्रं यपन्तव्यादौ एकवचनसमाधौ “येहयोः” इत्यस्य एकवचनस्यैवप्राप्त्यनुबोधविधित्वायामेकवचनं, “स्वमोर्नृ सहादोमिरयादेः” मधुमेनरवि-होषुषोपधिपिने सुगमादि भवतीत्यर्थंवाच्यत्वात्तद्वचनेन तस्यावश्यकमिति निर्देशाच्च नाम-प्रतिनिधित्वाच्च, “समसाधत्तममेति” “यतिमत्त्वमृगान्द्रमि” इत्यादौ यद्ब्रूयन्तुमि-ह्यदिनिर्देशेन “समसाधत्तममेति” नामसाधकः शृगे शृगौ वा द्रमि मार्गिक इत्याद्यपुनर्मिति अवगतरान्वयमभावात् । *सूत्रे लिङ्गवचनमन्त्रम्* । स्यादेतत् अतन्त्रमित्यस्य श्रवण-

“अद्वयं नपुंसकम्” (२-२-३) इति नपुंसकरूपग्रहणमस्यां शापकम्
नित्यनपुंसकत्वार्थं तु न तदित्यन्यत्र निरूपितम् । धान्यपलालन्यायेन
नान्तरीयकतया तयोरुपादानमिति “तस्यापत्यं” इत्यत्र भाष्ये स्पष्टम् ।
अत एव “आकडार” सूत्रे एकेति चरितार्थमिति अन्यत्र विस्तरः ॥ ७४ ॥

भरवी

लिङ्गबोधप्रत्ययप्रसङ्गादाह—नन्विति* । *अस्यां शापकमिति* । यदि सूत्रानिर्दिष्ट-
लिङ्गवचनयोर्विवक्षा स्यात्तदा अद्वयमिति निर्देशादेव नपुंसकत्वस्य लाभेन नपुंसकरूपग्रहणमनर्थकं
स्यादिति भावः ।

ननु खण्डवाचकस्याद्वयशब्दस्य नपुंसकत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थं नित्यनपुंसकस्य ग्रहणमिति
वक्तव्यमिति तन्नाभायं सूत्रे नपुंसकशब्दोऽस्ति त्वस्य आह—नित्यनपुंसकेति* । अन्यत्र नि-
रूपितमिति* । “एओह” सूत्रभाष्ये एवो ह्रस्वशासनेऽद्वैतशब्दोकारपोविधानमाशङ्क्य
सैव लोकेऽद्वैतकारोऽद्वैत ओकारो वास्तोति समाधानपरभाष्येऽद्वैत इति प्रयोगात् समांशवाच-
कस्यापि न नित्यनपुंसकतास्तीति निरूपितम् ।

वस्तुतस्तु एषा युक्तिसिद्धैरेत्याह—धान्येत्यादि* । यथा कश्चिद्व्याप्यं शालिकलापं स-
त्तु सपलालमाहुरति नान्तरीयकतया स ततो यावदादेयं तावदादाय तुपपलालान्युत्सृजति
तथा नान्तरीयकतया लिङ्गवचनयोरुपादानमिति तत्स अत्रिवक्षा उचितैव । आदावेतस्यां परि-
भाषायां नपुंसकरूपग्रहणस्य शापकत्वमुक्तं तत्र कश्चिदाह—उक्तशापकालिङ्गाविज्ञास्तु वचना-
विवक्षायाम् न प्रमाणमिति तन्मतस्त्वन्नाथ सिद्धावलोकनन्यायेन वचनाविवक्षायामपि मान-
माह—अत एवेति* । उपात्तस्यापि वचनस्याविवक्षास्त्यादेरेत्यर्थः । यदि वचनस्यो-
क्तत्वप्रकाशिका ।

परजन्यबोधविषयत्वेन तात्पर्यविवक्षयाभावो यद्यर्थः, तर्हि पूर्वोक्तप्रयोगेषु नत्वयवचनाद्यनुप-
पत्तिः पुंसि बुधोपविपिते एव “तस्माच्छ्रोत्रो न” इति शास्त्रेण नकारादेशस्य, बहुवचने बुधो-
पविपिते बहुवचनमित्यनेन बहुवचनस्य च विधानादिति चेन्नैवम्, अतन्त्रेमित्यस्य शक्तौ
अविवक्षितमित्यर्थस्वीकारेणादोषात् । शक्तौ अविवक्षितमित्यस्य बुद्धिविषयतावच्छेदकत्व-
वतशक्तौ उपलक्षणं, न तु विशेषणमिति भावः ।

तथा च—आश्रयत्वसम्बन्धावच्छिन्नबोधविषयतात्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्य-
ताश्रयविशेषणानाम् बोधविषयतायां धर्मिशारतन्त्रेण विशेषणत्वम्, तानि, विशेषणानीत्यु-
च्यन्ते, येषां बोधविषयतात्वावच्छिन्नप्रकारतानिरूपितविशेष्यताश्रयविशेषणता तेषां बोधवि-
षयतायां धर्मिशारतन्त्रेण विशेषणत्वम् तानि विशेषणानीत्युच्यन्ते येषां बोधविषयतासामा-
नाधिकरण्यमात्रं तान्युपलक्षणानीत्युच्यन्ते । यथा सत्पदशक्तौ बुद्धिविषयतावच्छेदकत्वं तथाच
एकत्वविशिष्टनपुंसकत्वविशिष्टापत्यत्वावच्छिन्नं अण्पदात्प्रत्येतत्त्वमिति शक्तौ तत्त्वप्रत्ययार्थवि-
षयतायां यथा अपत्यत्वस्य स्त्रीनिष्ठस्वरूपसम्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकतानिरूपितावच्छेद्यतासम्ब-
न्धेन विशेषणत्वम्, न तथा नपुंसकत्वैकत्वयोरिति अविवक्षणे उपलक्षणे इत्याद्युच्येते । नच “त-
स्यापत्यम्” इति शक्तिप्राह कशास्त्रेण एकत्वविशिष्टनपुंसकत्वविशिष्टापत्यत्वावच्छिन्नोऽण्पदवाच्य-
इति शक्तिज्ञानस्य जातत्वेनपुंसत्वादिपुरस्कारेण अपत्यबोधो न स्यादिति वाच्यम् ? अपत्यत्वा-
वच्छिन्नोऽण्पदवाच्य इति शक्तिज्ञानान्तर्येण तदादिपदेन स्वरूपतो घटत्वादिप्रकारकबोधवत्
नपुंसकैकत्वाविषयकापत्यत्वविषयकबोधस्याप्युपपत्तेः । *नपुंसकरूपग्रहणमिति* । नच स्वरूपतो,
घटत्वादिगतलिङ्गस्यैव वैयाकरणमते बोधेन “स्वरूपम्” इति परिभाषया “अद्वयनपुंसकम्” इति
सूत्रेऽण्पदस्यैवोपात्तत्वेन तद्वत्तलिङ्गस्यैव भावः, नतु समांशगतलिङ्गस्येति नपुंसकरूपग्रहणमाव-
श्यकमिति वाच्यम् । “पूर्वापर” इति सूत्रे अद्वैतशब्दादेनैव सिद्धे अद्वयमिति योगविभागसाम-
र्थ्येन समांशयतलिङ्गभावेन नपुंसकरूपग्रहणवैयर्थ्यात् । *एकेतिचरितार्थमिति* । तत्र एकत्वस्य

नित्यत्वे ज्ञापकमिति घदन्तः परास्ताः, अनित्यत्वे भाष्यसम्मतकलाभावात् । अत एव “अकर्त्तरि च” (३-३-१९) इति सूत्रे कारकग्रहणं भाष्ये प्रत्याख्यातमिति बोध्यम् । स्पष्टा चेयं “भृशादिभ्यः” (३-१-१२) इति सूत्रे भाष्ये । अत्र अन्यसद्वशेत्युक्त्या सादृश्यं भेदाघटितमिति सूचयति । निरूपितं चैतन्मञ्जूषायाम् ॥ ७५ ॥

ननु व्याघ्रो कच्छपीत्यादौ सुयन्तेन समासात्ततोऽप्यन्तरङ्गवाद्याप्यद-
न्तत्वाभावाज्जातिलक्षणो ङीप् न स्यादत आह—

गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्
सुयुत्पत्तेः ॥ ७६ ॥

“उपपदम्” (२-२-१९) इति सूत्रेऽतिद्वहणेन “कुगति” (२-२-१८) इत्यत्र तदपकर्षणेनातिङन्तश्च समास इत्यर्थात्तयोः सूत्रयोः “सुपसुपा” भवेत् ।

पठयति—*पतेनेति* : पतेन वक्ष्यमाणेन हेतुना । त हेतुमेवाह—*अनित्यत्वं इति* ।

ननु अनित्यत्वकलमसुख्यमप्यद्यानि मुखानीत्यादिसम्भवत्येवेत्यत आह—भाष्यसम्भ-
वेति* । शब्दशक्तिस्वभावात् तादृशस्थले सादृश्याप्रतीतिर्लोकं प्रसिद्धा, न तत्र शापका-
पेभेति भावः ।

ननु अनित्यत्वसिद्धार्थानुवाद एव विभक्तिग्रहणादस्त्वित्यत आह—*अत एवेति* ।
भाष्यानभिमतत्वादेव । यदि तथा स्यात् तर्हि प्रत्याख्यानासङ्गतिः स्पष्टेव । *सादृश्यं* ।
सदृशादिप्रदशक्यतावच्छेदको धर्मविक्षेप इति अन्यत्र निरूपितम् । अत एवाह—*भेदाद्य-
दितमिति* । एतेन तद्विग्रहे सति तद्गतधर्मवत्त्वं सादृश्यमिति वादिमतं न युक्तमिति
सूचितम् ॥ ७५ ॥

अप्राप्तिरिति प्रवृत्तिप्रसङ्गादाह—नन्विति* । आदिपदेनाश्वकीतीत्यस्य परिग्रहः ।
ततोऽप्यन्तरङ्गत्वादिति । स्वार्थद्वयादीनां प्रतीतेः पूर्वं कमिकत्वे निरूपितम् ; तत एव
अन्तरङ्गत्वमिति भावः । *प्रागिति* । उत्तरपदे सुवृत्तपक्षे प्रागित्यर्थः । एतेन पूर्वपदे तु सुवृ-
त्तपक्षिस्त्येषैत्युक्तम् । अत एव चर्मकीतीत्यादौ नलोपस्य सिद्धिः । अत्र सुवृत्तपक्षेतित्युपल-
क्षणं स्त्रीप्रत्ययोत्पत्तेरित्यस्यापि । तेन पूर्वोक्तप्रयोजनोपपत्तिः । एतस्यां परिभाषायां बीजः
माह—उपपदमिति* । *कुगतीत्यग्रेति* । “गतिश्च” इति पृथक् सूत्रे इत्यर्थः । *इत्यर्था-
दिति* । “अतिङ्” इत्यस्य प्रथमान्तत्वात् समासपदस्यापि तत्त्वात्सामानाधिकरण्यस्य
भ्याष्यत्वादयमेवार्थ उचितः । अत्र समासस्य तिङन्तत्वासम्भवेन विशेषणसार्थक्याय तिङ्-
पदस्य तिङन्तघटिते लक्षणा द्रष्टव्या । तस्य च नञा तत्पुरुषेण तिङन्तावधिते इत्यर्थः । अथवा
तिङ्पदशक्यार्थपरमेव नञा तु बहुव्रीहिः । *सुसुप्तेत्यस्य निवृत्त्येति* । समुदायनिवृत्तावस्य
सात्यर्थम् । तृतीयान्तनिवृत्तिरेव तु विवक्षितेति प्राञ्चः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

एकेति व्यर्थमिति भावः ॥ ७४ ॥

एकाति व्यथामात भावः ॥ ७४ ॥
 भाष्यसंमतफलाभावादिति । एतेन “अनचि” इति पर्युदासेऽपि नागित्यादौ एतन्न्या-
 यस्यानित्यत्वस्य द्वित्यसिद्धिः फलमित्यपास्तम् । भाष्ये प्रसज्यप्रतिषेधस्यैव स्वीकारेण
 भाष्यासंमतत्वात् । *भेदाघटितमिति* । सत एव, स्वस्य स्वेनापि सवर्णसंज्ञा भवतीति
 दिक् ॥ ७५ ॥

सो, यथा सा हि तस्य धनक्रीतेति ।

अन्ये तु अनित्यत्वे न मानं तत्र अजादिस्वाद्यायित्याहुः । अत एव-
कुम्भकार इत्यादौ षष्ठीसमासोऽपि सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव । षष्ठीसमासाभावे
’उपपदसमासकृतातैर्याभावः, इति न तत्र वाक्यमिति “उपपदम्”
(२-२-११) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

तत्र हि—‘षष्ठीसमासादुपपदसमासो विप्रतिषेधेन’ इति वार्तिकम् । अथ-
वा विभाषा षष्ठीसमासो यदा न षष्ठीसमासस्तदोपपदसमास इति तत्
प्रत्याख्यानं च ।

यद्यपि उपपदसमासस्यान्तरङ्गत्वाभिप्रायकं न वा षष्ठीसमासाभावाद्-
भैरवी ।

तन्मैयर्थं स्पष्टमेव । तस्मिन् सूत्रे स्य इति प्रविपदोक्तपरिभाषया “सुविरुद्ध” इति सूत्रवि-
हितकप्रत्ययान्तानुकरणं धृष्टयर्थे प्रथमा ।

न मानमिति । अयम्भावः—दक्षितेचात्रित्यादौ प्राक् सुबुत्पत्तेः समासे “सात्पदा-
द्यो.” इतिसूत्रस्य प्रवृत्तिर्नस्यादतस्तेषु परत्वाभावसिद्धयर्थं पदादादिरिति पञ्चमीसमासस्या-
वश्यकत्वेन गद्यादिप्रहणस्य आवश्यकतयानित्यत्वे ज्ञापकत्वं न सम्भवतीति, धनक्रीतेत्यादौ
तु बहुलप्रहणात् सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव समास इति ।

अन्ये त्वित्युपादानमरुचिषोघनाय, तद्गीमन्तु “न पदान्त” सूत्रे वेतस्वानित्यस्य सिद्धये
‘पदान्तशब्दस्य पदेऽन्त इत्यर्थकत्वं स्वीकृते, तत्पक्षे “गोवा” इत्यादौ प्राक् सुबुत्पत्तेः समासे
पदपरत्वाभावेन निषेधाप्राप्तौ स्थानिवद्भावोऽहोपत्य स्यादिति रूपासिद्धिः स्पष्टेव । एतदपि
धनक्रीतेत्येतत्पक्षमेवेति चेद् बहुषु स्थलेषु बहुलप्रहणेन परिभाषाया अप्रवृत्तिकल्पनापेक्षया
अनित्यत्वकल्पनमेव धरमिति, यदि तु “सात्पदाद्यो.” इति सूत्रस्य पदशब्दस्य पदस्ययोग्यार्थ-
कत्वं कल्पयते तदा तत्र गद्यादिप्रहणस्य आवश्यकत्वेन ज्ञापकत्वं न सम्भवतीत्युच्यते तदा
बहुलप्रहणादेव ‘क्वचिदन्वयेव’ इत्यर्थकात्परिभाषाया अनित्यत्वमिति । अत एव गतेरपि
सुबुत्पत्त्यनन्तरं निर्गतः स्यन्तेत्यादौ “ह्युपुवा” इत्यस्य निवृत्तावपि सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव
समासो भवति । तेन हत्वानुस्वारयोः सिद्धिः । प्रादितेत्यादौ पदान्तत्वात् पररूपः ॥ भवति ।
अत एवेति । परिभाषायां कारकांशसत्त्वादेवेत्यर्थः । *षष्ठीसमास* । कारकांशकपृष्ठान्तस्य
समासः । *तत्र हि* । “उपपदम्” इति सूत्रभाष्ये हि । *इति वार्तिकमिति* । एतेन विप्र-
तिषेधप्रदर्शकवार्तिकमपि कारकपृष्ठान्तस्य समासः सुबुत्पत्तेः प्रागित्यत्र मानमिति च नि-
सम् । वार्तिकलघुघनाय भाष्ये आह—*अथवेति* ।

मनुवात्तिकान्तरात् षष्ठीसमासस्य सुबुत्पत्त्यनन्तरमेव प्रवृत्तिरिति लभ्यत इत्याशयेन
आह—*यद्यप्युपपदेति* । “षष्ठी” इतिसूत्रे सुपेति तृतीयान्तस्य सम्बन्धः । अत एव मातु-
स्मरतीत्यादौ न समासः । इदञ्च वार्तिकं पूर्वविप्रतिषेधप्रदर्शकवार्तिकलघुघनाय प्रवृत्तम् । प-
दवात्तिकान्तरात् कुम्भकार इत्यादौ सूत्रद्वयबोध्यसमाससंज्ञा तत्पुरुषसंज्ञावत् स्यात् इति
“उपपदम्” इति सूत्रस्यापि परत्वात् प्रवृत्तिः स्यादिति, न तु इदं वार्तिकं “विप्रतिषेधेपदं
कार्यम्” इति सूत्रप्रवृत्तिप्रदर्शनेपरम् विरोधाभावात् । यथा “उपपदम्” इतिसूत्रविहिता

तत्त्वप्रकाशिका ।

तथा हि—कुम्भकार इत्यादौ वाक्याभावात् नित्यैकार्योभावस्याहोर्कृत्यतया महाविभाषया
समाससंज्ञायाः विकल्पकत्वेन “यदा न षष्ठीसमासस्तदोपपदसमास” इत्युक्ते व्यहितत्वेन
एकदेशयुक्तिवत्त्वस्य स्पष्टत्वम् ।

पदसमासः इति धात्विककृतोक्तं तथापि तदुभयप्रत्याख्यानपरमधवेत्यादि
भाष्यं परिभाषायां सामान्यतः कारकोपपदानेन कारकविभक्त्यन्तेन कृद्भिः
समासमात्रस्य सुबुत्पत्तेः पूर्वमेव लामात् । एतेन एषा कारकतद्विशेषयोरुपा-
दान एवेति परास्तम् । अस्या विध्येकवाक्यत्वामात्रेण विप्रतिषेधादिशास्त्रः ।
वत्कार्यव्यवस्थापकमात्रत्वेनोपादान एवेत्यर्थालामाच्च ॥ ७६ ॥

ननु उगिदचाम्" (७-१-७०) इत्यत्र धातोश्चेदुगित्कार्यं तद्धातुतेरे-
वेति नियमेनाधातोरेष नुमि सिद्धवेऽधातुग्रहणं व्यर्थमत आह—

साम्प्रतिकाभावे भूतपूर्वगतिः ॥ ७७ ॥

तत्तद्वचनसामर्थ्यापत्तिरित्यम् । तत्सामर्थ्याद्धातुभूतपूर्वस्यापीत्य-
भैरवी ।

समाससंज्ञा विग्रहत्वेन नित्या तथा पठ्यति सूत्रविहिता तत्पुरुषसंज्ञापि, प्रकृतेषु भाविग्रह-
स्वाधित्यैव तृतीयान्तस्य तत्र असम्बन्ध इति । उपपदसमासस्यान्तरङ्गत्वं पूर्वस्थितनिमि-
षकत्वेन । *तदुभयेति* । पूर्वपक्षसिद्धान्तरूपवार्तिकरूपेत्यर्थः ।

ननु प्रत्याख्यानपरभाष्यस्य कथमिहोपपत्तिर्यावतोऽकरीत्योपपदसमासोऽन्तरङ्ग इत्यत
आह—*परिभाषायामिति । कारकविभक्त्यन्तस्य* । कारकाधिकारीयमज्ञाप्रयोज्यविभक्त्य-
न्तस्य । एतेन यद्यपि "पठ्ठी" इतिसूत्रस्योभयोः सुबन्तत्वे राजपुरुष इत्यादौ प्रवृत्तिस्तथापि
प्रतिशब्दं भेदकल्पनेन "कर्तृकर्मणोः" इतिसूत्रविहितपष्ठ्यन्तस्य समास एतत्परिभाषाबला-
दुत्तरपदे सुबुत्पत्तेः प्रागेवेति न अत्रोपपदसमासस्यान्तरङ्गत्वमिति भावः ।

एतेन पठ्ठीसमासोऽपि सुबुत्पत्तेः प्रागिति यन्प्रतिज्ञातं तस्य सिद्धिः । न च समासयोर्भेदे
स्वरभेदः । "गतिकारकोपपदात्" इत्यस्य उभयथापि प्रवृत्तेः, "पठ्ठी" इति सूत्रस्य "कर्तृक-
र्मणोः" इति सूत्रविहितपष्ठ्यन्तस्य उत्तरपदे सुबुत्पत्तेः प्राक् प्रवृत्तौ कल्पमवस्थितिः । तथादि
पठ्ठतिरित्यत्र, मज्जतेः पठित इति विभेदे मयूरव्येसकादिस्वात् "पठ्ठी" इतिसूत्रेण वा समाने
उपोदरादितरादस्य लोपे सान्तस्य जगत्त्ययेति । "पठ्ठी" इतिसूत्रस्य प्रवृत्तिपक्षे पष्ठ्यन्तस्य-
राजन्तादित्यं कल्प्यम् । "मयूर" इतिसूत्रस्य प्रवृत्तिपक्षे तु मयूरव्येसकादित्यं कल्प्यमिति
कल्पनायां न विरोधः । एतेन उक्तभाष्येण सादृशायेभ्य लामोऽपि नेत्याह—*अस्या इति* ।
निराकाङ्क्षेनेति शेषः । एतेनैषा लक्षगप्रवृत्तिभ्यस्त्वापकत्वेन परम्परया विप्रतिषेधशास्त्र-
उत्पत्त्यापिकंति दर्शितम् ॥ ७६ ॥

गतिकारकमेषा धातुयोग एव सम्भव इति धातोः स्मृतत्वेन प्रयुक्ताह—*ननुगिदधा-
मिति । साम्प्रतिवत्त्यादि* । साम्प्रतिवत्तस्य समिप्रतत्तत्कालिकलक्षगप्रवृत्तिषोरस्य लभ्य-
स्याभावे भूतपूर्वस्य पूर्वकालिकताद्वानुदिविषयम् ग्रहणमित्यर्थः । *तत्सामर्थ्यादिति* ।

तत्प्रकाशिका ।

किञ्च "पठ्ठी" इतिसूत्रेण नुवृत्तं आहोस्त्रिषवा यद्यनुवृत्ते कुम्भकार इत्यादावपि सुष-
न्ते समामावपतिः । यदि मानुवृत्ते राजपुरुष इत्यादावपि सुबुत्पत्तेः प्राक् समामावपतिः । अत
एव पठ्ठीसमासादुत्तरदसमामो विप्रतिषेधेन, अथवा विभाषा पठ्ठीसमासः यदा न पठ्ठी समा-
स-उत्तरदसमामास इति धात्विककृतं न वा पठ्ठीसमासाभावादुत्तरदसमास इति मिदागितना
प्रत्याख्यानमिति दिक् ॥ ७६ ॥

नुगिदिदिति । नुमविषय एव भूतपूर्वगत्यावपनम्, तेन भोमान् धीयत्र "उगि-
नम्" इति ईदृ न । अथापानुग्रहं धातोर्नुम् कारणात्, अथः परो यो ह्य तदन्तागु-

येन गोमत्यतेः क्विपि गोमानित्यादौ नुमसिद्धिः । “नामि” (६-४-३) इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्पष्टा ॥ ७७ ॥

बहुव्रीहौ तद्गुणसंविज्ञानमपि ॥ ७८ ॥

अपिना ऽतद्गुणसंविज्ञानम् । तेषां गुणानामवयवपदार्थानां संविज्ञानं विशेष्यान्वयित्वमिति तदर्थः । यत्र समवायसम्बन्धेन सम्यन्ध्यन्यपदार्थ-रतत्र प्रायस्तद्गुणसंविज्ञानम् । अन्यत्र प्रायोऽन्यत् । लभ्यकर्णचित्रगू उदा-हणे । “सर्वादीनि” (१-१-२७) “जस्तित्यादयः” (६-१-६) इति च उदाहरणे सर्वनामसंज्ञासूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥ ७८ ॥

ननु “यद्ः सुपि षयप् च” (३-१-१०६) इति चेनानुरूपस्य यतो “भुवो भावे” (३-१-१०७) इत्यत्राप्यनुवृत्तिः स्यादत आह—

चानुकृष्टं नोत्तरञ्च ॥ ७९ ॥

णमुत्पन्ननुषत्तमाने “अवयवेऽवयवमिमेत” (३-४-५६) इति सूत्रे पुनर्ण-मुल्लङ्घनमस्या ह्यापकम् । अन्यथा क्त्वा चेति यदेत् । तद्धि उत्तरञ्च उभयोः सम्बन्धार्थम् । उदाहरणानि स्फुटानि । इदमनित्यम् । अत एव “तृतीया भैरवी ।

अवाप्तुप्रहणसामर्थ्यादित्यर्थः । *गोमत्यतेः क्विपीति* । गोमन्तमिच्छतीत्यर्थे विहितक्यज-न्तादित्यर्थः । *भाष्ये स्पष्टेति* । तत्र हि—“नामि” इति सनकारस्य प्रहर्णं मास्त्विति श-ङ्कायां दीर्घं कृते सुद् न स्यादिति परेणोक्ते अग्नीनामित्यत्रापि सर्वत्रान्तरङ्गत्वादीर्थे कृते साम्प्र-तिकाभावे भूतपूर्वहस्वान्तस्वमादाय नुद् भविष्यतीति परेणोक्ते णामित्यत्र दीर्घाभावपक्षे नुद् चरितार्थ इति शङ्कायां “नलोक्तमुदाहरणम्” इतिरीत्या सनकारस्य प्रहर्णं चरितार्थमित्य-मिहितम् ॥ ७७ ॥

“उगिद्वाम्” इति सूत्रस्य पूर्वोक्तत्वात्तस्य च बहुव्रीहिसंज्ञकत्वाद्बहुव्रीहिसंज्ञेनाह—*बहुव्रीहौ तद्गुणेति । तेषामित्यादिना वाक्यार्थं प्रदर्शयाम्येविभक्तं विषये प्रवृत्तिमाह—*यमेत्वादिना* । यद्यप्यन्यत्र संयोगसमवायान्यतरसम्बन्धनिर्देशो दृश्यते, तथापि मञ्जूपायां पदार्थप्रयोजनमात्रस्यैव सम्बन्धस्त्वम्, संयोगस्तु स्वतोऽपि पदार्थः, इति न स सम्बन्ध इत्यु-क्तं, तदा येनात्र संयोगानुपादानेनाह—*समवायेति* । सम्बन्धं भोजयेत्तत्र भन्त्यपदार्थरूप समवायेन विरोधसम्बन्धित्वेऽपि व्यभिचारादाह—*प्राय इति* । लोहितोष्णोपा इत्यादौ । द्वितीयस्यापि व्यभिचारादाह—*प्राय इति* । लौकिकोदाहरणमुक्त्वा शास्त्रीयमाह—*सर्वा-दीनीति* ॥ ७८ ॥

समुच्चयार्थकापि शब्दोपादानप्रसङ्गादाह—*नन्विति । अनुवर्चमान इति* । “स्वादुमि” इत्यत इत्यादि । *अस्या* । चानुकृष्टमिति परिभाषायाः । *अव्यय* इति सूत्रस्थगमूल् प्रह-स्य चारिताध्यमाह—*तद्धि उच्येति । उच्यते* । तिर्य्यच्यपवर्ग इत्यादौ । स्फुटानोक्तिः । “रङ्गोमनुष्येऽणुच” “दिक्पूर्वपदादुच्य” “सर्वसराग्रहायणीभ्यां उच्य” “पितृयञ्च” इत्यादि । आद्ये “कापिभ्याः फल्” इति फलो “प्रप्रागुपाक्” इत्यत्र, द्वितीये “अर्द्धायद्” इति यतो तत्त्वप्रकाशिका ।

मित्यर्थस्य “हालच” इत्यनुवृत्त्याच्चेतस्त्वद्रासौ नलोपिनोऽच्चेतसिर्तिनियमाभावात् ॥ ७७ ॥ *चानुकृष्टमिति* । निवृत्त्यर्थक्यकारानुकृष्टमित्यर्थः । अत एव “तृतीया चहोः” इत्यत्रा-

च होः" (२-३-३) इत्यत्र चानुकुष्टाया अपि द्वितीयाया अन्तरान्तरेण इत्यत्र सम्बन्धः । "लुटि च क्लृपः" (१-३-९३) इति सूत्रस्येना-
नुवृत्त्यर्थकसकलचकारप्रत्याख्यानेन विरुद्धेयम् । व्याख्यानादेवानुवृत्ति-
निवृत्त्योर्निर्वाह इति तदाशयः । "कुलिजात्लुक्खौ च" (५-१-५५) इति
सूत्रस्यभाष्यविरुद्धा च । तत्र हि-"द्विगोः षष्ठ्य" (५-१-५४) इति सू-
त्रात् एतस्तत्र चेनाप्यनुकृष्टस्य "खोऽन्यतरस्याम्" इत्यस्य च अनुवृत्ति-
स्वीकृत्य "लुक्खौ च" इति भाष्ये प्रत्याख्यातम् ॥ ७२ ॥

ननु अनुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते तद्व्यञ्जनादेर्व्यञ्जनान्ताच्च न
प्राप्नोतीत्यत आह—

स्वरविधौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ॥ ८० ॥

स्वरादेश्यके विधावित्यर्थः । "नोत्तरपदेऽनुदात्तादायपृथिवीरुद्रपूपम-
न्धियु" (६-२-१४२) इति सूत्रे पृथिव्यादिपदयुदात्तोऽस्या ज्ञापकः । अ-
न्यथा पृथिव्यादीनामनुदात्तादित्वाभावाद्प्राप्तौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । धर्मि-
भैरवी ।

"प्राप्तजनपद" इत्यत्र, तृतीये "गोप्मावरसमे" इति पुलो "व्यहरति" इत्यत्र, चतुर्थे "अत-
रुद्र" इति ढगो "गोप्रादुद्रु" इत्यत्रासम्बन्धः । एतत्परिभाषाया एव तत्र तत्र तस्य
तस्यासम्बन्धनियामकत्वे भवतीति । *इदमनित्यमिति* । "पूजानुत्तरपदेण" इति सूत्रे णप्रह-
णान्, तद्विधापहणासम्बन्धार्थम्, अस्या नित्यत्वे तु "प्रातिपदिकान्त" इति सूत्रे चकार-
णानुवृष्टस्य पेत्यस्यासम्बन्धे सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । *अत एव* । अस्याः परिभाषाया
अनित्यत्वादेव । *द्वितीयाया इति* । द्वितीयापदमेव स्वरितत्वात् तत्र सम्बध्यते न तु तृती-
यापदसम्बन्धितत्वात् । *अनुवृत्त्यर्थेति* । एतेन समुच्चयार्थं चकारास्तत्प्राप्तिः । *विद-
देति* । प्रात्याख्यानपदेऽनुवृत्त्यर्थचकारस्य न कापि सत्यं किन्तु अदृष्टार्थत्वमेव । *व्याख्या-
नादिति* । "स्वरितेनाधिकः कार" इति भाष्यकारीषकाराणामनित्यार्थः । *तदाज्ञापः* ।
प्रात्याख्यानरभाष्यानामात् । उक्तमेवार्थं द्रव्यति—कुलिजादिति । तत्र* । "द्विगोः" इति
सूत्रे । *चेनाप्यनुवृष्टेति* । चेनानुवृष्टस्मादीत्यर्थः ॥ ७९ ॥

बहुमीदिप्रमादाह—ननु अनुदात्तादेरिति* । न प्राप्नोतीति* । स्वरस्यानुधर्म्येन
व्यञ्जनादेस्तथास्वात्मभेदादिति भावः । *स्वरविधावित्यादि* । स्वरविधावित्यत्र षष्ठीस-
मानः । सा च न कम्मणि "विज्ञादिव्योऽण्" इति सूत्रारम्भात् । तद्वि "अनुदात्तादेश" इत्य-
न्वापत्तार्थम्, किन्तु नेपे षष्ठ्यर्थः सम्बन्धश्च स्वराणुवाङ्कनाप्रविहितत्वमेव । तत्फलित-
माह—*स्वरोद्देश्यक इति* । उद्देश्यकत्वञ्च अनुदात्तकनाप्रमोचिनत्वमेव, धर्मिप्राहकमा-
नात् । परिभाषायां ज्ञापकमाह—*नोत्तरेति* । अनेन सूत्रेण पृथिव्यादिवर्जितेऽनुदात्तादी
उत्तरपदे देशनादौ पूजोत्तरपदयोः प्रवृत्तिः स्वरो निषिध्यते । *अन्यथा* । व्यञ्जनम्याविद्य-
मानत्वाभावे । *धर्मिप्राहकेति* । पूर्वोक्तम्यार्थस्यानुदात्तोऽयम् । एतेन पीनदस्य नास्त्युनी-
तस्यप्रकाशिका ।

पुनरुत्पत्त्यकारानुवृष्ट्या द्विगोपाया उत्तरप्राप्त्यापि न क्षतिः । अत एवानुवृत्त्यर्थमदस्य
कारप्रत्याख्यानपर "लुटि च क्लृपः" इति सूत्रस्यभाष्यविरोधो न । ये व्यपदिताग्रस्या-
कारास्तो निवृत्त्यर्थकाः । अथवाहितमृगस्याम्यवमृगव्यर्थकाः । अत एव "लुक्खौ च" इत्ये-
ताग्रप्राख्यानं न विरोधः । एतेनैवमनित्यत्वात्मा ॥ ८० ॥

ग्राहकमानादेव च स्वराहश्यकविधिविषयमिदम् । अत एव "शतुष्पुमो न-
द्यजादौ" (६-१-१७३) "अचः कर्तृयकि" (६-१-१९५) इत्यादाद्यजादौ
अच इत्यादेश्वारितार्थम् । अत एव राजवतीत्यादौ नलोपस्यासिमत्याद-
न्वतीशब्दस्यात् "अन्तोऽवत्याः" (६-१-२२०) इति स्वरो नोदशिव्यानि-
त्यत्र "ह्रस्वमुङ्भ्याम्" (६-१-१७६) इति मतुबुदात्तत्वेन्याकरः । स्प-
ष्टं चेदं "समासस्य" (७-१-१३३) इति सूत्रे भाष्ये । "उच्चैरुक्तानः"
(१-२-२९) इति सूत्रे कैयटस्तु इयमनावश्यकौ समभिध्याहृताजुपरागेण
हलोऽप्युदात्तादियदधभासात्तदुपपत्तेरित्याह । तत्र भाष्येऽपि ध्वनितमेतत् ॥

भैरवी :

यम् । *अत एव* । स्वरोद्देश्यकेति विशिष्यक्यमादेव । सामान्यतोऽविद्यमानवद्भावो उदा-
त्तत्वयोग्यविमर्शरजादित्वाद्यभिचारादजादीति व्यर्थं स्यादिति भावः । *अत एव* । उक्ता-
र्थत्वादेव । *उद्धितवानिति* । इदम्* श्रुतपरप्रकृतित्वरेणान्तोदात्तम् । न च “इत्स्वनुद्-
भ्याम्” इति सूत्रेऽप्यन्तोदात्तादित्यस्यानुवृत्तेः स्वरोद्देश्यकत्वमस्येव तत्फलानु मात्वा वि-
द्विषुमानित्यग्रे पृथगतोषांभ्ये निदित्यधिकारोऽयं यदियेः “किं च” इतिसूत्रविहितोऽप्रत्यय-
न्ताद्युदात्तैषु शब्दात्तरस्य मनुष उदात्तत्वाभाव इति वाच्यम् । स्वरोद्देश्यकत्वादेस्तत्तद्भिन्नोप-
णाविशिष्टस्वरनिष्ठावच्छेदकताकज्ञानमात्रनिष्ठकारणताकप्रवृत्तिप्रतिबन्धकत्वञ्जनमित्यर्था-
त् । तच्च ज्ञानमयाद्यनुदात्तक इत्यादिद्रष्टव्यम् । प्रतिबन्धस्य प्रसिद्धिस्तु प्रतिबन्धकाभा-
वविशिष्टा, अर्जुन इत्यग्राजप्रत्यये घटवान् पटवानित्यादौ मनुषि च द्रष्टव्या । आद्ये
*अर्जुनस्य घृणाख्या चेदित्यन्तोदात्तस्य अर्जुनशब्दस्य ज्ञानमज्ञप्रत्ययप्रवृत्तौ कारणमित्यादि-
स्वविशेषणविशिष्टानुदात्तत्वनिष्ठावच्छेदकताकज्ञाननिष्ठकारणताकप्रवृत्तित्वमज्ञप्रत्ययप्रवृत्तौ
एव मनुषि घटमानित्यादावन्तत्वविशिष्टोदात्तत्वज्ञान “इत्स्वनुद्भ्याम्” इत्यस्य प्रवृत्तौ का-
रणमिति तद्वर्त्तते, कापोत मायूरमित्यादौ तु आदित्वविशिष्टानुदात्तत्वविषयकज्ञाननिष्ठताह-
शकारणताकप्रवृत्तित्वमज्ञप्रत्ययप्रवृत्तिनिष्ठमिति तत् प्रतिबन्धकत्वं ककारमकारयोः प्राप्तमि-
त्यविद्यमानवद्भावो भवति, उद्धितवानित्यत्र तकारस्तु नैतादृशः अस्य इत्यान्तत्वज्ञानप्रति-
बन्धकत्वस्यापि सत्त्वादिति तस्य अविद्यमानवद्भावो नेति बोध्यम् । एतन्न दधतीत्यत्र न-
द्याद्युदात्तत्ववारणा यान्तोदात्तादुत्तरपदादित्यस्यतोऽन्तोदात्तादित्यस्य “शतुरनुम्” इति
सूत्रे सन्दग्धादस्य स्वरोद्देश्यकविधित्वमस्येतेत्यजादीत्यस्य वैयर्थ्यं स्यादेवेति परास्तम्,
भ्यामादिनिष्ठहृत्त्वादित्वज्ञानस्य अजादित्वाज्ञानप्रतिबन्धकत्व सत्येऽपि निरुक्तस्वरोद्देश्य-
कत्वस्य तत्रासम्भवात् । आकर इत्युपादानं कैयटस्यापि संप्रहाय । *उच्चैरुदात्त इतीति* ।
तत्र सूत्रे अथ प्रथमानिर्दिष्टमजप्रहणमनुवर्तते उताहोनेति भाष्ये उक्तम् । अत्र कैयटः यत्र
स्वरो विधीयते तत्र व्यञ्जनस्याविद्यमानत्वादथ एव भविष्यति, “अनुदात्तादेरच्” इत्यादा-
वनुवादेऽपि न दोषः, स्वत एव ह्रस्वोऽनुदात्तत्वं भवतु, अनुपरागवशाद्भूति, एवं तर्हि न्याय-
व्युत्पादनार्थं एवार्थं विचार इति अग्राजुपरागवशादित्यनेन अनुदात्तत्वबहुदात्तत्वस्य अपि
अनुपरागवशाज्ज्ञानमित्यपि सूचितम् । *ध्वनितमिति* । तदर्थं भाष्ये एवमुक्तम्—“किञ्च
अर्थोऽनुवृत्त्या वा अयमर्थः यद्येते व्यञ्जनस्यापि गुणा लक्ष्यन्ते” ।

ननु च प्रत्यक्षमुपलभ्यत “द्रष्टृत्वोर्जत्वा” नैते व्यञ्जनस्य गुणाः किन्तु अत्र एव स, तत्ता-
मीप्यात्तु व्यञ्जनमपि तत्तद्गुणमुपलभ्यते सद्यथा द्वयोक्तयोर्वैक्ययोर्मध्ये शुक्लं वस्त्रं तद्गुणमुप-

तत्त्वप्रकाशिका ।

तत्तद्विशेषणेति । स्वस्त्वव्याप्यधर्मावच्छिन्नविषयता व्यञ्जनादौ व्यञ्जनान्ते चातिदि-

ननु एवमपि राजद्वयदित्यादौ "समासस्य" (६-१-१६३) इति अन्तोदात्तत्वं प्रकाराकारस्य न स्यादत आह—

ह्रस्वस्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् ॥ ८१ ॥

अस्याश्च "यतोऽनाद्यः" (६-१-२१३) इति सूत्रेऽनौप्रतिषेधो ज्ञापकः । नाभ्यमित्यत्रादिर्नकारो न स्वस्योभ्यो यश्चाकारस्तद्योभ्यो नासावादिरिति स प्रतिषेधोऽनर्थकः । न चादिरेव नकार उदात्तगुणविशिष्टान्तरतमाज्जूपोऽस्त्विति वाच्यम् । तथा सति निमित्तभूतद्वयचकत्वस्य विनाशादुपजीव्यधिरौघेनाद्युदात्तत्वाप्राप्तेरिति अन्यत्र विस्तरः । स्पष्टा चेयं "समासस्य" (६-१-२२) इति सूत्रे भाष्ये ॥ ८१ ॥

ननु "पूरणगुण" (२-२-११) इति निषेधस्तद्व्यति-स्यात् । "दिव मेरु" ।

छम्भत इति कुतो नु कस्येतेऽन एव गुणाः अन्तरेणापि व्यञ्जनमेते गुणा लक्ष्यन्ते न पुनर्लक्ष्यन्तस्य गुणाः स्फुटतरसामीप्यादन्तेऽपि तद्गुण उपलभ्यत इति न पुनरन्तरेण अथ व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवति । एतेनैतत्परिभाषाया अमारेऽपि व्यञ्जनादेर्व्यञ्जनान्तस्य वा अनुपरागवशादनुदात्तादित्यादिव्यवहारोपपत्तिर्भविष्यतीति ध्वनितमित्यर्थः ॥ ८० ॥

स्वरप्रसङ्गादाह—*नन्वेवमित्यादि* । *एवम्* । स्वोद्देश्यरूपविधायैव अविद्यमानवद्वायस्त्रीकारे । *न स्यादिति* । अपि तु दकारस्य स्थाने आन्तरतम्यात् उदात्तो लृकारः स्यादिति शेषः । *ह्रस्वस्वरप्राप्ताविति* । ह्रस्वः स्थाने स्वरप्राप्तौ व्यञ्जनमविद्यमानवत् स्यादित्यर्थः । *मरुपाश्रिते* । अकारस्त्वर्थे । *नाभ्यमिति* । अभ्यपेत्यादि । *विशिष्टान्तरतमाज्जूपोः* । तादृशलृकाररूपः । *अस्त्विति* । स्यादित्यर्थः । एवञ्च तस्यावृत्त्यर्थे नौप्रतिषेधम्यावश्यकतया ज्ञापकत्वासम्भवं इति भावः । *निमित्तभूतेति* । भाष्यप्राप्तस्वरस्येत्यादि । *भाष्युदात्तात्प्राप्तेरिति* । एवञ्च एतदर्थं प्रतिषेधोऽनर्थक एवेति । स ज्ञापक इति भावः । *अन्यत्र विस्तर इति* । ननु ह्रस्वः स्थाने स्वरस्य प्राप्तेरपि भावादिष्व परिभाषाऽपुक्ता । न च पूर्वोक्तरीत्या व्यञ्जनस्य स्थाने स्वरस्य प्रसङ्ग स्यादिति वाच्यम् । "उच्चैर्हृदात्त" इति सूत्रे प्रयमान्तस्य "उक्तालोऽञ्जु" इति सूत्रस्य स्यादित्यस्य "भक्ष" इति सूत्रस्यऽपि इत्यस्य चानुवृत्त्या उच्चैर्लक्ष्यमानोऽनुदात्तः स्यात्तः स्थान इत्यपार्थक्यव्यञ्जनस्याप्राप्तेरिति शेषः । पठान्तेऽपि इत्यत्र स्वरितत्वाभावात्तस्य स्वररूपपरत्वतात्पर्यरूपाद्य । एवञ्च व्यञ्जनस्य स्थाने उदात्तादिनाद्वादौ व्यत्यस्यपत्तिः परिभाषां विना स्फुटैव । *शेषमिति* । शोऽप्यर्थे । एवञ्चेवमपि स्पष्टा तथा च परिभाषाद्वयमपि भाष्यमन्तमेवेत्युक्तम् ॥ ८१ ॥

स्वरप्रसङ्गात्तदन्तस्तकारस्य स्वरार्थत्वात् तस्य चानुवन्धत्वात् तत्प्रसङ्गेन आह—ननु पारनेति । *तद्व्यतिष्यादिति* । तद्व्यतिष्यपि स्यादित्यर्थः । अस्यापत्तिः स्वकर्तव्यमिति ।

तत्प्रसङ्गादिति ।

वपन इत्यर्थेन इत्याकारवपुर्देर्भावात् ॥ ८० ॥

*विनाशादिति । न च स्वोपपन्नोऽप्यमृतो वरमन्त्रिपातः स्वातिरिक्तः, तद्विपातं प्रति स्वयमविमितमित्यत्रिगन्तरिभाषार्थस्य वक्ष्यमाणत्वे भोक्तृविशेष इति वाच्यम् । स्वातिरिक्तविरिगन्तस्य स्वरेवर्षमृच्छरेण आभ्यमित्यादौ "यतोऽनाद्य" इत्यप्यचारितार्थाद्वैवर्थाभावेन कथं प्रवर्तिमिति । अत्रार्थावधारणम् ॥ ८१ ॥

औत्" (७-१-८४) इत्यौत्त्वं दिवेः क्त्विपि स्यात् । तथा "यतोऽनावः" (६-१-२१३) इति स्वरोऽप्यस्यपि स्यात् । "श्रद्धशोऽङि गुणः" (७-४-१६) इति चङ्यपि स्यात् । अत आह—

निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य ॥ ८२ ॥

तदनुबन्धकग्रहणे नातदनुबन्धकस्य ॥ ८३ ॥

यामदेवाद्द्वयद्वयो" (४-२-९) इति सूत्रे द्वयद्वयोर्द्वित्वमनयोर्भाषकम् । तद्धि—"ययतोऽघातदर्थे" (६-२-१५६) इत्यत्र तयोरग्रहणार्थम् । नञः परस्य ययदन्तस्योत्तरपदस्यान्त उदात्त इति तदर्थः । एवं च अघातमदेव्येऽन्ययपूर्वपदप्रवृत्तिस्वर एव भवति । तन्मात्रानुबन्धकग्रहणे स च अन्यद्वयानुबन्धो यस्य तद्वग्रहणं नेत्यन्त्यार्थः । एते च प्रत्ययाप्रत्ययसाधारणे "दिव औत्" (७-१-८४) इत्यादौ सञ्चारित्त्यात् । वर्णग्रहणे चानयो-

भैरवी ।

त्यादौ । *दिवेः क्त्विप्येति* । अक्षपूरित्यादौ । *अन्यत्यपीति* । *चङ्यपीति* । न चैतेभ्यः केवलेभ्यो न चङ् सम्भवति निजन्तेभ्य एव चङ् वाच्यमन्तत्र णिषा *यवधानाच्चाङ्परत्वमिति वाच्यम् । "श्रद्धशोऽङि" इत्यस्य श्रद्धशोऽङोत्पत्तोऽङोत्पत्त्यनुवर्तमाने "यव-यतेर" इत्यस्य चङ्यपि स्यादित्यर्थात् । *तद्वीति* । द्वित्वे हीत्यर्थः । अङ्ययपूर्वपदप्रवृत्ति-
प्रः "तत्पुरुषे तुल्यार्थ" इति सूत्रेण विहितः स्वरः । *तन्मात्रेति* । स एवानुबन्धो यन्मेति नियमांशमन्तर्भाव्य समासादेतादृशार्थलाभस्तत्फलमाह—*स च अन्यद्वयेति* । एवमातदनुबन्धकस्येत्यत्रापि ॥ एवानुबन्धो यस्य स तदनुबन्धकः, न तदनुबन्धकोऽतदनुबन्धकस्तस्य नेत्यर्थं स्वीकार्यः । एवं च तन्निग्रहानुबन्धकस्य ग्रहणे नेति फलितम् । ज्ञापकत्वसंज्ञातीया-पेक्षत्वात्प्रत्ययमात्रस्य यत्र विचारस्तत्रैव परिभाषाद्वयप्रवृत्तिरिति अमनिवारणायाह—*एते चेति* । *दिव औत्तित्यादाविति* । अत्राद्यपरिभाषायाः प्रवृत्त्या प्रत्ययाप्रत्ययसाधारण्यं तस्य उचितमिति भावः । न चाद्यायां भाष्यप्रामाण्यात् प्रत्ययविषयस्येऽपि द्वितीयपरिभाषाया उभयसाधारण्ये किं मानमिति वाच्यम् । ओहाकः ककारस्य इह "ग्रीहिकालयोः" इति सूत्रे सामान्यग्रहणार्थस्य करणेन तथा कल्पनात् । यदि त्वन्त्यपरिभाषाया अन्यतरानुबन्धोच्चारणा एव प्रयुक्तेः बहुवचनत्वान्नेदं प्रयोजनमित्युच्यते, तदा "पूर्वपराभ्याङ्ः स्यकन्" "प्रसृज्व" इति सूत्राभ्यां साहचर्यात् "तन्मध्यपाठोच्चारनानुबन्धकस्यैव ग्रहणमिति शङ्कावारणाय ककारो बोध्यः । न चैवं द्वितीयपरिभाषाया प्रत्ययाप्रत्ययसाधारण्येन प्रवृत्तौ मानादा-भस्तदवस्य एवेति वाच्यम् । "यामदेवाद्द्वयद्वयौ" इत्येकसूत्रस्य ककारोच्चारणेन ज्ञाप्यत्वात् प्रथमपरिभाषासाहचर्याच्च द्वितीयाया अपि तयात्वकल्पनात् ।

अतिप्रसङ्गं निराचष्टे—*वर्णग्रहणे चेति* । तत्र हि भाष्ये—हकारः किमर्थं इति शङ्का अत्र कैयटः—औष्ठ इति रूपं कापि न विज्ञातमिति तयोपादाने किं प्रयोजनमिति प्रश्नः । ततो भाष्ये—सामान्यग्रहणार्थं इत्युच्यमाने प्रथमाद्विवचनस्यैव स्यात् निरनुबन्धकपरिभाषयेति भावः । एवञ्च प्रथमाद्वितीयाद्विवचनयोर्ग्रहणार्थमत्र हकार उच्चारितः । एवञ्चायं हकारः स्व-बोध्यस्यौकारस्योपकारकत्रिजं इव, तदनुबन्धकपरिभाषा त्वत्र न प्रवर्तते हकारोच्चारण-

तत्त्वप्रकाशिका ।

चङ्यपि स्यादित्यर्थादिति । न च ऋयतेऽङोऽनावः, "विभाषाचेद्वयो." "नृस्तम्भुम्भु-पु" इति सूत्राभ्यां षडङोर्विधानात् ॥ ८२ ॥

रप्रवृत्तिरिति स्पष्टम् “ओङ् आपः” (७-२-३८) इत्यत्र भाष्ये । येनानु-
बन्धेन सानुबन्धकत्वं द्व्यनुबन्धकत्वादि वा तदनुकारणे एवैषा धर्मिप्राह-
कमानात् । तेन “जश्शसोः” (७-१-२०) इत्यत्र नैपेति निरनुबन्धकत्वा-
त् तद्वितशस एव अत्र ग्रहणं स्यादिति न शङ्क्यम् । एवमन्त्यान्यतरानुब-
न्धोच्चारण एव । तेन “वनोरच” (४-१-७) इत्यादौ ड्वनिपूकनिपोर्ग्रहण-
सिद्धिः । एकानुबन्धकग्रहणे सम्भवतीति त्वर्यो न भाष्यादिस्मृत इत्यन्य-
त्र विस्तरः ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

ननु कुटीर इत्यादौ स्वाधिकत्वात् स्वाधिकानां प्रकृतितो लिङ्गवचना-

मैरवी ।

साम्पत्तिरिति तात्पर्यम् । अथवा वर्णग्रहणमिदं भवति न चैतद्वर्णग्रहणेण भवति अननुबन्ध-
कग्रहणेन सानुबन्धकत्वेति । अत्र कैयटः-प्रत्ययस्यानुबन्धे भावाभावाभ्यां निरनुबन्धकपरि-
भाषा व्यवस्थां करोति न वर्णस्येति । अनेन औ इत्युच्यमाने प्रथमाद्विवचनस्यैव ग्रहणं स्या-
दिति दोष उद्धृतः, वर्णग्रहणे निरनुबन्धपरिभाषाया अग्रवृत्तेः फलं त्वोपगव इत्यत्र “ओर्गु-
णस्य” वाच्य इत्यत्र “घेहि” इतिगुणस्य च सिद्धिः । वर्णग्रहणेऽपि पुनरपरिभाषाप्रवृत्तौ नि-
रनुबन्धकोकारान्ते भावव इत्यत्र “ओर्गुणस्य” विकीर्णव इत्यत्र “घेहि” इति गुणस्य च-
रितार्थत्वाद्गोप्रत्ययान्तोपगुणश्चावयोकारस्य सानुबन्धकोऽगुप्रत्ययान्तवागुशब्दावयोकारे
“घेहि” इत्यास्यस्य च प्रवृत्तिः स्यात् । एवम् “आवृगुण” इति सूत्रस्य दैत्येश्वर इत्यत्र प्रवृ-
त्तिः स्यादस्यापत्यमिः औपगमस्य इः औपगमेरित्यत्र प्रवृत्तिर्न स्यादिति बोध्यम् । यदुक्तं
वर्णग्रहणे वानवोरिति, तस्यानयोर्न प्रवृत्तिः । द्वितीयायास्तु प्रवृत्तिरित्यर्थः तेन “अदशोऽ-
दिगुण” इति षड्वर्णव्यवहारेण न विरोधः । अथ परिभाषाप्रवृत्तिविषये विशेषान्तरमाह-
येनेति* । *तदनुचारणे* । तस्यानुबन्धस्यानुधारणे । तत्रापपरिभाषाविषये साह-येने-
ति* । द्वितीयपरिभाषाविषये द्व्यनुबन्धकत्वमित्यस्य नातदनुबन्धकत्वमित्यर्थः । *येनेति* ।
याम्यामित्यर्थकम् । तथाच उभयानुधारणे इति फलितम् । तेन “इत्यनुबन्ध्याम्” इति सूत्रे
मनुबन्धग्रहणेन मनुषो न ग्रहणम् । अन्यथा तन्त्रेण मनुबन्धग्रहणेनोभयोर्ग्रहणे द्विलोपेऽपि कुमुदा-
निरपत्र भूतवर्णद्वयान्तस्वमादाय मनुव उदात्तत्वे स्यात्, घातद्वयार्थः । *धर्मिप्राहकमा-
नात्* । उपद्रव्यतोऽतिहरणात् । *तद्वितशस इति* । लौकिकमाहचर्यपरिभाषापेक्षया शाप-
कसिद्धतत्परिभाषाया प्राचलमादिति भावः । वक्तुं तद्वितशोऽपीति पाठः । तत्रापिना सा-
हचर्यान् मुद्रासः संहः । अविवेकाद्वयोरपि परिभाषयोः प्रवृत्तिः स्यादिति तद्भावः ।
ग्रहणमिदिरिति । अन्यथा वनिष एव ग्रहणं स्यात् । *य विषेयविषये उच्चारणा-
र्थानामित्येवैव निवृत्तिस्वीकाराद्विषयोऽपि द्व्यनुबन्धकत्वमिति वाच्यम् । अनुबन्धपरस्य
निवृत्तिरिति कृत्तकस्यैकपरत्वात् । अन्योक्तपरिभाषार्थं सङ्गति-एकेति* । पुनस्ततो
यदि परिभाषार्थः स्यात्तदा “मनुषयोः” इतिसूत्रमाप्ये “यन उपसद्वयानम्” इतिशक्तिरुक्तं
प्रातरित्या इत्युदाहरणमुक्तं तस्यासङ्गतिः स्यात् । तत्र हि-अन्येभ्योऽपीति वनिष, आदिना
कैयटदिवरिषः । हेयेने हि “दिदृङ्” इतिमूत्रे तन्मात्रानुबन्धकग्रहण इत्यर्थस्यैव वर्णनात्
“वनोरच” इत्यत्र दोषावच्छेदः ॥ ८२ ॥ ८३ ॥

उच्चारणपरिभाषायास्तद्वितविषयकग्रहणस्याप्यस्यात् तद्वितशेन साह-येनेन कुटीर इत्या-
दाविति* । “कुटीरार्थो” इतिमूत्रविदितम्येति शेषः । स्वाधिकत्वादनिदिष्टार्थः प्रत्ययः
स्वग्रहणं भवतीति न्यायेन स्वाधिकत्वात् । *प्रवृत्तिरिति* । प्रवृत्तिशब्दात्पटञ्जला-

नुवृत्तेर्न्यायप्राप्त्यात् पुंस्त्वानुपपत्तिरप्यल्पमित्यत्र नपुंसकत्वैकवचनयोर-
नुपपत्तिश्चेत्यत आह—

कचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते ॥८४॥

“एचः स्त्रियाम्” (५-४-१४) इति सूत्रे स्त्रियामित्युक्तिरस्या ह्यापि-
का । अन्यथा “कर्मव्यतिहारे एच् स्त्रियाम्” (३-३-४३) इति स्त्रियामेव
विधानात् किं तेन । स्पष्टा चेयं बहुव्रीधायके भाष्ये ॥ ८४ ॥

ननु सुपथी नगरोति “युवोरनाकौ” (७-१-१) इति सूत्रभाष्योदा-
हृत “इतः स्त्रियाम्” (५-४-१५२) इतिकप् स्यादत आह—

समासान्तविधिरनित्यः ॥ ८५ ॥

“प्रतेरंश्वाद्यस्तत्पुरुषे” (६-२-१८३) इत्यन्तोदान्त्वायांश्वादिषु
राजन् शब्दपाठोऽस्या ह्यापकः । अन्यथा टच्चादान्तोदान्तत्वे मिदुषे किं तेन ।
“द्वित्रिभ्यां पाहन्मूढ्यं” (६-२-१९६) इति स्वरविधायके भाष्ये स्प-
ष्टेयम् ॥ ८५ ॥

ननु शतानीत्यादौ नुमि कृते पट्मंज्ञा प्राप्नोति ततश्च लुक् न्यासथोपा-
दास्तेत्यत्रास्वे कृते “स्थाप्यारिच्व” (१-२-१७) इतीश्वं प्राप्नोत्यत आह—

सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विधानस्य ॥ ८६ ॥

सन्निपातो द्वयोः सम्बन्धस्तन्निमित्तो विधित्तं सन्निपातं यो विवृणोति त-
मैरवी ।

दाद्यादित्वात्तसिः । *न्यायेति* । यः प्रत्ययो यादृशोऽयं भवति तदन्तस्य तल्लिङ्गवचनकत्व-
मिति न्यायेन ह्यर्थः । *अप्यल्पमिति* । ईपन्म्यूना आप इति विग्रहे ईपत्रसमासि विशिष्टे
स्वार्थे कल्पप्रत्ययः । *कचिदित्यादि* । ‘प्रकृतित’ इत्यत्रापि पट्पन्तादेव पूर्ववत्तसिः ।
अन्यथा । परिभाषाया अभावे । एवञ्च लिङ्गांशे ह्यापरसत्त्वाद्बचनांशेऽपि एकदेशानुमत्या
प्रकृतिसम्बन्धिवचनानिवर्तनस्य कल्पनमिति भावः ॥ ८६ ॥

तद्विषयप्रसङ्गादेवाह—*नन्विति* । *पृथगिति* । शोभनः पन्थाः यस्यमिति विग्रहः ।
प्रतेरिति । प्रतेः परं श्वाद्यस्तत्पुरुषेऽन्तोदात्ता इत्यर्थः । *सिद्धे इति* । प्रतिराजा इत्य-
त्रेत्यादिः । अत्र “राजाह” इति टच् न ॥ ८६ ॥

समाससंज्ञाप्रसङ्गेन पट्मंज्ञाया अपि स्मरणात्त्राह—ननु शतानीति* । आदिना सह-
स्त्राणीत्यादेः परिग्रहः । *उपादास्तेति* । दीङो रूपम् । *द्वयोः सम्बन्ध इति* । पूर्वपरयोर्वि-
तत्त्वप्रकाशिका ।

किन्तेनेति । ननु लिङ्गविशिष्टपरिभाषाया समामान्तविधायप्रवृत्ते रार्शी प्रतिगतः
प्रतिराशिरित्यत्र स्वरार्थमन्थादिषु राजन्मृगशब्दपाठ आवश्यकः । नच स्वरविधायपि लिङ्गविशि-
ष्टपरिभाषाया अप्रवृत्तिः, स्वरविधौ सङ्घातग्रहणे भाष्ये दोषदानेनावयवग्रहणेऽप्रवृत्तौ माना-
भावादत आह—*द्वित्रिभ्यामिति* ।

केचिन् कचिदवयवग्रहणेऽपि न प्रवर्तते इति वदन्ति ।
अन्येन द्वित्रिभ्यामित्यनो य इत्यनुवर्तमाने “बहुव्रीहौ -सकृच्छरणो” इति पञ्चग्रहणम्
निरुक्त्यर्थं श्यापकमित्याहुः ॥ ८७ ॥

ननु शतानीत्यादौ पान्तसाहचर्यादौपदेशिकान्तस्यैव ग्रहणे न दोषोऽत आह—*उपादास्ते-

स्यानिमित्तम् । उपजीव्यविरोधस्यायुक्तत्वमिति न्यायमूलैषा । अत एवात्र सन्निपातशब्देन न पूर्वपरयोः सम्बन्ध एव, किन्तु विशेष्यविशेषसन्निपातोऽपि गृह्यते । अत एव ग्रामणि कुलमित्यादौ नपुंसकह्रस्वत्वेऽपि “ह्रस्वस्य पिति कृति” (६-१-७२) इति तुम्भ । प्रातिपदिकाजन्तत्वसन्निपातेन जातस्य ह्रस्वस्य तद्विधातकत्वात् । तुम्भयजन्तत्वविधातः स्पष्ट एव । न चार्थाश्रयत्वेन ह्रस्वस्य बहिरङ्गतयाऽसिद्धत्वम् । अर्थकृतबहिरङ्गत्वानाश्रयस्योक्तत्वात् ।

किं च “पत्यतुकोरसिद्ध” इत्येतद्बलात्कृतितुम्भहणाच्च तुम्भिवधौ बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तेः । सर्वविधसन्निपातग्रहणादेवं वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तं स्यादित्येतत्परिभाषादोषनिरूपणायसरे घासिककृतोक्तम् । नहि प्रत्ययः पूर्वपरसन्निपातनिमित्तकः स एव च सन्निपातशब्देन गृह्यत इति मत्वा न प्रत्ययः सन्निपातनिमित्तक इति, शङ्कायां तदभ्युपेत्यैवाङ्गसंज्ञा भवेत् ।

शेषणविशेष्ययोर्वा सम्बन्धः इत्यर्थः । *उपजीव्यविरोधस्येति* । कारणविरोधस्येत्यर्थः । उपजीव्यशब्दो हि उपजीव्यत आशीयते काव्याय यदि हि व्युत्पत्त्या कारणपरः उपजीव्यव्युत्पत्तये यदि हि व्युत्पत्त्या उपजीव्यकताम्बुः काव्यपरः । एवञ्च कारणविरोधो नोचित इति भावः । *अत एव* । सन्निपातपरिभाषाया न्यायमूलत्वादेव । परिभाषायां सन्निपातलक्षणशब्दो बहुव्रीहिसंज्ञकः विधितशब्दार्थोऽन्यपदार्थः स च कर्मकिप्रत्ययान्तः तावदिधातस्येत्यत्र “कर्मणि” इत्यण् ।

यत्तु कश्चिदाह—इयं परिभाषा “न तिसृषतसु” इति निषेधेन ज्ञाप्यते । एतद्धि दीर्घनिषेधार्थमात्रमन्ये दीर्घस्य ककारस्थानिकस्य च प्रातिविभक्तिपरत्व एव, विभक्तिपरत्वञ्च विभक्ति सन्निपातनिमित्तकयोस्तिष्ठतसादेशयोर्दीर्घभाव एव, दीर्घभावञ्च सन्निपातपरिभाषासाध्य इति, एतच्च स्यप्रादिषु अनयोः पाठो नास्त्येतदभिप्रायेण तत्र । यदीममुक्तज्ञापकमात्राया तदा पूर्वपरसन्निपातस्य तिसृषतसादेशे निमित्तत्वात् ज्ञापकमात्रात्वारपूर्वपरसन्निपातस्यैव परिभाषाप्रवृत्तौ निमित्तत्वं स्यात् । न तु विशेष्यविशेष्यसन्निपातत्वापि, यथा न्यायमूलस्यैव वस्तुमुचितत्वात् । *अत एव* । विशेष्यविशेष्यसन्निपातस्यापि परिभाषाघटकसन्निपातपदेन यदण्देव । यामगति मिष्टं धम् । *बुद्धिमिति* । तामृकत्वमिष्यक्तये । *तद्विधातकत्वादिति* । तद्विधातकत्वं प्रत्ययनिमित्तत्वादित्यर्थः । कैयटोक्तिं स्रग्धरति—*न चेत्पादिना* । अपो मनुमन्त्रस्यः । अपोपक्षान्तरङ्गबहिरङ्गभावमभ्युपेत्याह—*किञ्चेति* । “पत्यतुकोरमित्य” इतिमृप्रत्ययान्तग्रहणस्य प्रयोजनमर्थोन्य ग्रेयसि, यदि तुम्भिवधौ बहिरङ्गपरिभाषा प्रवृत्तिः स्यात्तदात्राङ्गे गुक्ति करार्ये पदद्वयसम्बन्धिषण्द्वयनिमित्तकत्वेन बहिरङ्गस्य दीर्घस्यासिद्धत्वात्तुः मिद्धौ तत्र सूत्रे तुम्भहणमनर्थकं स्यात् । एवं नृति गुक्तियत्रापि बोध्यम् । विशेष्यविशेष्यसन्निपातत्वापि आश्रयणे भाष्यमपि प्रमाणमित्याह—*सर्वविधत्वादिना* । *सर्वनिषेधेति* । उभयपक्ष इत्यर्थः । दाक्षिः प्लाक्षिरित्युदाहरणम् । अत्र वर्णाश्रयः प्रत्यय इयं स्ववर्गविषाद्यस्य “यस्येति” लोपस्यानिमित्तं स्यादित्यर्थः । *यतिहृगोपमिति* । यतिहृगोपस्य मिद्वान्तिनेत्यादि । एकेदन्तिमतमाह—*न हीति* । हिताम्बुधायं । इति मत्वेति कपनेन अस्यैकदेश्युत्तरकं अभिनम् । एतेनैतन्नाश्रयविरोधात्पूर्वपापक्षितयः सन्निपातपरिभाषायां न गृह्यत इत्युक्तिर्निरस्त—*अङ्गमेवेति* । अक्षरान्त-

तर्ह्यनिमित्तं स्यादित्येकदेशिनोक्तमिति न तद्भाष्यविरोधः ।

किं चैवं शैवो गार्ग्यो वैनतेय इत्यादावपि अङ्गसंज्ञाया लोपनिमित्तत्वा-
नापत्त्या वर्णाश्रय इत्यस्य वैयर्थ्यम् । ग्रामणिकुलं ग्रामणिपुत्र इत्यादावुत्तर-
पदनिमित्तके ह्रस्वत्वे यथाकथञ्चिदुबहिरङ्गपरिभाषयापि चारणं सम्भवती-
ति "कृन्मेजन्तः" (१-१-३९) इत्यत्र "ह्रस्वस्य पिति" (६-१-७१)
इति सूत्रे चैकदेशिना तथा परिभाषया तुग्वारितो भाष्ये । अत एव परिभा-
षाफलत्वेनेदमुक्तं "कृन्मेजन्तः" इति सूत्रे घातिकाकृतेति केचित् । सन्नि-
पातलक्षणविधित्वमस्या लिङ्गम् । स्वप्रवृत्तेः प्राक् स्वनिमित्तभूतो यः स-
न्निपातस्तद्विधातकस्य स्यातिरिक्तशास्त्रस्य स्वयमनिमित्तमिति फलति ।

ननु एवं रामायेत्यादौ "सुपि च" (७-३-१०३) इति दीर्घानापत्तिः ।

भैरवी ।

प्रकृतौ प्रत्ययसामान्यपातनिमित्ताङ्गसंज्ञा पौर्वापर्यभावात्मकसम्बन्धनिमित्तैव सा अलोपनिमि-
ता मत्स्यादित्यर्थः । एकदेशिनेतिकथनेनैतद्भाष्यबलेन सन्निपातपरिभाषायाः सङ्कोचो न न्याप्यः ।
अस्यैकदेश्युक्तित्वं स्पष्टयति—*किञ्चेति* । शैव इत्यादि अकारान्तशिबशब्दाण्यस्यय-
पयोः पौर्वापर्यभावात्स्याङ्गसंज्ञां प्रति निमित्तत्वमेवमुत्तरप्राप्युहनीयम् । *वैयर्थ्यमिति* । तथा
च 'वर्णाश्रय' इत्युपादानसामर्थ्याद्विशेषणविशेष्यसन्निपातोऽपि गृह्यत इति भावः ।

ननु एवं ग्रामणिकुले ग्रामणिपुत्र इत्यत्र बहिरङ्गपरिभाषया सुको व्यापृति कृता "कृन्मे-
जन्तः" सूत्रभाष्ये न स्वनया परिभाषयेति पूर्वपरसन्निपात एवाश्रीयत इति चेत्तत्राह—*ग्राम-
णीत्यादि* । यथा कथेचिदिति* । नाजानन्तर्यपरिभाषाया बाधिकाया विपरीतेऽपि बाधप्र-
वृत्तिस्वीकारात् । *अत एव । विशेषणविशेष्यसन्निपातस्यापि निमित्तत्वादेव । *इदमुक्त-
मिति । ग्रामणिकुलमित्याद्युक्तम् । *केचिदिति* । आप्यतस्त्विति* । एवञ्च यं सन्निपातं
निमित्तं ह्रस्वा स्वस्य प्रवृत्तित्वस्य सर्वथा विद्यतं यच्छास्त्रे तस्य स्वप्रयोग्या प्रवृत्तिर्नेति
फलितं तदा—*स्वप्रवृत्तेः प्रागित्यादि* । शङ्कते—*ननु इति* । *एवम्* । सन्निपातपरिभाषा-
ङ्गोक्तो । ननु सन्निपातलक्षणविधित्वस्यैतत्परिभाषालिङ्गस्य सादृशविधिनित्तमेवैतत्प-
रिभाषायामपि निमित्तमिति चेत् सन्निपातनिमित्तकवादेशस्यान्तरङ्गस्य दृष्ट्याधिकारपेक्षदीर्घ-

तत्त्वप्रकाशिका ।

ति* । *एकदेशिनोक्तमिति* । सर्वत्र स्वप्रवृत्त्युत्तरकालिकप्रवृत्तिमता शास्त्रेण यस्य
माधुत्व योष्यते तदपि साधयति अभ्यनुज्ञावाक्ये स्वापनोष्यविधातक्यतिरिक्तेनेति सूक्ष्म-
पान् संज्ञाशास्त्राणां साधुत्वविधायकत्वाभावेनाभ्यनुज्ञावाक्याभावेनैतद्भाष्यस्यैकदेश्युक्तित्वं
स्पष्टमेव ।

इदमत्राहृतम्—एवमेव विधिशास्त्रे यत्किञ्चिदोपितसाधुत्वमुद्देश्यतावच्छेदकं स्वप्रवृत्त्यु-
त्तरकालिकप्रवृत्तिमता सन्निपातपरिभाषाप्रयोग्यत्वोपजीव्यविधातक्यतिरिक्तेनेति सूक्ष्मपान्ता
शास्त्रेण यस्य साधुत्वं योष्यते तदपि साधयत्यभ्यनुज्ञावाक्ये च कल्पनीयम् । अत एव गगरी
आनयेत्यादौ यगादिर्धे न, गगरी इति प्राहृतशब्दे यत्किञ्चिदोपितसाधुत्वमुद्देश्यताभावेन यत्कि-
ञ्चिदोपितसाधुत्ववृत्तकस्वीरेको यत्किञ्चिदनात् । अत एव सुन्दोपयुन्द्यायेन ण्कस्मिन्नेव लःये
नेनविच्छास्त्रेण साधुत्वस्य पूर्वपूर्वप्रवृत्ततायेनाप्यहोहृतम्भात् ।

सन्निपातलक्षणविधित्वमस्या लिङ्गमिति । विधातकतावन्मस्या लिङ्गमिति यत्-
कम् । पूर्वस्या अभ्यनुज्ञावाक्ये सङ्कोचे नीतिशास्त्रमेवानुपदेश्यमिति न धर्मतावन्मिति-
नु-

अदन्ताङ्गुलैः सन्निपातेन जातस्य यादेशस्य तद्विघातकत्वात् । न च यत्रादित्यसापेक्षदीर्घस्य बहिरङ्गतया असिद्धत्वान्नात्र सन्निपातविघात इति वाच्यम् । आरोपितासिद्धत्वेऽपि यस्तुतस्तद्विघातस्य जायमानत्वेनैतत्प्रवृत्तेः ।

किञ्चान्तरङ्गे कर्त्तव्ये बहिरङ्गस्यासिद्धत्वेऽपि तत्र कृते तस्यासिद्धत्वे मानाभावात् ।

भैरवी ।

स्यासिद्धत्वाच्च परिभाषाप्रवृत्तिरित्याशयेन शङ्कते—न च यत्रादित्येति । बहिरङ्गपरिभाषायाः प्रवृत्तिमभ्युपेत्यापि समाधत्ते—*आरोपितेत्यादि* । *एतत्प्रवृत्तेरिति* । सन्निपातपरिभाषाप्रवृत्तेरित्यर्थः ।

यस्तुतस्तु बहिरङ्गपरिभाषाविषय एव नेत्याशयेन आह—*किञ्चेति* । अत्रान्तरङ्गस्य यादेशस्य प्रवृत्त्युत्तरे भवतीत्याह बहिरङ्गस्य दीर्घस्य प्रवृत्तिर्वक्तव्या । तत्र बहिरङ्गपरिभाषाया वाच्यार्थसत्त्वात् प्रवृत्तिर्न सम्भवतीति भावः । वास्तविकसन्निपातविघाताभावे एवैतत्परिभाषासत्त्वप्रकाशिका ।

पञ्जीव्यविरोधो न स्यादस्य इति न्यायमूलकत्वस्य उपाधातापत्तेः । अत एवेदन्निपातां न प्रवर्तते, विघातनाश्वत्त्वप्रकारकज्ञानाभावात्, “न तिसृषतसृ” इति निषेधेन ज्ञापितेत्येषा सपादसंज्ञाच्ययीत्या, अन्यथा, तिसृणामित्यादौ कोपि दीर्घं तदभावे वा तदसङ्गतिः स्पष्टैव । स्वतादितु तिसृषतसृपादोऽप्रमाणिक इति “हृन्मेजन्त” इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् ।

यत् “वाचि ह्रस्वश्च” इत्येव सिद्धे “यामि” “हिति ह्रस्वश्च” इति पृथग्योगकरणेनेवा परिभाषा ज्ञाप्यते । श्रीणामित्यादौ नुपयजादित्वविघातः स्पष्ट एवेति पृथग्योगकरणे साधेकमिव—उच्यते—आक्षिप्तप्रत्ययस्य विशेषणान्मत्स्युमेत्यादौ न दोषः । एतेनात्रैव दोषादिज्ञापकमसङ्गतमिदमपास्तम् । मतिचित्रे इत्यादौ चित्रको हित्येन तत्र दोषवारणाय सैधातिकन्यासेऽपि प्रत्ययापेक्षयापक्षकत्वादिति, तदस्य, “वाचि ह्रस्वश्च” इत्येव सिद्धे पृथग्योगकरणेन यामीत्यत्र “प्रथमलिङ्गप्रदणं च” इति पाठिकमस्ति, “हिति ह्रस्वश्च” इत्यत्र नास्तीति कल्पभाषा भाष्यव्यवहारा एवयोगस्य कर्तुमशक्यत्वात् । स्पष्टं चेद् भाष्ये ।

अस्यापि पाठामप्रवृत्तिस्वीकारादेव जगधे करिष्यति सञ्चल्यन्तुः राज उक्तमनमित्यादौ धत्वपत्यल्यधुत्वतरयादीनि सिध्यन्ति । अन्यथा तादिनिमित्तकत्राद्यादेशनापत्ययोः स्यप्रत्ययनिमित्तकैः शकारनिमित्तकगुणः अनन्तत्वादिनिमित्तकाद्योपत्य स्तन्नुनिमित्तकपूर्वत्ववर्णस्य च तत्तन्निमित्तविघातपूर्वोक्तविधिप्रवृत्ति प्रत्ययनिमित्तत्वापत्तेः । एवं यज्जामित्यत्र यद्देशकनिमित्तको नुद तद्विपातजगधे प्रतिनिमित्तं न स्यात् । *स्यातिरिक्तज्ञाप्यतेति* । अस्मिन्मते विपातकज्ञाद्ये एव सङ्कोचः, तथाच “बह्व्यो लुङ्” इत्यादौ स्यातिरिक्तस्वोपजीव्यविघातकत्वाभावादिनिष्ठो भयनारयापत्तेः । क्षातानोरयादौ लुकि स्यातिरिक्तस्वोपजीव्यसर्जनामन्यान्विधा सत्रयवधानेव भवतीति न लुङ्, अतः स्यातिरिक्तेति वचनं स्वयंवर्यमूलकम् । अत एव “यतो भावः” इति ज्ञापकोपपादनपुराणविरोधो न ।

अनु वरतुगो विपातस्य जायमानत्वेऽपि “होयः” इत्यस्य “गुपिच” इत्येतद्विशेष्यकस्योपजीव्यविघातकप्रकारकज्ञानाभावेन “होयः” इति शब्दे “गुपिच” इत्यप्यभाष्यनुज्ञां दशरथेव, इदं एतेत्यादौ वस्तुगो एज्ज्यवहिनर्ग्वर्यस्य मत्वेऽपि एज्ज्यवहिनर्ग्वर्यवहकारकज्ञानाभावेन वृत्त्यप्रवृत्तिर्न भविष्यति शाब्दे ज्ञानत्वेव प्रवृत्तिर्नृत्तुपयोगित्वेन वस्तुस्थितेरिति स्थित्वा स्थातिरित्येतादह—*किञ्चेति* ।

अनु वारितस्य जातत्वेऽपि अभ्यनुज्ञादानमभावे “गुपिच” इति शब्दे मोरमोक्षविभागकमि-

किञ्च आतिदेशिकसन्निपातविघाताभावमादायैतदप्रवृत्तौ गौरीत्यादौ सम्बुद्धिलोपेऽपि स्थानिवत्त्वेन ह्रस्वनिमित्तसन्निपातविघाताभावोक्तत्रैतस्या-
तिव्यापिपर "कृन्मेजन्तः" (१-१-३९) इति सूत्रस्थभाष्यासङ्गतः । सन्नि-
पातस्य अशास्त्रीयत्वाच्चात्र स्थानिवत्त्वमिति चेत् तर्हि अत्रासिद्धत्वमपि
कथमिति विभावय । अशास्त्रीयेऽसिद्धत्वाप्रवृत्तेः "ईदृशेत्" (१-१-११) इति-
सूत्रे कैयटेन स्पष्टमुक्तत्वात् । एवं च पूर्वत्रासिद्धीयेऽपि कार्यं एतत्परिभा-
षाप्रवृत्तिर्भवत्येवेति चेत्, न । "कष्टाय" (३-१-१४) इति निर्देशेनैतस्या
अनित्यत्वात् ।

भैरवी ।

पाया अप्रवृत्तिरित्याराधेन आह—*किञ्चातिदेशिकेति* । गौरीति सम्बोधनविभक्त्यन्तमे-
तत् । *स्थानिवत्त्वेनेति* । "प्रत्ययलोप" सूत्रन्तु नियमार्थमिति भावः । *भाष्येति* । नन्वी
ह्रस्वत्वं सम्बुद्धिलोपस्येति भाष्यमित्यर्थः । *कथमिति । पुक् ह्रस्वत्वस्येति भाष्यमप्येवं साध-
कमिति बोध्यम् । अत्र "अचः परस्मिन्" इति स्थानिवद्भावस्य प्राप्तिरिति विशेषः । एव-
ञ्चाशास्त्रीये कार्येऽसिद्धत्वाप्रवृत्तौ च । *कष्टायेति* । अत्र वादेशे यन्निमित्तमद्वन्तत्वं तस्य-
दीर्घेण विनाशात् ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

विज्ञानस्य सत्त्वेनासमकालिकत्वेन भवत्येवान्तररूपपरिभाषाप्रवृत्तिरित्येवैराह—*किञ्चेति* ।
वस्तुतः शास्त्रासमाधानादिकं प्राचीनरीत्या । *आतिदेशिकसन्निपातेति* । अत्रातिदेशप-
देन एकदेशविकृतपदागमा एतदतिरिक्तातिदेशस्येव ग्रहणम् । अत एव तेषां येषां शैवो गार्ग्य
इत्यादिसिद्धिः । अन्यथा विभक्त्यानन्तर्यनिमित्तीकृत्य जायमानस्य दृष्टत्वं सुटे प्रति गर्गा-
दिप्रातिरदिकं निमित्तीकृत्य जायमानं यत्रादिकं तद्विघातकं "यस्य" इति लोपं प्रति निमित्तं
न स्यात् । अत एव "येषाञ्च विरोधं शास्त्रातिरिक्तः" "आवच्छाद्य" इति निर्देशः सङ्गच्छते ।

वस्तुतस्तु अन्यातिदेशेषु अतिदेशानुसन्धानात्प्राक्क्षणद्वय सन्निपातविघातबुद्धेः सत्त्वेन
एतन्वायद्वयस्य लौकिकत्वेन क्षणमात्रमपि सन्निपातविघातबुद्धेरभावेन युक्तिमिदमिदम् ।
पूर्वत्रासिद्धीयेऽपीति । चिन्त्यमिदम् । त्रिप्राचां सन्निपातपरिभाषाप्रवृत्तौ बहुना दूषणाना-
मुक्तत्वात् । *अनित्यत्वादिति* । अत्र केचित् सङ्कुचितसङ्कोचे गौरवात् सन्निपातपरिभाषा
प्रयोज्यः अन्वयनुशावाक्ये स्थोपजीव्यविघातकातिरिक्तेनेति सङ्कोच एव न भवति । अत एव
सन्निपातपरिभाषया अनित्यत्वात् प्रराणामितिमाधय इति कौमुदीग्रन्थ सङ्गच्छते । तथाहि—
"नामि" इत्यारम्भसामर्थ्यात्परिभाषाया अनित्यत्वमावश्यकम् । तथाच—"ह्रस्वनद्यापो नुद"
इतिशास्त्रायाभ्यनुशावाक्ये सन्निपातपरिभाषाप्रयोज्यसङ्कोचामात्रेण "नामि" इतिशास्त्रस्येव
"रापो हलि" इत्यस्याप्यभ्यनुज्ञां दद्यात् । न च "सुपि च" इतिदीर्घो यधोपेत्यादिकौमुदी-
ग्रन्थ विरोध इति वाच्यम् । इष्टापत्तेरित्याहुः ।

अन्ये तु सङ्कुचितसङ्कोचामात्रे मुलुनीत्यादौ नुमये सन्निपातपरिभाषा नित्यत्वं स्यादवश्यकत्वेन
"ह्रस्वो नपुंसक" इति शास्त्रीयाभ्यनुशावाक्ये सन्निपातपरिभाषाप्रयोज्यसङ्कोचामात्रे नुम इव
सङ्कोचस्यनुज्ञां दद्यादिति मुलु इत्यादौ नुमापति । सङ्कुचितसङ्कोचे तु "इकोऽचि विभक्ती"
इत्येतदतिरिक्तं यत्स्वोपजीव्यविघातकं तदतिरिक्तेनेत्येव "ह्रस्वो नपुंसक" इतिशास्त्रीयाभ्यनु-
शावाक्ये सङ्कोचो भवतीति शोक्तदोषः । "ह्रस्वनद्यापो नुद" इत्यत्रारि"नामि" इत्येतदतिरिक्तं-
यत्स्वोपजीव्यविघातकमितिशास्त्रीयाभ्यनुशावाक्ये सङ्कोचो भवतीति शोक्तदोषः । "ह्रस्वन-
द्यापो नुद" इत्यत्रापि "नामि" इत्येतदतिरिक्तं यत्स्वोपजीव्यविघातकं तदतिरिक्तेनेत्येव

ययोः सन्निपातस्य विघातकं शास्त्रं तयोः सन्निपातनिमित्तकविधाबु-
पादानप्रप्रेक्षितमिति तु नाग्रहः । अत एव दाक्षित्यत्राकारान्तप्रकृतीन्स-
न्निपातनिमित्ताङ्गसंज्ञानया परिभाषयाहोपस्य निमित्तं न स्यादित्याशङ्क्या-
नित्यत्वेन समाहितं "कृन्मेजन्तः" (१-१-३९) इति सूत्रे भाष्ये । न हि
अङ्गसंज्ञायामदन्तस्याङ्गसंज्ञेत्युक्तमस्ति ।

न च कुम्भकारेभ्य आघय इत्यादावभ्ययसंज्ञाया अनया परिभाषया
धारणपरभाष्यासङ्गतिः । अनया परिभाषया लुङ् मा भूत्, अभ्ययार्थं तु
स्यादेव, लुङा हि तदीयसन्निपातस्य विघातो नाभ्ययसंज्ञायाः, संज्ञाफलं
त्यक् च स्यादिति घाट्यम् । एतदुदाहरणपरभाष्यप्रमाणेन साक्षात् पर-
म्परया घा स्यनिमित्तसन्निपातविघातकस्य स्वयमनिमित्तमित्यर्थेन अशो-
पात् । एतेनात्राकचस्यादित्यपास्तम् । न च कार्यकालपक्षे लुगेकथा-
क्यतापक्षसंज्ञायाधेऽप्यकजेकवाक्यतापक्षा संज्ञा स्यादिति घाट्यम् । अन्त-
रङ्गायां तदेकवाक्यतापक्षसंज्ञायां यद्विरङ्गगुणादेरसिद्धत्वात्, लुगेकवाक्य-
मैवी ।

अथ कश्चित्-ययोः सन्निपातस्य विघातकं शास्त्रं तयोर्ध्वं सन्निपातनिमित्तकविधाबु-
पादानं तत्रैवैतस्या परिभाषया प्रवृत्तिः, यथा भाष्ये विकीर्णव इत्याग्रानया तुगभावः ।
अस्ति च सन्निपातलक्षणविधौ "येदिति" इत्यत्र तथेति समायेत्यत्र न सन्निपातपरिभाषाया
प्राप्तिरिति तन्न । तत्रैव भाष्ये पुनमात्रित्वं कुम्भकारेभ्य इत्यत्र दोषाभावाप्रतिपादनविरो-
धात्तदाह—*ययोरित्यादि* । आप्यान्तरविरोधमप्याह—*अत एवेति । पूर्वोक्तार्थानाश्रय-
णादेव । न च "कृन्मेजन्तः" सूत्रमाप्ये आघय इत्यादौ अवयवमेषापादनमसङ्गतं "कृन्मेजन्तः"
इत्यग्रान्तशब्दस्य नित्ययोगे बहुमीहितफलकत्वादिति घाट्यम् । अन्यार्थमावययकतया सन्नि-
पातपरिभाषया दोषाभावे सिद्धे सन्नान्तशब्दव्यानापययकत्वात् ।

आप्यविरोधे परिहृतं शङ्कते—*न चेति* । *एतदुदाहरणेनेति* । अकञ्चित्तोकोदाहरणेत्य-
र्थः । *परम्परयेति* । एवञ्च साक्षात्कुम्भकारेभ्य इत्यादौ शलादित्यनुवचनमग्निपातनिमित्तक-
त्वैवैतस्य यत्कार्यमप्ययत्यं तस्य सादृशमग्निपातविघातकत्वाभावेऽपि स्वफललुङ्मासता पर-
म्परया आप्यपक्षस्य सादृशसन्निपातविघातकत्वात्स्येव सन्निपातपरिभाषाप्रतिष्ठितत्वात् ।
इत्यर्थेन । उक्तपरिभाषया इत्यर्थकरणेन । तेन उक्तार्थस्वीकारेणानयाप्यवयवस्य शरणेन ता-
दृशाथकरणेनापि दोषाभावो नास्ति । संज्ञाकार्यभेदादिति तज्ज्ञाप्यमेकदेशदुक्तिरेवास्तु पृथापि
परिधम इत्याशयेन शङ्कते—*न चेति । अन्तरङ्गायामिति* । अथैमिति कस्तेनान्तरङ्गत्वम् ।
तदेकवाक्यमतेति । अकजेकवाक्यमतेत्यर्थः । लुग्वारणपरभाष्यस्योपरतिमाह—*लुगे-
तत्त्वप्रकाशिका ।

शङ्कोच इति प्रतीणामित्यादावात्कन्न । अत एव "मुविच" इति दीर्घो यक्षोरत्यादिकीगुदीपग्न्यः
शङ्क्येन इत्याहुः ।

ये तु विपातकशाये एव नृबुद्धितत्त्वदोषः । तथाच "मुविच" इत्यादौ "देवः" इत्येत-
दतिरिक्तं वास्तोरजोर्ण्यं सन्निपातकत्वाभावावितिष्टो भवतीत्यादिकमेवार्थं इत्याहुः ।

ययोरिति । यद्वाराचिष्टप्रयोरित्यर्थः । *ययोरिति* । तद्वाराचिष्टप्रयोरित्यर्थः । यथा
"देवः" "गुविच" इत्युभयप्रापि अन्तर्गतेनोपादानम् । *नान्वह इति* । चित्तमिदम्
सादृशोदाहरणमवधारय । *परम्परयेति* । परम्परायं न्यासाप्रपञ्चि । अत एव ऊच-

सापन्ना तु न गुणादितोऽन्तरङ्गोभयोरपि शब्दतः सुबाधयत्वात् ।

“न यासयोः” (७-३-४५) इति निर्देशाच्चैवानित्या तेन नातिप्रसङ्गः ।
स्पष्टा चेयं “कृन्मेजन्तः” (१-१-३९) इति सूत्रे भाष्ये । अस्या अनित्यत्वे
कलानि भाष्ये परिगणितानि । वर्णाश्रयः प्रत्ययो वर्णविचालस्यानिमित्तम्,
दाक्षिः । आस्रं पुग्विधेः, क्रापयति । पुगृहस्वत्वस्य, अदीदपत् । त्यदाद्य-
कारणाव्यविधेः, या सेति । इह्विधिराकारलोपस्य, पपिवान् । “ह्रस्वनुङ्-
भ्यां मतुप्” (६-१-१७६) “अन्तोदात्तादुत्तरपदात्” (६-१-६९) इति
मतुप्विभक्त्युदात्तत्वं पूर्वनिघातस्य, अग्निमान्, परमवाचा । नदीह्रस्वत्वं
सम्बुद्धिलोपस्य, नदि कुमारीत्यादि । यादेशो दीर्घत्वस्य, कष्टाय । इतोऽ-
न्यत्र प्रवृत्तिरेव, दोषाः खल्वपि साकल्येन परिगणिता इति भाष्योक्तेरिति
भैरवी

केति । सुबाधयत्वादिति* । कार्यकालपक्षे लुग्विधायकस्य संज्ञाशास्त्रस्य च सुपि परे यदे-
जन्तं तद्व्यर्थं भवति तत्परस्य सुपो लुगिस्थर्याश्रयणात् । अत्रार्थं भाष्यमेव मानम् । एवञ्च
परनिमित्तकत्वमुभयोरितिनान्तरङ्गबहिरङ्गभावः ।

वस्तुतस्तु व्यवस्थितयोः कार्यकालयथोद्देशपक्षयोर्मध्येऽत्र यथोद्देशपक्ष एव भाष्यप्रा-
माण्यादाश्रयणीय इति न कश्चिदोषः ।

अन्ये तु बहिरङ्गपरिभाषाया अनित्यत्वादिह लुगेकदाक्यतापन्नसंज्ञायां विकीर्षितायां
तस्या अप्रवृत्तिरेव भाष्यप्रामाण्यात्कल्प्यत इत्याहुः ।

अनु कष्टयेति निर्देशात् यत्तुर्थैकवचन एवानित्यत्वेन अप्रवृत्तिरित्येत्यत आह-“न यासा-
यो.” इति* । निर्देशरूपात् कारणादित्यर्थः । *अर्गविचाल* । रुचान्तरापत्तिः । सा चान्न अमा-
वप्रतियोगित्वसम्पत्तिरूपा । *आस्रं पुग्विधेरिति* । अनिमित्त स्यादिति शेषः । एवमुत्तर-
प्रापि बोध्यम् । *क्रापयतीति* । अत्र क्रीड्प्रातोर्गिति वृद्धौ तस्यैव “क्रीड्मौनाम्” इति-
गिच्सन्निपातनिमित्तकमात्रं सादृशसन्निपातविघातकपुङ्गुं प्रत्यनिमित्तं स्यात् । आकारस्य पु-
गितिमतेऽव्यवाचयनः समुदायावयवो नेति च स्वीकृत्येदं दूषणम् । *अदीदपदिति* । आका-
रस्य गिच्सन्निपातेन पुकि कृते “गौ वरि” इतिह्रस्वत्वमनया परिभाषया न स्यादित्यर्थः ।
इह्विधेति । “वस्येकाच्” इतिसूत्रस्य नियामकस्य विधिरूपेण प्रवृत्तिरितिमतेनेदम् ।
मतुप्त्रिभक्त्युदात्तत्वमिति । मतुपो विभक्तेश्चोदात्तत्वं ह्रस्वनुङ्भ्यामिति विहितं शेषनि-
घातस्यानिमित्तं स्यात् । अन्तोदात्तादित्यस्य तत्र सम्बन्धात् । *नदीह्रस्वत्वमिति* । “अ-
न्वार्थनघो.” इतिह्रस्वत्वं सम्बुद्धिसन्निपातनिमित्तकमित्यर्थः । *सम्बुद्धिलोपस्येति* । “एङ्-
ह्रस्वात्” इतिसूत्रविहितस्येति शेषः । *दोषा इति* । यद्यपि भाष्ये एते दोषाः समा भूयांसो

तत्त्वप्रकाशिका ।

इतित्यादौ स्वर्णदीर्घं सिध्यति । अन्यथा स्वोपजीव्यलिङ्-गुरुपक्षत्वसम्पादनद्वारा आम
इति लुक्सम्पादकस्वर्णदीर्घं प्रति द्वित्वं निमित्तं न स्यात्, स्वर्णदीर्घस्य परम्परया द्वित्वनि-
मित्तलिङ्विघातकत्वात् । *क्रापयतीति* । नच पुक्वपि यदागमन्यायेन पुगन्ते क्रीड्त्वस्य
सत्वेन नात्र सन्निपातविघातः नचातिदेशिकसन्निपातविघाताभावमादायनेतत्परिभाषाप्रवृत्ति-
प्रतिषेध इत्युक्तत्वेन न दोष इति वाच्यम् । “यदागमा” इतिन्यायातिरिक्तत्वेन सङ्गोच-
करणादिति वाच्यम् । अतः पुग्विधानेन क्रीड्त्वस्य यदागमन्यायेनातिदेशमुत्तमस्य परेन
अन्यसङ्गतेः । *इतोऽन्यत्रेति* । अनेन सन्धिकार्यं सन्निपातपरिभाषाऽनित्येति सूचितम्,

भैरवी ।

रम्भसामर्थ्यात्तिसूचतसृभावे ङीपोऽप्रवृत्तेः । न च प्रियतिसृणां ब्राह्मणानामित्यत्र निषेधचारि-
तार्थ्यमिति वाच्यम् । तत्राप्यवयवस्त्रीत्वात् ङीपः प्राप्तेः ।

किञ्च ज्ञापकादेव ङीप् "त्रिचतुरोः" इतिसूत्रविहितदेशविषये नेति कल्प्यते । इति स्व-
स्मादिषु अनयोः पाठोऽपि न कर्त्तव्य इत्यपरमनुकूलम् । न च शतानि सहस्राणीत्यत्र नुमि कृते
षट्संज्ञा प्राप्नोतीति सा कर्त्तव्येति वाच्यम् "बहुगण" इति सूत्रात् संख्यापहणानुसृत्या
उच्चारणार्थाकारे ण्णा इत्यनेन विशेषणादन्तश्शब्दार्थलाभे सिद्धे पुनरन्तश्शब्दोपादानादौपदे-
शिकत्वप्रतिपत्तिरित्यदोषात् । न च शक्यते पद्धतावित्यत्र "अच्चे." इत्यत्रे टाप् स्यादिति
सा कर्त्तव्येति वाच्यम् । "अत उत्सार्वधातुके" इत्यत्रेवादिति । तत्परकरणेन टावभावस्य मुख्य-
त्वात् । यदि तु तत् परकरणादेकादेशापि कृते मा भूत्, टाप् स्यादेव, लक्षणद्वयभावे मानाभा-
वादिति मन्यते, तदा "सम्बुद्धौ शाकलयस्य" इत्यादिनिर्देशो "अच्च घेः" इत्यनेनास्ये टाव-
भावकल्पक इति । न चेयेप उवोकेत्यत्र गुणे कृते मामभावार्यं सा कर्त्तव्येति वाच्यम् ।
"इजादेः" इतिसूत्रेऽनृच्छ इतिपठ्युदासेन गुरुमत्वस्य लामे सिद्धे गुरुमत्प्रहणं नित्यगुरुमतो
लाभार्थं तेनात्राप्राप्तेः । न चैवमनृच्छ इति पठ्युदासवैयर्थ्यमृच्छेत्सुकि कृत एव गुरुमत्वादिति
वाच्यम्, धातुसंज्ञाप्रवृत्तिकालिकगुरुमत्वस्याश्रयणात् । अत एवोम्भभातोराशीलिङि गुरु-
मत्वाभावेऽप्येतादृशगुरुमत्वसत्त्वेनोभावाकाशेयश्रामुसिद्धिः । न च येरे लोपोऽन्त्यलोप इति पक्षे
युयमित्यत्र "जसः शी" इत्यनेन शीभावः प्राप्नोति परिभाषासंज्ञे यत्सन्निपातेन लोपस्त
द्विधातान्न दोष इति वाच्यम्, "हेः प्रथमयोरम्" "शसौ न" इति संहितापाठे मकारान्तर-
प्रबलेयेण सिद्धे ।

यद्यपि "जराया" इतिसूत्रेऽतिजरेणातिजरादित्यत्र सन्निपातपरिभाषया जरसादेशाभाव
आकरसम्मतः परिभाषाभावेतु जरसादेशः प्राप्नोतीति तत्स्वीकार आवश्यक इति तद्वि "टा-
डसि" इतिसूत्रे इनातोरिकारदीर्घोच्चारणप्रत्याख्यानपरभाष्यप्रामाण्येन विभक्त्यादेशस्य पूर्व-
त्रिप्रतिषेधेन प्रवृत्तौ जरसादेशस्य सङ्गतिन्यायेनाप्रवृत्त्या सिद्धम् । यद्यपि "जराया जरसस्य
तरस्याम्" इतिसूत्रभाष्ये "अयेह लुक् कस्माच्च भवति ? अजरसं पश्येति पूर्वपक्षिणोक्ते, किं
पुनः कारणं, द्वितीयैकवचनमेवोदाह्रियते, न पुनः प्रथमैकवचनमपि अतिजरसमिति प्रतीति, अ-
स्त्यत्र विशेषः नात्राकृतेऽम्भावे जरम्भावः प्राप्नोति, किं कारणमचीत्युच्यते यदा न जरस-
भावः कृतस्तदा लुङ् न भविष्यति । "सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं सङ्घातस्य" इति ।
यद्येवमतिजरममतिजरसैरित्यत्र न प्राप्नोति । अतिजरमतिजरेरिति भवितव्यम्, गौनदीपस्तु
आह—इष्टमेतत् सङ्घातमतिजरमतिजरेरिति भवितव्यं सन्निपातपरिभाषासाभित्योक्तम् ।
तत्परिभाषाया असत्येऽप्युपपत्तये, तथाहि—अत्रैव सूत्रे भाष्येऽतिजरांसीत्यत्र नुमजरसयोः ।
प्राप्तयोर्विप्रतिषेधेन जरसित्युक्तम् । तच्च विभक्तिसम्बन्धिकाप्याणां पूजं प्रवृत्तौ सङ्गच्छते ।
अन्यथा शीभावात् पूर्वमेव जरसः प्रवृत्तौ तदभर्वनामस्यानत्वाभावाद्यनुभाविप्रतिषेधवि-
चारासङ्गतित्वस्य तदुपपत्तये "जराया" इतिसूत्रस्य जरससङ्घे स्वरितत्वं स्वीकृत्याधिकः का-
रोऽधिकार इत्यर्थाश्रयणादिष्टानुरोधेन जरसादेशस्य प्रवृत्त्यप्रवृत्तौ भविष्यतः इष्टपरिज्ञानस्य
भाष्योपपन्नद्वारेण भविष्यति ।

न च परिभाषाया अभावे कुलं धामणीत्यत्र "इस्वो नपुंसक" इति इस्वत्वे तुक् स्यादि-
ति वाच्यम् । तत्रापि प्रातिपदिकस्त्वनपुंसत्वज्ञानं द्विष्यन्तृज्ञानसापेक्षमिति विप्रवृत्त्युप-
पत्तापेक्षइस्वत्वापेक्षया वर्णमात्रापेक्षानुकोऽन्तरङ्गत्वेन तद्दृष्ट्या इस्वत्वस्यासिद्धत्वसम्भ-
वात् । न च "पत्यतुक्" इतिसूत्रे "मलोपः सुप्स्वरः" इतिसूत्रे न इति तत्परकरणेन तुकि
कर्त्तव्ये बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तिरिति वाच्यम् । न च यद्ये बहिरङ्गपरिभाषाया अप्रवृत्तिं व-

ननु पञ्चेन्द्रायो देवता अस्य पञ्चेन्द्र इत्यादौ “द्विगोर्लुक्” (४-१-८८) इत्यणो लुकि “लुक्त्वद्धित” (१-२-४९) इति स्त्रीप्रत्ययलुक्प्रयानुकः श्रवणापत्तिरत आह—

मैरवी ।

दामोऽपि तु बहिरङ्गपरिभाषा अनित्येति श्रूमः । एवञ्च “नाजानन्तव्य” परिभाषापि गतार्थे-
तिलाघवे भवति सन्निपातपरिभाषाप्येतदर्थं नारब्धव्येति स्वीकारात् ।

यत्तु सन्निपातपरिभाषया प्रतीणामित्यत्रात्वत्वेति, सन्निपातलक्षणविधित्वावच्छेदेन सन्नि-
पातविधातकसामान्यानिमित्तत्वस्य नञ्सममिष्याहाराद्युत्पत्तिरिति तद्वत्तया अत्रैव नुदि दीर्घत्वं
न रुपादिति कर्तेनामीति वाच्ये “नामि” इति सामान्यसूत्रारम्भसामर्थ्येन विरोधपरिहाराय
लक्षणया सन्निपातलक्षणविधिज्ञेयस्य नुद्भिन्नत्वविशिष्टसन्निपातलक्षणविधित्वावच्छिन्न-
परत्वं यत्कथ्यम् । एवञ्च नुदि दीर्घत्वस्यैवात्वस्यापि प्रवृत्तिर्भविष्यति । अतएव माघेन प्रा-
णमित्येवोदाहृतम्, स्वीकृतञ्चैवमेव केचित्तु इत्यादिना शब्देन्दुशेखरे तच्च उक्तपरिभाषाभा-
वेऽनायासेन निबन्धति ।

यदपि धीरायेत्यत्र सन्निपातपरिभाषया “आतो धातोः” इति लोपो नेति तदपि
‘लक्षणप्रतिपदोक्त’ परिभाषया गतमर्थम् ।

यत्तु गण्यित भाग्यितेत्यादौ गोशब्दान् क्वचि “वान्त” इतिसूत्रेण वान्तादेना “अव्य-
येय” इतिनिपातितभक्ष्यशब्दादाचारविषयान्तात्त्विकं नुदि वा “अस्य हलः” इतिलोपः प्राप्नो-
सीति सा कर्तव्येति, तदपि न, “वान्त” इतिसूत्रे वकारस्य प्रत्ययेणैकोक्तप्रयोजनान्वधासि-
द्धिश्चक्षतात् ।

तथाहि—गण्यतीत्यादौ “लोपः शाकल्यस्य” इतिसूत्रेण वकारलोपाभावो न वकारप्र-
दोषकल “नः कथ” इतिनिषेधेन पदत्वाभावाल्लोपाप्राप्तेः, किं तु च इत लुप्तविभक्तिकं भिन्न-
पदम्, “वान्तो वि प्रत्यय” इति तत्र वर्तते । वि प्रत्यय इतिसप्तमीवकादाहन्त इत्यस्यात्र प-
ष्ठवन्तत्वे कथ्यते । यादिप्रत्यये इति वा वर्तते, तथा च यादिप्रत्यये परो यो वान्तस्य वका-
रस्य यादिप्रत्ययोऽविलष्ट एव भवति । न तु कदापि तयोपिबुद्धेय इति । एवं क्षप्यजप्यशब्द-
स्याप्यवृत्तिं नृत्वात्तत्रापि पूर्ववत् “अस्य हलः” इत्यस्याप्रवृत्तिरुद्भवोयेत्याहुः । तन्न, लोक-
प्रसिद्धोपजीव्यविरोधस्य अन्यायत्वमुल्लङ्घयन्निपातपरिभाषयैव सकरेऽसिद्धौ बहुतर-
वलेनो मोक्षित इत्याशयेन सन्निपातपरिभाषारम्भात् वेत्यस्य प्रथकारणेऽपि ‘प्रत्यय’ इत्यस्य
‘क्षप्यजप्य’ इत्यस्यावृत्तौ मानाभावाच्च, “वाचि इत्यत्र” इतिन्यासेन मिद्धं “वामि” इति
इत्यत्र” इति कारणमस्यालोकन्यायसिद्धायाः शाखेऽङ्गोकारे ज्ञापकमपि सम्भवति, तद्धि
भूषामित्यादावजादि प्रत्यये जातनदीमेजायास्तादिधातकजुडागमे निमित्तत्वं न रुपादिति
मिष्यते । परिभाषाया अभावे तु रूपसिद्धिः स्फुटैवेति तथैव कुट्यान् । सा यौषा परिभाषा “न
वागयोः” इत्यादिनिर्दिष्टान्निर्त्येति माघोक्तदोषाणां परिहारो बोध्य इति दिक् ॥ ८६ ॥

ह्रस्वः प्राक् प्रथमाक्षरगतस्यापि स्मरममिति प्रसङ्गसदस्याह—नन्विति । पञ्चे-
न्द्र इत्यादादिति । अत्रादिना पञ्चमीरेत्यस्य परिहृहः । सन्निपातपरिभाषाया उपजीव्यवि-
रोधस्य अत्राप्यस्यमुल्लङ्घनेन यत्कथ्य उपजीव्यं लक्षणोपजीव्यस्य माहापञ्चमेनेति पल्लि-
तम् । तथा सन्निधोगणितपरिभाषाया अवि सन्निधोगनिमित्तत्वं तत्पदमादाह-

सन्नियोगशिष्टानामन्यतरापाये उभयोरप्यपायः ॥ ८७ ॥

अत्र च "विल्वकादिभ्यश्च लुक्" (६-४-१५३) इति सूत्रस्थं छग्र-
हणं ज्ञापकम् । तद्धि छमात्रस्य लुग्वोधनद्वारा कुको निवृत्तिर्यथा स्यादि-
त्येतद्धर्मम् । कृतकुगागमा नडाद्यन्तर्गताविल्वाद्य एव तत्र निर्दिष्टा विल्व-
कादिशब्देन । न चैवमपि छग्रहणं व्यर्थम्, कृतकुगागमानुवादसामर्थ्यादेव
तदनिवृत्तिसिद्धेः । अन्यथा "विल्वादिभ्यः" इत्येव वदेत्, 'लक्षणप्रतिपदो-
क्त' परिभाषया विल्वादिपुरस्कारेण विहितप्रत्ययस्यैवलुग्विधानाच्चातिप्र-
सङ्ग इति धार्यम् । ततोऽपि प्रतिपदोक्तत्वेन "विल्वादिभ्योऽण्" (४-३-
१३६) इति विकाराद्यर्थस्य लुगापत्तिवारणार्थं कुगनुवादचारितार्थात् ।

भैरवो ।

सन्नियोगशिष्टानामित्यादिना । निर्धारणे षष्ठी । *अन्यतरापाय इति* । शास्त्रतोऽन्यतर
निवृत्तिप्राप्तावित्यर्थः । *इत्यर्थम्* । इत्येतत्प्रयोजनकम् ।

ननु छग्रहणभावे विल्वशब्दार्थात् स्वार्थे के, ततो "अदूरभवश्च" इत्यणन्तादङ्गहादित्वाच्छे
हृतेऽणोऽपि लुक् स्यादत आह-***हृतेति*** । शीघ्रोपस्थितिकत्वाच्छस्त्रैव ग्रहणं भविष्य-
तीति भावः ।

ननु छग्रहणभावे कप्रत्ययास्तविल्वकशब्दात्परस्य प्रत्ययान्तरस्यापि लुक्सम्भावना
स्यात्, किञ्च हृतेऽपि छग्रहणे वैलवकीयो वृक्ष इत्यत्र गहादिछान्ताच्छ्रैपिकेऽणि छस्यापि
लुक् स्यादिति चेन्न । लक्षणप्रतिपदोक्तपरिभाषया कृते छग्रहणे कुगागमविल्वकशब्दपुरस्का-
रेण विहितछप्रत्ययस्यैव अनेन लुग्विधानात् । प्रतिपदोक्तत्वे गणपाठेन कल्पयते, न तु सूत्रे
तथा पाठेनादिपदोच्चारणेन गणकल्पना गणपाठदूशनेन आदिशब्दस्य प्रकारवाचित्वाभावा-
दिति कल्पनीयम् । विल्वकेति तु आगन्तुनाकारेण निर्दिष्टः । *ततोऽपि* । नडादिछादपि, प्रति-

तत्त्वप्रकाशिका ।

सन्नियोगशिष्टानामिति । सन्नियोगशिष्टौ च सन्नियोगशिष्टौ सन्नियोगशिष्टौ च म-
न्नियोगशिष्टाः । तेषां सन्नियोगशिष्टानां साहित्यावच्छिन्नविषयताभ्यानामित्यर्थः । *अन्य-
तरापाय इति* । सम्भावित इति शेषः । *उभयोरप्यपाय इति* । उभयोरप्यनुपत्तिरि-
त्यर्थः । अत एव पञ्चेदः पञ्चैत इत्यादौ तकाराकारयोः अक्षरान्मवति । अन्यथा नकारानुकोर-
नेन न्यायेन निवृत्तावपि देवदत्तहृत्तन्वायेन तच्छ्रवणं न स्यात् । एतेन अन्यतरापाये जाते
उभयोरभावेन उभयोरप्यपाय इत्यसङ्गतमित्यपास्तम् ।

अपरे तु अन्यतरापाये जाते उभयोरप्यपाय इत्यस्य आदेशे तत्कृतस्यानिवृत्त्योभयोर-
प्यपाय इत्यर्थः । तथाच पञ्चैतः पञ्चेन्द्र इत्यादौ नकारानुकोस्तत्कृतस्यानिवृत्त्या स्यानि-
स्थित्या अकारश्रवणमित्याहुः ।

यसु लुग्विषयेषु परिभाषा, अत एव रोयं कौलिः तार्त्तवीरुः इति सिध्यन्ति । अन्यथा
गुणद्विभ्यामित्वोत्त्वसंप्रसारणानां निवृत्तौ तत्सन्नियोगशिष्टानां क्वप् लक्ष्येककां निवृत्तिः प्र-
सज्येतेति, तत्र वातकिनोऽप्यत्वं वात इत्यादौ ह्योपाये तत्सन्नियोगशिष्टस्य "वातातोसारा-
भ्यां लुक्च" इति कुको निवृत्त्यभावप्रसङ्गात् । रोयं कौलिः तार्त्तवीरु इत्यादौ न दोषः प्राया-
न्यादनुयोग्यपाये प्रतियोग्यपायो भवति ननु प्रतियोग्यपायेऽनुयोग्यपाय इति स्वीकारात्,
"ईचलन" इत्यत्र प्रत्ययाधिकारात्प्रत्ययस्य प्राधान्यम्, उक्तयुक्तेरितिदिह । *कुगनु-
वादधारितात्वादिति । नच "विल्वादिभ्यःश्च लुक्" इत्येव वक्तव्ये "विल्वकादिभ्यो लु-

समुच्चयार्थकचशब्दयोगे तु विधेययोरेककालिकत्वैकदेशत्वेनियमान्याय-
सिद्धापीयम् ।

यस्तु "शाविष्टवत्" इत्यनेन पुंवस्त्वविधानमेतदनित्यत्वहापनार्थमन्य-
थैतयतीत्यादौ टिलोपेनैव ङोपि निवृत्ते सन्नियोगशिष्टपरिभाषया नस्यापि-
निवृत्त्यैतयतीत्यादिसिद्धौ पुंवस्त्ववैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति "टैः" (५-४-१५६)
इति सूत्रे कैयटस्तत्र । इडविडमात्रेण ऐङविडयतीत्यादौ पुंवस्त्वस्य आव-
श्यकत्वात् । ऐनेयः श्यैनेय इत्यादि तु स्थानिवत्त्वेन सिद्धमिति अन्यत्र
घिस्तरः ॥ ८७ ॥

तनु चुरा शीलमस्याः सा चौरित्यादौ "शीलम्" (४-४-६१) "छ-
त्रादिभ्योऽणः" (४-४-६२) इति णे ङीप् न प्राप्नोतीत्यत आह—
नैरखी ।

पदोक्तै, विनिष्पद्योश्चरितत्वेन बोध्यम् । *समुच्चयार्थकचशब्दयोगे त्विति* । "वनोरच" इत्यत्र यथा बहुमिर्भावरीभिः श्रोत इत्यर्थे आहोयस्य टको "अज्यर्द्धे" इतिलुकि "लुक्त्वद्धि तलुकि" इति स्त्रीप्रत्ययस्य निवृत्तौ रस्यापि निवृत्तिः, न च रेकस्य निवृत्तायपि नकारो ध्रुयेत तदादेशेन नकारस्य पूर्वं निवर्त्तनादिति वाच्यम्, एतादृशे विषये लुगादिष्विधानेनापूर्वस्य नान्तस्य प्रयोग इत्येव बोध्यते । अतएव शास्त्रानां नित्यत्वस्योपपत्तिः । *एककालिकत्वे-
त्पादि* । युगपद्विहितानां कालिकप्रत्यासत्त्यापि समञ्जसास्तत्त्वमिति भावः ।

किंपदोक्तमनित्यस्य दूषयति तदुक्तमनुयदति—*यत्तिवतिः* । “तूष्टिष्यः सु” इतिसुब्रा-
ह्मन्तरं यष्टिरेवमिति तत्रत्ये आच्ये गाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य गाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य
वत्त्वः । किं प्रयोजनं पुंल्लङ्कारभावदिलोपयणादिपरलोपाधेम् १ पुंल्लङ्काराधेम्, पुंर्त्तु इत्येर्त्तु
या आचष्ट, एनयति, इयेनयतीति ।

भाप्र केयः—तसिद्धादित्यादिषु पुनश्चात्रो विहित इति यावपि भवति, तिलोपेनैव सन्नि-
 योगसिद्धत्वात् नकारनिवृत्तौ सिद्धायां पुनश्चलने सन्नियोगसिद्धपरिभाषायाः अनिरस्यत्यस्य
 ज्ञापनार्थम्, तेन इत्येव इति सिद्धं भवतीति प्ततद्रूपवति—*इडविडमित्यादिना* । इड-
 विडोऽप्यस्यमिति विषये “अनपदशब्दात्” इत्यपि “अतश्च” इति लुक् । आदिना दातोऽप्यस्य-
 मिति विषये “इयन्मगध” इत्यपि तस्य “अतश्च” इति लुक् स्थानिश्चरेण “अथः” परस्मिन् “इति
 सिद्धितेन तस्य सुप्रत्यय सङ्गादिना भावसाधनविधिनाङ्गाध्ययनेन पूर्वस्य विधिं प्रति सत्तां
 प्रति स्थानिरस्यमित्येषां ध्ययगात् । न च ‘सन्नियोगसिद्धानाम्’ इति परिभाषया अनि-
 रस्यत्वमात्रे धीतमिति न सिद्धोपेदिति वाच्यम् । ज्ञापकसिद्धत्वेन अस्माच्चिद्वत्त्वात् ॥ ८७ ॥

अष्टपरिभाषायास्तदितल्लस्य सुखविधानादप्यस्वात्तस्य तन्प्रसङ्गेन तदितविषय एवाह-
ननु शुरेत्यादि । टीप् न प्राप्नोतीति । अण्णन्तादि टीगे विधानात् । इदम्पु शान्ते तत्त्वम-
सत्यप्रसङ्गिका ।

॥ इति कारणादुक्तो निश्चितं भवतीति याच्यम् । नृगरेतमसादयोः महादी उत्करादी
महादी य एतेन विज्ञादिप्रत्यय सुगित्युक्त्यमाने शास्त्रप्रविदितस्यापि सुगापत्तेः । ॥ ३४-
त्यग्यत्र विस्ता इति ॥ पूर्वविज्ञात्वाद्वाग्रेण पूर्वत्वेन दृष्टस्य विषी स्थिनी य कर्तव्यायां
स्यानियदिति, ऐतेय इत्यादौ न दोषः ।

यन्मुनमु सग्नस्य मोदयोगः । नच पेनेव हस्याद्दी पूर्वत्वेनाहृतस्य षोऽपि विधिना-
स्तेनोति वाच्यम् । एतद्विनिर्मापया अत्राप्यस्य कर्त्तव्यत्वेन सग्ननिवन्धनार्थं ह्यानिवन्धनप्रवृत्तेः सू-
चनार्थवदिति दिक् ॥ ८७ ॥

ताच्छीलिके णेऽण्कृतानि भवन्ति ॥ ८८ ॥

“अन्” (६-४-१६७) इत्यणि विहितप्रकृतिभाववाचनार्थं “कर्मस्ता-
छील्य” (६-४-१७२) इति निपातनमस्या ज्ञापकम् । ताच्छीलिकणा-
न्तात् “अणो द्वयचः” (४-१-१५६) इति किञ्सिद्धिरप्यस्याः प्रयोज-
नमिति नव्याः । ताच्छीलिक इत्युक्तेः “तदस्यां प्रहरणम्” (४-१-५७)
इति णे दाएङ्येत्येव । “कर्मः” (६-४-१७२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा ॥ ८८ ॥

ननु कंसपरिमृडयामित्यादौ “मृजेवृद्धिः” दुर्वारित्यत आह—

घातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति ॥ ८९ ॥

औण्डत्ये तत्तन्निपातनमस्या ज्ञापकम् । घातोः स्वरूपग्रहणे तत्प्रत्यये
कार्यविज्ञानम् इति पाठस्तु प्रसृङ्भिरित्यादौ “अनुदात्तस्य चर्दुपध-
स्य” (६-१-५६) इत्यभापादनेन भाष्ये दूषितः । यत्कार्यं प्रत्ययनिमित्तकं
तत्रैव व्यवस्थापिका । तेन पदान्तत्वनिवन्धनं “नशेषा” (= २-६३) इति
भैरवी ।

स्तम् । *ताच्छीलिक इत्यादि । तच्छीलमित्यर्थे जातस्ताच्छीलिकः । न च “छात्रादिभ्यो ण,”
इति सूत्रे शीलमित्येवाधिकारो ननु तच्छीलमिति वाच्यम् । प्रथमान्ताच्छीलमित्यर्थे विधा-
नेन अस्य ताच्छीलिकत्वात् । *अण्कृतानि । अण्निमित्तकानि । ननु लाघवात् “छात्रादिभ्यो
ण” इत्येव कृतो न सूत्रितमिति चेन्न । ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र इति एतत्परिभाषा-
विवक्षितं । यद्यत्सूचनाय तथोक्तत्वात् । तेन छात्रा इत्यपि सिद्धयति । *नव्याः । दीक्षितादयः ।
चस्तुत इदमसङ्गतम् । तत्र अपत्यर्थत्वाणो ग्रहणात् ‘सामान्यासिद्धेयो विशेषानतिदेश’
इति न्यायात् ॥ ८८ ॥

प्रत्ययप्रसङ्गादाह—घातोः कार्यमिति* । तत्प्रत्यये* । घातुसंशब्दनेन विहितो यः प्रत्य-
यस्तस्मिन् । *अस्या ज्ञापकमिति* । परिभाषाया अभावे भ्रूणहन्शब्दाद् “ब्रह्मभ्रूण” इति
विद्यन्ताद्वारे व्यजि “नस्तद्वित” इति टिलोपे बाधित्वा परत्वात् “हनस्त” इति तकारा
देशे सिद्धे तद्वैयर्थ्यं रूपम् । न चोपधावृद्धयभावार्थं निपातनम्, आदिबृद्ध्या बाधात् ।

यद्यपि इत्वाभावार्थं निपातनमिति वक्तुं शक्यं, तथाप्युभयप्रयोजनसम्भवे एकस्यैव
कल्पनमनुचितम् । अत एव “मृजेवृद्धिः” इति सूत्रे भाष्ये आधाप्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति भवति
एषा परिभाषा यदपि औण्डत्येतितत्त्वं शास्तीत्युक्तम् । यद्यपि तद्विते तकाराभावज्ञापक-
त्वेनापि चारितार्थ्यम् सम्भवति तथाप्यसति बाधके सामान्य प्रमाणानां पक्षपात इति न्या-
येन अल्पाधस्य कल्पनमेव “मृजेवृद्धिः” इति सूत्रभाष्ये क्वाक्यतया कल्पयते ।

तत्र हि—“कंसपरिमृडयाम्” इत्यत्र वृद्धिवारणायैषा उक्ता । प्राचीनोक्तं परिभाषा-
स्वरूपं खण्डयति—घातोरिति* । “अनुदात्तस्य” इति सूत्रे घातोः स्वरूपेणानुपूर्वी पुरस्का-
रेणोपादानाभावेन अस्याः परिभाषाया अप्रवृत्तिरिति भावः । ज्ञापकसाजात्यात् यस्मिन्
कार्ये सप्तम्यन्तपदोपात्तस्य प्रत्ययस्य निमित्तत्वं तत्रैतस्याः परिभाषायाः प्रवृत्तिरित्याह—
यत्कार्यमिति । एव च प्रत्यये परतो यत्कार्यं घातोः प्राप्तं तद्वितुसंशब्देऽनेन विहिते
प्रत्यये भवतीति परिभाषायाः भवत्येवेति पक्ष इति शेषः ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

“घातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति । घातुत्ववशात्प्रथमां वच्छिन्नोद्देश्यताकं
कार्यं घातुत्वव्याप्यप्रथमां वच्छिन्नोद्देश्यतानिरुपितविषेयताश्रये प्रत्यये अनन्तर्यार्थः । अत

ननु "गातिस्थाधुपाभूम्यः" (२-४-७७) इति सिचो लुगपासीदित्यादौ पातेरपि स्यादत आह—

लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य ॥ ९१ ॥

अस्याश्च ज्ञापकः "स्वरतिसृति" (७-२-४४) इति सूत्रे सूडिति वक्तव्ये सृतिस्वरयोः पृथङ्निर्देश इति कैयटः । तत्र । साहचर्यादलुग्विकरणस्यैव ग्रहणे प्राप्ते पृथङ्निर्देशस्य तज्ज्ञापकत्वासम्भवात् । ध्वनिता चेयं परिभाषा "यस्य विभाषा" (७-२-१५) इत्यत्र भाष्ये । तत्र हि विदित इति प्रयोगे निषेधमाशङ्क्य यदुपाधेर्विभाषा तदुपाधेर्निषेधो "विभाषा गमहनविद्विशाम्" (७-२-५८) इति सूत्रे शब्दविकरणस्य ग्रहणं लुग्विकरणश्रायमित्युक्तम् । तत्र चो हेतौ । यतोऽयं लुग्विकरणोऽतो विशिष्टाहचर्याच्छब्दविकरणस्य ग्रहणं न तु हनिसाहचर्यादस्याप्येतत्परिम.पायिरोधादिति तदाशयः ।

अत एव परिभाषायां लुग्विकरणस्यैवेति नोक्तम् । कथं तत्तु भाष्य एषा कापि न पठिता । "गातिस्था" (२-३-७७) इति सूत्रे पिषतेर्ग्रहणं कर्त्तव्यमिति धार्मिककृता सर्वत्रैव पाग्रहणे लुग्विकरणस्य ग्रहणमिति भाष्यकृता चोक्तम् । "स्वरति सृति" (७-२-४४) इति सूत्रे कैयटेन च भैरवी ।

धातोः कार्यमिति परिभाषायां धातुशब्दसत्त्वान्तप्रसङ्गेन आह—ननु गातिस्थेत्यादीति । पातेरपीति* । पञ्चम्यन्तमेतत् । अपिना पिषतेः समुच्चयः पारुषत्वादिति शेषः । तु ग्विकरणेत्यादि* । अत्रालुग्विकरणस्येति साधधारणं । *कैयटः । "स्वरतिसृति" इति* । सूत्रभाष्यस्थः पुठ इत्यत्र ठकारः पू प्रेरण इत्येतद्व्याधृत्पर्यः । ज्ञापकत्वं विधटयति—तन्मेत्यादिना । साहचर्यान्तः । पूर्वपरसाहचर्यान्तः । ननु यदीयं न ज्ञापकत्वाप्या तर्हि निर्मूला स्यादत आह—अप्यनितेति । विदित इति* । येत्तेरिदं रूपं, दिनादितुरादिरादिपठितानां तु अनुरासेत्वादेव निषेधो भवतीति भावः । *यदुपाधेरिति* । पञ्चम्यन्तमेतत् । अत्रोपाधिपदै विज्ञेयपरी य उपाधिर्यस्य तस्यादित्यर्थः ।

अयं भावः—यदि साहचर्यं व्ययस्यापके स्यात्तदा हनिमाहचर्यं विशिष्टमाहचर्याभ्यामुभयोर्ग्रहणं स्यादेतत्परिभाषामन्त्ये न साहचर्यमात्रं न हेतुः । किन्तु एतत्परिभाषापीत्यलुग्विकरणस्य ग्रहणमित्येतद् ध्वनितमित्यर्थः । अयम्विदित इति प्रयोगघट्टः । *अत एव* । उक्तभाष्येण ध्वननादेव । *इति नोक्तमिति* । यदीयं परिभाषा सृतिमूपयोः पृथङ्निर्देशरूपज्ञापकमाध्या स्यात्तदा प्राथम्यालुग्विकरणस्यैव ग्रहणमित्येव ज्ञाप्यताम्, सारतारि उभयोः पृथङ्निर्देशस्य आवश्यकत्वे लभ्यते एतेत्यलुग्विकरणस्यैवेति कथमात्र ज्ञापकमाध्यायेति यावः । *एषा* । एवमानुपूर्वीका । एवमानुपूर्वीका विशिष्य भाष्ये न पठितेत्यत्रैव साधकान्तरमाह—गातिस्थेतीति । सर्वत्रेति* । सर्वत्रैवेत्येवकारेण प्रकृतमूत्र एव । *कैयटेन चेति* ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

कैयट इति । नय स्वरतिमाहचर्यादलुग्विकरणस्यैव ग्रहणं स्यादित्युभयोर्ग्रहणार्थं पृथगुदाहानं सार्धकमिति वाच्यम् ? स्वरतिपुनरित्युदाहरणस्य निष्ठे पृथङ्निर्देशस्य ज्ञापकत्वमभिशम् । नपेधमपि 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव' इत्येव कम्मात्र कल्पन इति वाच्यम् ? "यस्यविभाषा" इति सूत्रभाष्यानुसारेण तथा कथयन्ताम् । एतेन अत एव परिभा-

स्पष्टमुक्ता ॥ ६१ ॥

ननु प्रजिघाययिषतीत्यादौ "हेरचङि" (७-३-५६) इति विधियमानं कुत्वं न स्यादत आह—

प्रकृतिग्रहणे ष्यधिकस्यापि ग्रहणम् ॥ ९२ ॥

अचङीतिप्रतिषेध एवास्या ऋपकः । इयं च कुत्वविपर्ययैव । "हेरचङि" इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टेयम् ॥ ९२ ॥

ननु युष्मभ्यमित्यादौ "भ्यसः" (७-१-३०) इत्यत्र भ्यमिति च्छेदे भ्यसो भ्यमि कृतेऽन्त्यलोप एत्वं स्यादत आह—

अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिः ॥ ९३ ॥

अङ्गेऽङ्गाधिकारे वृत्तं निष्पन्नं यत्कार्यं तस्मिन् सति पुनरन्यस्याङ्गकार्यस्य वृत्तौ प्रवृत्तावविधानं भवतीत्यर्थः । एषा च "उवादादीयसः" (६-४-१६०) इत्यादिधानेन ज्ञायिता । अन्यथा इकारलोपेन "अकृतसार्धः" (७-४-२५) इति दीर्घेण च सिद्धे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । अत एव भिन्नस्थानिकाङ्गकार्यविपर्ययाप्येवा । इयं च अनित्या "द्वयोः" (१-२-५९ । ५-३-२२) इति निर्देशात् । अनित्यत्ववल्लभ्यार्थमादायैव "भ्यासोभ्यम्" (७-१-३०) इति सूत्रे भाष्ये निष्ठितस्येति पठितम् ।

अथैव ।

यत्स्वर्थे ज्ञेयः ॥ ९१ ॥

पातुप्रसङ्गादाह—ननु प्रेति । न स्यादिति । "हेरचङि" इति सूत्रस्य अङ्गाधिकारस्थत्वेन प्रत्यासत्तया द्वित्वनिमित्तप्रत्ययनिमित्तरूपस्याङ्गस्य द्विनोतेरभ्यासात्सरस्य इकारस्थेऽर्थेन पुण्याप्राप्तेरिति भावः । प्रवृत्तिप्रहणे ष्यधिकस्यापि ग्रहणे तु मिश्रन्तमपि द्विनोतिप्रहणेन गृह्येत, ततश्च कुरवे प्राप्तमतश्चति प्रतिषेधः सार्थकः । *कुत्वविपर्ययैवेति* । एषकारे चिकीर्षिते ष्यधिकरूपे न प्रहणमिति बोधितम् । तदुक्तं भाष्ये—"हेरचङि प्रतिषेधानर्पेकमङ्गाप्यस्याङ्गज्ञापकं स्वम्वत्र ष्यधिकस्यापि कुरवभावस्य" इति ।

एतेन "नभामुपूङ्मिमि" इति सूत्रे "व्यन्तानाश्रमादीनामुपसङ्ख्यानम्" इति शान्ति-कारम्मादिवमनित्या तेनादपूर्वाङ्गन्तेर्ग्यन्ताङ् "आलो यमहनः" इत्यात्मनेपदं नेति यदन्तोऽभिप्रायपतोत्यत्राभेर्ग्यन्तार्थविशेषकस्येऽपि पक्षे भवतीति यदन्तश्चापोस्ताः ॥ ९२ ॥

प्रत्ययस्वीपस्मितत्वाङ् तत्प्रसङ्गेनाह—ननु युष्मभ्यमिति । आदिना अस्माभ्यमित्य-स्वीपसङ्ग्रहः । परिभाषार्थमाह—अङ्ग इत्यादिना । परिभाषास्वीकारे तु युष्मभ्यमित्यादाय-ङ्गवृत्तं यत्कार्यं नेपे लोपस्तस्मिन् सति पुनरन्यस्याङ्गाधिकारीयस्यैवत्वस्याविधानं सिद्धं भवति । "अङ्गवृत्त" इति वदुर्गोः सति यस्मिन्, यद्वा कर्तृकान्तवृत्तशब्दस्य सप्तम्यन्ताङ्गश-ब्दस्य "गुरुगुरा" इति ममासः । अत एव । अङ्गिधानस्य ज्ञापकस्यादेव । उवात्परस्वेपमो-लोपोरपस्य तु दीर्घे इति भिन्नस्थानिदृश्यं स्पष्टमेव । अपिना समानस्थानिकस्य समुच्चयः । तेन युष्मभ्यमित्यादेः सिद्धिः । अभिधानमित्यभ्यानिव्यतिरप्रवृत्तिरित्यर्थः । *द्वयो-रिति निर्देशादिति* । यदोपमनित्या न स्यात्तदा द्वयोरित्यत्र "एवमादीनाम" इत्यस्य "मो-ति च" इत्योर्त्यं न स्यादिति भावः । *निष्ठितस्येति* । अङ्गवृत्ते पुनर्वृत्तावविधिर्निष्ठितस्येति तत्प्रवृत्तावविधिः ।

पातुग्विपर्ययस्येव मोपमिति वदपरवर्गे न पातुङ्गम् ॥ ९१ ॥

केचित्तु अनया परिभाषया न किञ्चित्त्वयं साध्यते । अत एव "ज्ञाज-
नोर्जा" (७-३-७९) "ज्यादादीयसः" (६-४-१६०) इति सूत्रयोरेतां कापयि-
त्वा किं प्रयोजनम् ? इति प्रश्ने पितृतेर्गुणप्रतिषेध उक्तः, स न वक्तव्य इत्येव
प्रयोजनमुक्तं न तु लक्ष्यसिद्धिरूपम् ।

तदुक्तम्—“असोभ्यम्” इत्यत्राभ्यमितिवृद्धेः “शेषे लोपश्च” अन्य-
लोप एव “अतो गुणे” (६-१-९७) इतिपररूपेण सिद्धे युष्मभ्यमित्य-
भ्यत्र निरूपितम् । एवं च सूत्रद्वयस्यमेतज्ज्ञापनपरं भाष्यं “असोभ्यम्”
इतिसूत्रस्थं च भाष्यमेकदेशयुक्तिरित्याहुः ॥ ९३ ॥

यत्सोरोदितिवाच्ये “ओर्गुणः” (६-४-११६) इति गुणग्रहणात्—

संज्ञापूर्वकविधेरनित्यत्वम् ॥ ९४ ॥

इयं च विधेयकोटौ संज्ञापूर्वकत्व एव । तेन स्वायम्भुवमित्यादि
सिद्धम् ॥ ९४ ॥

भैरवी ।

पठितमित्यर्थः । एतदर्थस्तु अङ्गे अङ्गाधिकारे वृत्तं वर्तते यस्य तस्मिन् कृते सति निश्चितस्य
प्रयोगार्हस्य शब्दस्य पुनरङ्गाधिकारीयकाभ्यान्तरस्य अविधानमिति । *केचित्त्विति* । भा-
ष्यानुसारिण इत्यर्थः । *अत एव* । अस्याः परिभाषायाः लक्षणासाधकत्वादेव । *पूर्वा प-
दित्येति* । तत्र जादेशविधानस्यैव ज्ञापकतोक्ता, अन्यथा जानातोऽस्यादौ “ज्ञाजनोः” इतिसू-
त्रेण जभाव एवास्तु तस्मिन् कृतेऽपि “अतो दीर्यो यमि” इति दीर्येण रुरसिद्धिः लुक्कृत्येति स
न वक्तव्य इति, एतत्परिभाषया गुणाभावस्य सिद्धेरिति भावः । *इत्येवेति* । पित्रतीत्यत्र
गुणाभावस्य पित्रादेशस्य अदन्तत्वेन सिद्धिर्भवत्येवेतिपरिभाषायाः प्रयोजनं नास्तीति भावः ।

तदुक्तमिति । प्रयोजनमुक्तमित्यर्थः । प्रयोजनान्तरासिद्धिमाह—*असोभ्यमित्या-
दिना । अभ्यमिति छेद इति* । अत एव नवादेशो हलादिरस्तीतिभाष्य सङ्गठने । अन्त्य-
लोप एव* । अत एव “साम आकम्” इतिसूत्रे लिङ्गभावाद्द्विलोपवचनानर्पक्यमितिभाष्यं
सङ्गच्छते । “शेषे लोप” इतिसूत्रे शेषग्रहणे तु प्रत्याख्यानमेव ।

अनु परिभाषाया अभावे द्वयति स्वजनयतीत्यत्र वृद्धिलोपे लुकि च कृते प्राप्नोतीति चेन्न,
इष्टवदित्यनेन सभावातिदेशोऽपि स्वीक्रियत इतिवृद्धयर्थावस्थ सिद्धेः । न चैवं सति प्रापय-
तीत्यत्र “अथो ऽप्यिति” इतिवृद्धिर्न स्यादितिवाच्यम्, परिभाषायाः सत्त्वेऽनित्यत्वात् तदप्र-
वृत्त्या प्रापयतीत्यत्र वृद्धिवचनभावे “ष्टे.” इतिसूत्रस्यभाष्यप्राभाष्येनोपधावृद्धयभाक्त्येवा-
तिदेशात् । तय हि इष्टवद्भावस्य प्रयोजननिरूपणाखरे षट्पदमावष्टे षट्यति दूरमावष्टे द्वयति
प्रियमावष्टे प्रापयतीत्युक्तम् । *सूत्रद्वयस्यम्* । “ज्ञाजनोर्जा” “ज्यादादीयसः” इतिसूत्रद्वय-
स्यम् । *सूत्रस्थं च भाष्यमिति* । म्यमितिछेदपक्षे अनया पृत्वक्याट्टिप्रदर्शनपरमा-
प्यमित्यर्थः ॥ ९३ ॥

केचित्तु इत्यारभ्याहुरित्यन्तेनाङ्गवृत्त इतिपरिभाषा खण्डिता, तथा खगदनीयत्वमाधर्मा-
न्यामपि प्रार्थनपठितौ परिभाषां खण्डयति—*पत्त्वित्यादिना । विधेयकोटौ* । विधेयान्ते-
ज्ञापकसाक्षात्तादिति शेषः । तेन “ओरोर्गु” इतिसूत्रस्य आधिकारीयत्वेऽपि गुणग्रहणमनि-
त्यत्वसाधकप्रतिपत्त्यर्थम् । अत एव “नवदन्त” सूत्रं सार्धम् । अन्यथा “अथः परस्मिन्”
इति सूत्रस्यावशिष्टापूर्वकत्वेन अनित्यत्वेनेव इष्टसिद्धौ तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ॥ ९४ ॥

तथानिलोडित्येव सिद्धे आनिग्रहणात्—

आगमशास्त्रमनित्यम् ॥ ९५ ॥

तेन सागरं तर्जुकामस्येत्यादि सिद्धम् ॥ ९५ ॥

तथा तनादिपाठादेव सिद्धे “तनादिकञ्च” (३-१-७९) इति सूत्रे—

कृञ्प्रहणात्—

गणकार्थमनित्यम् ॥ ९६ ॥

तेन न विश्वसेदविश्वस्तमित्यादि सिद्धम् ॥ ९६ ॥

तथा चत्तिङो डित्करणत्—

अनुदात्तेष्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम् ॥ ९७ ॥

तेन ‘स्फायन्निर्मोक’ इत्यादि सिद्धम् ॥ ९७ ॥

तथा विनार्थमत्रा समासेनानुदात्तं पदमनेकमित्येव सिद्धे वर्जप्रहणात्—

नञ्घटितमनित्यम् ॥ ९८ ॥

तेन “नेयङ्वङ्” (१-४-४) इत्यस्यानित्यत्वात् सुञ् इति सिद्धमिति तत्र, भाष्येऽदर्शनात् । भाष्यानुक्तज्ञापितार्थस्य साधुताया नियामकावे मानाभावात् । भाष्याविचारितप्रयोजनानां सौत्रक्षराणां पारायणादावदूष-
त्रेयी ।

आनिग्रहणादिति । आकारविशिष्टनिग्रहणादाकारोपादानादिति यावत् । *तेन* । आगमशास्त्रस्य अनित्यत्वेन । *तर्जुकामस्येति* । अग्रेऽभावेऽपि नासाधुता । अदिना शुभ्यो राजा, शार्ङ्ग पद्यानस्य, इत्यनयोः संप्रहः । आद्ये इडभावस्य द्वितीये सुगागमस्याभा-
वेऽपि साधुत्वम् ॥ ९५ ॥

खण्डनीयत्वादेवाह—*तथेति* । *न विश्वसेदिति* । अत्र “आदिप्रवृत्तिभ्य” इति नयो लुप्तः न, एतत्स्वीकारादेव “स चापि गद्या दीर्यः, सर्वो पवाहनत् पृथक्” इत्यस्य साधुत्वम् ॥ ९६ ॥

खण्डनीयत्वादेवाह—*तथेति* । *टित्करणादिति* । न चैकारो नानुदात्त इति यावत्, आख्यायनमित्यत्र “अनुदात्तेष्वल्लहादेः” इति सुञ् न स्यात् । अथ लकाराभावे “इदितो नुञ् धातोः” इति नुञ् स्यात्, तत्सत्ये त्वन्तेदित्वविरहाच्च नुमित्तिवाच्यम् । इकारस्य स्थानेऽकारस्य परेभाषि नुमभावस्य मिद्वेदित्याशयात् । *अनुदात्तेष्वलक्षणमात्मनेपदम्* । अनुदात्तलि-
॥ आत्मनेपदम्” इति गृह्यविहितमात्मनेपदम् । तेन इत्यप्रयुक्तमात्मनेपदं कथिष्य । तेन “स-
द्यः शरामि तप्राह, न तु वेमि सुलायइम्” इत्यस्य साधुत्वोपरतिः । स्फायन्निर्मोक इत्यनु-
दात्तेष्वलक्षणमात्मनेपदस्यैवाभावात् सिद्धिः । शरामोत्यत्र तु गगच्छाप्यस्य अनित्यत्वात्
इत्यप्रयुक्तमात्मनेपदस्य च तथारत्नात् मिद्विरिति विशेषः ॥ ९७ ॥

खण्डनीयत्वादेवाह—*तथेति* । *नञ्घटितमिति* । नञ्घटितमत्र विधेयमित्यर्थः । *इति मिद्विमिति* । तत्र नदोर्गञ्जानिर्गञ्जान्तरा नदोर्गञ्जानाम् “अन्वेषार्थनयोः” इत्यस्य प्रवृत्ति-
भेदोक्तस्य मिद्विरित्यर्थः । एतत् खण्डयति—*तथेति* ।

अनु भाष्येऽदर्शने न आभाष्यपाठे, येषां सूत्राणां भाष्येऽविचारो तेषामन्यत्राभासि-
त्वात्तेनैवमाह—*भाष्येति* । *मानाभावादिनि* । तेन “स्फायन्निर्मोक” इत्यादिगर्ववचनानां
न साधुतानिवामकत्वमित्युक्तम् ।

मात्रार्थकत्वकहणताया एवौचित्यात् ।

किञ्च ज्ञापितेऽप्यानीत्यस्य न सार्थक्यमाडागमज्ञान्यप्रयोगस्य अप्र-
सिद्धेः । आड्ग्रहणं तु लोड्ग्रहणवदिति बोध्यम् । अत एव “घोर्लोपो लेटि-
वा” (७-३-८०) इतिसूत्रे वेति प्रत्याख्यातम् । लोपेऽप्याट्पक्ष आटः
श्रवणं भविष्यति दधादिति, अटि दधदिति आगमशास्त्रस्यानित्यत्वेत्वा-
द्यसति दधादित्यसिद्धया चाग्रहणस्यावश्यकत्वेन तत्प्रत्याख्यानासङ्गतिः
स्पष्टैव ।

एतेन यत्कैयटेन केचिदित्यादिनास्यैव चाग्रहणस्य तदनित्यत्वज्ञापक-
तोक्ता सापि चिन्त्या प्रत्याख्यानपरभाष्यविरोधात् । चत्विङो ऊकारस्यान्त
इदित्वाभावसम्पादनेन चारिताध्याय । “तनादि” सूत्रे कृङ्ग्रहणस्य भाष्ये
प्रत्याख्यानाद्य ॥ ६८ ॥

भैरवी ।

ननु एवं तेषां ज्ञापकत्वेनाग्न्योक्तसाफल्यकानां गुणादिशङ्कानां वैयर्थ्यापसिरत आह—
भाष्याविचारितेति । एवं सर्वसाधारणदोषमुक्त्वा द्वितीयमसाधारणदोषेण खण्डयति—
किञ्चेति । *अप्रसिद्धेति* । तथा च ज्ञापकत्वासङ्गतिरिति भावः । *आड्ग्रहणमिति* ।
आड् गृह्यते येन तदाड्ग्रहणमानीतिसमुदायरूपोच्चारणमित्यर्थः । *लोड्ग्रहणवदिति* । यथा
लोड्ग्रहणमदृष्टार्थं सपेक्षेऽङ्ककारोपलक्षितस्य अकारस्य उच्चारणमप्यदृष्टार्थमिति भावः ।
अत एव । आगमशास्त्रमनित्यमित्यस्याभावादेव । *वेति प्रत्याख्यातमिति* । वेत्सुपा-
दानं दधात् दधदित्युभयसिद्धयर्थम्, तच्च लोपस्य नित्यत्वेऽपि तिष्ठतीति भावः । *माटय-
सवीति* । भवत्सम्मतपरिभाषया आटसतीत्यर्थः ।

ननु यदोयं परिभाषैव तदास्या अनित्यतायाद् “घोर्लोप” इति सूत्रस्य चाग्रहणं ज्ञा-
पकमिति । कैयटोक्तं विवक्ष्यत इतिशङ्कानिराकरणाय कैयटमते दूषयति—*एतेनेति* । एतेन
प्रत्याख्यानपरभाष्यप्रामाण्येन । एतेनेत्यस्यार्थं स्वयमेवाह—*प्रत्येति* । अनुपपरिभाषा-
विषय आह—*चक्षिष्ठ इति* । *अन्त इदित्वाभावेति* । “इदितो नुम् धातो” इतिसूत्रे
“गोः पादास्त” इति सुग्राह्यत इत्यनुवर्तितम् “हर इत्सेज्ञावाच्या” इतिवातिकल्पेकाररेकयो-
द्वयमिदंशमाश्रित्य प्रत्याख्याने च कृतमत प्रेरित्वातोनुमागमो वारितस्तत्पक्षान्निभावेने-
दम् । नच चक्षिष्ठित्यप्रेकारस्य स्थानेऽकारं पठित्वा नुमागमो वार्यताम्, एवं चेदित्वा
स्यासङ्कल्पनेन कस्य ज्ञापकत्वकल्पने नृप्यस्यार्थस्य अपाणिनीयत्वस्य दुर्वारत्वात् । इष्टा
पक्षिस्तु कर्तुमशक्या तद्वचनसाध्यस्य प्रयोगस्य असाधुत्वापत्तेः । सिद्धावलोकरनन्दायेन
द्वितीयपरिभाषाविषय आह—*तनादीति* ॥ ९८ ॥

तत्त्वप्रकाशिका ।

वेतिप्रत्याख्यातमिति । न च “घोर्लोपोलेटि वा” इतिसूत्रे चाग्रहणसत्त्वेऽपि दधात् दधत्
आगमशास्त्रस्यानित्यत्वाद् इतिरूपप्रत्ये चाग्रहणप्रत्याख्यानेऽपि रूपप्रथमिति कथं तदसङ्ग-
तिरितिवाच्यम् ।

चाग्रहणसत्त्वे दधात् इत्यन्तोदात्तमाधुनाचं च भवति प्रत्याख्यानेतु आधुनात्तमिति कल-
भेदेन प्रत्याख्यानासङ्गते । तथाहि—चाग्रहणसत्त्वे आटोऽभावे लोपामात्रे दधात् इतिरूपसिद्ध्या
“अनुदात्तेषु” इत्यस्य प्राप्त्यभावेन कन्तोदात्तलोपे आटि च “अनुदात्तेषु” इत्याधुनात्तमिति,
प्रत्याख्याने तु आटि दधात् इतिरूपसिद्ध्या आधुनात्तं प्रेति कलभेदः स्पष्ट एव ।

एवमेव—

आतिदेशिकमनित्यम् ॥ १९ ॥

सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिद्विविधिश्च बलवान् ॥ १०० ॥

इत्यादि भाष्यानुक्तं बोध्यम् ।

स्थायम्भुवमित्यादि लोकेऽसाध्वेवेति अन्यत्र विस्तरः ॥ १०० ॥

भैरवी ।

एषद्वनीयत्वसाधर्म्याद्वर्वाचीनपठिता अन्या अपि परिभाषाः खण्डयति—*एवमेवेति* ।
अनित्यमिति । “स्थानिवदादेशः” इत्येव सिद्धे “प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्” इतिसूत्रमा-
तिदेशिकताप्रत्ययस्य अनित्यत्वे ज्ञापकमिति तद्वद्वः । एतत्फलमुभये इति । अत्र स्थानिवद्भाष्ये-
न तत्पूप्रत्ययान्ततया विकल्पो नेति । *सर्वविधिभ्यो लोपविधिरिति* । अत्रापि “प्रत्ययलो-
प” इतिसूत्रमेव यावता विनानुपपत्तिस्तस्य सर्वस्य ज्ञाप्यत्वादिति न्यायेन ज्ञापकम् । अन्यथा
प्रत्ययलोपात् पूर्वमेव प्रत्ययनिमित्तकारण्यस्य सिद्धौ तद्वैषम्यमस्त्वेषेति तद्वद्वः । तेन कानि
सन्तीत्यादिप्रयोगाणां सिद्धिः । *इद्विविधेति* । अत्र ज्ञापकम्—“सनिग्रहगुहोश्च” इति सूत्रे
चकारकरणम्, तद्धि सुसूचितरूपतोऽप्यदाविष्मायाय, “अयुक्तः किति” इति सूत्रादुक्तोऽनुकर्ष-
णार्थं कृतम्, यद्वा इद्विविधत्वत्वं न स्यात् तदा तत्रेद्विभागमात्पूर्वं सनोऽसलादित्वात् “इको हल्”
इति क्तिपे श्रुत्युक्त इत्येषेणनिषेधे सिद्धे चकारवैषम्यं स्पष्टमेवेति । *इत्यादीति* । आदिप-
देन प्राचीनोक्तस्य क्रियाविशेषणानां कर्मत्वम्, तेषां ननु सङ्गत्वम् योगविभागसिद्धस्य बल-
वत्त्वम् क्रियाविशेषणबोधकास्तित्येकवचनान्तत्वमिति वचनद्वयस्य परिग्रहः । *भाष्यानुक्त-
मिति* । तथा चैतानि वचनानि निर्मूलानि अप्रामाणिकानीति आद्यः ।

ननु “आतिदेशिकमनित्यम्” इति उपनस्य यत् फलमुभय इत्यत्र स्थानिवद्भाष्येन तत्पू-
प्रत्ययान्ततया “प्रथमपरम” इति सर्वनामसंज्ञाया विकल्पो नेति तस्य का गतिरिति चेन्न,
अन्तरङ्गत्वेनाप्यः प्रत्ययान्तरत्वेन वा तत्र नित्यसंज्ञाया एव प्रवृत्तेः । “प्रत्ययलोप” इतिसूत्र-
नियामरताया एव भाष्यसम्मतत्वात् । यद्योक्तं “तानिग्रहगुहोश्च” इत्यत्र चकारकरणं ज्ञाप-
कमिति तत्र, अनुपपत्त्यर्थं चकाराणां भाष्ये प्रत्याख्यानान् ।

किञ्च तस्य चपद्वनस्य ज्ञापकत्वमपि न सम्भवति, “इको हल्” इत्यत्र हलवद्भाष्यात्, त-
द्धि यत्रेद्विभागमात्पूर्वमर्थम् । यद्वा इद्विभागमात्पूर्वं बलवत्त्वं न स्यात्, तदा सर्वत्रेद्विभागमात्पूर्वं
हलादिरवस्येन तद्वैषम्यं स्पष्टमेवेति । क्रियाविशेषणानां कर्मत्वादेपुंक्तिरिति तद्वत्त्वस्य अन्यत्र
स्पष्टतया न तत्र वचनापेक्ष, योगविभागस्य बलवत्त्वस्य योगविभागसामर्थ्यात् सिद्धम् ।

यदपि सर्वविधिभ्य इद्विविधत्वानित्यस्य फलमुक्तम्—“स्वपित्वा इति, अत्रेद्विभागमा-
त्पूर्वं यत्वाप्रत्ययस्य क्तिव्याप्तसम्प्रसारणे रुपासिद्धिरिद्विविधत्वस्येति पूर्वमितिः प्रवृत्तौ “न
क्त्वातेह” इति क्तिव्यतिषेधेऽनेन न सम्प्रसारणमिति, तदपि न, स्वपित्वेत्यत्र नित्यत्वात्
सम्प्रसारणस्य पूर्वमिद्विभागमात्पूर्वमिति क्तिव्यतिषेधस्य सिद्धत्वात् । न च “दादन्ततात् प्रा-
नुपपत्तौ विपश्चरित्यस्य” अभ्युपगमेनेदोऽनित्यत्वात् पूर्व सम्प्रसारणे दगन्तत्वेनेति निषेधः
स्यादिति वाच्यम् । “अयुक्तः” इति सूत्रे उपदेशवदसम्भवेनोपदेशो न दगन्तत्वात्तद्वैषम्यनिषेधात् ।
गुण इत्यत्र तु “कीदृशो निष्ठायाम्” इत्यनेन मिथः ।

ननु एवमुक्तवचनप्रयोजनानां स्वायम्भुवमित्यादीनां का गतिरिति आह—*स्थायम्भुवमि-
तत्त्वप्रकाशिका ।

अप्येते भागमन्ताद्यमनित्यमित्यस्य प्रवर्तनं इति चेन्न प्रवर्तनं एव नेति निषेधेन अत्येकस्मि-
न्त्येव कदाचिन्प्रवर्तनं न प्रवर्तनं इत्यर्थे इति प्रत्ययान्तस्य रूपप्रयासिद्ध्या तद्वत्प्रति-
पत्तिरेत्याहुः ॥ १०० ॥

यदपि ननु हन्तेर्यङ्लुक्पाशीलिङि वधादेशो न स्यादत आह—

प्रकृतिग्रहणे यङ्लुगन्तस्यापि ग्रहणम् ॥ १०१ ॥

पाष्ठद्वित्वस्य द्विः प्रयोगत्वसिद्धान्तेन प्रयोगद्वयरूपे समुदाये प्रकृतिरूप-

भैरवी ।

स्यादिति* । लोक इत्यनेन छान्दसानां तु बाहुल्यकृत्वात्सिद्धिरित्युक्तम् ॥ १९ ॥ १०० ॥

खण्डनीयत्वादेवाह—*यदपीति* । *न स्यादिति* । लिङ्प्रकृतेः समुदायस्य हनृरूप-
त्वाभावात् । *प्रकृतिग्रहण इत्यादि* । गृह्यते यस्मिन् तत् ग्रहणं प्रकृतेर्ग्रहणमिति समासः ।
एकदेशे ग्रहणात्त्वयं षष्ठ्यर्थविषयत्वस्य अन्वयः । तथा च प्रकृतिबोधकशब्दो यङ्लुगन्तस्यापि
बोधक इति फलितोऽर्थः । इयं परिभाषा न्यायसिद्धेत्याह—*पाष्ठद्वित्वस्येति* । *सिद्धान्तेनेति* ।

अयं भावः—पाष्ठे द्वित्वे द्विवचनरूपमेव उच्चारणवद्वाच्यहारेण तन्निरूपितकर्मपद्वीत्वस्यै-
काच इत्यगोचितत्वात् यस्य मते स्थाने द्विवचनं तेमापि “षष्ठीस्थान” इतिपरिभाषाबलात्
स्थानपदाभ्याहारेण तन्निरूपितसम्बन्धार्थकत्वं कल्पनीयमित्यङ्वाहारस्य उभयत्र तुल्यत्वात् ।

किञ्च स्थाने द्विवचने विधीयति तुष्टूपतीत्यत्र सनः सकारेण विशिष्टस्य ‘नटभाष्यावद्य-
क्षनामि भवन्ति’ इतिश्रवणेन द्विवचने प्रकृतिप्रत्ययविभागसम्मोहेन प्रत्ययावयवसकारस्य
पद्वे विधीयमानं न स्यात् ।

यदि च “पूर्वत्रासिद्धीयमद्विवचने” इति पत्रे कृते द्विवचनमिति विभाव्यते, तथापि सन्-
परत्वबुद्ध्याभावात् “अज्ञानगामाम्” इतिदीर्घत्वं न प्राप्नोति । न च कृते द्विवचने विधीयते
दीर्घत्वस्याप्राप्त्यानिवृत्त्य दीर्घत्वम्, द्विवचनमपि शब्दान्तरस्य प्राप्त्या अनित्यमिति परत्वा-
दीर्घत्वे सतो द्विवचनादेशे तस्य सिद्धिरिति वाच्यम्, एवमपि शुद्धपतीत्यत्र सकारविशिष्ट-
स्यादेशे सम्मोहेन “हः सम्प्रसारणम्” इति सम्प्रसारणाप्राप्तेः । यद्वित्वमन्यस्तीमविष्यत
इत्यर्थस्य द्वेजोऽभ्यस्तस्य इत्युच्यते नच ह्यतिमात्रमभ्यस्तमिति अभ्यस्तीमविष्यतो
ग्रहणे विशिष्यत इतिभाष्यसम्मतरनेन पूर्वं सम्प्रसारणमित्याश्रीयते, तथापि पिपक्षतीत्यत्र
सनः सकारेण विशिष्टस्य आदेशे सम्प्रत्ययबुद्ध्याभावात् “सन्वत” इतीत्वं न स्यात् । सूत्रे त्वने-
कारण्यो विहिते सन्निद्रिरिद्रिपतीत्यादौ चरितार्थम् ।

किञ्च पापचयत इत्यादौ सकारविशिष्टस्यादेशे यङ्परत्वबुद्ध्याभावात् “दीर्घोऽकितः” इति-
सूत्रे यङ्ग्रहणानुसृष्टिसामर्थ्येन द्वित्वनिमित्तकाङ्गावयवव्यासकार्यं कृतेऽपि द्विवचने विधान-
कालिकतत्प्रत्ययपरत्वं निमित्तोक्तस्य भवतीति कल्प्यते, तथापि संमोहेन एव जिघोसतीत्यत्र
कृत्प्रमायिद्रित्यत्र गिलोषः प्रतीपिपक्षतीत्यत्र एकस्य सन्परत्वबुद्धयभावात् “सन्वत” इतीत्वं
न स्यात् ।

न च “स्तौतिण्योः” इतिसूत्रेऽभ्यासादित्युपादानेन अस्य द्वित्वोत्तरमेवप्रकृतेस्तत्र
मन्परत्वबुद्धयभाव इति द्विवचनात् प्राग् यस्यानित्यान्यवयवान्यतरसम्बन्धिव्यवहारः स
द्विवचनान्तरमपि समुदायावयवे भवतीति ज्ञाप्यत इति न कोऽपि दोष इति वाच्यम् ।
शापकाद्यप्ये महागौरवात् । तस्माद्द्विः प्रयोगरूपमेवद्विवचनमित्याश्रयणीयम् ।
अस्मिन् पक्षे वेमिद्यशब्दाद्यन्तात् एव परभागादेकाचः परत्वादिश्रुतिपेधमाशङ्क-
काचोऽङ्गादित्युक्तं भाष्ये, एवञ्च “अचः परस्मिन्” इतिसूत्रे पूर्वविधावित्यत्र प्रत्य-
पिपक्षित्यत्र तुसुभावात्पाठस्य पञ्चमीसमासस्य आवश्यकतया वेमिदिता वेमिदिश्रुतित्यत्र
यस्यवशतोपस्य स्यानित्रज्ञायादिश्रुतिपेधमाशङ्कावपि विमित्तसतीत्यत्रैकाच इतीश्रुतिपेधो
न प्राप्नोतीति वाच्यम्, एकाचोऽङ्गादिति व्याख्यानेन समाधानम् ।

अयम्भावः—अङ्गत्वस्य विधावप्रतिषेद्धतया एकाचो विहितादित्यर्थेन दोषाभाव इति
वेमिदितेत्यत्र हि न एकाचो विधानं विमित्तमतीत्यत्र ऐकाच परेत्याशयः । एतच्च भाष्यम्

त्वयोघनेनेदं न्यायसिद्धम् । अत एव जुहुधीत्यादौ द्वित्वे कृते धित्वसिद्धि-

भैरवी ।

“एकाच उपदेश” इति सूत्रे उपदेशपदमनुदात्तस्यैव विशेषणमितिपक्षाभिप्रायेण, यदि च समुदाये वाक्यापरिसरामिरितिन्यायेन तदुत्तरभाष्योक्तरीत्या अङ्गत्वस्य प्रत्ययपरकसमुदाय एव विश्रान्तेर्भित्तिसतीत्यत्र दोष एवेति विभाव्यते तदोपदेशेऽनुदात्तादेकाचः श्रूयमाणादित्यर्थेनोपदेशपदस्योभयविशेषणत्वेन वा तत्रेदंप्रतिषेधो बोध्यः ।

न चैवमपि तस्यैव वारद्वयं प्रयोगात्परमागस्य तत्त्वेन सिपेधेत्यत्र सेधेत्यस्य पदसंज्ञायां “सात्पदाघोः” इतिपत्वनिषेधः स्यादिति वाच्यम् ? “सुसिद्धन्तपदम्” इति सूत्रे “यस्मात्प्रत्ययविधिः” इत्यस्यानुवृत्त्या दोषाभावात् । तथा हि “लिटि” इत्यस्य विषयसप्तमीत्वेन पूर्वं द्विवचने ततः समुदायाह्निद्विविधानेन यस्मात्सिद्धिविधानात् तदादितिङ्गन्तत्वस्य प्रथमसिधेः शब्दाद्यवयवकसमुदाय एव स्वीकारात् ।

न चैवं समुदायस्य भ्याद्विगणपठितत्वाभावेन क्रियावाचकत्वाभावेन च धातुत्वाभावात् ततो लिङ्ग सम्भवतीति वाच्यम् । लिटित्यस्य परसप्तमीत्वेऽप्यदोषात् । सिपेधेत्यत्र पत्वप्रतिषेधमाशङ्क्य तारेवसुतिष्ठौ यौ ततः परौ सैव प्रवृत्तिराद्या समुदायपदत्वमेतेनेति भाष्ये उक्तम् । “आगन्तूनामन्ते सन्निवेशः” इति न्यायेन द्वितीयोच्चारणस्यैव विधेयत्वम्, यतो विधाने, तत्त्वन्तु पूर्वभाग एव, उच्चारणक्रियाया एव भेदे, न तु उच्चार्यमाणस्येतिप्रथमस्यैव तत्त्वम् ।

न चैवं जरेतीत्यत्र दीर्घत्वे न स्यात्, हाधातोर्द्वित्वेऽभ्यासात्परत्वाभावात् क्लृप्त्वात् “दीर्घोऽक्तिः” इत्यग्राक्षिपदे लाघवात् कर्मधारस्य सत्त्वात्, स्थाने द्विवचनपक्षे तु कश्चिदनुबन्धकाध्यैऽपि “अनखिपधौ” इतिप्रतिषेधस्य वनादेशस्य “ज्ञानचः शिष्टेन ज्ञापकेन स्वीकारात्, समुदायस्य स्थानित्रस्तेनावित्वादीर्घत्वे सिध्यतीति वाच्यम्, वनीयग्रीत्यस्य भिन्नार्थं नविद्यतेकिमस्येति बहुव्रीहेरेवाश्रयणात् । न च द्विःप्रयोगपक्षेऽभ्यासस्यैव प्रवृत्तिराद्येतिपूर्वोक्तरीत्या तत्स्वीकारात् स्थितस्यार्थस्य शब्दार्थस्य सम्यग्व्यस्य नित्यत्वात्समागमात्पेन “नानर्थक्योऽन्त्यविधानभ्यासविकारे” इति परिभाषायामनभ्यासविकार इत्युपादानमनर्थकमिति वाच्यम्, “दयतेर्दिगि लिटि” इति सूत्रे “भार्द्धधातुक” इत्यस्य परसप्तमीत्वपक्षे वास्तेर्लेटि द्वित्वे परस्य भूभावे पूर्वस्य अवज्ञे प्राप्नोतीति भाष्ये उक्तं, तत्प्रमाप्येन परस्यार्थवत्त्वमवश्यं स्वीकर्तव्यं प्रत्ययप्रागुक्तित्वाच्च तथा स्वीकार्यम् । अर्थस्य भानग्र वारद्वयं नास्ति “तस्य लोपः” इति सूत्रेऽभ्यासस्यानर्थकत्वाभिप्रायेण परिभाषायामनभ्यासविकार इत्युक्तमतः पूर्वभागेऽनर्थक्यप्रथमस्यन्यन्यत्वस्यैव न, किन्तु स्वप्रवृत्तिकप्रत्ययजन्यद्विवचनविन्यासरमागप्रतिषेधाद्यर्थोपपत्त्यवकाशस्यैव परिभाषायामनर्थक्यं प्रतिषेधकाभावरविशिष्टार्थोपपत्त्यवकाशवत्त्वमावश्यकमेव निरेक्ष्यते, स च विशिष्टाभावाः कश्चिद्विशेषणाभावात् कश्चिद्विगोप्याभावादेवदोषात् ।

केचिन्-परिभाषायामनभ्यासविकार इत्युच्यते क्रियावाचित्वे समुदाय एवेति तत्र उत्तरात्तद्व्यादित्वाभावेऽभ्यासमात्रादर्शबोधो न बहुतु स्वप्नेषु इति तस्यानर्थक्यव्यवहारः उत्तरात्तद्व्यस्य तु प्रत्ययप्राग्वर्तितः केवलभ्यापि अर्थवत्तायाः पेषणुरित्यादी दृष्टेरेव तदुदाहरणं भर्त्रोत्तरात्तद्व्यवर्तयत्ताया उचितत्वात् ।

यमपि यातिरिवमत्र केवलपूर्वभागस्याप्यर्थरक्षे दृष्टम्, तथापि कश्चिद्विधानित्यत्र प्रत्ययमात्रस्य अर्थरत्नं दृष्टमिति न भर्त्रे प्रत्यय एव बोधकः प्रतिवृत्तिरनर्थिकेति कल्प्यते । अत्रितु बभूवोरपि तथा, तथात्रापि पूर्वभागमात्रस्यार्थबोधकत्वस्य दर्शनेऽपि तत्रैव मेकं कल्प्यत इति रिक् । *दृष्टम्* । परिभाषायां वचनम् । *मत एव* । प्रयोगद्वयमुदाये प्रवृत्तिरूपस्य-

रिति तदपि न, भाष्येऽदर्शनात् ।

किञ्च, तेन सिद्धान्तेन प्रत्येकं द्वयोस्तत्त्वबोधनेऽपि समुदायस्य तत्त्वबो-
धनेऽपि समुदायस्य तत्त्वबोधने मानाभावः । अत एव “द्वयतेर्दिग्” (७-
४-६) इति सूत्रेऽस्तेः परत्वाद् द्वित्वे कृते परस्यास्तेर्भूभावे कृते पूर्वस्य
अवयवं प्राप्नोतीत्याशङ्क्य विषयसत्त्वस्याश्रयणेन परिहृतं भाष्ये । अन्यथा त्वदु-
क्तरीत्यैकाङ्गद्विर्वचनन्यायेन समुदायस्यैव आदेशापरत्वात् तदसङ्गतिः स्प-
ष्टैव । तस्मादुत्तरखण्डमाद्यैव यथायोगं तत्तत्कार्यप्रवृत्तिर्वोधा । “भू-
सुवोः” (७-३-==) इत्यस्य तदन्ताङ्गस्येत्यर्थात् प्राप्तस्य गुणनिषेधस्य
योभूत्विति नियम इति न तद्विरोधः । तस्मादन्तेर्यङ्गलुकि वक्ष्यादित्यादि
साध्याद्युदाहृतं ध्वन्यमेवेत्यन्यत्र विस्तरः ॥ १०१ ॥

यदपि ननु “बुद्धिर्यस्याच्चाप्रादिः” (१-१-७३) इत्यत्रेकपरिभाषोप-
दिशतो शाखोपापसिद्धिरत आह—

विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे ॥ १०२ ॥

भैरवी ।

कारादेव । *अदर्शनात्* । प्रयोगद्वयस्य प्रकृतिरूपत्वेन कार्प्यस्यादर्शनात् ।

पूर्वोक्तसिद्धान्तदर्शनमात्रेण तादृशसमुदाये तत्त्वमित्यस्य लामोऽपि नेत्याह—*किञ्चेति* ।

तत्त्वम् । प्रकृतिरूपत्वम् । *अत एव* । प्रत्येकं प्रकृतिरूपत्वसत्त्वादेव । *अन्यथा* ।

समुदायस्य प्रकृतिरूपत्वस्वीकारे ।

ननु यथा समुदायस्य तत्त्वं तथा प्रत्येकमपि तत्त्वमिति कदाचित्तस्यापि स्यादिति विप-
यसत्त्वस्याश्रयणसाधकमेवेत्याह—*एकान्निति* । *तदसङ्गतिः* । तादृशसमाधानस्यास-
ङ्गतिः । शुद्धीत्यादेरुपपत्तिमाह—*तस्मादिति* ।

ननु उत्तरखण्डादेरङ्गत्वाभावे “भूसुवोः” इति सूत्रबोध्यगुणामावस्य योभूत्वित्यत्राप्राप्तौ
“दापत्तौ” इति सूत्रे योभूत्वितिनिपातने विषयमेव भविष्यतीति लोभ्येतेत्येव नियमार्थं
निपातनमितिभाष्यकारीयकथनासङ्गतिरत आह—*भूसुवोरिति* । *तदन्ताङ्गस्य* । भूत्व-
ताङ्गस्य । अगुणस्य गुणनिषेधस्य । *तद्विरोधः* । नियमार्थं निराकरणमित्येतत्कथनविरोधः ।
तस्मात् । समुदायस्य प्रकृतिरूपत्वाभावात्, परिभाषाया अभावाच्च ॥ १०१ ॥

अत्रोक्तसत्त्वस्यैवार्थेनाह—*अदर्शनात्* । *परिभाषोपतिष्ठति* । गुणरहितस्यैव

तत्त्वप्रकाशिका ।

समुदायस्यैवादेशापरत्वाविति । नच “आर्द्धधातुक” इत्यनेन तदाद्युपस्थित्यर अस्त्ये-
नद्वयः तदादितद्वययो यो निर्दिश्यमान आर्द्धधातुकव्यवहितपूर्वश्च तस्य भू इत्यस्तेर्भूत्वित्य-
स्यार्थेन परस्यैव भूरादेशो न पूर्वस्य आर्द्धधातुकपरकत्वाभावादितिपरस्य भूभावे कृते पूर्वस्य
अवयवप्राप्नोतीतिभाष्यं सङ्गतमितिपरस्यैवाधेयत्वमित्येतदुपाप्यं कथं गमकं “आर्द्धधातुक”
इत्यस्य परसत्त्वस्याश्रयणेन एतद्भाष्यप्रवृत्तेरिति वाच्यम् । “नानर्थश्च” इतिपरिभाषायां “अन-
भ्यासविकार” इतिपुनरासत्यैवोत्तरखण्डस्यैवाधेयत्वमित्यत्र गमकत्वात् । अन्यथा अभ्यास-
स्याप्यधेयत्वेन “अलोन्त्यस्त्व” इत्यनेनैव विभेतीत्यादिलक्ष्यमिदौ तदसङ्गतिः स्पष्टैव ॥ १०१ ॥

विधौ परिभाषोपतिष्ठते नानुवादे । परिभाषया प्रधानविषयसंस्कारे कर्तव्ये यावती
परम्परा नाप्राप्ता ततोऽधिकपरम्परा परिभाषाप्रवृत्ति न प्रयोजयति । तथा च—“यद्यप्यन्यथा”
इति परिभाषया विधिसंस्कारे कर्तव्ये स्वोपस्थाप्यर्थस्य “इकोऽयमिति” इत्यादौ धारिताद्योऽन्

अनूद्यमानविशेषणेषु तन्नियामकपरिभाषा नोपतिष्ठते इति तदर्थः । विध्यङ्गमूतानां परिभाषाणां विधेयेन अतिवृत्तया सम्बन्धासम्भवेऽपि तद्विशेषणेषु व्यवस्थापकत्वेन चरितार्थानां तद्विशेषणव्यवस्थापकत्वे मानाभाव इति तर्कमूलेयम् ।

किञ्च "उदीचामातः स्थाने" (७-३-४६) इति सूत्रे स्थाने ग्रहणमस्या लिङ्गम् । अन्यथा "पद्योस्थाने" (१-१-४६) इति परिभाषयैव तल्लोभे तद्वैभैरवी ।

यत्रोच्चार्यते तत्रेक इति पदमुपतिष्ठत इत्यर्थेन तस्य पष्ठान्तस्य तत्रोपस्थितौ "वृद्धिर्यस्य" इति सूत्रजन्यो महावाक्यार्थबाधो यस्याचामादिरिकः स्थाने वृद्धिस्तद्वृद्धमिति स्यात्तदा शास्त्रीयापसिद्धिः स्यादिति भावः । 'विधौ परिभाषोपतिष्ठत' इत्यत्र, विधावित्यस्य नियामिकेति शेषः । विधिपदस्य विधेयविशेषणे लक्षणा, तथा च विधेयविशेषणनियामिका परिभाषा भवतीति फलितम् । ननु विधिपदे विधिसूत्रपरम्, सर्वासां परिभाषाणां विधिसूत्राद्गतायाः सिद्धत्वादेतत्परिभाषाया एव व्यर्थत्वापत्तेः । नानुवाद इत्यत्रानुवादपदमनूद्यमानविशेषणे खाक्षणिकं तदाह—*अनूद्यमान इत्यादि* । न च "इको यणचि" इत्यादिसूत्रे अनूद्यमानमिक इति तस्य विशेषणमर्चोति तन्नियामिका तस्मिन् इतिपरिभाषा भवतीति कथमेतदिति वाच्यम्, अनूद्यमानविशेषणनियामिका परिभाषा न भवतीत्यस्यार्थः । "इको यणचि" इत्यादावर्चोत्थादनूद्यमानस्येक इत्यादेर्विशेषणं, तत्स्वनूद्यमानविशेषणमित्यनूद्यमानविशेषणनियामिका "तस्मिन्निति निर्दिष्ट" इतिपरिभाषा भवत्येवमारम्भसामर्थ्याच्चैवं कल्प्यते । वृद्धिर्यस्य इति सूत्रे इत्परिभाषोपस्थितौ तु इत्स्थानिकादिदृष्टव्यवयवकाश्चसमुदायावयवकसमुदायस्य वृद्धिमन्त्रेयार्थः स्यात् । तथा च वृद्धिपदार्थस्यौपगवीय इत्यादावनूद्यमानौपगवेतिसमुदायविशेषणत्वात् समुदायस्य वृद्धिरेषणं वृद्धिस्तन्नियामकत्वमिक्परिभाषाया इति तत्र नानुवाद इति निर्दिष्टो भवत्येवेति भावः । विधेयविशेषणनियामकत्वे तु "पद्योस्थाने" इति परिभाषाया "इको यणचि" इत्यादौ प्रसिद्धमेव, तेन सूत्रेण विधेयस्य यण इत्स्थानिकस्यैव साधुत्वमोचनात् । पूर्वोक्तस्य परिभाषापदकदलद्वयार्थस्य युक्तिसिद्धत्वमित्येतद्वर्णयति—*विध्यङ्गमूतेति* । अङ्गत्वमुपकारकत्वम् । "तस्मिन्" इत्यादिपरिभाषाविषय आह—*विधेयेनासिद्धतपेति* । यथा "इको यण" इति सूत्रविधेयो यण तद्विशेषणत्वमर्चोत्यस्य न सम्भवति यण असिद्धत्वात् । *तद्विशेषणेति* । विधेयविशेषणे अनूद्यमाने इक इत्यादौ तत्र व्यवस्थापकत्वे चारितार्थ्यम् । तादृशविधेयविशेषणस्येक इत्यस्य वृद्धिरेषणमर्चोति तन्नियामकत्वे तद्विशेषणाव्यवस्थापकत्वमित्यस्य विधेयविशेषणानूद्यमानविशेषणनियामकत्वं भवत्येवेति फलितम् । *तद्विशेषणेत्यादि* । अनूद्यमानविशेषणव्यवस्थापकत्वमित्यर्थः । न च "वृद्धिर्यस्य" इत्यत्र वृद्धेर्नानूद्यमानसमुदायनिरूपितसाक्षाद्विशेषणत्वमिति कथमेतदिति वाच्यम्, विशेषणविशेषणत्वस्य साक्षात्परम्परामाचारस्य विरहितत्वात् परिभाषाया विध्यङ्गत्वमुपकारकत्वं तद्वानूद्यमानविशेषणविशेषणनियामकत्वेऽपि सम्भाव्येति भावः । *तर्कः । व्यापः ।

अस्या व्यापमिद्वदेऽपि ज्ञापकमाह—*किञ्चेति* । न चात इत्यस्यानूद्यमानविशेषणत्वमेव न त्वनूद्यमानविशेषणत्वमिति ज्ञापकत्वमस्मात् इति वाच्यम्, *धृतानुमितयोः धृतमन्त्रयोः धर्मीयान् इतिवाच्येनात इत्यस्य सकृद्विशेषणत्वं तस्य वाच्यत्वादर्थविशेषणत्वमन्त्रेति ज्ञापकत्वमस्मात्, अतः स्यान्निरवयविदिष्टवकृत्वंविदिष्टाभिधौ तत्त्वप्रकाशिता ।

"उदीचामातः" इत्यादौ तदधिकारस्वरूपोत्कारकत्वे उपरूढौ स्थाने पदम् । "तस्मिन्" इति परिभाषोपस्थाप्यैव विधिर्यस्यैव कर्त्तव्ये उद्देश्यमात्रपठिता परम्परा प्राप्तेति "अतो-

एतेन क्रियान्वयित्वं कारकत्वमित्यपास्तम् । "यस्य च भावेन" इति सप्तम्या अपि क्रियान्वयित्वात् । ये तु प्रधानीभूतक्रियासम्बन्धनिमित्तकार्यभावेन कारकविभक्तीनां बलवत्त्वं वदन्ति, तेषामुपरोपि क्रियासम्बन्धनिमित्तकत्वेन तदसङ्गतिः स्पष्टैव । एतेन "नमो वरिवः" (३-१-१९) इति सूत्रे नमस्यति देवानित्यादौ चतुर्थीवारणाय भाष्य उपन्यासस्यासङ्गतिश्च ।

एतेन क्रियाकारकसम्बन्धोऽन्तरङ्ग इति तन्निमित्ता विभक्तिरन्तरङ्गोपपदार्थेन तु यत्किञ्चित् क्रियाकारकभावमूलकः सम्बन्ध इति तन्निमित्ता बहिरङ्गेऽप्यास्तम् । नमस्यतीत्यत्र नमःपदार्थेऽपि क्रियाकारकभावेनैवाऽप्यास्तम् । अत्र च नमःपदार्थस्यापि क्रियात्वं मुण्डयत्तौ मुण्डस्येव । "सहयुक्ते"

भैरवी ।

विसप्तम्याः कारकविभक्तित्वापत्तेः । गोपदार्थे यद्गुह्यात्वर्यं कलाभयत्वं तत्र क्रियान्तरान्वयित्वस्याप्रयोजकत्वात् नमस्करोति देवान्नमस्यति देवानित्यत्रानेन न्यायेन देवपदाद्यनुधीवारणपरभाष्यविरोधापत्तेश्च । अत्राप्ये नमः पदस्य श्रोतृकृत्या कृपातोरेव स्विनपट्टत्वप्रकारज्ञानानुगुण्यापारोऽप्ये इति कृपात्वाधान्वयित्वेनैव चतुर्थीप्राप्तिर्वाच्या, द्वितीये नमस्यभात्वर्थेऽस्वपविबक्ष्यैव तत्प्राप्तिरित्युभयत्र क्रियान्तरान्वयप्रयोज्यक्रियान्वयित्वं न चतुर्थीप्राप्तिप्रयोजरमिति चतुर्थ्यां दुर्बलत्वस्य अवदुकस्याभावात् ।

प्राचामुक्तिं खण्डयति—एतेनेति* । एतेन वक्ष्यमाणप्रसारेण । तं प्रकारमेवादह—यस्य एव भारेनेतीति* । प्राचीनान्तरोक्तं कूपयति—येस्विति* । *उभयोरपि* । गोपु दुष्प्रमानासु गत इत्यादौ सत्सम्बन्धधिकरणसंस्थयोः । *तदसङ्गतिः* । "तत्र च दीयत" इति सूत्रस्य भाष्यासङ्गतिः । *एतेन* । "नमोवरिव" इति सूत्रस्य भाष्यविरोधरूपरोपेण । दोषान्तरमाह—*नम इत्यादिना* । *असङ्गतिश्चेति* । नमस्यपदार्थे देवपदार्थस्य क्रियाकारकभावसम्बन्धेनान्वयादेवोभयोः प्राप्तिरितिचतुर्थीद्वितीयायोः समत्वादस्य न्यायस्य गजदुकरीत्या प्रवृत्तिर्न स्यादिति भाष्यासङ्गतिरिति भावः । एतेन यत्र एकस्या एवोपपदविभक्तित्वं कारकविभक्तित्वञ्च सम्भवति तत्रास्य न्यायस्य प्रवृत्तिरिति यत् कस्यचित्कथनं तदपि निरस्तम् । "नमोवरिव" इति सूत्रस्योक्तभाष्यविरोधात् "सहयुक्तेऽप्रभावः" इति सूत्रस्याप्रधानग्रहणप्रत्याख्यानपरभाष्यविरोधापत्तेश्च । कैयटोक्तिं खण्डयति—एतेनेति* । *अन्तरङ्ग इति* । एतादृशसम्बन्धे विना पदार्थान्तरस्यान्वयबोधो न भवतीत्यतोऽन्तरङ्गत्वमिति भावः । *तन्निमित्तेति* । सः क्रियाकारकभावसम्बन्धो निर्मलं यस्या सा अन्तरङ्गा यत्किञ्चित् क्रियाकारकभावमूलकसम्बन्ध इत्यनेन पूर्वापेक्षया बलक्षयं ध्वनितम्, तत्र क्रियाकारकभाव एव सम्बन्धो न तु तन्मूलक इति यथा राज्ञः पुरुष इत्यत्र पुरुषनिष्ठस्य राजपदार्थनिरूपितस्वस्वामिमायात्मकसम्बन्धस्य क्रयणपोषणादिक्रियाकर्मभावो निमित्तं तद्वत् । *अन्वयादिति* । देवादेरित्यादिः ।

ननु नमः पदस्य नामत्वेन तदर्थस्याक्रियात्वात् तत्र क्रियाकारकभावसम्बन्धेन अन्वय इत्यनुपपन्नमत आह—*अत्रवेति* । नमस्यतीत्यत्रेत्यर्थः । *मुण्डस्येरेति* । यथा तत्र गिजन्तस्य धातुत्वात् तद्घटकमुण्डशब्दार्थस्य क्रियात्वं तथा नमस्यतीत्यत्र क्यजन्तस्य धातुत्वात् तद्घटकनमः पदार्थस्य क्रियात्वमिति भावः ।

यच्च "नम स्वस्ति" इति सूत्रे स्वस्तिसाहचर्येण स्वरादिपठितनमः पदस्य योगे चतुर्थी नमस्यतीत्यत्र तु नमः शब्दस्य गतित्वमूर्धोत्तित्वादित्यस्य श्रोतृकत्वमेव क्यप्रत्ययमात्रस्य कृष्णवर्ण्युत्पत्तिमिति कृष्णंनिरूपितकर्मत्वादेव देवपदाद्द्वितीयायाः सिद्धौ नात्र "उपप-

(२-३-१६) इत्यादौ च प्रधाने प्रथमासाधनार्थमियं भाष्य उपन्यस्तेत्यन्यत्र विस्तरः ॥ १०३ ॥

नन्वदमुयङ्ङित्यादौ पूर्वस्यापि मुत्वापत्तिरत आह—

अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य ॥ १०४ ॥

अन्यसदेशानन्त्यसदेशयोरेकप्रयोगे युगपत् प्राप्तावन्यसदेशस्यैवेति तदर्थः । अन्यथा धात्वादेर्नत्व सत्ये नेता सोतेत्यादावेव स्यातां न तु नमति सिञ्चतीत्यादौ । अनन्त्यविकार इति च लिङ्गम् । अन्येन समानो देशो मैत्री ।

द्विभक्तेः इतिन्याययोग इति सप्र, नमस्करोति देनानित्यत्र मुनिग्रवं नमस्कृत्येत्यत्र च तथा यद्यपि वक्तुं शक्यं तथापि नमस्यतीत्यत्र प्रत्ययमात्रस्य वाचकत्वं भाष्यकारासम्मतत्वाद्भक्तुमशक्यमित्येतदर्थमुपपद्विभक्तेरित्यस्यावश्यकत्वात् ।

यदि अत्र मनः पदस्य वाचकता न स्यात्तदा “नमोवरिव” इतिसूत्रभाष्ये चतुर्थीवारणायैतस्याः परिभाषायाः प्रवृत्त्युपपादनं विरुध्यतेति स्पष्टमेव । यत्र तु विष्णवे नमस्कृत्यादित्यादौ चतुर्थी ह्रस्वगते तत्र “क्रियार्थोपपदस्य” इतिसूत्रेण सत्योपपत्तिः काप्येति दिक् ॥ १०३ ॥

पूर्वपरिभाषायां धावनिकत्वमुक्तं तस्माज्जात्यादयामपि वाचनिकीं परिभाषां वक्तुमुपक्रमते—*अन्यदमुयङ्ङित्यादाविति । अनन्त्यविकार इत्यादि* । अनन्त्यविकार इत्यस्यानन्त्यत्वविकारो येन शाब्देन सन्नेत्यर्थः । *अन्यसदेशस्य* । अन्येन समानो देशो यस्य तस्येत्यर्थः । सत्यं वाक्यमस्ति वाचके साधारणमिति न्यायेन सम्प्रमर्शमाह—*अन्यसदेशस्यैवेत्यर्थः इति । तदर्थः* । यच्चनघटकस्यानन्त्यसदेशस्येत्यस्यार्थः । अन्यथा अनन्त्यसदेशानन्त्यसदेशयोर्युगपत् प्राप्तावित्यस्यानङ्गीकारे ।

अनु अनन्त्यसदेशस्येत्येवास्तु तावतीवोक्तार्थलाभात् अनन्त्यविकार इत्यस्यैव वैयर्थ्यमत आह—*अनन्त्यविकार इतीति । “अनन्त्यसदेश” इत्यत्र भाष्यकारीयवचनप्रामाण्यात् मननसत्त्वप्रकाशिका ।

अन्यत्र विस्तर इति । परे तु “उपपद्विभक्तेः कारकविभक्तिर्वैलीयमा” इति समानानुपूर्वीकम्परिभाषाद्वये, तत्र “तत्र च दीयत” इति कैयटोक्तपरिभाषायां कारकविभक्तित्वं लोकोक्तमेव, तत्र बीजन्तु “तस्मिन्” इतिपरिभाषोद्देश्यान्यथानुपपत्त्या यत्र कारकविभक्त्यर्थे उपपद्विभक्त्यर्थे च सन्नेहः तत्रापि प्रमाणान्तरे कारकविभक्त्यर्थे एव सात्त्विकमवधारणीयमिति । तथाच—“इयामयानत” इति परिभाषाशेषम् । “सहयुक्त” इतिभाष्योक्तपरिभाषा तु प्रधानन्यापगृह्या, तथाच तत्र कारकविभक्तित्वं प्रधानोभूतार्थनिमित्तकविभक्तित्वम् ।

अत एव अप्रधानप्रत्ययान्न “सहयुक्त” इतिसूत्रस्य सङ्गच्छते । अन्यथा पुत्रेण महागत्तस्य वितुर्धनमित्यादौ पट्टाः मूलोक्तकारकविभक्तिस्त्वामात्रेण विवृणोति तत्र तृतीयाधारणाया अप्रधानप्रत्ययस्यावश्यकत्वेन तदसङ्गतिः स्पष्टेव ।

अत एव राज्ञः पुत्र इत्यादौ प्रतियोगिवाचकादेव पक्षी नानुपोगिवाचकात् । अनेन न्याय्येन अनुपोगिवाचकादिभिरनन्तरस्य सिद्धत्वात् । अथ नमम्यति देवान् नमस्करोतिदेवानित्यादौ धात्वर्धेऽत्र एवाव्ययविशेषायां द्वितीयावधौ प्राप्या भाष्योक्तमेतत्परिभाषायाव्ययगोचरस्य सप्तम्यङ्गित्यादिति वाच्यम् । अतएव विशेषोऽप्यवस्थावत् इतिन्यायेन कर्मण्यङ्गावर्धकृत्पदस्येव द्वितीयायां कर्तृनिष्ठत्वापारम्भादि प्रयोगवत्येन प्रधानोभूतार्थनिमित्तकविभक्तिरव्ययकारकविभक्तिरव्यय द्वितीयायामेव सत्त्वात् इत्याहुः ॥ १०३ ॥

*अन्यत्रविकारइति च लिङ्गम् । अन्यत्र विकार

यस्य सोऽन्त्यसदेशः । तत्त्वं च अन्त्यवर्णतद्वर्णयोरितराव्यवधानेन बोध्यम् ।
अत एव विद्वद्भिरुच्यते “न सम्प्रसारणे” (६-४-१३४) इति चरिता-
भैरवी ।

शब्दस्य सोदेशो बहुषीद्विषयः ।

ननु अत्रदेशपदेनाकाशस्य प्रयोगस्य कालस्य वा ग्रहणं कर्तव्यम् । सर्वथा पक्षद्वये स्पूल-
कालमादाय तृतीयेऽप्यनुपपत्तिरत्र दोषस्तदवस्थप्रेत्यत आह—*तत्त्वञ्चेति । अन्त्यसदेश-
त्वञ्चेत्यर्थः । *तद्वर्णः* । तत्तच्छब्दविषयकार्यप्रवृत्तियोग्यवर्णः । इतरेण अव्यवधानमित्यत्र
इतरपदे तत्तच्छब्दविषयकार्यप्रवृत्तियोग्यताक्रान्तपरम् । एवञ्च अत्र अन्त्यपदश्रवणेन यावता
कालेन उभयोरव्यवधानेनोच्चारणं सम्भवति तावान् कालो देशपदेन विवक्षितः इतरेण उभ-
वधानयोग्यकालव्यावृत्तये इतराव्यवधानेत्यस्य कथनम् । *अत एव* । इतराव्यवधानेत्यस्य
उपादानादेव तदनिवेशे सर्वत्रैवेत्यपरिभाषाप्रवृत्तौ विद्वद्भिरुच्यते तदवधानेन परिभाषया आद्यवर्ण-
व्यावृत्तौ सिद्धायां “न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्” इतिसूत्रवैयर्थ्योपपत्तिः । तन्निवेदे तु विद्वद्-
भिरुच्यते अन्त्यवर्णो धकारस्तद्वर्णो यस्मात्स्तरयोः इतरेणाकारेणव्यवधानादस्याः परिभाषया
अप्रवृत्त्या प्रथमस्य धकारस्य सम्प्रसारणव्यावृत्तये “न सम्प्रसारणे” इतिसूत्रं सार्थकम् ।
एवञ्चेतराव्यवधाननिवेदे “न सम्प्रसारणम्” इतिसूत्रमेव शापकमिति बोध्यम् ।

तथा च—अन्त्यवर्णतद्वर्णयोरितरेणाव्यवधानमनन्त्यविकारश्च यत्रास्ति तत्र अन्त्यसदेशस्ये-
त्युपपत्तिरिति सिद्धम् । न चाद्वि अत्र इति स्थितेऽन्त्यवर्णकाररेफोरितराव्यवधाने
ऽप्यन्त्येकारद्वययोरेकैक व्यवधानादद्वयत्वेन स्यादिति वाच्यम्, इत्यपदार्थस्य न कञ्च-
द्विषेयकार्योद्देश्यत्वानाक्रान्तस्वरूपेण निदेशाद्वैकस्यापि तच्छब्दविषयकार्योद्देश्यतया
सादृश्येतराव्यवधानसत्वेनादोषात् । यत्कील्लभ्यत इत्यत्र तु अन्त्यवर्णः पकारस्तद्वर्णोरेफो

तत्त्वप्रकारिका ।

तस्मिन् अनन्त्यविकारे अन्त्यवृत्तिविकाराप्रयोजक इत्यर्थः । यत्किञ्चित्समुदायविशिष्टे
शास्त्रे अन्त्यसदेशस्येत्युपपत्तिरिति यावत् । वैः स्वाऽन्त्यवृत्तिविकाराप्रयोजकत्व-स्वाऽन्त्य-
सदेशानन्त्यसदेशोमपवृत्तिविकारप्रयोजकत्व स्वनिरूपितावयवत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकत्व-
स्वनिरूपितावयवत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकत्व एतन्नितयसम्बन्धेन, अत्र प्रथमसम्बन्धदानेन
“सुपो धातु” इत्यादौ नास्या उपस्थितिः, द्वितीयसम्बन्धदानेन “जो न” इत्यादौ नास्या
उपस्थितिः, तृतीयसम्बन्धदानेन नमनेनेता इत्येतद्वत्कनमनेन इति समुदायमादाय “जोन”
इत्यादावेव नास्या उपस्थितिः, अत्र हि इत्येतस्समुदायमादाय “अदसोसे” इत्यत्र वैशिष्ट्यस्य
सत्त्वात् । तत्रान्त्यसदेशस्येत्युपस्थित्या अदसुयजित्यादौ न दोषः । नच पूर्वोक्तिं शालाङ्गि अत्र
इत्येतस्समुदायवैशिष्ट्यस्य निरुक्तसम्बन्धप्रयोगे “सुपो धातु” इत्यादौ सत्त्वेन तत्रान्त्यवदे-
स्येत्यस्योपस्थितौ अनन्त्यमुपो लुगनापत्तिरिति वाच्यम् । यत्किञ्चित्समुदायविशिष्टे शास्त्रे
अन्त्यसदेशस्येत्युपपत्तिरिति स्थित्येवमिति बोध्यम् । वैः स्वावच्छिन्ननिरूपितान्त्यववद्वृत्ति-
विकाराप्रयोजकत्व स्वावच्छिन्नान्त्यसदेशानन्त्यसदेशोभयवृत्तिविकाराप्रयोजकत्व स्वाच्छि-
न्ननिरूपितावयवत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकत्व एतन्नितयसम्बन्धेन, रूपञ्च अदःशब्दत्वधा-
तुत्वप्रातिपदिकत्वादिकं प्राच्यम्, तथाच—स्वावच्छिन्नं यद्वाजन् कस्य पुरुर सु इति तदन्तवृत्ति-
विकाराप्रयोजकत्वमेव “सुपो धातु” इत्यस्येति न दोषः । नच अदःशब्दत्वावच्छिन्नं यद-
दावित्यादि तदन्तवृत्तिविकाराप्रयोजकत्वमेव “अदसोसे” इत्यादेरिति अदसुयजित्यस्या-
सिद्धिरिति वाच्यम्, दस्य म इतिशाब्दे अदः शब्दत्वरूपवैशिष्ट्यमन्तेन तत्रान्त्यसदेशस्यो-
पस्थितौ अनन्त्यसदेशाकारस्य सत्त्वाप्रवृत्तौ सन्नियोगसिद्ध्यर्थेनोत्त्वस्यावयववृत्तेरिति दिक् ।

इतराव्यवधानेनेति । नच हंसशिरोसीत्यादावन्त्यतद्वर्णयोरनकारव्यवधानसत्त्वादिदम्-

र्यान्प्रेतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि तदर्थमेवा कर्त्तव्या प्रतिविधेयं दोगे.

भैरवी ।

सारणम्" इतिसूत्रमुक्तरीत्याकार्यमेव । "सान्तमहत्" इत्यत्रापि न दोषः सर्वनामस्थाने इत्यस्य सान्तसंयोगविशेषणत्वात् । नानस्तद्व्यत्ययापि न दोषः असर्जनामस्थानयजादित्वादिप्रत्ययस्यानुविशेषणत्वात् न्यसाङ्गित्यत्रादोऽपि वृद्धिर्मृजेरिति । न भविष्यति "इको गुणवृद्धी" इति परिभाषयेक इत्यस्य तत्रोपस्थितिस्वीकारात् विदुष इत्यत्रापि निर्दिश्यमानपरिभाषया दोषाभावसम्भवात् । एते प्रकारेण अन्यथासिद्धिप्रदर्शने कुंशश्च प्रत्ययस्याङ्गाकारक्षोत्थिता अनार्यो न तस्य निराकारक्षतयोपस्थाप्याकारक्षथा सम्बन्धकल्पनमेवेति । न च निमित्तत्वेन आश्रितस्य प्रत्ययस्याङ्गविशेषणत्वञ्चेत् "सान्तमहत्" इतिसूत्रस्य सर्जनामस्थानपरं यदङ्गं तस्यावयवो यः सान्तसंयोगावयवनकारात्पूर्वोऽप्यु तस्य दीर्घ इत्यर्थः स्यात्तथा च ईस इत्यत्रापि दीर्घत्वं प्राप्नोतीति वाच्यम् । संयोगग्रहणस्यावृत्त्या प्रत्यासत्त्याधयेन च यत्सान्तसंयोगान्तमङ्गं तस्य संयोगस्यावयवो यो नकारस्ततः पूर्वस्यास्य इत्यर्थाधयणेमादोपात् । आवृत्तौ मानञ्च सर्वनामस्थानस्य सान्तसंयोगविशेषणत्वपक्षे यथा ईस इत्यत्र दीर्घा प्राप्तिस्तथास्मिन्नपि पक्षे दीर्घाप्राप्तेरक्यनमेव यानीत्यत्र बहुवचनमुक्तस्यलानां बहुत्वात् । प्रदर्श्यापीत्यपिना अन्यथासिद्धिप्रदर्शनमनास्थयेति सूचितम् । अत एव यानीत्याद्युक्तिः सङ्गच्छते । *प्रयोजनानीति* । यथा अदमुष्य मिमाजिषति प्रत्यक्षेति त्यदादीनि उत्थितकारक्षतया सम्बन्धकल्पने तु "सान्तमहत्" "अलोपोन" "विभाषा लिङ्योः" इत्येतद्विषयेऽपि प्रयोजनम् । *दोषेऽपि* । दोषाश्च भाष्ये आदिविधित्यत्रादिविशिसंयोगादिलोपकृत्वमप्यभावपत्वनत्वेपु सतिप्रसङ्ग इत्यनेन दर्शिताः । एतेषु कुत्रचिदोपो यथाश्रुतार्थे भवति यथा आदिविधिः "घातवादेः यः स" "गोन" इति इहैव स्यात् नेता सोता नमति सिद्धीत्यत्र न स्यादिति एष दोषस्त्वन्त्यसदेशानन्त्यसदेशार्थुगपत्प्राप्तादित्यनेन उद्धृत एव, त्यदादिविधिः "तत्रोः सः सौ" इतिसत्त्वम् । तच्च त्यदापक्षे कृते स इत्यत्र स्यात् । स्य इत्यत्र न स्यादिति, अस्य दोषस्य चोक्तरीत्या अव्यवधानविवक्षयापि परिहारः, सम्भवत्येव, संयोगादिलोपो मङ्गल इत्यत्र स्यात् मङ्गलुमित्यत्र न स्यादिति पशन्त्यसदेशत्वाभावात् कुत्रमिहैव स्यात् पक्षा पक्षव्यमित्यत्र न स्यात्, यत्त्वमिहैव स्यात्तद्वत्ता द्रष्टव्यमित्यत्र न स्यात्, गत्वमित्यत्र स्यात् मापवापेण मापवापीणामित्यत्र न स्यादिति, एतेषामपि यथाश्रुत एव सम्भवः यदि पूर्वोक्त्युगपत्प्राप्तिविषयकत्वमस्याः परिभाषाया इति परीक्षा तदा नेति, न हि अस्याः परिभाषाया युगपत्प्राप्तिविषय एव प्रवृत्तिरित्येषा स्वकल्पनैव किन्तु भाष्यकृतेव प्रागुक्तदोषाणामुद्घातनिर्देशात् सिद्धमित्यनेन परिहारः कृत्वा स तर्हि उदात्तनिर्देशः कर्त्तव्यः न कर्त्तव्यः यत्रैवान्त्यसदेशानन्त्यसदेशाश्च युगपत्समवस्थितौ तत्रैषा परिभाषा भवतीत्युक्तं वात्तिकोक्तमित्यनेनादमुष्यित्येतदर्थमस्या आवश्यकत्वं ध्वनितम् । स्पष्टप्रतिपत्त्येऽन्यत्रापि परिभाषाप्रयोजनमाह—

सत्यप्रकाशिका ।

इति परिभाषामुक्त्वा किमेतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनमिति प्रश्ने "न संप्रसारणम्" इति सूत्रं न कर्तव्यं भवतीत्युक्तम् । भवदुक्तान्त्यसदेशत्वपरिष्कारे "न सम्प्र" इति सूत्रस्य कर्तव्य-
तया तद्विरोधः स्पष्ट एव ।

तथा तद्विरोधः रूप एव ।
 तस्मादन्त्यवर्णविशिष्टत्वम् अन्त्यसदेशत्वम् वै० स्वावधिकपूर्वत्वत्वत्वावधिकपूर्वत्व-
 स्कार्पिकपूर्वकव्यवधानशून्यत्व पक्षदुर्भयसम्बन्धेन, कार्पित्वं साक्षात्स्थानिद्वारा वा बोध्यम् ।
 तेन यून इत्यादौ परस्य सम्प्रसारणे न पुनः पूर्वस्य सम्प्रसारणं स्थानिद्वारा कार्पित्ववधान-
 सत्त्वात्, तथा च नैतत्स्थाः परिभाषायाः प्रयोजनानीति भाष्ये केशेन जैत्रन्येऽत्रयाः परि-

पु प्रतिविधानं चोदात्तनिर्देशात्सिद्धमित्युपसंहारात्, मिमार्जिपतीत्याद्यर्थं च सा तत्र वृद्धेः पूर्वमन्तरङ्गत्वाद्द्वित्वे परत्वादभ्यासकार्यं ततोऽभ्यासे-
कारस्य वृद्धिवारणायवश्यकं । न च वृद्धौ पुनरभ्यासह्रस्वत्वेन सिद्धिः “ल-
द्ये लक्षणस्य” इतिन्यायेन पुनरप्रवृत्तेः ॥

यच्च “न सम्प्रसारण” इति सूत्रे भाष्ये नैतस्याः परिभाषायाः प्रयोजना-
नीत्युक्तं तस्यायमर्थः—एतत्सूत्रप्रयोजनान्येतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनानि
न भवन्ति यथादावन्त्यसमानदेशयणोऽभावादिति । नैतान्येतस्याः प्रयोज-
नानानीति पाठोऽपि कचिद् दृश्यते ॥ याचनिकयेवैषा । स्पष्टा च “व्यङ्ग्यः”
(६-१-१३) इति सूत्रे “अवसोऽसोः” (८-२-८१) इति सूत्रे च कचिद-
न्यस्यदेशस्येत्यनेन भाष्ये इति अन्यत्र विस्तरः ॥ १०४ ॥

भैरवी ।

मिमार्जिपतीति । अत्र यशब्दः पूर्वोक्तप्रयोजनसमुच्चायकः । *अन्तरङ्गत्वाद्* ।
द्वित्वे अपरनिमित्तत्वेन अस्यान्तरङ्गत्वम् । *परत्वाद्* । वृद्धेः परत्वात् । अभ्यासकार्य-
सुरादित्यम् । “इत्यादिः शेषः” “सन्त्यतः” इतीत्यम् । परत्रयचलक्षणन्यायेन ह्रस्वत्वे कृते इति
शेषः भाष्येऽप्युदात्तनिर्देशात् सिद्धमित्युक्तम् । तस्यायमर्थः यथा “यथासंख्य” इति सूत्रे
“स्वरितेन” इत्यस्य सम्बन्धात् अत्र यथासंख्यमभिप्रेत्य तत्र स्वरितस्य प्रतिज्ञातमिति
कल्पना तथेहापि अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्योदात्तनिर्देश इति पठनीयमिति अन-
न्त्यविकारयोधकशब्दश्च तत्र तत्रोदात्तगुणकः पठनीय इति भावः । परिभाषास्वाकारे “नै-
सम्प्रसारण” इति सूत्रस्य भाष्यविरोधनानुत्थागायाह—*परिवृत्तिः* । *कचिद्वृत्त-
इति* । अस्यापवादित्वात् सा वायुक्त इति शेषः कचिद्वृत्त्यसदेशस्येत्यनेनेति ध्वनिते-
ति शेषः ॥ १०४ ॥

तत्त्वप्रकाशिका ।

भाषाया इति पाठभेदेन न भोजनं वृष्येति सुप्रियो विनाशयन्तु । *मिमार्जिपतीत्यर्थं च सेति* ।
विन्त्यमिदम् । “द्विः प्रयोगोद्विष्यत पाठम्” इति सिद्धान्तेन प्रत्येकं गृह्यत्वसत्ये रामुराये
साकारभावेन पूर्वोक्तपरिभाषादिग्राभावेन परिभाषाया अप्रवृत्तेः, अत्रगृह्य इति इतिरूपेण
परमपि इत्यादिः शेषादिकं बाधयता पूर्वोक्तसंख्यद्वयोः “गृहेवृद्धिः” इति गृह्ये पश्चात् “इत्या-
दिः शेषः” इत्ये इत्ये च रूपमिदं, गृह्यपाठवन्तवृद्धस्तदवयवो निर्दिष्टमानस्तदवयवस्य
इकोवृद्धिरिति गृहेवृद्धिरित्यस्यापेक्षान्यायेन वृद्धयप्राप्तेः, यद्यप्यत्र तत्र तत्राभ्यासोपायविषयता-
धरस्येति पक्षात्पठितग्रन्थशाब्दबोधोपायविषयताधरस्यसमभिध्याहृतवर्णाऽपठितस्वरूपनिर्दिष्ट-
मानस्यस्याभावात् । अत एव अनन्त्यस्येत्यादौ पूर्वानोऽकारस्य लोपो न, अत एव “व्यङ्ग्यः
संप्र” इति सूत्रे भाष्ये एनो परिभाषामुक्ता, किमेतस्याः परिभाषायाः प्रयोजनमिति प्रश्ने ?
“न सम्प्रसारण” इति सूत्रं न कर्त्तव्यं मन्तोत्पुच्छं तु स्वल्पमिदं प्रयोजनमुक्तम्, एतद्विरोधेन
गृह्योदात्तपदसंज्ञायां तु चिन्त्यमेव । अत एव “न सम्प्रसारण” इति सूत्रस्य भेदस्याः परिभा-
षायाः प्रयोजनानीति भाष्ये तद्वृत्तेः । ईमद्विरोधोदादौ तु न दोषः । सर्वनामस्थान इति
साप्तम्येधेन एव विधेयम् । अद्वयपदवित्तिरूपमेव न भवति किं त्वद्वयस्त्वित्येव नेत्येक इति-
सुरायां च एवमद्वययोगान् अगोहि इदमिति हेतुबोधकदिनाद्वयवित्तिरुदात्तत्वात् । पूर्वोदात्त-
ह्रस्वस्य कचिद्वृत्तिरित्यनेन अक्षिप्तस्यापि गोहेतुर्द्वि वाक्यं प्रमाणं भवतीति “तस्य
लोपः” इति गृह्यभाष्यात् । एवं गेव परिभाषा मिन्त्येति दिक् ॥ १०४ ॥

ननु “अव्यक्तानुकरणस्यातः” (६-१-६८) इति पररूपं पठत् इति पटितोत्यादौ “अलोऽन्त्यस्य” (१-१-५२) इत्यन्त्यस्य प्राप्नोतीत्यत आह—

नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे ॥ १०५ ॥

अनभ्यासेत्युक्तोर्विभर्तीत्यादौ “भृशामित्” (७-४-७६) इत्याद्यन्त्य-
स्यैव । अभ्यासोऽनर्थकोऽर्थावृत्त्यभावात् किन्तु उत्तरखण्ड एवार्थवानिति
अन्यत्र निरूपितम् ॥ यथा “अलोऽन्त्यात्” सूत्रे भाष्ये स्पष्टा । फलानामन्य-
यासिद्धिकरणेन प्रत्याख्याता चेति तत एवावधार्यम् ॥ १०५ ॥

ननु ब्राह्मणवत्सा च ब्राह्मणीवत्सत्येत्यादौ “पुमान् स्त्रिया” (१-२-६७)
इत्येकशेषापत्तिः स्त्रोत्थपुंस्त्वातिरिक्तकृताविशेषाभावादत आह—

प्रधानाप्रधानयोः प्रधाने कार्यसंप्रत्ययः ॥ १०६ ॥

तेन प्रधानस्त्रीत्वपुंस्त्वातिरिक्ताप्रधानस्त्रीत्वपुंस्त्वकृतविशेषस्यापि स-
भैरवी ।

अभ्यन्तविकार इत्यनेन शब्देनापस्थितौ प्रतियोगिताया अनन्तविकारस्य विशेषणत्वा-
दलोऽन्त्यपरिभाषाप्युपस्थिता तत्प्रसङ्गादाह—ननु अभ्यन्तेति* । *प्राप्नोतीति* । तथा
च पठतीति स्यादिति भावः । *तत एवावधार्यमिति* । *वाच्येदित्यस्य, इत्येवसिद्धे “नाच्चे-
दितस्यान्त्यस्य तु वा” इति ज्ञापकात् पटितोत्यस्य सिद्धिः, अनादेशे कृते हलि नकारस्य
पुन्र लोपेनाभ्यामित्यस्य सिद्धिः द्विसंस्कारकनिर्देशेन “चत्तोः” इति लोपः सर्वोदेशः “अत्र
लोपोऽभ्यासस्य” इति सूत्रेऽत्रप्रवहणादयं लोपः सर्वोदेशः अस्याः परिभाषाया अभावादेव
“तस्य लोप” इति सूत्रे तस्य प्रवहणे चरितार्थम् । तद्धि-“आदिर्नी” इति सूत्रेण श्रोत्यादेः समु-
दायस्य लोपार्थम् । अन्यथा “अलोऽन्त्यस्य” स्यात्, परिभाषासत्वे स्वन्त्यस्य नैव प्राप्नो-
तीति तदर्थं स्यात् । न च “इदोयुपसि” इति सूत्रे इद्रूपहणमिदोऽयादेशो यथा स्यादिति एवमर्थ-
कृतं कृतेऽपि तस्मिन् अलोऽन्त्यविधिश्चेद्व्यतिरेकस्य इत्यनुसृत्यैव सिद्धे इद्रूपहणे व्यर्थमिति
तद्व्याप्यं परिभाषायां ज्ञापकम्, पिपत्तीतिनिर्देशश्च तस्य अभ्यासत्रिकार इत्यनेन ज्ञापकोऽ-
स्त्वितिगच्छन्, परिभाषायाः सत्ये इत्थं ज्ञापकत्वासम्भवात् तथाहि यदि द इत्यभ्यासानु-
त्तिः क्रियते तदा दकारस्यैव स्यादिद्रूपहणे स्यादेशस्य अनेकाल्पत्वात् सर्वस्येति विशेषस्य
स्पष्टत्वात् ।

किञ्च तस्यासत्येऽपि द इत्यभ्यासानुवृत्तिः क्रियते इद्रूपहणञ्च न क्रियते चेदकारमात्रस्यैव
स्यादिद्रूपहणे तु तत्सामर्थ्यात् समुदायस्यादेश इतोद्रूपहणस्य आवश्यकत्वमिति ॥ १०४ ॥

नानर्थक इति परिभाषयामर्थस्य प्रतियोगित्वेन आश्रयभादयं सामान्यस्य उपस्थितावाह—
ननु ब्राह्मणेति । *तेन* । प्रधानाप्रधानयोरिति न्यायस्वोक्तारेण । लौकिको ह्ययं न्याय-
यथा सैनिकानां जयेऽपि लोके राज्ञ एव जयव्यवहार इति बहुज्वपि सैन्येषु गच्छन्तु कौश्यानि-
तत्त्वप्रकाशिका ।

फलानामन्ययासिद्धिकरणेनेति । “हलि लोप” इत्यादौ अन्यन्मनुष्यस्य तदन्तलोपे
पररूपे दीर्घं च आभ्यामिति सिद्धमिति तदर्थं नैया । एवं सस्तु यत्तत्र सिद्धे अभ्यन्त्यस्य
तु येतिरूपेणात् “अव्यक्तानुकरणस्य” इत्यत्रालोन्त्यपरिभाषा नोपतिष्ठत इति न दीर्घ इत्यादि
भाष्ये स्पष्टम् ॥ १०५ ॥

प्रधानस्त्रीत्वेति । स्त्रीत्वावच्छिन्नमुक्त्यविशेषकशेषोपतात्पर्येणोचरितेन सप्तोक्तौ
पुंस्त्वावच्छिन्नमुक्त्यविशेषकशेषोपतात्पर्येणोचरितं शिष्येने सुखविशेषप्रतापच्छिन्नोपुत्त्य-

स्तेन न दोषः । स्पष्टा चेयं “पुमान् स्त्रिया” (१-२-६७) “नपुंसकमनपुंसकेन” (१-२-२९) इत्यनयोर्भाष्ये । अन्तरङ्गोपजीव्यादपि प्रधानं प्रयत्नमिति “हेतुमति च” (३-१-२६) इत्यत्र भाष्यकैयटयोः ॥ १०६ ॥

ननु स्वस्वादित्वप्रयुक्तो मातृशब्दस्य लोपनिषेधः परिच्छेत्तृवाचकमातृशब्दोऽपि स्यादत आह—

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी ॥ १०७ ॥

तेन शुद्धरूढस्य जननीवाचकस्यैव ग्रहणं न परिच्छेत्तृवाचकस्य । योगजबोधे तदनालिङ्गितशुद्धरूढिजोपस्थितिः प्रतियन्त्रकेति व्युत्पत्तिरेव तद्वीजम् । रथकाराधिकरणन्यायसिद्धोऽयमर्थः ।

भैरवी ।

तिप्रदाने ? राजेत्युच्यते इत्यते इति । *स्पष्टा चेयमित्यादि* । आद्योदाहरणं तु उक्तमेव द्वितीये अनयैव परिभाषया सूत्रप्रत्योक्त्यानेन कृतम् । नपुंसकस्य प्राधान्यस्तु सन्दिग्धेऽप्यर्थे नपुंसकलिङ्गस्य प्रयोगदर्शनेन कल्प्यत इति अन्यत्रापि विषयता परिभाषया अस्तीति दर्शयति— *अन्तरङ्गोपजीव्यादप्येति* । अन्तरङ्गादुपजीव्याच्छेत्तृवर्थः । *भाष्यकैयटयोरिति* । तत्र हि—“हेतुमति” इत्यस्य प्रकृत्यर्थविशेषणत्वं स्वङ्गमित्वा प्रत्ययार्थविशेषणत्वपक्षे पाचयस्योपनं देवदत्तो यज्ञदत्तेन इत्यादौ प्रयोगस्य यज्ञदत्तस्य अन्तरङ्गादुपजीव्यत्वाच्च स्वव्यापारप्रत्ययेन कर्तृत्वे प्राप्नोतीति “गतिबुद्धि” इति सूत्रं विषयमस्तु इत्याशङ्क्य प्रयोजनव्यापारस्य प्राधान्यात् तदुपरोधेऽपि कार्यस्य बलवत्त्वमाश्रित्य गत्याद्यर्थक्यानुयोगे कर्मत्वस्य प्राप्ती “गतिबुद्धि” इति सूत्रं निबभार्थमित्युक्तम् । सर्वथा प्रधानस्य लोके यत्कथं दृश्यत इति लौकिकव्यवहारवर्जनमेव एतद्वीजम् राजाज्या हि व्यवहारो यथेति ॥ १०६ ॥

प्रधानकार्यस्य प्राबल्यप्रतिपादनेन अन्यत्रापि तत्प्रसङ्गेन बलवतः स्वरूपमाह—*अवयवप्रसिद्धेरित्यादिना* । अवयवशक्तिप्रदसहस्रसमुदायशक्तिपहात् । *समुदायप्रसिद्धिः* । अवयवशक्तिप्रदानार्थसमुदायशक्तिप्रदः । *बलीयसीति* । एतस्या बलवत्त्वे चैतज्जन्मबोधस्य अवयवशक्तिप्रदसहकारेण सत्यार्थस्योपस्थितिमस्माकना सा न भवतीति लौकिकव्यवहारादेव तथा च शुद्धरूढार्थशब्दो यो जननीबोधको आनुशब्दस्तस्यैव च स्वप्रादिषु ग्रहणम्, परिच्छेत्तृवाचकस्तु प्रहृतिप्रत्ययशक्तिप्रदसहकारणार्थबोधकोऽतो न गृह्यते । एवं च वादनाः प्रतिकल्पप्रतिपक्षकभावः फलितस्तमाह—*योगजबोध इत्यादिना* । योगः अवयवशक्तिप्रदजन्मवयवशर्षोपस्थितिस्तत्र प्रत्यो यो बोधः शाब्दबोधस्तस्मिन् । *तदनालिङ्गितेति* । यो गापांनालिङ्गितेति* । एतेन पञ्चजन्यान् पञ्चजनिकृत् पञ्चमिःपाकारबोधोपाद्गीकोऽपि न शक्तिः, तत्र रुद्धिज्ञया वा रुद्धिर्पञ्चावच्छेदकप्रत्ययप्रकारकोपस्थितिः, तस्या अवयवशक्तिप्रदजन्मवयवशर्षोपस्थितिमहृत्त्वात्, तदनालिङ्गितत्वं तद्वदहृत्तरत्वेन, एवञ्च प्रतिपक्षस्य विशेषणभावप्रत्योपादौभाष्येऽस्तीति तादृशात्तद्वोधस्य उदरपत्तिः, प्रतिपक्षकस्य उदाहरणानु मङ्गलः बुद्धयः प्रयोग इत्यादिः । एवञ्च यौगिकरूपस्थेऽप्येव प्रतिपक्षप्रतिपक्षकभाव इति सिद्धम् । न च मग्निसमादिप्रत्ययेन कल्पनीयोऽनुमयश्चेत्याह । *रथकाराधिकर-
तत्त्वप्रकाशिका ।

माप्रहृत्ययोः एवमो विशेष्येति “पुमान् स्त्रिया” इत्यव्याप्योदितशब्दम् । एवमुत्तरवा-
चिप्रमुपविशेप्यकृतात्पदोक्तशब्दः तस्य बोधयतीति “तस्माच्छतो न” इत्यव्याप्ये-
तेन राजकुमारीः परप्रेत्यादौ न दोषः ॥ १०६ ॥

कश्चित् “दीधीवेवीटाम्” (१-१-६) इत्यत्र अनया परिभाषाया दी-
धीङ्वेवीङोरेव ग्रहणं न दीङ्धीङ्वेवीनामिति । तन्न । तथा सति दीवे-
धीवीटामित्येव वदेदित्यन्ये ॥ १०७ ॥

ननु वातायनार्थं गवाक्षेऽवङ्को वैकल्पिकत्वाद्गोक्ष इत्याद्यपि स्या-
दत आह—

व्यवस्थितविभाषयापि कार्याणि क्रियन्ते ॥ १०८ ॥

लक्ष्यानुसाराद्व्यवस्था बोध्या । “शाब्दोः” (७-४-४१) इति सूत्रे “ल-
मैरवी ।

येति* । तत्र रथकारपदस्य ‘रथकारोऽग्नीनादधीत’ इत्यत्र सत्त्वात् सन्देहः रथं करोतीति व्यु-
त्पत्त्या रथकारः कश्चन ब्राह्मणो रथकारपदबोध्यः प्रकृतवाक्यजन्यमहावाक्यार्थमप्यविषयो
ग्राह्यः उक्तं रुद्रः सङ्खुरजातोय इति अपूर्वा या अन्याधानोपयोगिनीविद्या तस्या अकल्पना-
मुरोधेन द्विज एव रथकारपदबोध्य इति पूर्वं पक्षः । माहीप्योपौ प्रजायेते, विदगुवाङ्गनयो-
र्भूपात् । शुद्धायाङ्गुरो वैश्याद्विभ्रास्येप विधिः स्मृतः । माहिप्येण कण्ठ्यान्तु रथकारः प्रजा-
यत इति मनुना कण्ठ्या माहिप्येणोत्पन्नस्य रुदिरियं रथकार इति प्रदर्शितम् पूर्वाक्तप्रतिष-
ध्यप्रतिबन्धकभावेन तस्यैव ग्रहणं तदन्यथानुपपत्त्या अन्याधानोपयोगिविद्याया अव्ययन-
स्यापि कल्पनमिति सिद्धान्तितम् ।

पूर्वाक्तप्रतिषध्यप्रतिबन्धकभावानभिज्ञस्य यथाधुतार्थग्राहिण उक्तिं खण्डयति—*कश्चि-
त्त्विति* । *तथा सति* । धातुचतुष्टयस्य ग्रहणेऽभिप्रेते सति । *इत्येव वदेदिति* । अस-
न्देहायेति शेषः । तथा च सिद्धान्ते दीधीरेवीग्रहणप्रत्याख्यानपरमाप्यप्रामाण्यादेव समुद्रा-
यस्य ग्रहणं न तु तत्रास्याः परिभाषाया उपयोग इति दर्शितम् ॥ १०७ ॥

रुद्रिसङ्गादाह—*ननु वातायनेति* । *गवाक्षे* । *गवाक्षसन्दे* । सामानाधिकरण्येन
निर्देशस्तु वाक्यवाचकयोस्तादात्म्यात् । *व्यवस्थितविभाषयेति* । व्यवस्थिता व्यवस्था-
संज्ञाता अस्याः सा, सा च व्यवस्था क्वचिदर्थविशेषे भावकार्यमेव क्वचिद्भाव एव क्वचित्
भावभावोभयम् । एवञ्च एतादृशव्यवस्थानिश्चयो लक्ष्यैकवधुष्कसाध्य इति माप्यकारीय
व्याख्यानतो निर्णयः काव्यः । एवञ्च व्यवस्थितविभाषया कार्याणि क्रियन्त इत्यस्य क्वचिद-
ति शेषः । माप्यवृत्ता च—

देवप्रातो गलो ग्राह, इति योगे च सद्विधिः ।

मिमस्ते न विभाष्यन्ते, गवाक्षः संशितप्रतः” ॥

इति वाक्ये गवाक्ष इति पठितम्, तेन वातायनेऽवङ्कोदेश एव भवति न स्वभ्यत् । यतो
व्यवस्थितविभाषानिश्चयो लक्ष्यैकवधुष्कसाध्योऽतएवाह—*लक्ष्यानुसारादिति* । *शा-
ब्दोरेतित्यादि* । आद्ये देवप्रात इत्यादिनोक्ताः । अन्त्ये कौर्वतः पाचतः प्रपचिततरामि-

तत्त्वप्रकाशिका ।

व्यवस्थितविभाषयापीति । व्यवस्थितविभाषाशास्त्रोद्देश्यतावच्छेदकव्याप्ये यद्-
पन्तदुपव्यापकभावान्व्यतरविधायकत्वम् । यथा विभाषाशास्त्रे “सर्वत्रविभाषामो.” इति-
तदीयाद्देश्यतावच्छेदकं अजस्यवहितपूर्वस्वविशिष्टैकान्तगोशब्दत्वम्, तस्याप्यस्य वातायन-
बोधकघटकाजस्यवहितपूर्वस्वविशिष्टगोशब्दत्वं तद्व्यापकभावविधायकत्वे सर्वत्रविभाषेत्यत्र ।
एवं विभाषाशास्त्रम् “अवि विभाषा” इति तदीयोद्देश्यतावच्छेदकं अजस्यवहितपूर्वस्व-
गृहात्त्वव्यवस्थितं तद्व्याप्यं रूपविपत्तास्परेणोच्यतितघटकाजस्यवहितपूर्वस्वविशिष्टगृहात्-
सम्बन्धितत्वम् तद्व्यापकभावविधायकत्वम् “अवि विभाषा” इत्यस्य । पुरीत्यामर्गं

टः शतृ" (३-२-१२४) इत्यादिसूत्रेषु च भाष्ये स्पष्टा ॥ १०८ ॥

विधिनिषमसम्भवे विधिरेव उपायान् ॥ १०९ ॥

नियमे ह्यश्रुताया अन्यनिवृत्तेः सामर्थ्यात्परिकल्पनमुक्तानुवादोपपत्ते-
ति लाघवाद्बिधिरवेति बोध्यम् । "यस्य हलः" (६-४-४६) इत्यत्र "इजा-
देः सनुमः" इत्यादौ च भाष्ये स्पष्टेयम् ॥ १०९ ॥

ननु "आशंसायां भूतवच्च" (३-३-१३२) इत्यनेन लुङ् इव लुङ्लिटो-
रप्यतिदेशः स्यादत आह—

सामान्यातिदेशो विशेषानतिदेशः ॥ ११० ॥

सामान्योपस्थितकाले नियमेन विशेषोपस्थापकसामप्रयाभाष्योऽस्या धी-
नैरवी ।

त्यादेशश्च शास्त्रादेशतदभावाभ्यां साधनं कृतम् ॥ १०८ ॥

विकल्पविधिप्रसङ्गादाह—विधीत्यादि* । विधिपूर्वविधिः । सम्भव इत्यनेनोभयको-
टिषमभावना यत्र तत्रैतस्याः परिभाषाया उपस्थितिः यत्रासम्भवस्तत्र तु तयोरेकतरेष्वपि
निर्णयः । उपायस्य हेतुमाह—नियमे हीति* । अश्रुतायाः शाब्दबोध्यया एतेन तत्र निय-
मस्य विधिरूपेण वाच्यपुरस्कारेण प्रवृत्तिरिति दर्शितम् । *उक्तानुवादः* । शास्त्रान्तरसिद्धा-
थानुवादः । न चैवं परिसङ्ख्यापेक्षयापि विधौ लाघवात् तस्य अनुक्तौ न्यूनतेति वाच्यम् ।
यत्र शाब्दे परिसङ्ख्यापि नियमपदेन उच्यते नियमे यथा गौरवं तथा परिसङ्ख्यायामपीत्याश-
यात् । *दोषधेति* । यकारेण प्राप्तवापसमुच्चयः । एवञ्च दोषप्रवणस्य नियमे परिसङ्ख्यायाश्च
सम्भवाद्बिधौ तु सद्भाषाया लाघवमिति लाघवमूलिकेयम् । *"यस्य हलः" इति* । आद्ये "य-
स्य" इति सद्भाषाप्रवृत्तिरिति बोध्यम् । अन्त्ये "इजादेः" इति सूत्रे "जेर्विभाषा" इत्यतो गिरादङ्गप्रत्ययेन विकल्पे प्राप्ते ला-
घवादिश्रवणार्थं विधिरिति पूर्वपक्षिकोक्तम् । ततः सिद्धान्तितना हलध्वेजिवत्पतो हलप्रवृत्तानु-
सारा नियमत्वमुक्तम् । तेन प्रेङ्गण्यमित्यादौ नत्वस्य सिद्धिः । प्रमहानमित्यादौ तु न भवति ।
तेन यद्यपि लाघवाद्बिधेर्योषस्य तथापि लक्ष्यानुमाद्योक्त्याप्युक्तानात् नियमत्वस्य कल्प-
नेति बोध्यम् ॥ १०९ ॥

विधिप्रसङ्गादाह—ननु आशंसायामिति* । अतिदिदिपत इत्यतिदेशः सामान्यस्याति-
देशः, सामान्यरूपे सामान्यवर्मावच्छिन्नपरम्, तन्निमित्तकत्वे पक्षार्थः । एवञ्च सामान्यवर्मा-
वच्छिन्ननिमित्तकत्वावच्छिन्नतिदिदिपमार्गे सति विशेषवर्मावच्छिन्ननिमित्तकत्वावच्छिन्नतिदेशो नेति
कथितम् । परिभाषायां बीजमाह—सामान्योपस्थितोति* । यथा लोके प्राज्ञगण्डन्मिन्
क्षत्रिये वर्तितव्यमित्युक्ते प्राज्ञगणामागमस्य यत्कार्यमभ्युत्थानादिर्जन्यतिदिदिपते न तु मा-
तरादीर्जन्यप्रपञ्चकार्यस्यातिदेशो भवति लोके, तथैव शास्त्रेऽपि व्यवस्थेति लोकाभ्यामति-
शेषमिति कथितम् ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

तत्त्वप्रकाशिका ॥ १०८ ॥

ननु "यस्य हलः" इत्यत्रापि इत्यनुशर्य निवामह्यनुश तदनुशर्य विद्यायहल्ये चेति
प्राप्ते आह—विधिनिषमसम्भवे इति ॥ १०९ ॥

सामान्यातिदेशो विशेषानतिदेशः । शास्त्रप्रवृत्तिरिति शाब्दबोध्यया एतेन तत्र निय-
मस्य विधिरूपेण वाच्यपुरस्कारेण प्रवृत्तिरिति दर्शितम् । *उक्तानुवादः* । शास्त्रान्तरसिद्धा-
थानुवादः । न चैवं परिसङ्ख्यापेक्षयापि विधौ लाघवात् तस्य अनुक्तौ न्यूनतेति वाच्यम् ।
यत्र शाब्दे परिसङ्ख्यापि नियमपदेन उच्यते नियमे यथा गौरवं तथा परिसङ्ख्यायामपीत्याश-
यात् । *दोषधेति* । यकारेण प्राप्तवापसमुच्चयः । एवञ्च दोषप्रवणस्य नियमे परिसङ्ख्यायाश्च
सम्भवाद्बिधौ तु सद्भाषाया लाघवमिति लाघवमूलिकेयम् । *"यस्य हलः" इति* । आद्ये "य-
स्य" इति सद्भाषाप्रवृत्तिरिति बोध्यम् । अन्त्ये "इजादेः" इति सूत्रे "जेर्विभाषा" इत्यतो गिरादङ्गप्रत्ययेन विकल्पे प्राप्ते ला-
घवादिश्रवणार्थं विधिरिति पूर्वपक्षिकोक्तम् । ततः सिद्धान्तितना हलध्वेजिवत्पतो हलप्रवृत्तानु-
सारा नियमत्वमुक्तम् । तेन प्रेङ्गण्यमित्यादौ नत्वस्य सिद्धिः । प्रमहानमित्यादौ तु न भवति ।
तेन यद्यपि लाघवाद्बिधेर्योषस्य तथापि लक्ष्यानुमाद्योक्त्याप्युक्तानात् नियमत्वस्य कल्प-
नेति बोध्यम् ॥ १०९ ॥

ग्रहणं कर्त्तव्यमिति चार्तिककृतोक्तम् । उक्तसूत्रयोर्व्याख्यानात् प्रत्यययोरेव ग्रहणमित्याहुः ॥ १११ ॥

ननु "विपराभ्यां जेः" (१-३-१९) इत्यात्मनेपदं परा सेना जयतीत्यर्थके पराजयति सेनेत्यत्र प्राप्नोतीत्यत्र आह—

सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम् ॥ ११२ ॥

तेन विशब्दसाहचर्यादुपसर्गस्यैव पराशब्दस्य ग्रहणमिति तत्रैव भाष्ये स्पष्टम् । सहचरणं सदृशयोरेवेति सहचरितशब्देन सादृश्यावानुच्यते रामलक्ष्मणादित्यादावपि दृष्टसादृश्यमेव नियामकम् । सदृशयोरेव सह विधत्ता तयोरेव सह प्रयोगे इत्युत्सर्गाच्च । ध्वनितं चेदं "कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया" (२-३-८) इति सूत्रे भाष्ये । तत्र हि—"पञ्चम्यपाङ्परिमिः"

भैरवी ।

परिभाषाया निरतं दुरुतमित्यादिसकललक्ष्यसाधकत्वाभावाच्च सैकदेश्युक्तिः । *अत एव* । उक्तपरिभाषाया अभावादेव । "अष्टक एकाल्प्रत्ययः" इति सूत्रे प्रत्ययपदोपादानेन सूत्रेण तापि तदभावाच्च ध्वनितः ।

ननु उक्तसूत्रयोः सन्तुल्यग्रहणेन प्रत्ययस्यैव ग्रहणमित्यस्य कथं सिद्धिरत आह—*उक्तसूत्रयोरिति* । *अथाश्वानादिति* । आश्वे गगादियु विजिगीषुतादृषादमूलकात्, अन्ये "मते यद्गोऽनजिरादीनाम्" इति एतत्साहचर्यमूलकात् "उपसर्गस्य ध्वन्यनुप्य" इति सूत्राद्बहुलपदानामुत्तिमूलकाद्वा व्याख्यानादित्यर्थः ॥ १११ ॥

प्रत्ययप्रसङ्गादेवाह—*ननु विपराभ्यामिति* । *सहचरितेत्यादि* । अत्र सहचरितशब्देन सादृश्यावानुच्यते, तस्य चाभिधानियामकत्वम् "संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता" इत्यत्र प्रसिद्धम् । *तेन* । "सहचरितासहचरितयोः" इति परिभाषास्योकारेण । विशब्दसाहचर्यादित्यनेन परस्परसाहचर्यस्याभिधानियामकत्वं तत्रेति बोधितम् । यदुक्तं सहचरयोरेव सह प्रयोग इति तत्र, सर्वत्र लादेनेन सह विकरणस्य सह प्रयोगेऽप्यर्थाबोधकत्वात् इत आह—*उत्सर्गाच्चेति* । *ध्वनितश्चेदिति* । सहचरयोरेव सहप्रयोग इत्येतत् । एतेन रामलक्ष्मणादित्यत्रैव सहचरणमुपसर्गाणां न दृष्टम् । इत्यनया परिभाषया न निर्गोह इति शब्दानि परास्ता, प्रादीनां साहचर्यस्य तत्संज्ञकत्वेन सत्त्वात् । लक्षणादयो "लक्षणेत्यभ्युक्तं"

तस्यप्रकाशिका ।

इत्यादुरिति* । अन्तुलन्तु इत्ये परिभाषात्यन्तमावश्यकौ । अन्यथा "नारदास्तादोः" इतिगुणे नमतीति नाम इत्यस्य, "वमुष्मेणु" इतिसूत्रे वमुष्मन्त्ये इत्यस्य, वरे इत्यत्र मलधातोः, "वने रय" इत्यत्र वनधातोः, "संयत" इत्यादौ सनधात्यादेश्य ग्रहणस्य दूषास्त्वात् । नच "अद्वय" इतिसूत्रे एकदेशिनोच्छरेण इयं भास्वयेति धाक्यम् । यद्वै एकदेश्युक्तिरस्य तद्वै तस्य तस्यैऽपि एकदेश्युच्छरवमात्रेण तस्याः तत्त्वाभावात् । अन्यथा अन्तरङ्गपरिभाषाया अपि "नया बहिरङ्गलक्षणाद्वा" इत्याद्येकदेश्युक्तित्वेन परिभाषाया अपात् । एकदेश्युक्तिर्यापतेः । "तितित्प्रत्ययवर्ण कर्त्तव्यम्" इतिचार्तिकेन प्रत्ययपरिभाषामनुज्ञा प्रवृत्ता । ईकारागमं यद्विचक्षणं तद्वर्णमिति कर्त्तव्यं "अन्तरङ्गानपि" इतिगुणायमनुज्ञा अनुसृष्टे शुद्धे गम्यतेति शुद्धौ अमरशर्मिरवत्र प्रयुज्यमाना अभावाच्च प्रयुज्यमानाप्रकरणे भाष्ये निषेधपञ्चदशितिरिक् ॥ १११ ॥

सहचरितस्यैवेति । अत्र च शब्दे सहचरितस्य चाभिधानाभावाच्चोपपत्तिः सादृश्यज्ञाना-

(२-४-१०) इति सूत्रेण लक्षणादिद्योतकपरिचये पञ्चमीमाशङ्क्य यद्यप्ययं
परिदृष्टापचारो धर्जने चावर्जने चायं खल्यपशब्दोऽदृष्टापचारो धर्जनार्थ
एव कर्मप्रवचनीयस्तस्य कोऽन्यः सहायो भवितुमर्हत्यन्यो धर्जनार्थाद्यया
पृथगोः सहायेनार्थ इति गौरवान्तीयते नाश्वो न गर्दभ इत्युक्तम् ।

तेन हि-सदृशानामेव प्रयोगे सहायभावो बोधितः । “द्वित्रिधनुः”
(८-३-४३) इति सूत्रे साहचर्येणैव कृत्योऽर्थस्य ग्रहणे सिद्धे कृत्योऽर्थग्र-
णादप्य अनित्या । तेन “दीधीवेवीटाम् (१-१-६) इत्यत्र धातुसाहच-
र्येऽप्यागमस्येदो ग्रहणमिति अन्यत्र विस्तरः ॥ ११२ ॥

ननु “अस्थि” (७-१-७५) इत्याद्यनङ् प्रियसकृपना ग्राह्येनेत्यत्र न
स्यादङ्गस्य नपुंसकत्वाभावात्त आह—

श्रुतानुमितयोः श्रुतसम्बन्धो बलवान् ॥ ११३ ॥

श्रुतेनैव सम्बन्धो नानुमितेन प्रकरणादिप्राप्तेनेत्यर्थः । प्रकरणादितः
श्रुतेर्यलवश्चादिति भावः । एवं च तत्र लिङ्गमस्थ्यादीनामेव विशेषणं नाङ्ग-
भैरवी ।

इति सूत्रप्रसिद्धाः । *दृष्टापचारः* । दृष्टव्यनिवारः अनियतार्थक इति यावत् । तदेवाह—
धर्जने चेति । अवर्जन इत्यनेन अमर्थकस्यापि सप्रहः । कर्मप्रवचनीय इत्यत्रान्वयः । अङ्-
प्रचार इत्यस्य व्याख्या धर्जनार्थं धृतेति । एवं च कर्मप्रवचनीयसङ्गत्वेन प्रकृते साहचर्य
विवक्षितमिति भावः ।

अस्याः परिभाषाया अनित्यत्वे शापकमाह—*द्विषीत्यादिना । साहचर्येण* । सुजन्ता-
भ्यां साहचर्येण, कृत्योऽर्थग्रहणे सिद्धे । कृत्योऽर्थं जायमानमुग्रमस्य चतुःशब्दस्य
ग्रहणे सिद्धे । *तेन* । अस्या अनित्यत्वेन । *आगमस्येति* । एवम् “आहग-
महन्” इति सूत्रे आवृष्ट्यसाहचर्येऽपि क्रमग्रहणेन कदातोऽर्थग्रहणस्य सिद्धिः, यतः सहचरित
शब्दः साहचर्यबद्धोऽप्यस्त एव, “संयोगो विप्रयोगश्च” इति हरिकारिकाव्याख्यानावसरे हेला-
राजेन “पञ्चम्याऽपरिमि,” इत्युदाहृतम् । *अन्यत्र* । उद्योतादौ ॥ ११२ ॥

साहचर्यप्रसङ्गादाह—*ननु अस्मीति* । “श्रुतानुमितयोः” इत्यत्र श्रुतत्वे साक्षादुचरित-
त्वमन्यतराकाङ्क्षान्यसम्बन्धत्वं वा । श्रुतेनैवेत्येवकारव्यवच्छेदमाह—*नानुमितेति* । अत्र
बीजमाह—*प्रकरणादित इति* । बलवत्त्वञ्च तन्त्रान्तरेऽपि प्रसिद्धम् । यथा प्रत्यक्षस्य साम-
ग्रीसत्त्वेऽनुमितेश्च सामग्रीसत्त्वे समाने विषये आदौ प्रत्यक्षमेव उत्पद्यते । ततोऽनुमितिसामग्री-
सत्त्वे सा भवति एतादृशानुभवसिद्धत्वेन प्रत्यक्षसामग्र्याः प्रथमोत्पन्नप्रमितितजनकत्वात्
सादृशसामग्रीजन्यप्रमितिकरणं प्रत्यक्षप्रमाणं, तुल्यसामग्रीजन्यानुमानापेक्षया प्रबलमिति
व्यवहारः । तथा साक्षात् श्रुतस्यले शब्दसामग्रीसम्भवात् तत्रापि अनुमानापेक्षया शब्द-
प्रमितिकरणस्य प्राबल्यमिति । प्रकृतोपयोगमेवाह—*एवञ्चेति* । तत्र* । “अस्थिदधि” इति
सूत्रे । तत्र, “नपुंसकस्य बलवत्” इति सूत्रात् नपुंसकस्य इत्यनुवर्त्तते तस्य प्रातिपदिकसाकाङ्क्ष-
तत्त्वप्रकाशिका ।

धीनोपस्थितिश्चेति उपस्थितिद्वयम् । *अनित्येति* । वस्तुतस्तु चिन्त्यमिदम् । “दीधीवे-
वीटाम्” इत्यत्र हलनुबन्धकत्वेन साहचर्येण आगमस्यैव ग्रहणात्, नहि धातुत्वेनैव साहचर्य
ग्राह्यं ननु हलनुबन्धकत्वेनेत्यत्र राजाज्ञास्ति, “द्वित्रिधनुः” इति सूत्रे कृत्योऽर्थग्रहणान्तु मुञ्जन्त-
त्वेनैव साहचर्यं नत्वन्येनेत्यत्र बोधनद्वारा स्पष्टार्थमेव । नत्वेतस्या अनित्यत्वे गमकम् ॥ ११२ ॥

स्य । शिशिलुङ्गुम्विधिषु तु गृह्यमाणस्याभावात् प्रकरणप्राप्ताङ्गस्यैव विशेष-
पणम् । अत एव "वा नपुंसकस्य" (७-१-७९) इति सूत्रे वा शाविति न
कृतम् । तत्र नपुंसकग्रहणं हि गृह्यमाणस्य शत्रन्तर्ह्यैव नपुंसकत्वे यथा
स्यात् । यद्यद्यो ददतो येषु तानि कुलानि बहुददतीत्यत्र मा भूद्बहूनि ददन्ति-
येषु ते बहुददन्त इत्यत्र यथा स्यादित्येवमर्थम् । स्पष्टं चेदं "स्वमोर्नपुंस-
कात्" (७-१-२३) इत्यत्र भाष्ये ।

केचित्तु "अचो रहाभ्यां द्वे" (८-४-४६) इत्यत्र ध्रुतेन रेफस्य निमि-
त्तत्वेन यरन्तर्भावादनुमितं कार्प्यित्वं बाध्यत इत्येतदुदाहरणमाहुः । तत्र ।
तत्तत्कौण्डिन्यायेन सिद्धेरिति अन्यत्र विस्तरः ॥ ११३ ॥

ननु "तत्पुरुषे तुल्यार्थं" (६-२-२) इति स्वरः परमेण कारकेण पर-
मकारकेणेत्यादौ स्यात्तथा "गातिस्वाद्युपाभूम्यः" (२-४-७७) इति लुक्
भैरवी ।

त्वात् द्वितीयं श्रुतत्वमत्र सम्भवति अल्पादीनाञ्च साक्षात् श्रुतत्वम् । *विशेषणमिति* ।
लिङ्गमिति शेषः । *प्रकरणप्राप्ताङ्गस्येति* । अङ्गस्य अनुमितित्यनुभवाकाङ्क्षारूपप्रकरणप्राप्त-
स्वरूपं बोध्यम् । श्रुतानुमितयोर्द्वयार्थो न केवलं युक्तिसिद्ध एव किन्तु अत्र शापकमप्यस्ता-
त्याह—अत एवेति* । द्वितीयं गृह्यमाणत्वमत्र दृष्टव्यम् । *स्पष्टेदमिति* । तत्र हि शिशो-
लुङ्गुम्विधिषु नपुंसकग्रहणं शब्दग्रहणं वा स्यादर्थस्य वेति विचारे, सिद्ध्यन्तु प्रकृतार्थविशेष-
णत्वात्, सिद्धमेतत्, कथं ? प्रकृतस्यार्थो विशेष्यते, किञ्च प्रकृतमङ्गम्, अङ्गस्य शिशो-
लुङ्गुमो भवन्ति नपुंसके यत्तमानस्य, कथम् प्रियस्वरूपा आक्षेपेन, अल्पादिषु शब्दग्रह-
णम् । अल्पादिषु नपुंसकग्रहणं शब्दग्रहणं दृष्टव्यम् । एतदुक्तं युक्तं पुनरिदं विचारयितुमि-
ति शिष्टा शर्थस्य नपुंसकत्वात् तद्विशेषणत्वमेव युक्तमिति भावः । किं तर्हि उच्यते अल्पादिषु
शब्दग्रहणमिति इदमोचितमिति भावः । अत्राप्यर्थग्रहणमेव इत्युक्तम् ।

अत्र कैयट-अर्थधर्मरथादिङ्गस्य नपुंसकार्थोभिप्रायित्वाद् अल्पाद्यो नपुंसकशब्देन
अभिधीयन्ते गृह्यमाणसम्भवे तद्विशेषणमेव लिङ्गग्रहणं तदभावे प्रकृतस्य अङ्गस्येति निर्णयः ।
अत्र वाशाविति वक्तव्ये "वा नपुंसकस्य" इति सूत्रनिर्देश एव मानम् । गृह्यमाणशत्रन्तस्येति
अत्र गृह्यमाणत्वं द्वितीयं दृष्टव्यम् ।

सौरदेवाणुक्तं लक्षणमित्यनुपपन्नस्यति—*केचित्तिदमिति* । साक्षात् ध्रुतेन साक्षाच्छब्द-
बोधितम् । *श्रुतमितमिति* । श्रुतानुमितत्वं न प्रकरणप्राप्तस्य किन्तु सामान्यधर्मप्रकारकप्र-
तीतिविपर्ययम् । *तत्तत्कौण्डिन्येति* । ननु "मेन नाप्राप्तन्याय" गिरुत्वायसरे तत्तत्कौण्डिन्य-
न्यायोऽन्यकाराविषये विषयविषयश्च इत्युक्तम् । अत्र तु तत्तत्कौण्डिन्यन्यायेन सिद्धेरित्यु-
च्यते । एतत् पूर्वाच्चिरिदम्, निमित्तत्वस्य अविषयत्वादिति चेन्न, तत्तत्कौण्डिन्यन्यायस्य लोको-
को यो न्यायः युक्तिरन्यकारात्वरूपा तथा सिद्धेरित्यर्थात् । यत्र यत्र रेफस्य निमित्तत्वं तत्र
नरैत्र वाच्यतात्वेन कार्प्यित्वस्य प्रसक्तया निमित्तत्वमन्यकारात्मिति तेन न्यायेन तर्कादि-
इत्यर्थः ॥ ११३ ॥

श्रीमोक्षलिङ्गविशेषणग्रन्थादाह—ननु तत्पुरुष इति* । परमेणेत्यादि परिनिष्ठितविमतता
गमात्तस्य प्रदर्शनेन । इत्यादावित्यादिदेन परमे कारक इत्यस्य परिग्रहः । ननु लोके त्यतो
तत्परात्मनिका ।

तत्तत्कौण्डिन्यन्यायेन सिद्धेरिति । यन्मुन्यन् मातररतिपगन्यायेन सिद्धेरिति वक्त-
व्यम् । मन्दापा मन्दददत्त्यादौ रेफस्य द्वित्वान्तकारित्वाच्छब्दज्ञानात् स्यात् ॥ ११३ ॥

पै शोषण इत्यतः कृतात्वात्परस्यापि स्यादत आह—

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् ॥ ११४ ॥

लक्षणेनेत्यर्थः । लक्षणं लाक्षणिकमुपचारात् । तच्च द्विभक्तिविशेषाद्य-
नुवादेन विहितो हि समासादिः प्रतिपदोक्तस्तस्यैव ग्रहणं शोघोपस्थिति-
कत्वात् । द्वितीयो हि विलम्बोपस्थितिकः । पै इत्यस्य पा इति रूपं लक्ष-
णानुसन्धानपूर्वकं विलम्बोपस्थितिकं पिवतेस्तु तच्छोघोपस्थितिकम् । इद-
मेव ह्येतत्परिभाषायोजम् । इयं च घर्षाग्रहणेऽपि “ओत्” सूत्रे भाष्ये सञ्ज्ञा-
पितत्वात् ।

मैरवी ।

न नियतः छन्दसि तु छान्दसत्वेनैव शोपनिशङ्काणमत आह—तथेति । उपचारादिति* ।
लक्षणशब्दादर्शमाद्यन्वा, तथाच यस्य स्वरूपलक्षणानुमन्धानजन्यसाधुत्वप्रतिपत्तिविषय-
स्वाहाक्षिणिकम् । प्रतिपदोक्तत्वन्तु साक्षादुचरितत्वे, यथा पा रक्षण इति धातौ, क्वचित् तत्-
च्छाखानुवादेन विहितस्वरूपे सन्, यथा “विभाषादिक्पमास” इति सूत्रे “दिङ्नामान्यतराल”
इति सूत्रविहितसमाससंज्ञकस्य तत्तद्विभक्तिरित्यादि, तथा “तृतीया सन् क्रतयेन गुणवचनेन”
इति द्वितीयः, परिनिष्ठितविभक्त्या समासपक्षेऽपि “विशेषणं विशेषणेण” इति विहितः ।
इदमेव । शोघोपस्थितिकत्वमेव । एतेन लौकिकप्रायश्चित्तमूलकत्वमस्यायुक्तम् । *इदं
वर्णमग्रहणे ऽपीति । प्रवर्तत इति शेषः । “ओत्” सूत्र इति* । तत्र हि—अनङ्ः अङ्ः समभङ्-
*प्रेऽभवदित्यत्र च्यवन्तत्वात् निपातसंज्ञायां प्राप्तप्रगृह्यसंज्ञाया अनया वारणं कृतम् ।

तत्त्वप्रकाशिका ।

लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम् । अत्र लक्षणग्रहणमुपचाराहाक्षणिकार्थकम् ।
प्रतिपदोक्तत्वं चात्र, स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकसमर्पकज्ञानविषयीभूतानुपूर्वीसजातीयानुपूर्वी-
मत्पदपठितशास्त्रविधेयत्वम् । यथा स्वं “धुमात्य” इति तदीयोद्देश्यतावच्छेदकसमर्पकज्ञा-
नविषयीभूतानुपूर्वी पाशब्दस्वरूपा तादृशानुपूर्वीमत्पदपठितं शास्त्रे वा पाने इति तद्विधेयत्वं
पाशब्दादावितिलक्षणसमन्वयः ।

। मन्वेचं “गातिकारक” इति शास्त्रीयोद्देश्यतावच्छेदकसमर्पकज्ञानविषयीभूता या गतित्वरूपा-
नुपूर्वी तादृशानुपूर्वीमत्पदपठितशास्त्रविधेयत्वं “कुगतिप्रादय” इति समासस्येति तस्यैव
प्रतिपदोक्तत्वाद्ग्रहणं ननु “अनेकमन्यपदार्थ” इति समासस्येति नेषद्वुवङितिभाष्योदाहृते
आह्वयं प्रच्ये इति बहुव्रीहौ यण् न । तत्र हि—प्रकृष्टाधीर्चर्यान् यस्येति बहुव्रीहिः, एवं “इको गुगवृ-
द्धी” इत्यत्र भाष्योक्तगुणवृद्धिपदगुणवृद्धौ च यण्यञ् “त्यदादीनाम” इत्यादौ स्वीयोद्देश्यतावच्छेद-
कसमर्पकज्ञानविषयीभूता या गुणपदस्वरूपा आनुपूर्वी सत्त्ववृद्धितत्त्वस्याभावात्, एवं लक्षण-
प्रतिपदोक्तपरिभाषया तु नात्र निर्वाह इति “इको गुगवृद्धी” इति सूत्रप्रबोधाविरोध इति चेन्मे-
वम्, लाक्षणिकत्वेनाभिमतं प्रतिपदोक्तत्वेन चाभिमतं यच्छास्त्रद्वयं तादृशशास्त्रयोर्विधेय-
तावच्छेदकरूपावच्छिन्नोद्देश्यताकत्वमेतत्परिभाषाप्रवृत्तौ लिङ्गमिति स्वीकारेणादोषात् ।
यथा “तत्पुरुषे तुल्यार्थ” इत्यादौ लक्षणिकत्वेन प्रतिपदोक्तत्वेनाभिमतं यच्छास्त्रद्वयं “विशेषणं
विशेषणेण” “तृतीया सत्कृत” इत्यादि तदीयविधेयतावच्छेदकं यत्तत्पुरुषत्वं तदुपावच्छिन्नोद्दे-
श्यताकत्वं वर्तते, यथा वा “गातित्याद्युपा” इति शास्त्रे पा पान इत्यस्य विधेयतावच्छेदक-
मानुमानिकस्याभ्यादेशमावकल्पनया “आदेच” इत्यस्य विधेयतावच्छेदकं च यदाहं तदुपा-
वच्छिन्नोद्देश्यताकत्वं वर्तते । एवम् “इको गुगवृद्धी” इत्यत्र लाक्षणिकत्वेन प्रतिपदोक्तत्वेनाभि-
मतं “त्यदादीनाम” इत्यादि “मिदेगुग” इत्यादि शास्त्रद्वय, तत्रैकविधेयतावच्छेदकत्वेनैवामा-

यत्तु वर्णग्रहणे नैया “आदेचः” (६-१-४५) इत्यत्रोपदेशग्रहणादिति, तत्तु तस्मिन्नेव सूत्रे शब्देन्दुशेखरे दूषितमिति तत एव द्रष्टव्यम् । अनित्या चेयं “भुवश्च महाव्याहृतेः” (८-२-७१) इति महाव्याहृतिग्रहणादिति अन्यत्र विस्तरः ॥ ११४ ॥

नन्वेवं देहो दोधातोश्च कृतात्वस्य घुसंज्ञा न स्यात्तथा मेड आत्वे प्रणिमातेत्यादौ “नेर्गदनद्” (८-४-१७) इति णत्वं न स्यात्तथा न इत्यस्यात्वे “घुमास्था” (६-४-६६) इतीत्वं न स्यादत आह—

गामादाग्रहणेऽवविशेषः ॥ ११५ ॥

चैत्वी ।

प्राचीनोक्तं खण्डयति—*यत्त्विति* । *उपदेशग्रहणादिति* । तद्धि चेता स्तोता इत्यत्र आभूदित्येवमर्थं कृतम् । यदि वर्णग्रहणेऽपि परिभाषाप्रवृत्तिस्तदा परिभाषयेव निर्वाहो तस्य वैयर्थ्यमेव स्यादिति । *दूषितमिति* । ओत्सुत्रस्य भाष्यविशेषेन उपदेशग्रहणस्य अन्यार्थ-त्वप्रदर्शनेन दूषितमित्यर्थः ।

ननु ह्ये वर्णग्रहणेऽपि प्रवर्तते चेद्यत्र “आदेच उपदेश” इत्यादिसूत्रविहितमात्रं तत्र उ-
च्यते ॥ स्यादत आह—*अनित्येति* । भुवश्चेति* । “भुव” इत्यनेन महाव्याहृतेर्विकल्पने-
को विधीयते । तत्र महाव्याहृतेर्ग्रहणे भूशब्दस्य जसन्तस्य व्यावृत्त्यर्थम् । तस्य तु लाक्ष-
णिकत्वादेव व्यावृत्तौ तदर्थं तत्तत्र शापकम् ॥ ११४ ॥

नन्वेवम् । लक्षणप्रतिपक्षपरिभाषास्वीकारे । *न स्यादिति* । सर्वेषां
स्यादिति शेषः । *अविशेष इति* । व्यवस्थापकपरिभाषया विशेषस्यैव ग्रहणमिति नेत्यर्थः ।
तत्त्वप्रकाशिका ।

येनाप्रवृत्तिः ।

नच “गतिकारकेतर” इत्यत्र प्रतिपक्षोक्तत्वेन लाक्षणिकत्वेन चाभिमतं यत् “कुगति” “अ-
नेकमन्यपदार्थ” इति शाब्दार्थं तद्वीचयविषयतावच्छेदकसमासत्वावच्छिन्नोद्देश्यताकत्वस्य स-
त्त्वात् तद्वयस्यमिति वाच्यम् । गतिकारकपूर्वस्यैव भाष्ये पठितत्वेन पूर्वपदभावेन समासार्थ-
पासम्भवात् । एतद्रातिकांनियमलम्बनार्थानुवादकत्वात् गतिकारकेतरपूर्वपदत्वेति कौमुदीपाठस्य ।

अथवा चत्किञ्चिच्छास्त्रविनिर्गते प्रतिपक्षोक्तत्वे येतिष्टयस्य स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकस्या-
वच्छिन्नविषयतास्य स्वीयोद्देश्यतावच्छेदकसमर्थकत्वावच्छिन्नविषयताभूतानुपूर्व्यविनिर्गदविषयता-
कत्व एतदुभयसम्बन्धेन, आनुपूर्व्यविनिर्गदस्यैव व्यावच्छिन्नप्रयोगोद्देश्यतानि-
रूपितस्य एतदन्यतरसम्बन्धेन । प्रथमतस्तन्वदानेन “गतिकारक” इत्यादौ न दोषः, द्विती-
यमन्यदनेन “विशेषण विशेष्येण बहुलम्” इत्यादित्याक्षगिके न दोषः, द्वितीयसम्बन्धा-
न्तर्गतवच्छिन्नत्वसम्बन्धदानेन वा पान इत्यादौ नाप्याप्तिः । एवं तदन्तर्गतस्यावच्छिन्नप्रयो-
ज्योद्देश्यतानिरूपितस्य सम्बन्धदानेन “तृतायात्तृता” इत्यादौ नाप्याप्तिरिति मुषिषो विभावय-
न्तु । *दूषितमिति* । वस्तुतस्तु एतदप्रवृत्तिरेव ज्यायसी यत्नामावात् । नच अदोभवदित्यादौ
एतत्परिभाषया चागणर “ओ” सूत्रस्य भाष्यविशेष इति वाच्यम् । तन्वेकदेश्युक्तित्वनादो-
षात् । तस्य तु तदुक्तत्वे अगोभवदित्यादौ गौगणस्य न्यायेन व्यापकसमाधाने च ददता
भाष्यवृत्ता व्यतिर्गमिति दिक् ॥ ११४ ॥

गामादाग्रहणेऽविति । शाब्दस्य ग्रहणे चास्मिन्मते । तदावर्जं गाममात्रं दाग्रहणं च
गामादाग्रहणानि । तदाव-भावित्वे भाषित्वे दाग्रहणित्ते भूये च तुग्विकरणपरिभाषया लक्ष-
णपरितोषपरिभाषा निरनुबन्धकारिभाषा अर्थवृत्त्यन्तरपरिभाषा च ओरतिष्ठन इत्यर्थः ।

अत्र च ज्ञापकं दैवः पितृवम् । तद्व्युत्पत्तिरिति सामान्यग्रहणार्थम् । अन्यथा
लाक्षणिकत्वादेव चिधौ तदग्रहणे सिद्धे किं निषेधे सामान्यग्रहणार्थेन पि-
त्वेन । तेन चैकदेशानुमतिद्वारा सम्पूर्णपरिभाषा ज्ञाप्यते । इयं च लक्षण-
प्रतिपदोक्तपरिभाषानिरनुबन्धकपरिभाषा लुग्विकरणपरिभाषाणां बाधिका
“दाधाद्यु” (१-१-२०) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टा । “गातिस्था” (२-४-७७)
इति सूत्र इणादेशमाग्रहणमेवेष्ट्य इति न दोष इत्यन्यत्र विस्तरः ॥ ११५ ॥

ननु वृद्ध्यादिसंज्ञाः समुदाये स्युरत आह—

प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः ॥ ११६ ॥

देवदत्तादयो भोजयन्तामित्यत्र भुजि(१)यत् ॥ ११६ ॥

भैरवी ।

अत एव वक्ष्यति इयं चेत्यादिना । *अत्र च* । उक्तपरिभाषायां च । *अदाविति* । अ-
त्रेति शेषः । *निषेध इति* । अदाविति निषेध इत्यर्थः ।

ननु दैवः पितृवं दाधातुविषय एव ज्ञापकमस्तिवत्यत आह—*तेन चेति* । दैवः पितृनेन
चेत्यर्थः । *परिभाषाणामिति* । तथा च—वाच्यसामान्यचिन्ता अत्राश्रयणीयेत्युक्तं भवति ।
कश्चित्तु विशेषस्य ग्रहणमित्याह—*गातिल्येतीति* । *इष्यत इति* । अत्र मान तु गा-
पोर्ग्रहणे इणपिबन्धोर्ग्रहणमिति भाष्यमेव । अर्थवत्परिभाषायाः सहचरितसहचरितयोरिति
परिभाषायाश्च नैयं बाधिका । तेन दाश्रयात्त्ववयवदाश्रयस्य “दाधामग्र” इति सूत्रे सानुबन्ध-
कदावासाहचर्यान्माहमेकोरेव ग्रहणम् । न मा मान इत्यस्येति वक्ष्यन्त्यायाः सिद्धिः ॥ ११६ ॥

“गातिस्था” इति सूत्रे घुसङ्गस्य संज्ञात्वात् तत्प्रसङ्गेन स्पृतवृद्धिसंज्ञाविषय आह—
प्रत्येकमित्यादि । अत्र वाक्यशब्देन वाक्यजन्यशब्दद्वयोर्धोयोर्हेदयताविषयता उच्यते
तस्याः समाप्तिश्च सम्यगाप्तिः सम्बन्धः पदार्थसिलक्षणः प्रत्येकवृत्तिधर्मस्तत्पदार्थान्यवच्छेदक
इति यावत् । एवञ्च “वृद्धिरादैच्” इति संज्ञाहकारकाद्बुद्धितत्त्वश्रुतिभिर्भा आदैच् इति शाब्द-
बोधे जातेऽपि समुदायस्य संज्ञायां कैलाभावात् प्रत्येकवृत्तिधर्मस्य वाच्यतावच्छेदकत्वक-
ल्पनेन लक्ष्यस्य सिद्धिः कर्तव्या । तत्र दृष्टान्तमाह—*देवदत्तादय इति* । आदिना यशद-
त्तविष्णुमित्रयोः परिग्रहः । अत्र समुदायस्य क्रियाकर्तृत्वं प्रत्येकस्य क्रियाकर्तृत्वं विना
अनुपपन्नमेवेति भुजिक्रियायाः सम्बन्ध एकैकमात्रसम्बन्धो कल्प्यत इति ॥ ११६ ॥

तत्त्वप्रकाशिका ।

तत्रापि धेदोऽपि घुसंज्ञा सिध्यति ।

यत्तु गामादानां ग्रहणं यत्र तत्रैतत्परिभाषावत्तुष्टयं नोपतिष्ठत इति तत्र, “घुमात्स्था” इति
सूत्रे कृतात्वस्य वै इत्यस्य ग्रहणापत्तेः ॥ ११७ ॥

समुदाये स्युरिति । अयम्भावः संज्ञास्थले सर्वत्र उद्देश्यतावच्छेदकपर्याप्त्यनुयोगिता-
वच्छेदकीभूतो यो धर्मः स एव विषेयपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदको भवतीति नियमेनोद्देश्यता-
वच्छेदकपर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकधर्मावच्छिन्नानुयोगिताकार्थसंविधेयकत्वं संज्ञासु नियत-
मिति यावत् । तथा च “वृद्धिरादैच्” इत्यादौ द्वन्द्वाच्चसाहित्यस्योद्देश्यतावच्छेदकत्वेन
तत्पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकं त्रित्वमिति तदेव वृद्धिसंज्ञापर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकं भवतीति
प्रत्येकं संज्ञा न स्यादिति प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्तिः । “वृद्धिरादैच्” इत्यादौ साहित्यस्योपल-
क्षणत्वेन उद्देश्यतावच्छेदकं आत्वं वैतत्वं औत्वं चेति तत्पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकं ततश्चक्ति-
त्वमिति तदेव वृद्धिसंज्ञादेः पर्याप्त्यनुयोगितावच्छेदकमिति प्रत्येकं संज्ञासिद्धिरिति भावः ॥ ११७ ॥

(१) भुजिवदिति । अत्र घञ्यन्तादितिर्ज्ञेयः ।

नन्वेवं संयोगसंज्ञा समाससंज्ञाभ्यस्तसंज्ञा अपि प्रत्येकं स्युरत आह—
कचित्समुदायेऽपि ॥ ११७ ॥

गर्गाः शतं दण्डयन्तामयिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्तीत्यादौ दण्डन-
 वत् । लक्ष्यानुरोधेन च व्यचस्था ॥ ११७ ॥

ननु “यूष्ण्याख्यौ” (१-४-३) इत्यत्र व्यक्तिपक्षे दीर्घनिर्देशादन-
 णत्वेन ग्राहकसूत्राग्राप्योदात्ताद्यन्यतमोच्चारणेऽन्यस्वर(१)कस्य संज्ञा न
 स्यादत आह—

अभेदका गुणाः ॥ ११८ ॥

—भैरवी ।

नन्वेवम् । प्रत्येकं वाक्यपरिसमाप्त्यङ्गीकारे । *स्युरिति* । तथा च ह्यपरकरोतीत्यत्र
 संयोगान्तलोपस्य राजपुरुष इति समासपूर्वपदस्यापि समाससंज्ञार्था समासस्येत्यन्तोदात्त-
 त्वस्य पूर्वपदेऽभ्यस्तसंज्ञायाः प्रत्येकपरिसमाप्तौ जुद्धतीत्यत्र उत्तरभागस्य “स्वरभिन्नस्य
 प्राप्नुवन् विधिरनित्य” इति अनित्यं यणादेशं परत्वाद्वाधित्वा “अभ्यस्तानामादिः” इत्यु-
 दात्तत्वे “उदात्तस्यरितयोषण” इतिस्यरितत्वस्य चापत्तिः स्यादिति भावः । *कचिदिति* ।
 तथा च—पूर्वप्रतिद्वन्द्वितया लक्ष्यानुरोधेनेयमपि परिभाषा आधीयते ।

तत्र दृष्टान्तमाह—*गर्गा इत्यादिना* । अत्र समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिश्च वाक्यजन्यप्रशा-
 न्दबोधीयविषयतायाः समुदायवृत्तिपर्यायच्छिन्नप्रपञ्चोत्पत्तिव्यतिरिक्तस्य कल्पनमिति । समु-
 दाये वाक्यपरिसमाप्तौ हेतुमाह—*अयिनश्चेति* । इत्यादावित्यादिवद् सादृश्याक्यरोपपरम् ।
 तेन च प्रत्येकं दण्डयन्ति दण्डनश्रेह ग्रहणार्थं न तु निग्रहार्थं इति लब्धम् । शतमिह प्रधाने
 कर्म स्वोकारविशेषानुसूक्तभ्यापारस्य धात्वर्थत्वात् अशाशनलघानापञ्चा गर्गा अप्रधानं कर्म
 यदि अत्र प्रत्येकं गर्गभ्यो ग्रहणं भवेत्तदा प्रधानस्य शतस्याप्रधानगर्गानुरोधेनावृत्तिः स्यात् ।
 न हि प्रधानस्याप्रधानानुरोधित्वमुचितमिति ।

ननु उक्तयोग्याययोः कथं व्यवस्थेत्यत्र आह—*स्वस्यानुरोधेनेति* । अत्र एव कचिदु-
 च्छप्रकारद्वयमपि न, यथा “अदृक्प्याह” इति सूत्रे हि व्यस्तीर्यधासम्भवे मिलितेऽपि
 स्यादुपातम् ॥ ११७ ॥

रत्नाप्रसन्नाशह—*ननु “यूष्ण्याख्य” इति* । जातिपक्षेऽस्यानुपयोगो वक्ष्यमाण एतेत्याशयेन ।
 एतद्विषय इति । अभेदका इत्यस्य स्वरूपेणोपात्ता वापीत्यादिः । एतेन यत्कथितं तदाह—
 तत्त्वप्रकाशिका ।

प्रत्येकं स्युरिति । “शृदितादेव” इत्यादाविव “उभे अभ्यस्तम्” इत्यादावपि द्वित्वा-
 दिबहुपलक्षणे स्यादिति भावः । *समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिः* । “उभे अभ्यस्तम्” इत्यप्रो-
 भे ग्रहणमामर्ष्यानुमपराधेतावच्छेदकं द्वित्वं “सह गुण” इत्यत्र सहग्रहणमामर्ष्यान्तहाधेता-
 दित्यम् “हलोन्गतरा” इत्यत्रानन्तरा इत्युक्तहल इत्यत्र एकशेषप्रयोजकभूतौ सादृश्यं
 च विवक्षितमिति न प्रत्येकं संज्ञिति । *आपनश्च राजान इति* । तथा च शतस्य विधेपरदेन
 प्राधान्यात्तस्य अप्रधानगर्गानुरोधेन आवृत्तिर्न स्वाप्येति भावः ॥ ११६ ॥

रत्ना न स्यादिति । अयं भावः—“स्वरूपम्” इतिमूले रूपवदेन धावनप्रत्ययविषय-
 तावच्छेदकपर्यन्तस्य ग्रहणादुदात्ततातेति च उदात्तपरिनिमित्तमिच्छादेशेऽपि ग्रहणे “यूष्ण्या-
 ख्यौ” इत्यादौ मिानुगागिभेदाणादिवदने उदात्तपरिनिमित्तनिरनुमासिस्वरविनिष्ट इत्याद्य-
 वच्छिन्ने एव स्वरूपान्निरपनेन तात्पेयोपनिर्देशेन अनुगाविद्यानुदात्तादेशेऽपि रत्ना न स्यादिति ।

(१) अभ्यस्यरकःपेति । अनुदात्तादेशरक्षणमिदम् ॥

असति यत्ने स्वरूपेणोच्चारितो गुणो न भेदको न विवक्षित इत्यर्थः ।
अत्र च "अस्थिदधि" (७-१-१८) इत्यादावनडादेरुदात्तस्यैवोच्चारणेन
सिद्ध उदात्तग्रहणं ज्ञापकम् । स्वरूपेणोच्चारित इत्युक्तेरुदात्तादेरन्तोदा-
त्तादित्युदात्तादिशब्दोच्चारणे विवक्षैव । "उज्जः" (१-१-१७) "ऊँ"
(१-१-१८) इत्यत्र अननुनासिक एव उच्चारणीये यद्वाधिस्येनःनुनासि-
कोच्चारणाद्विवक्षा योष्या । "पथिमम्युभुक्ताम्" (७-१-८५) इत्यादौ
स्थान्यनुरूपतयानुनासिक एवोच्चारणीय निरनुनासिकोच्चारणात्तद्विव-
क्षा । एतदर्थमेवासति यत्ने इत्युक्तम् ।

न चैवमस्थ्यादीनां "नव्विपयस्य" (फि० २-३) इत्याद्युदात्ततया
अन्यादेशस्यानङ्गः स्थान्यनुरूपेऽनुदात्त एवोच्चारणीय उदात्तोच्चारणं
विवक्षार्थं भविष्यतीति कथमस्य ज्ञापकत्वमिति वाच्यम् । एवमादिशब्दा-
दावनतोदात्त उदात्तगुणकस्यापि स्थानित्वेन विवक्षार्था मानामाधात् ।
चतसर्याद्युदात्तनिपातं करिष्यते यथादेश आद्युदात्तनिपातनं करिष्यते,
भैरवी ।

असतीत्यादिना । अत्र च । अस्यां परिभाषया च । आदिना "चतुरनङ्गुह" इत्यस्य संप्रदा-
विशेषणस्य फलमाह—*स्वरूपेति* । शब्दोच्चारण इत्यनेन यत्र उदात्तादिशब्दस्य या संज्ञी
सप्तगुणविशिष्टो यस्तस्यैव यत्रोच्चारणं संप्राविश्या अस्त्येव, यत्र तु यत्नस्तत्र विवक्षा भव-
त्येव । अत्र ह्यष्टान्तमाह—*उज्ज ऊमिति* । उच्चारणीयमिति स्थान्यनुरूपत्वादित्यादि । *एत-
दर्थमेव* । उक्तोभयार्थमेव । इदं सम्प्रदायमतेन विधेयानुविपये विशेषरूपं वक्ष्यमाणत्वात् ।

स्थान्यनुरूपोच्चारणस्यले विवक्षास्वीकारे "अस्थि" इतिसूत्रवत्कोशात्तशब्दस्य ज्ञापकत्वं
न सम्भवतीत्याशङ्कते—*न चैवमिति । ज्ञापकत्वमिति* । स्वस्मिन्नच्चारिताभ्यादिति शेषः ।
अस्य । उदात्तशब्दोच्चारणस्य । *अन्तोदात्ते* । समासस्वरेण अन्तोदात्ते । अपिरसमा-
सस्थलीयानुदात्तस्य समुच्चारकः । पूर्वं वा समासेऽनुदात्तगुणक एव स्यादितिसूत्र उदात्तश-
ब्दोच्चारणमावश्यकमिति भावः ।

ननु निपातनस्यले यत्र विशेषाभावाच्चतसरीत्यादिभाष्यासङ्कतिरत आह—*चतसर्या-
तत्त्वप्रकाशिका ।

गुणा अभेदका इति । अस्याः "स्वरूपम्" इतिपरिभाषया अपवादभूतत्वेन तत्र रूपपदेन
अनुनासिकस्वनिरनुनासिकत्वोदात्तत्वानुदात्तत्वस्वरितत्वातिरिक्तभावप्रत्यक्षत्रिययतावच्छे-
दकधर्मावच्छिन्ने एव शक्तिसिद्धान्तेन अनुनासिकानुदात्तादेरपि धिसंज्ञासिद्ध्यतीतिभावः । एत-
न्मूलकमेव—*असतियत्र इति* । अनुनासिकस्वनिरनुनासिकत्वोदात्तत्वानुदात्त-
त्वस्वरितत्वानि गुणाः "स्वरूपम्" इतिसूत्रे रूपपदेनाविवक्षिता इति परिभाषार्थः ।
स्तु गुणा अभेदका अव्यावर्तकाः "स्वरूपम्" इतिसूत्रे रूपपदेनाग्रहणद्वारेति । *ज्ञापकमिति* ।
नच ज्ञापितेऽपि पुनरप्युदात्तग्रहणं व्यर्थम् । "भाष्यमानेन" इतिविषये "गुणा अभेदका" इ-
त्यस्याप्रवृत्तेरिति वाच्यम् । तस्यां परिभाषयां स्वरतिरिक्तत्वेन सङ्कोचेनादोषात् । अत एव
"बहुवचने ह्यलेयत्" इत्येकारः वृक्षेभ्य इत्यादौ उदात्तः, पूर्वभ्य इत्यादौ अनुदात्तः, चैत्रेभ्य
इत्यादौ स्वरितश्च भवतीति दिक् । *अनुनासिके एवोच्चारणीये इति* । नच पथीयतेः क्विपि
पथा इत्यादौ स्थानिनिरनुनासिकस्यापि सम्भवादिदमसङ्कतमिति वाच्यम् । तस्यानभिधाने-
नादोषात् । स्पष्टं चेद् "पथिमम्युभुक्ताम्" इतिसूत्रे शेषेरेतत्सुप्रत्यक्षशब्दरत्नेचेति बोध्य-
म् । *स्थान्यनुरूपेति* । नच इत्यप्यतीरेकावृत्तेनान्तोदात्त आद्युदात्तश्चेत्याद्युदात्तव्यादेशो-

पदादयोऽन्तोदात्ता निपात्यन्ते सहस्य स उदात्तो निपात्यते इत्यादि-
भाष्यं त्वेकश्रुत्याष्टाध्यायीपाठे क्वचिदुदात्ताद्युच्चारणं विवक्षार्थमित्याश-
येन । त्रैस्वर्च्येण पाठे इति पक्षे तु ज्ञापकपरं भाष्यमिति कैयटादयः ।

परे तु निपातनं नामान्यादृशे प्रयोगे प्राप्तेऽन्यादृशप्रयोगकरणं तदुपात्त-
यत्तात्तत्र तत्रोदात्तादिविवक्षा । “तिसृचतसृ” इत्यत्र द्वन्द्वप्रयुक्तेऽन्तोदात्त-
उच्चारणीय आद्युदात्तोच्चारणमन्यत्र स्थान्यनुरूपे स्वर उच्चारणीये तत्त-
दुच्चारणं विवक्षार्थम् । सम्पूर्णाष्टाध्याय्याचार्य्येणैकश्रुत्या पठितेत्यत्र न
मानम् ।

क्वचित्पदस्यैकश्रुत्यापि पाठो यथा “दाणिङनायनादि” सूत्रपेदयाकेति ।
यद्यप्यध्येतार एकश्रुत्यैवाङ्गानि पठन्ति ग्राहणयत्तथापि व्याख्यानतोऽनुना-
सिकत्यादियदुदात्तनिपातनादिज्ञानमित्याहुः । विधेयाण्यपि त्वप्रत्यय
इति निषेधाच्च गुणभेदकत्वेन सवर्णग्रहणम् । अत एव घटवदित्यादौ मतो-
भैरवी ।

पुदाचेति* । नन्वेवम् “अस्थि” इतिसूत्रपटकोदात्ताशब्दोच्चारणस्य ज्ञापकत्वासम्भवोऽत्रापि
एकश्रुत्या पाठे कर्तव्य उदात्तगुणकस्यानङ् उच्चारणेनैव अविश्रयाः सम्भवाद् उदात्ताशब्दो-
च्चारणं व्यभिचयेत्यत आह—*त्रैस्वर्च्येणेत्यादि । पाठे इति* । अष्टाध्याय्यामिति शेषः । कैय-
टादय इत्यनेन सूचितामर्कं प्रकृत्य आह—*परे स्थित्यादिना* । सामान्येणोक्तमर्थं विशिष्य
दर्शयति—*तिसृ इति* । अत्रापिदाशब्दो अमात्यसितः । *अन्यत्र* । यथादौ अल्प स्थानी
हन्धातुः । यथापुदात्तस्तथैवानुदात्ते यथाशब्दे उच्चारणीये इति भावः । *तत्तदुच्चारणम्* ।
उदात्तोच्चारणमित्यर्थः । यथा हन्धातोरेमुदात्तत्वात्तदादेशोऽपि तेन तुल्योऽनुदात्त उच्चारयि-
तुमर्हः । एवं “वाद्स्व पदाभ्यासि” इतिसूत्रविहितादेशः “स्वाङ्गनिताम्” इत्याद्युदात्तस्य
स्थानिन आपुदात्त पूर्वोच्चारणयोग्यः । एवं पादेशकृतिगणत्वान् निपातयेत्तान्पुदात्तः सह-
स्यः तस्य स्थाने यः सादेशः स उदात्तापुदात्तोभयस्थानिकत्वेन स्वरितस्वयोग्यः । भाष्य-
विरोधपरिहारायाह—*क्वचिदिति । एकश्रुत्यापोत्यपिना त्रैस्वर्च्यपरिग्रहः—*पेदयाकेतीति* ।
अत्र हि इत्वाकुप्राब्दात् “जनपदाब्दात्” इत्यभ्युपगम्ये तदन्त आद्भादात् एक पेदयाकशब्दः
अपर इत्वाकुप्राब्दात् जात इत्यर्थे “कोपधाद्” इतिसूत्रविहितान्तोदात्त उभयोत्प्रेतम् निपा-
तनम् । उच्चारणस्य लोपोऽत्र निपात्यते । यदि अत्रैकश्रुत्या पाठस्तदात्र निपातनमाद्युदात्तस्य
उत्तान्तोदात्तमेति संदेहे मर्येकत्रोपेक्षोभयोत्प्रेतम् निपातनमिति समाधिपूर्वकम् ।

यद्यपि अत्र द्वन्द्वे समासान्तोदात्तस्य शेषनिपाते य दान्तरा अयुक्तम्, तथापि तदौपचरिक-
बाधयेऽप्ये विचारो बोध्यः । यद्यपि पाणिनेस्तत्र तत्सम्बन्धस्य पाठस्तथापि अध्येतृगामेक-
भूयेव पाठदर्शनेनोदात्तादिज्ञानाभावात् कथं स्थरनिर्णय इत्यत आह—*यद्यपि इति* ।

तनु “यून्मपापयौ” इत्यशब्दावनुवादे सर्वस्यप्राथम्यं परिभाषापत्रप्रसारक्यया “अनु-
दिग्” गूणस्य तु मात्र व्यापारोऽभ्युपगम्य, एवञ्च विधेयाण्यप्येऽप्ये प्रहृत्वापत्तावतिप्रसङ्ग
इत्यत्र आह—*विधेयंति । इति निषेधादिति* । *अप्रत्यय इत्यनेनैवेदंतामुपेत्या बोधिता-
या भाष्यमार्गेण वयसीनां ग्रहणं न इति परिभाषा, तथा निषेधादिपर्यः । *अत एव* ।
भाष्यमार्गेणेति परिभाषास्थोक्तादेव । *अत एव* । मनुषो मयारम्यानुनासिकवहा-
तस्यप्रकाशितम् ।

आतनमत्र गम्यमानं अन्तोदात्ते उच्चारणीये आपुदात्तोच्चारकविवक्षार्थमित्यवगममिति वा-
च्यम् । “धातोः” इत्यनेनान्तोदात्ते एव परकीये आपुदात्तोच्चारणस्य विवक्षार्थं वा । इदं धातो-

मस्य नानुनासिको यकारः । अत एव "तद्वानासाम्" (४-४-१२५) इति सूत्रनिर्देशः । अन्यथा "प्रत्यये भाषायाम्" इति नित्यमनुनासिकः स्यात् । जातिपक्षे तु नास्योपयोग इति बोध्यम् । यू इत्यादौ दीर्घमात्रवृत्तिजाति-
निर्देशाच्च क्षतिरिति अन्यत्र विस्तरः ॥ ११८ ॥

ननु "सर्वनामानि" (१-१-२७) इत्यत्र एत्वाभावनिपातनेऽपि लोके सण्त्वप्रयोगस्य साधुत्वं स्यादत आह—

बाधकान्येष निपातनानि ॥ ११९ ॥

तत्तत्कार्ये नाप्राप्ते निपातनारम्भात् । "पुराणप्रोक्तेषु" (४-३-१०५) भैरवी ।

रामावादेव । यदस्याः परिभाषाया अवतरणे व्यक्तिपक्ष इत्युक्तं तस्य फलमाह—जाति-
पक्ष इति । नास्योपयोग इति* । एतेन जातिपक्षस्य आवश्यकता तेनैव सकललक्ष्यसंग्रह
इति ध्वनितम् ।

ननु यदि जातिपक्षस्यैव स्वीकारस्तदा यू इत्यत्रातिप्रसङ्ग इत्यत आह—यू इत्यादा-
विति* । एतेनाधीयमाणो गुणो भेदक इति परिभाषान्तरमिति कस्यचित्पुनरुक्तिरुक्तेति सू-
चितम् ॥ ११८ ॥

"पूर्वपदायौ" इति सूत्रे प्रसक्तस्य दोषस्य परिहारं कृत्वा तत्प्रसङ्गेन अत्रापि सूत्रेऽ-
तिप्रसङ्गं पारहर्तुमाह—नन्विति* । अत्र "पूर्वपदाय" इति शब्दं प्राप्तं तदभावस्य निपातनेऽ-
पि लौकिकप्रयोगेण तत्त्वापत्तिरित्यर्थः । "अदकुत्वाह" इति सूत्रस्य तु न प्राप्तिः । समानपदत्वा-
भावात् । तद्धि निमित्तानधिकरणनिमित्तमित्यपवादितत्त्वम् निमित्तानधिकरणत्वं निमित्तान-
वयवकत्वम् । निमित्तमित्वं नकारावयवकत्वम् । पदत्वञ्च न पदसंज्ञकत्वम् गन्धर्वगानमित्या-
दौ सुवृत्तपक्षे प्राक्कृदन्तस्य गानेत्यस्य समासेन पदसंज्ञाया अभावेन ज्ञत्वापत्तेः । किन्तु वि-
भक्तीतरानपेक्षया अर्थबोधकत्वेन दृष्टव्यम् । मात्रभोगीण इत्यत्र भोगित्वस्य प्रत्ययमात्रस्य
वा न सादृशपदत्वमिति शब्दस्य सिद्धिः ।

न चैवमपि सर्वनामप्रभुणेत्यत्र शब्दं न स्यात् निमित्तानधिकरणेन निमित्तमता पदेन
नापेक्ष्येन धटितत्वादिति वाच्यम् । निमित्तानधिकरणत्वनिमित्तमत्वाभाववद्यत्पदे तदवयव-
भिन्नस्य नस्य शब्दमित्यस्मिन् समुदितार्थं तात्पर्यात् । पदत्वञ्च पूर्वोक्तमेव । एवञ्च सर्वना-
मप्रभुणेत्यस्य समुदायस्योभयवत्त्वेन तदवयवस्य नादेशावयवतस्य तन्निवृत्त्यात् तत्त्वस्य
सिद्धिः । तद्व्यवहाराशब्दावयवस्य तु न, नापेक्ष्यत्रैकसत्त्वेऽपि द्वये नान्तीतिरीत्या तदुभया-
भावस्य सत्त्वेन सादृशोभयाभाववत्पदावयवत्वस्य सत्त्वात् । *तत्तत्कार्यं इति* । एवमभि-
धानेनास्याः परिभाषाया येन नाप्राप्त्यायमूलकत्वमिति ध्वनितम् ।

ननु बाधकान्येनेति नियमस्वीकारे "सार्थचिरम्" इति सूत्रेण पुराणशब्दाद्वयार्थं दृष्टप्रत्यये
तत्त्वप्रकाशिका ।

राष्ट्रपदात्तेऽपि "धातोः" इत्यनेनान्तोदात्तसामर्थ्यादेव उपदेशत्वावच्छेदेन पूर्वोच्चारणीये आद्यु-
दात्तोच्चारणस्य विवक्षायेत्वाद्धेति दिक् । *अत एव तद्वानासामिति* । न च "तसौ मत्वर्थः"
इत्यत्र दकारस्यापि प्रक्षेपेण तदो दान्तत्वेन मसंज्ञया अनुनासिकाप्राप्तिरिति न निर्देशास-
ङ्गतिरिति वाच्यम् । तद्वानिति अनुव्रत इति "प्रत्ययस्यात्कात्" इति सूत्रोदाहृतोपलक्षण-
त्वेनादोषात् ॥ ११८ ॥

ज्ञत्वाभावनिपातन इति । न च कृतं त्वेन यत्र संज्ञावगमस्तत्रैव "पूर्वपदाय" इति
शब्दे भवति । अत एव रघुनाथादिशब्दे शब्दं न, तथा न प्रकृते कृतणत्वेन संज्ञावगमाभावा-

इति निपातितपुराणशब्देन पुरातनशब्दस्य बाधः प्राप्तोऽपि पृथोदरादित्वा-
न्नेति बोध्यम् । पुराणेति पृथोदरादिः पुरातनेति चेत्यन्ये । इयं सर्वादिसूत्रे
भाष्ये स्पष्टा । अर्वाधकान्यपि निपातनानीति तु भाष्यविरुद्धम् ॥ ११९ ॥

ननूखधातोर्द्वित्वे स्वत एव ह्रस्वत्वात् पूर्वमभ्यासह्रस्वत्वाप्रवृत्तौ हला-
दिःशेषे सधर्णदीर्घे ह्रस्वापत्तिरत आह—

पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः ॥ १२० ॥

एवं च ह्रस्वस्यापि ह्रस्वत्वे कृते 'लक्ष्ये लक्षणस्य' इति न्यायेन न
पुनर्ह्रस्वः । तदुक्तम्—“इको ऋल्” (१-४-६) इति सूत्रे भाष्ये—कृतकारि
खल्वपि शास्त्रं पर्जन्यवदिति । सिद्धेऽपि ह्रस्वादिकारीत्यर्थः । न च लक्ष्ये
लक्षणस्य सकृदेव प्रवृत्तिरित्यत्र न मानमिति वाच्यम्, “समो वा लोपमे-
के” इति लोपेनैकसकारस्य, द्वित्वेन द्विसकारस्य, पुनर्द्वित्वेन च त्रिसका-
रस्य सिद्धौ “समः सुटि” (८-६-५) इति सूत्रस्यैव मानत्वात् । “सम्प्र-
सारणाच्च” (६-१-१०८) सिचि वृद्धिः” (७-२-१) इत्यादौ भाष्ये स्पष्ट-
मुक्तत्वाच्च । अत्र ‘विकारकृतो लक्ष्यभेदो न’ इति “सिचि वृद्धिः” इति
भैरवी ।

तस्य तु शागमेऽवर्धमाने तदभाषनिशातनेन पुरातनशब्दस्य बाध एव प्राप्नोतीत्यत आह—
पुराणेति पृथोदरादित्वाच्च । तस्मिन् गणे तु दसद्वितस्य पाठकल्पनात् ।

अन्ये तु पुरातनशब्दः “सार्धचिरम्” इति सूत्रसिद्ध एव । पुराणशब्द एव पृथोदरादिः क-
ल्पनीयः । एवं हि निपातनद्वयकल्पना नेति लाप्यमित्याशयेन आह—*पुराणेति* । कैय-
टाद्युक्तिं खण्डयति—*अर्वाधकेति* । *भाष्यविरुद्धमिति* । बाधकान्येव हि निपातनानी-
ति तत्रोक्तेः ॥ ११९ ॥

संज्ञाशब्दे निपातनप्रसङ्गेन संज्ञान्तरस्य स्मृतौ अभ्याससंज्ञापि स्मृतेति तदुद्देश्यकत्वा-
प्येवमपि आह—*नन्यति* । *पर्जन्यवदिति* । यथा पर्जन्यस्य सिद्धेऽपि जलोपे प्रवृत्तिस्त-
थासिद्धेऽपि काव्ये स्तोत्रोद्देश्यतावच्छेदकधर्मसत्ये लक्षणस्य प्रवृत्तिर्भवेतीति तदर्थः । *एव-
ञ्च* । एतत्परिभाषास्वीकारे च । एवञ्च अयं न्यायो लौकिक इति चरितम् । एतस्य आध-
यगादेव “प्रवाहणस्य हे” इत्युत्तरपदवृद्धिविधानमपि चरितार्थम् । इयं परिभाषा भाष्यका-
रमममतासीति आह—*तदुक्तमिति* ।

गणैतस्य न्यायस्य स्वीकारे लक्षणे प्रवृत्ते पुनस्तस्य लक्षणस्य प्रवृत्त्यभावमभ्यासार्कं यत्
‘लक्ष्ये लक्षणे सद्रूपे प्रवर्तते’ इति वचने तन्निर्मुलमेव भविष्यतीति ज्ञातान्तराकरणद्वारा त-
मपि न्यायं दर्शयितुमाह—*न येति* । *समोवेति* । *सम्पत्तौत्यादादित्यादिः* । भाष्ये स्पष्ट-
मुक्तत्वाच्चेति । तत्र हि—उद्बोधामित्यत्र “मद्विहोरोद्” इति सूत्रात्परत्वात् “यदमत्र”
इति वृद्धौ वर्णरदमामध्यगकाराभ्योत्वं माधिनम् । तत्रच पुनर्द्वित्वस्यातिद्वत्वात् हलन्त-
लक्षणा वृद्धिः प्राप्ता सा लक्ष्ये लक्षणमिति न्यायेन चारिता विकारकृतलक्ष्यभेदो नेत्यतः सम्प्र-

तत्त्वप्रमादित्वा ।

अत्रातिरेकमेतौदमसद्रूपमिति वाच्यम्, “सर्वनामानि” इति आपुनिकगद्वैतत्वेन, वा-
चिनिर्दिष्टे नृनगरेन संज्ञाविशेषेण तर्हि नृनगरे संज्ञावगमो भविष्यतीति नृवामात्रनिपातन-
स्य सद्रूपत्वाच्च ॥ ११९ ॥

भाष्यात् प्रतीयत इत्यन्यत्र विस्तरः ॥ १२० ॥

ननु स्पन्दधातोः स्यन्त्स्यतीत्यादौ सकारादिविशेषापेक्षत्वादात्मनेपद-
निमित्तत्वाभावनिमित्तत्वाच्च “न वृद्धयश्चतुर्भ्यः” (७-२-५६) इति निषे-
धस्ये बहिरङ्गत्वेन अन्तरङ्गत्वादुदित्त्वणस्येद्विकल्पस्यापत्तिरत आह—

निषेधाश्च बलीयांसः ॥ १२१ ॥

अन्तरङ्गादुपजी(१)व्यादपि बलीयांस इत्यर्थः । ‘चतुर्भ्यः’ इति तु स्पष्टा-
र्थमेव । अत एव तत्प्रत्याख्यानं भाष्योक्तं सङ्गच्छते । अत एव सर्वसंज्ञादे-
निषेधविषये न विकल्पः । अन्यथा मीमांसकरीत्या विधेरुपजीव्यरत्नेन प्राय-
ल्याप्तस्य सर्वथा याधानुपपत्त्या दुर्वारः स इति मञ्जूपायां विस्तरः । अत
एव “द्वन्द्वे च” (१-१-३१) “विभाषा जसि” (१-१-३२) इति चरितार्थम् ।
भैरवी ।

सारणमित्याह—*अभ्यप्र* । *अभ्यन्नेति* । उपोतादौ ॥ १२० ॥

धातुसम्बन्धिकाध्यविधानप्रसङ्गादाह—*नन्विति* । *धातोरिति* । तत्प्रकृतिकत्वं पठ्य
थे । ननु “न वृद्धयः” इत्यस्य सकारादित्ववद्दित्त्वणस्यापि बलादित्वापेक्षत्वेन समत्वमत
आह—*आत्मन इति* । एतच्च अपवापेक्षमन्तरङ्गमिति प्राचीनरीत्या । *निषेधाश्चेति* ।
निषेधशास्त्रमित्यर्थः ।

ननु उक्तकलस्य चतुर्वहणसामर्थ्यादेव सिद्धौ व्यायानुपयोग इत्यत आह—*पतुर्भ्यं
इतीति* । उपजीव्यादपि निषेधशास्त्रस्य प्रायस्ये साधकमाह—*अत एवेति* । उपजीव्या-
दपि प्रायल्यादेव । *अत एव* । उक्तार्थत्वादेव । *मीमांसकरीत्येति* । यज्ञतिपु ये यज्ञामहं
करोति नानुवाजेषु इत्यादौ पठ्युदास एव, न प्रमथ्यप्रतिषेध इति तैरुक्तम् । एवञ्च उपजी-
व्यान्निषेधस्य प्रायल्यानङ्गीकारे “वाज्जालौ” इति सूत्रे “तुल्यारूप” इति सूत्रस्य उपजीव्य
त्वाद्विकल्पापत्तिरिति भावः । *अत एव* । निषेधस्य प्रायस्येन विकल्पाभावादेव । अन्यथा
तत्त्वप्रकाशिका ।

इत्यन्यत्र विस्तर इति । तल्लक्ष्यत्वे च स्वीयप्रायमिकप्रवृत्तौ उद्देश्यतावच्छेदज्ञा-
पच्छिद्यत्वेन आधीयमाणो यावान् शब्दसमुदायः तद्व्यवहो यस्तद्व्यवहकमात्रोद्देश्यकविकारा
गमातिरिक्तस्तद्व्यवहितत्वे सति स्वीयप्रायमिकप्रवृत्त्युत्तरकालिकप्राप्तिभिन्नप्राप्तिविषयावदि
तत्त्वम् । विकारे स्वव्यवहकमात्रोद्देश्यकविशेषणदानेन कण्ठे इत्यादौ पूर्वास्तत्वेन प्रातिपदि
कत्वमादाय पुनर्द्वैस्वशास्त्रापरम्भान् सङ्गच्छते । विकारातिरिक्तत्वविशेषणदानेन उद्बोदामि-
त्यादौ पुनर्न वृद्धिः । आगमातिरिक्तत्वविशेषणदानेन सर्वप्राप्तित्यादौ पुनर्नमुद् । द्वितीयवि-
शेषणदानेन पुनैव भूयास्तामित्यादौ “लिङः सलोप” इति सलोपसिद्धिः । स्वीयप्रायमिकप्र-
वृत्तिसमकालिकत्वं विशेषणविशेषण स्वीयप्रायमिकप्रवृत्त्युत्तरकालिकप्राप्तिभिन्नत्वविशेषणदा-
नेन पदसु इत्यादौ पुनश्चर्त्तसिद्धिः । अन्यथा “हरि च” इत्यत्र पदस्येत्यधिकारात्स्वीयप्राय-
मिकप्रवृत्तिसमकालिकप्राप्तिविषयावदितत्वस्य सत्त्वेन पुनश्चर्त्तं न स्यात् । निरुक्तविशेषणदाने-
नेन स्वीयप्रायमिकप्रवृत्त्युत्तरकालिकप्राप्तिभिन्ना प्राप्तिः पुनः प्रवृत्ते प्राकारिकीप्राप्तिः सद्रिप-
यपठित्वेनेति न दोषः ॥ १२० ॥

चरितार्थमिति । अन्यथा उत्सर्गनिषेधयोर्विकल्पेन ‘सर्गनामानि’ द्वन्द्वे च इत्याभ्यामेव

(१) उपजीव्यादपि । विधिशास्त्रमात्रे निषेधरूपाभासस्य प्रतिषेधप्रविष्ट्या
अभावस्याप्रसिद्धिः स्यादिति भावः ।

विध्युन्मूलनाय प्रवृत्तिरस्या धीजम् । “न लुपता” (१-१-६३) “कमे-
णिङ्” (३-१-३०) इत्यनयोर्भाष्ये स्पष्टैया ॥ १२१ ॥

ननु अत्यन्तस्वार्थिकानामर्थप्रत्यायकत्वरूपप्रत्ययत्वानुपपत्तिरत आह—

अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे ॥ १२२ ॥

यस्यार्थः प्रकृत्या प्रणय्यते (१) सोऽपि प्रत्यय इत्यस्याप्यङ्गीकारात्तस्य
प्रत्ययत्वमिति न दोषः । स्वार्थ इत्यस्य स्वीयप्रकृत्यर्थ इत्यर्थः । महासंज्ञा-
लादर्थिकाङ्क्षायामन्यानुपस्थितिरस्या धीजम् । “सुपि स्था” (३-२-४)
इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्पष्टैया ॥ १२२ ॥

अथैव ।

“इष्टे च” इत्यनेनैव विकल्पलाभे तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेव । न च “विभाषा जति” इतिसूत्रस्यैव
“विभाषा” इति नियमाधर्मस्त्विति वाच्यम्, “विधिनिवमसम्भवे” इति न्यायेन विध्यर्थकत्वकल्प-
नाया उचितत्वात् । इयं च परिभाषा लोकसिद्धस्यायमूलिका इत्याह—*विध्युन्मूलनायेति* ।
प्राप्तस्य विधेर्निवृत्ततायेत्यर्थः । एतेन येन आप्राप्तन्यायेन विधिशास्त्रम् निषेधशास्त्रेण वाच्य
इति दक्षितम् । लोकेऽपि यस्य उन्मूलनाय यस्य प्रसक्तिर्भवति ततस्तस्य बलस्यैव फलत्वं
कृष्णस्येव । *नलुपतेति* । आत्मे “उत्तरपदस्ये चापदादिविधौ” इति वचनस्य प्रत्याख्यान-
समयेऽसर्वनामस्थान इति प्रतिषेधो “निषेधाच्च बलीयान्” इति न्यायेन प्राप्नोतीति, अन्त्येऽपि
निष्ठाऽनुवन्धयोः “नेरनिटि” इत्यत्र निमामान्यपहणाद्यन्त्येन सावकाशत्वेन प्रतिषेधबलीय-
स्यात् “वृटिति च” इति प्रतिषेधः प्राप्नोतीति चोक्तम्, इक्षुप्रकाराद्दोष इति त्वन्वयः ॥ १२१ ॥

“कमेणिङ्” इतिसूत्रस्योक्तत्वेन तस्य प्रत्ययस्य स्वार्थिकत्वस्य इष्टत्वेन तत्प्रसङ्गेन
आह—*ननु इति* । *अनिर्दिष्टा इत्यादि* । अनिर्दिष्टो विशेषतः, सङ्ख्यविशेषाणां प्रतिपादि-
तोऽर्थो येषामित्यर्थः ।

ननु अर्थेन सह शब्दस्य वाच्यता चक्रमावात्मकसम्बन्धनिर्णयोऽन्यथव्यतिरेकाभ्यां भवति
स च अन्यव्यतिरेकोऽत्यन्तस्वार्थिकेषु न सम्भवतीत्यत आह—*यस्यार्थ इति* । यार्थ-
त्वेनाभिमत इत्यर्थः । एतेन विकारागमयोर्न प्रत्ययसंज्ञेत्युक्तं भवति । प्रकृत्या प्रत्याख्यत
इत्यनेन यथा लोहितान्मगायिति कनोनुधारणेऽपि लोहितशब्देन तोऽर्थोभियोग्यतेऽतः कनः
प्रत्ययत्वप्रैवम्प्रकारो विकारागमस्येतेऽस्ति विकारागमयोरभावे प्रकृतिप्रयोगाभावादिति । मा-
यः । अत एव महासंज्ञाकारेण स्वस्वप्रकृत्यन्यतरार्थप्रत्यायकस्य प्रत्ययसंज्ञेति अन्यत्र उक्तम् ।

ननु अत्यन्तस्वार्थिकस्यार्थे एव अप्रसिद्ध इति न्याये इति अनुपपन्नमत आह—*स्वार्थे
इत्यन्त्येति* । एवञ्च आरम्भोपपादकः स्वतन्त्रस्तत्र द्रष्टव्य इत्यर्थो दर्शितः । इयं च परिभाषा
न्यायवतिरेति आह—*मतेति* । भाष्ये इति* । तत्र हि—आनृत्यमिरयस्य योगविभागेन
सापत्नायमं भाव एवाङ्क कर्मोदाविर्युक्तम् ॥ १२२ ॥

तत्त्वप्रकरिका ।

रुसिद्धौ “विभाषा जति” इत्यस्य वैयर्थ्यं स्पष्टमेव ॥ १२१ ॥

प्रत्ययसंज्ञेति । अस्मिन् परिचयस्य अनुपस्थितिरित्यनेन मानाभाव इति भावः ॥ १२० ॥

(१) सोऽपीति । अत्रिना स्वापपरिग्रहः । तथा च—एवमेव प्रत्ययन्यतरार्थप्रत्या-
यकत्वं प्रायश्चित्तमित्यर्थः ।

योगविभागादिष्टसिद्धिः ॥ १२३ ॥

इष्टसिद्धिरेव न त्वनिष्ठापादनं कार्यमित्यर्थः । तत्तत्समानविधिकद्वितीययोगेन विभक्तस्यानित्यत्वज्ञापनमेतद्वोजम् ॥ १२३ ॥

पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते ॥ १२४ ॥

तत्र तत्रान्यतरस्यां विभाषा वेति सूत्रनिर्देशज्ञापितमिदम् ॥ १२४ ॥

ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र ॥ १२५ ॥

रूपमेव पठितव्येऽनुमानाद्वोधनमसार्वत्रिकत्वार्थमित्यर्थः । तेन ज्ञापकसिद्धपरिभाषयानिष्टं न आपादनीयमिति तात्पर्यम् । भाष्येऽपि ध्वनितमेतद्व्याप्सुषादौ । ज्ञापकेति न्यायस्याप्युपलक्षणम् । न्यायज्ञापकसिद्धानामपि केषाञ्चित्कथनमन्येषामनित्यत्वबोधनायेति भावः । यथा तत्स्थानापन्ने तद्धर्मलाभे इति न्यायसिद्धस्यामिवास्तु, ज्ञापकसिद्धं च तत्र अनल्लिघाघिति ॥ १२५ ॥

ननु द्रोण्यां द्रोण्या द्रोढा द्रोढेयादौ घटादानामसिद्धत्वात् पूर्वं द्वित्वे एकत्र धत्वमपरत्र ढत्वमित्यस्याप्यापत्तिरत आह—

पूर्वत्रासिद्धोपमिद्वित्वे ॥ १२६ ॥

चैरथी ।

“सुपित्थ” इति सूत्रे योगविभागकरणात् तत्प्रसङ्गेन स्मृतानन्यामपि परिभाषा व्याचष्टे—*योगविभागेति* । सर्वस्यैव वाक्यस्य असति बाधके सावधारणत्वमित्याशयेन आह—*इष्टसिद्धिरेवेति* । पुनर्कारव्यवच्छेदमाह—*न एवमिति । सचचित्ति* । विभक्तैकयोगेनेत्यर्थः । *विभक्तस्येति* । एकस्येति शेषः ॥ १२३ ॥

योगविभागेन द्वयोः समानफलकत्वे कवपयित्वान्यतरस्यानित्यत्वरूपने यथा गौरवस्य सत्येऽपि अङ्गीकारस्तथा अन्यत्रापि गौरवाङ्गीकार इत्याह—*पर्यायशब्दानामिति* । अत्र ज्ञापकमाह—*तत्रेत्यादिना* ॥ १२४ ॥

बहुषु परिभाषासु ज्ञापकोपपन्नत्वात् तत्प्रसङ्गेन आह—*ज्ञापकेति* । अस्या लाभप्रकारमाह—*रूपमेवेति* । ज्ञापकशब्दार्थमाह—*अनुमानादिति । तेन* । तस्य असार्वत्रिकत्वेन । *भाष्येऽपीति* । व्याप्सुषादौ भाष्येऽपीत्यन्वयः । एवं तत्परिभाषास्वीकारादेव छात्रा इत्यस्य सिद्धिः । अत्र हि—*काम्मेस्ताच्छील्ये* इत्यनेन ‘ताच्छीलिकेऽङ्गुष्ठानि भवन्ति’ इति ज्ञापितेऽपि ‘छिद्रा’ इति शेषः स स्रजि । *अस्तिसिद्धिः* । यथा तत्र ज्ञापकेन लिङ्गविशिष्टपरिभाषामुक्त्वा अनया परिभाषया द्विपतीताप इत्यत्र “द्विपत्परयो” इति नेति सूचितम् । नन्वेवं न्यायसिद्धानां सार्वत्रिकत्वापत्तिरत आह—*ज्ञापकेतीति* ।

ननु “तत्स्थानापन्नस्तद्धर्मं लभतः” इति न्यायेनादेशः स्यान्नित्यत्वस्य “अदो जरिषः” इति सूत्रे तिक्रितीत्यत्र सिद्धे व्यपगमहेनान्विधौ स्यान्नित्यत्वम् नेत्यस्य चक्षामे सिद्धे “स्यानिपत्” इति सूत्रं किमिति आरभ्यत इत्यत आह—*न्यायज्ञापकेति । अन्येषामिति* । न्यायज्ञापकसिद्धानामिति शेषः । पूर्वोक्तमेव स्पष्टार्थं दर्शयति—*यथेति* ॥ १२५ ॥

विकल्पस्य प्रसङ्गादाह—*ननु द्रोण्येति । इत्यादाविति* । साधनीय इति शेषः । घट्यादीनामित्यादिना ढत्वस्य परिणहः । *द्वित्वे* । “नित्यवीप्सयो” इति द्वित्वे । *इत्यस्याप्यापत्तिरिति* । अप्रापिनाह—*अन्यथासेनापत्तिरानन्तरं द्रष्टव्यः । तेन पात्रिकी इत्यस्य सिद्धिः सुविता । *पूर्वत्रासिद्धोपमित्यादि । यत् तत्रोपतिष्ठत इत्यस्य अप्याहारः ।

द्वित्वभिन्ने पूर्वत्र कर्त्तव्ये परमसिद्धमित्यर्थः । “पूर्वत्रासिद्धम्” (८-२-१) इत्यधिकारभवं शास्त्रमस्या लिङ्गम् । यत्र च सिद्धत्वासिद्धत्वयोः फले विशेषस्तत्रैवेयम् । कृष्णद्विर्वित्यादौ जशत्वात्पूर्वमनन्तरं वा द्वित्वे रूपे विशेषाभावेन नास्याः प्रवृत्तिरिति अन्यत्र विस्तरः । “सर्वस्य द्वे” (८-१-१) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टेयम् ॥ १२६ ॥

ननु गोषु अश्वेषु च स्वामीत्यादियद्गोषु अश्वानां च स्वामीत्यपि स्यात् । “स्वामीश्वर” (२-३-१९) इति सूत्रेण पक्षीसप्तम्योर्विधानादत आह—

एकस्या आकृतेश्चरितः प्रयोगो द्वितीयस्याः तृतीयस्या-

श्च न भविष्यति ॥ १२७ ॥

यत्र अन्याकृतिकरणे भिन्नार्थत्वसम्भावना तद्विषयोऽयं न्याय इत्यन्यत्र विस्तरः । “कृञ्जानुप्रयुज्यते” (३-१-४०) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टेयम् ॥ १२७ ॥

ननु धिव्याधेत्यादौ परत्याद्धलादिः शेषे घस्यसम्प्रसारणं स्यादत आह—
सम्प्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं बलवत् ॥ १२८ ॥

मैत्रयी ।

पूर्वत्रासिद्धीपदं तदधिकारभयशास्त्रपरम् । एवञ्च पूर्वत्रासिद्धमित्यनेनैकवाक्यतया तदधिकारभवं पञ्चाक्षं तत्राद्वित्व इत्युपतिष्ठत इत्यर्थस्तत्फलितमाह—*द्वित्वभिन्न इत्यादिना* । परिभाषाया उक्तार्थत्वं ध्वनयन् तस्य पदस्य सार्थक्यमाह—*पूर्वत्रासिद्धमिति* । पूर्वत्रासिद्धीपमित्यत्र गृहादित्याच्छः ।

अस्याः परिभाषायाः-फलमाह—*यत्रेति* । द्वित्वपदञ्च विनिगमनाविरहात्पदद्वित्वय-
र्णद्वित्वोभयपरम् । *फले विनोप इति* । ययोदाहृत्यपठे । तत्रैरेत्येवकारण्ययच्छेदं स्पष्ट-
यति—*कृष्णद्विर्वित्यादिना* । अनित्या चेपम् “उभौ साम्यासत्य” इति लिङ्गात् । तेन प्रणि-
भायेत्यादिसिद्धिः । *अन्यत्र* । शेत्यादौ । वाक्वाक् इत्यस्य साधनायसरे इति शेषः ।
लघ्वेषमिति । उक्तप्रयोगसिद्ध्यर्थं तत्र वाक्तिकरूपेण पठिता । केषिषु “नमुने” इति
सूत्रे नेति योगो विभज्यते तेनेत्ये सिध्यतीत्याहुः, तत्र, तस्य योगविभागस्य भाष्येऽ-
दर्शनात् ॥ १२६ ॥

कार्यद्वयविधानप्रसङ्गादाह—*ननु गोषु इति । पुरुषस्या इत्यादि* । अस्य यत इत्या-
दिः । कारुतिपदं स्वरूपपरम् । *चरितः* । कृत अत इति शेषः । पुरुषस्य श्वायस्य विषयमा-
ह—*यत्रेति । यया अद्वयार्त्ता स्वामी, गोषु इति पश्येत्, अद्वयार्त्ता, स्वामी, गोषु निश्रयोऽर्थार्थ-
न्तरमपि सम्भाव्यते इति पक्षीसप्तम्योदमयोरैकताद्विषयेत्येऽपि भेदेनैकस्मिन् वाक्ये न
प्रवृत्तिः । किन्तु उभयत्र पश्येव सप्तम्येव वा प्रयोक्तव्या । एतेन सार्थकानेकविषयकोऽर्थं श्वाय
इति सिद्धम् । तथा च—शानेन श्वायेनैव द्रोण्या प्रोदतस्य कारणं न युक्तम् । अथ च श्वायो
लौकिकी वा सति जायमाना प्रतिगतिस्त्वाम्बुज इति बोध्यम् । तदाह—*अन्यत्रेति* ।
उभोतादौ । *अन्यत्र इति* । तत्र हि आसन्तस्य अग्निसमासार्थरूपानुपयोगे निन्दे रूप-
स्य चैवार्थमिच्छाद्योने निन्दितस्यैवानुपयोगोऽन्यपरस्य भावुदिति नियमार्थमेतत्सुप्रमिष्येत
नगद्वय इत्युपपत्त्या ॥ १२७ ॥

“पूर्वत्रासिद्धीपमद्वित्र” इत्यत्र द्वित्रस्य प्रतियोगितया निरेतात् तत्रगद्वेन द्वित्रमामा-
त्यचोरस्यप्रतिगतरात् “लिटिणां” इत्यपि दर्शयितम्, तत्र द्वित्रे गति यया “इत्यादिः
अर्थः” इत्यस्य प्रवृत्तिर्भवति तथा अन्यत्रादि शास्त्रप्रवृत्तिक्रममाह—*ननु इत्यादिना* ।

तदाश्रयं "सम्प्रसारणाच्च" (६-१-१०८) इति पूर्वरूपम् । वस्तुतो
 "लिट्यभ्यासस्य" (६-१-१७) इति सूत्रे उभयेषां ग्रहणस्योभयेषां सम्प्र-
 सारणमेव यथा स्यादित्यर्थकत्वेनेदं सिद्धमित्येषा व्यर्थेति "लिट्यभ्यासस्य"
 इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । फलान्तरान्यथासिद्धिरपि तत्रैव भाष्ये स्पष्टा । "णौ
 च संश्रद्धोः" (६-१-३१) इत्यादौ संश्रद्धोरित्यादि विषयसप्तमीति तत्रा-
 पि न दोष इति अन्यत्र विस्तरः ॥ १२८ ॥

यत्तु—

क्वचिद्विकृतिः प्रकृतिं गृह्णाति ॥ १२९ ॥

तेन "निसमुपविभ्यो ह्" (१-३-३०) इत्यत्र ह्याप्रणेन हेजो ग्रहणसिद्धिः १२९
 औपदेशिकप्रायोगिकयोरौपदेशिकस्यैव ग्रहणम् ॥ १३० ॥

तेन "दादेशातोः" (८-२-३२) इत्यत्र औपदेशिकधातोरेव ग्रहणमिति ।
 तत्र । तयोर्निर्मुलत्वाद्भाष्याभ्यवहनात्वाच्च । न च विकृतिः प्रकृतिं गृह्णातीति
 "ग्रहिज्या" (६-१-१६) इति सूत्रस्य भाष्येणाद्यायास्तिरस्काराच्च, "निस-
 मुपविभ्यो ह्" इत्यादौ हेजोऽनुकरणे सौत्रः प्रयोगः । आत्वविषये एव आ-
 मैरवी ।

परत्वादित्यस्य सम्प्रसारणापेक्षेत्यादिः । इदं वचनं नापूर्वमित्याह—वस्तुतः इति । इदं
 सिद्धमिति* । विध्यापेक्षितरूपं सिद्धमित्यर्थः ।

ननु पतत्परिभाषानङ्गीकारे श्रुतः लुङ्बतुः लुङ्बुत्तित्यादौ रमाहोपेयवृत्त्यादीनां प्रवृत्त्या-
 पत्तिः । यथादेशस्य तु लुङ्बुत्तित्यत्रैव सम्प्रसारणे पूर्वस्वरपेक्षया परत्वात् प्राप्तिरत आह—*फ-
 लान्तरेति* । उक्तफलान्तरेत्यर्थः । *भाष्ये स्पष्टेति* । सम्प्रसारणस्य नित्यत्वेन एतेषां
 सिद्धिः । एव सम्प्रसारणपूर्वत्वस्यान्तरङ्गत्वात् प्रवृत्तिः ।

ननु शिवधातोर्गित्वात्कलुषि चकि द्वित्वे वृद्ध्यामान्तरङ्गत्वात् सम्प्रसारणात्पूर्वप्रवृत्तौ
 अगुणावदित्यस्यासिद्धिरत आह—*णौ चेति* । एवं च द्वित्वात् प्राक् सम्प्रसारणे सतो गिधि
 चकि वृद्धावादेशे "णौ चकि" इति ह्रस्वेऽस्य सिद्धिरिति भावः ।

वस्तुतस्तु अग्न्यासविकारे बाधवशाधकभावो नास्तीति परिभाषायाः सत्त्वेनेष्टानुरोधेन
 कार्यप्रवृत्त्या विवक्षाधेत्यादौ न दोष इत्यपि बोध्यम् ॥ १२८ ॥

अग्न्यसम्मते धातुकारिके परिभाषे सङ्गतिः—*चत्तिरति* । आद्यपरिभाषायाः प्रयोज-
 ने निरूप्यते अत्र आत्मनेपदसिद्धिः । द्वितीयपरिभाषाप्रयोजनेन तु मूल एव लुङ्बतुम् । *निर्मु-
 ल्त्वादिति* । ज्ञापकस्य नित्यत्वादित्यर्थः ।

ननु प्रथमपरिभाषाया नञो लिङ्गितियोग एव ज्ञापकोऽस्तु, तथा द्वितीयायां "दशोदित"
 इति सूत्रे धिग्रहण ज्ञापकम्, तदिदं नून इत्यत्र "ऋयुक् किति" इत्यस्याप्रवृत्तौ सार्धकन्त-
 स्यात्प्रवृत्तिश्चेत्तत्परिभाषा साध्या । न च तर्जोमित्यस्य सिद्ध्यर्थं "ऋयुक्" इति सूत्रे उपदेश-
 षड्गानुवृत्तिः काव्या । एवञ्च नून इति न सेत्स्यतीति वाच्यम् । तदनुवृत्त्यभावेऽपि अनया
 परिभाषया सिद्धेरत आह—*भाष्याभ्यवहत्तत्वादिति* ।

ननु 'अप्रतिविद्धमनुमते भवति' इतिग्याय पञ्चानुवादक इत्यत आह—*न च विवृति-
 रिति* । परिभाषाप्रयोजनान्यथासिद्धिमाह—*निसमुपेति* ।

वस्तुतस्तु तस्य ह् इति निर्देशस्य सौत्रस्वरूपमनुकम् । "आदेव उपदेशोऽसिति" इति
 सूत्रेऽसितोऽस्य प्रसङ्गप्रतिषेधस्त्वेवाधपनात् कृतात्पनिर्देशकस्य तु विषयविशेषपरिषयार्थ-
 मिति आह—*भाष्यारित्य एव* । एवञ्च "आदेव" इति सूत्रेन वा कृतात्पञ्चानुवादादौ

न्ताः" (३-१-३२) इति "भूवादयः" (१-३-१) इति च धातुत्वं च भवत्येव "गुणो यङ्लुको." (७-४-८२) इत्यादिभिर्निषेधानित्यत्वकल्पनात् । तेन भवभावोऽप्यजर्घा इत्यादौ भवति । अत एव "श्वोदित" (७-२-१४) इति सूत्रे कैयटे यत्रैकाज्ग्रहणे निश्चिदिति यावत् । "एकाच उपदेशोऽनुदात्तात्" (७-२-१०) इति सूत्र एकाज्ग्रहणेन एकदेशानुसृत्यैषा ह्याप्यते । अन्यथोपदेशोऽनेकाचमुदात्तत्वस्यैव सत्त्वेन तद्वैयर्थ्यं स्पष्टमेवेति । तदपि न भाष्यानुकृतात्, एकाज्ग्रहणस्य वधिव्यावृत्त्यर्थमावश्यकत्वाच्च ।

भैरवी ।

यद्यपि ते न पठ्यन्ते प्रकृतयस्तु तेषामपि पठ्यन्ते सत्र स्थानिवद्भावात् सिद्धम् । इमे सर्वे यद्यपि न पठ्यन्ते येषां स्वर्थे आदिशब्दे ते तत्र पठ्यन्ते । येषामिग्यादीनाम्, इमे सनादयो येषामर्थे आदिशब्दन्ते तेषां धातुपाठेन धातुत्वात् स्थानिवद्भावेन धातुसंज्ञा भविष्यति । पठ्यन्तिर्दिष्टपदेश स्थानिवद्भवति नचैतेपठ्यन्तिर्दिष्टपदेशा, पठ्यग्रहणे निर्वर्तिष्यते, अपवादे उत्सर्गकृत प्राप्नोति, क्यञ्चादीनां शित्करणेति ।

ननु स्थानिवत्सूत्र आदेशशब्दं क्रियावाचकश्चेत् स्वीक्रियते तदा स्थानिवद्भावेन सनादिप्रत्ययानामेव धातुसंज्ञा प्राप्नोतीति चेन्न कर्मकृतुभिर्भूति कर्णाद् इष्यते 'सर्वे सर्वपदा देशा' इति न्यायेन वर्तमानस्येव प्रसङ्गे विकीर्णशब्दं सन्नन्त आदिशब्द इति सिद्धं तदन्तस्य धातुत्वमिति कैयटेन समाधानात् । एव समभित्तिपाहारविशिष्टकृशन्क्रियावाचि लृशब्दपसङ्गे लृशब्द आदिशब्दे गुपयशब्दे गोपायशब्द इति ।

एवम्प्रकारेण प्रत्याख्यानोऽपि आह—भूवादय इति* । वस्तुतस्तु तत्प्रत्याख्यानपरं भाष्यमेकदेशयुक्तिः । स्थानिवत्सूत्रे आदेशग्रहणमात्रं यदांशुमानिकदेशस्य य स्थानिवद्भावः स यत्रादेशविधायकसूत्रे पठितयो स्थान्यादेशबोधकशब्दयोरलक्ष्यार्थस्य विलक्षणशब्दरूपस्य बोधकत्वं तत्रैव, यथा "यङ्" इत्यादावुपात्तयारेक्षरत्वनयोरलक्षणया तदन्तपरत्वमिति, यत्र तु न कथमपि स्थान्यादेशबोधकशब्दोपादाने न तत्रादेशस्यानुमानिकत्वमिति न तत्र स्थानिवद्भावस्य प्रसक्तिरिति । *कल्पनादिति* । निषेधस्य नित्यत्वे यङ्लुकि द्विवाभावेनाभ्यासाभावादभ्यासस्य गुणविधानमनुपपन्नमिति तज्ज्ञापकमिति भावः । *तेन* । निषेधस्यानित्यत्वेन । भवभावोऽपीत्यपिनोक्तफलसंग्रहः । *अत एव* । उक्तनिषेधस्यानित्यत्वादेव किञ्चिदित्यस्यैकाज्ग्रहितं किञ्चिदेव न प्रवर्तत इत्यर्थः । अस्य कैयटेयवाक्यध्वंसस्य किञ्चिदित्यस्य सर्वप्राप्त्येन सामान्यतो निषेधवाक्यस्यानित्यत्वलाभः । किञ्चित्पदेन केवाञ्चिदेव कोऽप्योर्णा तत्राप्रवृत्तिर्न सर्वेषामिति चरनितम् । *अनुसृत्या* । अनुमतिद्वारा । *अभ्यधा* । मत्स्याभावे । *तद्वैयर्थ्यम्* । एकाच्पदवैयर्थ्यमित्यर्थः । *भाष्यानुकृतादिति* । "दितपाशापा" तत्त्वप्रकाशिका ।

एकदेशानुसृत्येति । अयं भावः—"अच" इत्येव सिद्धे एकाग्रहणं व्यर्थं सत्परिभाषायां शापकम् । नच सूत्रे 'लिङ्गवचनम्' इति परिभाषया एकग्रहणमात्रे "अच" इत्येकत्वविवक्षाया ध्वस्तमस्यत्वेन एकग्रहणं न व्यर्थमिति कथञ्चाप्यम्, न च सिद्धान्तेऽपि अनुदात्तोपदेशानामेकाच्स्येन एकग्रहणं व्यर्थमेवेति वाच्यम्, उपदेशत्वावच्छेदेन य एकाजित्यर्थलाभायावश्यकत्वात् ।

अत एव वधादेशस्य हन्त्युपदेश एकाच्त्वेऽपि नेग्नित्वे इति वाच्यम्, अनङ्कपातोऽभावेन अच इत्यस्य वैयर्थ्येन एकत्वविवक्षया एकाच इत्यर्थलाभेन एकग्रहणस्य वैयर्थ्यात् । नचाजन्त इत्यर्थेलाभाय 'अच' इतिसार्थकमिति वाच्यम्, हलन्तानामनुदात्तोपदेशस्यैव यस्यापत्तेः । *भावश्यकत्वाच्चेति* । वस्तुतस्तु "अच" इत्येतत्सामर्थ्यादेव उपदेशत्वावच्छेदेनैकाच

(१) एकदेशानुसृत्येति । स्थानिपुलाङ्ग्यायमूलकमेवदिति भावः ।

तीत्यादावुत्तरखण्डस्य धातोरेकाच्चत्वमस्त्येवोत्तरखण्डेऽस्तित्यवत् । एतच्च
 "दयतेः" (७-४-६) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । एवं च प्रकृतभाष्यासङ्गति-
 रिति वाच्यम् । आक्षेपे आक्षिप्तस्यान्वये च मानाभावात् । अङ्गत्वं तु विशिष्ट
 एवेति "एकाचो हे" (६-१-२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । निरूपितं च
 तनादिशेषे शब्देन्दुशेखरे । धातुत्वं तु उत्तरखण्ड एव । अत एव "एकाचो
 यशो भय भयन्तस्य स्ध्वोः" (८-२-३७) इति सूत्रे धातोरवयवस्यैकाच
 इति धैयधिकरणेनान्वये गर्घाप्सिद्धिः प्रयोजनमुक्तं भाष्ये, न तु प्रसिद्धम-
 जर्घा इति । अजर्घा वेमिदीतीत्यादौ शनमृश्यनादयस्तु चर्करीतं चेत्यस्या-
 दादौ पाठेन यङ्लुगन्ते गणान्तरप्रयुक्तविकरणस्याप्राप्त्या न भवन्ति ।
 छान्दसत्वादेव कार्यान्तराणामपि छन्दसि दृष्टप्रयोगेषु अदृष्टानामभावो धो-
 ष्यः । भाषायां तु तादृशानामभाव एव । श्लिषा शपादिनिर्देशास्तु "भयतेरः"
 (७-४-७३) इत्यादि सूत्रस्थ तन्निर्देशव्यर्थसाधका इति अन्यत्र विस्तरः ॥ १३१ ॥

ननु जभोऽचिरधेश्च नेत्यलिटोत्थेय सूत्र्यतां किं द्वी रधिग्रहणेनेत्यत आह-

पदगौरवाद्योगाविभागो गरीयान् ॥ १३२ ॥

भैरवी ।

त्वादित्याशङ्क्य निराचष्टे—*नचेत्यादिना* । *भाष्यासङ्गतिरिति* । एवञ्च तज्जाप्यस्यैक-
 देश्युक्तित्वेन प्रकृतायांसाधकत्वमिति भावः । *आक्षेप इति* । अस्य मानाभावादित्यग्रा-
 म्ययः । यथा पीनत्वस्योपपादकं रात्रिभोजने तथा न प्रकृतेऽस्तीति भावः । अन्वयेत्यापि
 आह—*आक्षिप्तस्येति* । *मानाभावादिति* । पदवृत्त्युपस्थापिते एवायं शाब्दबोधीयप्र-
 कारताविशेषपतास्वीकारात् । एकाचोऽङ्कारदित्यर्थे प्रसक्तदोषे वारयति—*अङ्गत्वन्विति* ।
 अङ्गसंज्ञासूत्रे तदादिप्रहणाद् द्वि.प्रयोगपक्षस्यैव सिद्धान्तितत्वात् तत्रयो वचनद्वयत्वेन प्रथम
 स्यैव प्रवर्ण द्वितीयस्यागन्तुकानामितिन्यायेन द्विवचननिष्पाद्यत्वमिति भावः ।

ननु यथा समुदायेऽङ्गत्वं तथा धातुत्वमपि प्रथमे समुदाये वा द्वि.प्रयोगसत्त्वात् कुतो
 नेति तदल्पशङ्कमाह—*धातुत्वमिति । उत्तरखण्ड एवेति* । प्रत्ययमभिहितत्वादिति शेषः ।
 अतएवाभ्याससम्पानार्थकत्वव्यवहारः प्रपञ्चितं चैतत् प्राक् । अत्रार्थे भाष्यमपि प्रमाणमिति
 आह—*अत एवेति* । धातुत्वस्योत्तरखण्डीयत्वादेव । *भाष्य इति* । "दादेः" इति
 सूत्र इति शेषः । सामानाधिकरण्येन सम्बन्धे एकाचो भयन्तस्य धातोरवयरूपेण इत्यर्थेऽज-
 र्घा इत्यत्र उत्तरखण्डस्य तथात्वमस्त्येवेति, नच दूषणमुपन्यस्तम् । किन्तु गर्वविषयशेखम् ।

यदि सर्वत्र द्विवचनरूपेण समुदायरूपेण धातुत्वं ननुत्तरभागस्य तत्र अजर्घा इत्येतस्मिन्-
 दिरपि प्रयोजनं घटेदिति भावः । "नितपाशाया" इतिवचनसाध्यप्रयोजनान्वयात्तिदिमाह—
 अजर्घा इत्यादिना । चर्करीतस्येत्येति चर्करीतमिति यङ्लुगः संज्ञा तस्यामर्प्यात् तद-
 न्त्यादादित्वम्, एवं पाठस्य "आदिप्रवृत्तिम्य" इति सूत्रप्रवृत्तिरेव प्रयोजनमिति तत्र सर्वत्र
 "कर्त्तरि शप्" इति सूत्रमेव प्रवर्तनं इति भावः । *कार्यान्तराणाम्* । "नितपाशाया" इति
 वचनसाध्यानाम् । *अभाय इति* । "दन्मि सर्वविधोनां वैकल्पिकत्वात्" इति शेषः ।

ननु एवमपि भाषायां तादृशप्रयोगादिरेवेत्यत आह—*भाषायामिति* । निरा-
 दिनिर्देशस्य परिभाषाया अभावे वैकल्प्यं तर्हि स्यादन आह—*नितपाशादीति* । "भयतेरः"
 इत्यत्र लिटो निमित्तात्वेन यङ्लुकि नैतस्य भूतस्य प्राप्तिरिति तादृशनिर्देशस्य साधुत्वबो-
 धः । नशरा अदृष्टार्थस्य यथा तथा अन्यत्रापि निरादिनिर्देशोऽदृष्टार्थ एवेति भावः ॥ १३१ ॥

धातुप्रसङ्गादाह—*नन्विति* । *सूत्र्यतामिति* । त्रिप्रयुक्तामिति* । *परगौर-

तीत्यादावुत्तरखण्डस्य धातोरेकाक्ष्वमस्येवोत्तरखण्डेऽस्तिस्त्ववत् । एतच्च
 “दयतेः” (७-४-६) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । एवं च प्रकृतभाष्यासङ्गति-
 रिति वाच्यम् । आक्षेपे आक्षिप्तस्यान्वये च मानाभावात् अङ्गत्वं तु विशिष्ट
 एवेति “एकाचो द्वे” (६-१-२) इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । निरूपितं च
 तनादिशेषे शब्देन्दुशेखरे । धातुत्वं तु उत्तरखण्ड एव । अत एव “एकाचो
 यशो भप् भयन्तस्य स्त्वोः” (८-२-३७) इति सूत्रे धातोरेवयवस्यैकाच
 इति वैयधिकरण्येनान्वये गर्धपसिद्धिः प्रयोजनमुक्तं भाष्ये, न तु प्रसिद्धम-
 जर्घा इति । अजर्घा वेभिदीतीत्यादौ श्नमृशयनादयस्तु चर्करीतं चेत्यस्या-
 दादौ पांठेन यङ्लुगन्ते गणान्तरप्रयुक्तधिकरणस्याप्राप्त्या न भवन्ति ।
 छान्दसन्वादेव कार्यान्तराणामपि छन्दसि दृष्टप्रयोगेषु अदृष्टानामभावो यो-
 प्यः । भाषायां तु तादृशानामभाव एव । श्रितपा शपादिनिर्देशास्तु “भयतेरः”
 (७-४-७३) इत्यादि सूत्रस्य तन्निर्देशवन्नार्थसाधका इति अन्यत्र विस्तरः ॥ १३१ ॥

ननु जमोऽचि रधेश्च नेत्यलिटीत्येव सूत्र्यतां किं डी रधिग्रहणेनेत्यत आह-

पदगौरवाद्योगाविभागो गरीयान् ॥ १३२ ॥

भैरवी ।

त्वादित्यादावप्य निरावृत्ते—*नचेत्यादिना* । *भाष्यासङ्गतिरिति* । एवञ्च तन्नाप्यस्यैक
 देवयुक्तित्वेन प्रकृतार्थसाधकत्वमिति भावः । *आक्षेप इति* । अस्य मानाभावादित्यप्रा-
 प्त्यः । यथा पीनत्वस्योपपादकं रात्रिभोजने तथा न प्रकृतेऽस्तीति भावः । अम्युपेत्यापि
 आह—*आक्षिप्तस्येति* । *मानाभावादिति* । पदवृत्त्युपस्थापिते एवार्थे शाब्दयोषीयप्र-
 कारताविशेष्यतास्वीकारात् । एकाचोऽङ्गादित्यर्थं प्रसक्तदोषं वारयति—*अङ्गत्वमित्येति* ।
 अङ्गसंज्ञासूत्रे तदादिप्रहणाद् द्वि प्रयोगपक्षस्यैव सिद्धान्तितत्वात् तत्र यो यच्छब्दस्तेन प्रथम
 स्यैव प्रहर्णं द्वितीयस्यागन्तुकानामितिन्यायेन द्विर्वचननिष्पापत्वमिति भावः ।

ननु यथा समुदायेऽङ्गत्वं तथा धातुत्वमपि प्रथमे समुदाये वा द्वि.प्रयोगसत्त्वात् कुतो
 नेति तदस्यसाङ्गमाह—*धातुत्वमिति । उत्तरखण्ड एवेति* । प्रत्ययमग्निहितत्वादिति शेषः ।
 अतएवाभ्यासस्यानर्थकत्वव्यवहारः प्रपञ्चितं चैतन् प्राक् । अप्राप्यं भाष्यमपि प्रमाणमिति
 आह—*अत एवेति* । धातुत्वस्योत्तरखण्डोपपत्त्यादेव । *भाष्य इति* । “दादे ” इति
 सूत्र इति शेषः । सामानाधिकरण्येन सम्बन्धे एकाचो ह्यप्यन्तस्य धातोरेवयवस्य वश इत्यर्थेऽज-
 र्घा इत्यत्र उत्तरखण्डस्य तथात्वमस्येवेति, नच दृष्टान्तमुपन्यस्तम् । किन्तु गर्धपसिद्धौ च ।

यदि सर्वत्र द्विर्वचनस्थले समुदायस्यैव धातुत्वं ननुत्तरमागम्य तदा अजर्घा इत्येतत्तिम-
 दिरपि प्रयोजनं वदेदिति भावः । “दितपाशापा” इतिवचनमात्रप्रयोजनान्यथासिद्धिमाह—
 अजर्घा इत्यादिना । चर्करीतमित्यस्येति चर्करीतमिति यङ्लुः संज्ञा तन्मामप्यर्णं तद-
 न्तस्मादादित्वम्, एवं पाठस्य “आदिप्रभृतिभ्यः” इति सूत्रप्रभृतिवैव प्रयोजनमिति तत्र सर्वत्र
 “कर्त्तरि शप्” इति सूत्रमेव प्रयत्नं इति भावः । *कार्यान्तराणाम्* । “दितपाशापा” इति
 वचनमात्रमात्रम् । *अभाव इति* । “छन्दसि सर्वविधोनां वैकल्पिकत्वात्” इति शेषः ।

ननु एवमपि भाषायां तादृशप्रयोगामिद्विरेनेत्यत आह—*भाषायामित्येति* । दिनपा-
 दिनिर्देशस्य परिभाषाया अभावे वैयर्थ्यं तर्हि स्यादत आह—*दिनपाशाशीनि* । *भयतेरः*
 इत्यत्र लिटो निमित्तत्वेन यङ्लुकि नैतस्य मृप्रत्यय प्राप्तिरिति तादृशनिर्देशस्य भाष्यवशेषः
 पदारा अदृष्टार्थत्वे यथा तथा अन्यत्रापि दिनपादिनिर्देशोऽदृष्टार्थ एवेति भावः ॥ १३१ ॥

धातुप्रसङ्गादाह—*नन्विति* । *सूत्र्यतामिति* । प्रिस्थीक्रियतामित्यर्थः । *पदगौर-

प्रतिवाक्यं मिश्रवाचयार्थबोधकल्पनेन गौरवं स्पष्टमेव । परन्तु भाष्यास-
म्भतेयम् । “टाडसि” (७-१-१२) इतिसूत्रस्थभाष्यविरुद्धा च । तत्र चेना-
देशे इकारप्रत्याख्यानं योगविभागेनैव कृतिमिति बहवः ॥ १३२ ॥

अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते चैयाकरणाः ॥ १३३ ॥

“एओङ्” “ऐओच्” सूत्रयोर्ध्वनितैवा भाष्ये । तत्रानेकपदघटितसूत्रे प्रा-
येण पदलाघवविचार एव, न तु मात्रालाघवविचार, इति “अकालोऽच्”
(१-२-२७) “अपृक्त एकाल” (१-२-४१) इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये ध्वनितम् ।

तत्र हि—सूत्रेऽल्प्रहणह्रस्वप्रहणयोर्ध्वनितविचारे संज्ञायां ह्रस्वप्रहणं “एयत्त-
त्रिय” (३-४-४८) इति सूत्रेऽणिओरिति वाच्यमिति त्रीणि पदान्यल्प्रहणे-
तदेकं स्वादिलोपे ह्रस्वप्रहणं स्येति सूत्रेऽणिओरिति न वाच्यमपृक्तस्येति वा-
च्यमिति त्रीण्येव पदानीति नास्ति लाघवकृतो विशेष इत्युक्तम् ।
मैत्री ।

यादिति* । अधिकोपादानप्रयुक्तपदगौरवादित्यर्थः । गौरवमुपपादयति—प्रतिवाक्यमिति* ।
योगविभागे सति वाक्यार्थबोधसिद्धयेऽधिकवाक्यसम्पादकतितन्मत्स्याप्यधिकस्य कल्पनायां
प्रतिषेधगौरवमिति । *भाष्यासम्भतेयमिति* । तदनुक्तत्वादिति शेषः ।

ननु अप्रतिषेधेति न्यायेन ह्यनस्त्विह तत् आह—*टाटसीति* । तत्र तेनादेशवचनेका-
रस्य प्रत्याख्यानान्न “आटि चापः” इत्यत्र योगविभागस्तत्र दर्शितः । एवं तत्र योगविभागेन
प्रत्याख्यानान्देशस्याः परिभाषाया अत्रामाणिस्त्वमिति भावः । द्विरन्विग्रहणन्तु एकयोग-
निर्दिष्टानां वचिदेवदेशोऽनुवर्तत इति परिभाषाया अनित्यत्वस्य सूचनाय ॥ १३२ ॥

भाष्ये बहुषु स्थलेषु लाघवोपन्यासेन मर्यादकारकतया अन्त उपन्यासाहमाह—*अर्द्धमा-
त्रेति* । अर्द्धमात्रालाघवेनापि पुत्रोत्सवं मन्यन्ते किमुत सतोऽधिकानुपादानप्रयुक्तलाघवेनेति
तात्पर्यार्थः । *अप्रतिषेधेति* ।

तत्र हि—“एचइक्” इत्यस्य प्रत्याख्यानान्देशोऽर्द्धकाराद्धौकारौ यदि स्वातां तापेवा-
पमुपदिशेदित्युक्तम् । न चैवं तत्परकरणादृदिगुणवेश मात्रिकाणां न प्राप्नोतीति वाच्य-
म् । नच मात्रिकयोः स्वरूपेण निर्देशः कर्तव्य इत्याशयात् ।

एतेन अर्द्धमात्रा लाघवमभ्यर्त्तति ध्वनितमित्यर्थः । मात्रापदलाघवविषये व्यवस्थामाह—
तत्र भवेकेति । “अपृक्त एकाल” इत्यादिना “प्रत्ययस्य लुङ्गन्तुः” “ए ओङ्” “ऐ ओच्”
इति सूत्रादिभिः । *तत्र हि* । सधोर्मध्ये । *सूत्रे* । “अपृक्त एकाल” इति सूत्रे । टाटमित्य-
त्रान्वयः । *अल्प्रहणेति* । मन्त्रायामित्यादिः । *तदेकम्* । अल्प्रहणमेकम् । *अपृक्तस्येति
वाच्यमिति* । न चात्रापि पदविभागस्यात्र लाघवमिति वाच्यम्, तस्य असङ्गस्य संज्ञा-
स्यात् । *इत्युक्तमिति* । अन्वया मात्रालाघववृत्तिविशेषस्य सत्यात् तत्सङ्गतिः स्पष्टैव । एव-
मन्यत्रापि लाघवे भाष्ये क्युटमिति तत्र एतावत्तात्पर्यम् । यदुक्तं पूर्वत्र प्रायेणेति तस्य पर-
तत्त्वप्रकाशिका ।

कदप इति । यत्रि वर्णगौरवायोगविभागगरीपस्यस्य निरुक्तभाष्यत्रिरुद्धत्वं
तत्रापि “पङ्गोरायोगविभागो गरीपान्” इति परिभाषाया लोकाभिरुद्धे न भाष्यविरोधः
इति केचित् ॥ १३२ ॥

उपन्यासेति । “प्रत्यादिभ्यः उपन्यासान्” इत्यनेन उपन्यासे तत्रार्थमात्रालाघ-
वाभिन्नं पुत्रोत्सवं पुत्रजन्मने सुवर्जनं व्यापारं मन्यन्ते विधाह्वयः । हेतापेया गृणीयेति-

- १ व्याकरणमहाभाष्यम् । म. म. श्रीकैयटोपाध्याय-नागोजीमहाश्यां प्रदीपोद्योताख्य-
विवरणाम्नां समुल्लसितम् नवान्हिकपर्यन्तम् । प्रथमाध्याय द्वितीयपादादि
समाप्तिपर्यन्तं म. म. श्रीकैयटविरचित प्रदीप सहितम् । संपूर्णम् । २५-०
- २ व्याकरणमहाभाष्यम् । कैयटविवरण सहितम् । नवान्हिकपर्यन्तम् । ३-०
- ३ व्याकरणमहाभाष्यम् । अङ्गाधिकार प्रकरणम् । २-८-५
- ४ शब्दकौस्तुभः । सर्वतन्त्रस्वतन्त्र श्रीमद्भट्टोजिदोक्षितविरचितः । प्रथमाध्यायमारभ्य
तृतीयाध्यायद्वितीयपादपर्यन्तं चतुर्थोऽध्यायप्रथमपादमारभ्य चतुर्थाध्यायचतुर्थपाद
पर्यन्तम् । संपूर्णः । १८-०
- ५ शब्दकौस्तुभः । नवान्हिकपर्यन्तः । ६-०
- ६ व्याकरणसिद्धान्तमुद्यानिधिः । अयं व्याकरणशास्त्रस्यापूर्वो ग्रन्थः प्रथमाध्यायतः
तृतीयाध्यायान्तः सम्पूर्णः । अस्मिन् ग्रन्थेऽपूर्वां लेखनातुरी दृश्यते । यथा ग्रन्थ-
कारस्य न्यायादिसकलशास्त्रपारीणत्वं परिदृश्यते । बहुषु स्थलेषु शब्दकौस्तु-
भादिग्रन्थानां महाभाष्याद्याशयानवबोधमूलकत्वं प्रख्याप्यतेऽनेन । रचयिता
चास्य ग्रन्थस्य विदेशराभिधः, यो हि तत्त्वप्राराधनेन प्रीयमाणो विदेशरः
अहमेव त्वत्पुत्रेऽयतरिप्यामीत्युक्त्वा साक्षात् ज्ञानकलयावतीर्णो विदेशर एव ।
अतोऽयं ग्रन्थः व्याकरणादिशास्त्रसिद्धैरवश्यं पर्वालोचनीयः । १५-०
- ७ वैयारणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा । श्रीमद्दुर्बलचार्मविरचित "कुजिका", श्रीमद्वा-
ल्मभट्ट विरचित "कला" इति टीका द्वयेन संवलितः । संपूर्णः । १५-०
- ८ पाणिनीयव्याकरणमिताक्षरा । श्रीमदन्नेभट्टप्रणीता । संपूर्णः । १५-०
- ९ शुद्धवैयाकरणभूषणं पदार्थदोषिका सहितम् । श्री कौण्डभट्टविरचितम् । संपूर्णम् ६-०
- १० वैयकरणभूषणसारः । सपरिष्कृतं दर्पणं व्याख्या सहितः । ४-०
- ११ वैयकरणभूषणसारः । सरलाव्याख्या सहितः । १-८
- १२ लघुशब्देन्दुशेखरः । म० म० पण्डित श्रीनित्यानन्दपन्तपर्वतीपूत शेखरदीपका-
ख्येन टिप्पणेन समुच्चलितः । अव्ययीभावान्तः । ४-८
- १३ लघुशब्देन्दुशेखरः । (भैरवि) चन्द्रकलाटीकासहितः । अव्ययीभावान्तः ।
प्रथमभागः ५-०
द्वितीयो भागः ८-०
- १४ लघुशब्देन्दुशेखरः । (भैरवि) चन्द्रकला टीका सहितः । तत्पुण्यादि ममास्ति पर्यन्तः
द्वितीयो भागः ८-०
- १५ परिभाषेन्दुशेखरः । श्रीमद्भगवत्पद विरचितः । म० म० श्री भैरविभिर-
विभैरवविरचयपराकथपरिभाषाविद्वत्पा-तत्त्वप्रकाशिकयाटीकया च सहितः । २-८
- १६ प्रौढमनोरमा । शब्दरत्नमरविद्याशया सहिता । श्रीयुत ५० माधवशास्त्रिभाष्यद्वारा-
विरचितं प्रमानामकटीप्पणो तथा अव्ययीभण्यप्रकरणोपरि श्रियुत ५० जग-
न्नाथशास्त्रि विरचितं शब्दरत्नप्रदीपनामक टिप्पणी सहितः । अव्ययीभावान्तः । ५-०
- १७ प्रौढमनोरमा । शब्दरत्नमरविद्याशया सहितः सटीप्पण । संपूर्णः । १२-८
- १८ सिद्धान्तकौमुदी । समाख्येतिशःशास्त्रायोगशक्तिप्रकाशतुपरिभाषोणादिभूत-
विश्वप्रसिद्धानुशासनमुद्रादिः सहिता । अष्टाध्याय्यव्याकरणाद्यनुक्रममूर्चिभिः
संरक्षिता । मूलस्य गुटका । ३-०

प्रातिष्ठापन-चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, बनारस सिटी ।